णमो सुअस्स

श्री उत्तराध्ययन सूत्रम्

संस्कृत-छाया – पदार्थान्वय – मूलार्थोपेतं
आत्म-ज्ञान प्रकाशिका हिन्दी-भाषा-टीका सहितं च
(तृतीय भाग – २६ से ३६ अध्ययन पर्यंत)

व्याख्याकार
जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक
जैन धर्म दिवाकर ध्यानयोगी
आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज

प्रकाशक
आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति (लुधियाना)
भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट (दिल्ली)

आगम	:	श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (तृतीय भाग)
व्याख्याकार	:	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
दिशा निर्देश	:	गुरुदेव बहुश्रुत श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
सपादक	:	आचार्य सम्राट् डॉ श्री शिवमुनि जी महाराज
सहयोग	:	श्रमण श्रेष्ठ कर्मठ योगी, साधुरत्न श्री शिरीष मुनि जी महाराज
प्रकाशक	:	आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना भगवान महावीर रिसर्च एण्ड मेडीटेशन सेटर ट्रस्ट, दिल्ली
अर्थ सौजन्य	:	श्रावकरत्न श्री सुशील कुमार जैन की पुण्य स्मृति मे उनके परिवार द्वारा प्रकाशित
अवतरण	:	मई, 2003
मूल्य		तीन सौ रुपए मात्र
प्रति	.	1100
प्राप्ति स्थान	:	1 भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सैंटर ट्रस्ट श्री आर के जैन, एस-ई-62-63, सिघलपुर विलेज, शालीमार बाग, नई दिल्ली दूरभाष : (ऑ.) 27138164, 32030139 2 श्री सरस्वती विद्या केन्द्र, जैन हिल्स, मोहाडी रोड जलगाँव-260022-260033 3 पूज्य श्री ज्ञान मुनि फ्री डिस्पेसरी डाबा रोड, वजदीक विजेन्द्र नगर, जैन कॉलोनी, लुधियाना 4 श्री चन्द्रकान्त एम. मेहता, ए-7, मोन्टवर्ट-2, सर्वे न. 128/2ए, पाषाण सुस रोड, पूना-411021 दूरभाष : 020-25862045
मुद्रण व्यवस्था	:	कोमल प्रकाशन C/o विनोद शर्मा, म नं. 2087/7 गली न 20, शिव मन्दिर के पास, (निकट बलजीत नगर) प्रेम नगर, नई दिल्ली-110 008 दूरभाष : 011-25873841, 9810765003

जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर ज्ञान महोदधि
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

प्रकाशकीय

उत्तराध्ययन सूत्रम् भाग तृतीय आपके हाथों में है। आत्म- ज्ञान- श्रमण- शिव आगम प्रकाशन समिति के तत्वावधान में प्रकाशित होने वाला यह पंचम आगम पुष्प है। समिति का यह पूर्ण प्रयास रहा है कि प्रकाशित होने वाले आगम सर्वभांति से सुन्दर हों। अपने इस प्रयास में हम सफल रहे हैं। इसके पीछ समिति की कार्यनिष्ठा और आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी म. व आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज का आशीर्वाद तथा श्रमण श्रेष्ठ कर्मठ योगी श्री शिरीष मुनि जी महाराज के सतत सम्यक् दिशा निर्देशन की प्रमुख भूमिका रही है।

जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज की साहित्य-साधना समग्र जैन जगत में विश्रुत है। उन जैसे आगमों के पारगामी मनीषी बहुत कम हुए हैं। आगमों के भाष्यों के क्षेत्र मे वे अपनी मिशाल स्वयं है। आगम जैसे गूढ विषय का जैसा सरल सम्पादन/टीकाकरण उन्होनें किया वह अद्‌भुत और आश्चर्य चकित कर देने वाला है। आचार्य श्री की सरल साधुता उनके द्वारा उल्लिखित एक-एक शब्द मे सहज ही ध्वनित हो रही है।

श्रमण सघ के चतुर्थ पट्टधर महामहिम आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज अपने बाबा गुरू की पुण्यमयी परम्परा धारा को आगे बढा रहे है। बृहद् सघीय दायित्वों के निर्वहन के साथ- साथ आप श्री आगम सपादन के कार्य को निरन्तर समय दे रहे है। यह आपकी अद्‌भुत श्रम साधना का एक प्रमाण है।

प्रस्तुत आगम का प्रकाशन व्यय श्री सुशील कुमार जी की पुण्य स्मृति में उनके परिवार द्वारा संवहन किया गया है। श्री सुशील कुमार जी जैन जगत के एक प्रतिष्ठित और सम्माननीय व्यक्तित्व थे। उनके धर्ममय सस्कार उनके परिवार में भी यथारूप विद्यमान हैं। आगम प्रकाशन समिति इस परिवार का हृदय से धन्यवाद ज्ञापन करती है।

विनीत

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति (लुधियाना)

भगवान महावीर रिसर्च एण्ड मेडिटेशन सेंटर ट्रस्ट (नई दिल्ली)

सम्पादकीय

श्री उत्तराध्ययन सूत्र जैनागम साहित्य का एक बहुमूल्य मणि-रत्नो से पूर्ण मूल आगम है। इस आगम मे कथाओं, उपदेशों, निर्देशों आदि के माध्यम से धर्म और दर्शन का अल्प कलेवर में सूक्ष्म और हृदय-स्पर्शी निरुपण हुआ है। उत्तराध्ययन सूत्र का स्थान मूल आगमो में है। इस आगम में भगवान महावीर की वाणी का मूल हार्द सग्रहीत है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे बीज रूप मे वे सभी रत्न सकलित है जो समग्र आगम वाड्गमय मे मौजूद है। सार रूप मे कह सकते हैं कि वैदिक परम्परा में जो स्थान श्रीमद् भागवत गीता का है, ईसाइयो में जो स्थान बाइबिल का है और इस्लाम मे जो स्थान कुरान का है, वही स्थान जिन परम्परा मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र का है। यह आगम एक ऐसा पुष्पाहार है जिसमें समस्त शुभ वर्णों के सुगन्धित पुष्प कुशल मालाकार की भांति संजोए और पिरोए गए है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे धर्म के आधार-स्वरूप आचार-विचार और उनके प्रकारो पर तो विस्तृत और स्पष्ट चर्चाए हुई ही हैं, साथ ही आत्मा, परमात्मा, जीवन, शरीर, आयुष्य आदि पर भी प्रखर प्रकाश डाला गया है। विनय को धर्म के धरातल के रूप मे स्वीकार करके उसी के स्वरूप चिन्तन और विश्लेषण से उत्तराध्ययन में प्रवेश किया गया है। जैसे-जैसे हम उत्तराध्ययन में आगे बढ़ते जाते है हमारे समक्ष चिन्तन के असख्य-असंख्य द्वार उद्घाटित होते जाते हैं। हमे ज्ञात होता है कि जिस जीवन के पखो पर हम सवार हैं वह कितना अस्थिर, असस्कारित और अनिश्चित है। हमे ज्ञात होता है कि जीवन मे क्या दुर्लभ है और उस दुर्लभ के सम्यक् उपयोग के सूत्र हमारे हाथों मे आते है। वे सूत्र इतने सटीक, सहज और सरस है कि उन्हे पाकर हम गद्गद् बन जाते है। उपदेशों मे इतनी तीक्ष्णता और हृदय-स्पर्शिता है कि अध्येता का जीवन आन्दोलित बन जाता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कई कथाएं और दृष्टात भी सकलित हैं। ये कहानिया और दृष्टात अध्येताओं के मानस को आन्दोलित करती हैं और वे अपने जीवन और उसकी दिशा पर चिन्तन करने के लिए अन्त:स्फूर्त प्रेरणा से प्रेरित बनते है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र तीर्थंकर महावीर की अन्तिम वाणी है। इस दृष्टि से भी इस आगम का विशिष्ट महत्त्व है। इसमे छत्तीस अध्ययन है। प्रत्येक अध्ययन में जीवन और साधना के विभिन्न पहलुओं पर चिन्तन किया गया है और श्रेय पथ का निर्देश किया गया है।

प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार

प्रस्तुत आगम श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (तृतीय भाग) के व्याख्याकार है स्वनामधन्य, जैनागम रत्नाकर, जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज। पूज्य आचार्य श्री का व्यक्तित्व और कृतित्व निश्चित रूप से किसी परिचय की अपेक्षा नहीं रखता। उनके बारे में कुछ भी लिखना सूरज को दीपक दिखाने के सदृश है। जैन-जैनेतर जगत के साथ-साथ कई पाश्चात्य विद्वान् भी आचार्य

बहुश्रुत, पंजाब केसरी, गुरुदेव
श्री ज्ञान मुनि जी महाराज

श्री के व्यक्तित्व और कृतित्व को देखकर अभिभूत बन गए। सरिता में जैसे जल बहता है वैसे ही पूज्यश्री की प्रज्ञा में आगम प्रवाहित होते थे। उनका जीवन और दर्शन आगमों के अर्क से ओत-प्रोत और सुवासित था। उनके उठने, बैठने, चलने आदि क्रियाओं से **'जयं चरे जयं चिट्ठे'** आदि सूत्र व्याख्यायित और प्राणवन्त बनते थे। अप्रमाद के संवाद उनके सांसों में सुवासित बनकर जगत के समक्ष महावीर के सच्चे 'भिक्षु' का प्रतिमान प्रस्तुत करते थे। आगमों के शब्द-शब्द का मर्म उनकी प्रज्ञा के साथ-साथ उनके आचार में भी आकार पाता था। नि:शब्द है उनका व्यक्तित्व। आकाश को हथेलियों में बाधने का बाल प्रयत्न है उनके बारे में कुछ कहना।

आचार्यश्री का कृतित्व भी जहां परिमाण में अत्यन्त विशाल है वहीं गहराई में भी अपरिमित और अगाध है। जिस भी आगम पर आचार्यश्री की लेखनी चली, उसी के अतल को उसने छू लिया। सुखद आश्चर्य है कि धर्म और दर्शन के गूढतम रहस्यों को उन्होने इतनी सरलता से प्रस्तुत कर दिया कि उसे साधारण से साधारण बुद्धि का अध्येता भी सरलता से हृदयंगम कर सकता है। जन-सामान्य पर आचार्य श्री का यह उपकार सदाकाल स्मरणीय और समादरणीय रहेगा।

प्रस्तुत आगम आचार्य श्री की लेखनी से व्याख्यायित है। पाठक स्वयं इस आगम का अध्ययन कर आचार्य श्री के विशाल दृष्टिकोण को हृदयंगम कर सकेंगे। आचार्य श्री जी द्वारा व्याख्यायित श्री उत्तराध्ययन सूत्र एक विशाल ग्रन्थ है। इसकी विशालता को देखते हुए इसे तीन भागों में प्रकाशित करने का विचार रखा गया है। पूर्व प्रकाशनों मे भी इसे तीन ही भागो में प्रकाशित किया गया है। प्रस्तुत तृतीय भाग मे छब्बीस से छत्तीस अध्ययन तक की विषय वस्तु दी गई है। अस्तु, प्रस्तुत पुस्तक में पाठक उक्त अध्ययनो का स्वाध्याय कर सकेंगे।

जिनशासन की महती कृपा से मुझे यह पुण्यमयी अवसर उपलब्ध हुआ है कि पूज्यश्री के आगमो को जनसुलभ बनाने में अपना योगदान समर्पित कर सकूं। पूज्यश्री के अदृष्ट आशीर्वाद का ही यह सुफल है कि जैन जगत के अग्रगण्य श्रावकों मे यह संकल्प जगा है कि महाप्रभु महावीर की वाणी के सरलतम सस्करण प्रकाश मे आएं जिससे विभ्रमित जगत को एक नवीन दिशा मिल सके। इस कार्य में मैं निमित्त भर हूँ। परन्तु अपने निमित्त भर होने को मै अपना महान पुण्य मानता हूँ। आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति साधुवाद की सुपात्र है जो पूरे समर्पण और संकल्प से आचार्य भगवन के साहित्य के प्रकाशन की दिशा मे त्वरित गति से गतिमान है।

मेरे सुशिष्य श्रमण श्रेष्ठ कर्मठ योगी मुनिरत्न श्री शिरीष मुनि जी महाराज एव ध्यान साधना को समर्पित साधक श्री शैलेश जी का श्रम भी इस सपादन-प्रकाशन अभियान से पूर्ण समर्पण भाव से जुडा हुआ है। वे सहज ही मेरे आशीष के सुपात्र हैं। उनके अतिरिक्त जैन दर्शन के अधिकारी विद्वान श्री ज प. त्रिपाठी ने मूल पाठ पठन व श्री विनोद शर्मा ने प्रूफ पठन तथा प्रकाशन दायित्व का सफल संवहन कर श्रुत सेवा का शुभ अनुष्ठान किया है। तदर्थ उन्हें मेरे साधुवाद ।

–आचार्य शिव मुनि

निर्भीक आत्मार्थी एवं पंचाचार की प्रतिमूर्ति :

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म.

व्यक्ति यह समझता है कि मेरी जाति का बल, धन बल, मित्र बल यही मेरा बल है। वह यह भूल जाता है कि यह वास्तविक बल नहीं है, वास्तव में तो आत्मबल ही मेरा बल है। लेकिन भ्रांति के कारण वह उन सारे बलो को बढ़ाने के लिए अनेक पाप-कर्मों का उपार्जन करता है, अनत-अशुभ कर्म-वर्गणाओं को एकत्रित करता है, जिससे कि उसका वास्तविक आत्मबल क्षीण होता है। जाति, मित्र, शरीर, धन इन सभी बलों को बढ़ा करके भी वह चिंतित और भयभीत रहता है कि कही मेरा यह बढ़ाया हुआ बल क्षीण न हो जाए, उसका यह डर इस बात का सूचक है कि जिस बल को उसने बढ़ाया है वह उसका वास्तविक बल नही है।

सर्वश्रेष्ठ बल—वास्तविक बल तो अपने साथ अभय लेकर आता है। आत्मबल जितना बढ़ता है उतना ही अभय का विकास होता है। अन्य सारे बल भय बढ़ाते हैं। व्यक्ति जितना भयभीत होता है उतना ही वह सुरक्षा चाहता है। बाहर का बल जितना ही बढ़ता है उतना ही भय भी बढ़ता है और भय के पीछे सुरक्षा की आवश्यकता भी उसे महसूस होती है। इस प्रकार जितना वह बाह्य-रूप से बलवान बनता है उतना ही भयभीत और उतनी ही सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव करता है। भगवान अभय में जीवन को जीए, उन्होंने आत्मबल की साधना की। वह चाहते तो किसी का सहारा ले सकते थे लकिन उन्होने किसी का सहारा, किसी की सुरक्षा क्यो नहीं ली, क्योंकि वे जानते थे कि बाह्य-बल बढ़ाने से आत्मबल के ज्ञान का जागरण नही होता। इसलिए वे सारे सहारे छोड़कर आत्मबल-आश्रित और आत्मनिर्भर बन गए। जैसे कहा जाता है कि श्रमण स्वावलम्बी होता है, अर्थात् वह किसी दूसरे के बल पर, व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के बल पर नहीं खडा अपितु स्वय अपने बल पर खड़ा हुआ है। जो दूसरे के बल पर खड़ा हुआ है वह सदैव दूसरों को खुश रखने के लिए प्रयत्नरत रहता है। जिस हेतु पापकर्म, या माया का सेवन भी वह कर लेता है। आत्मबल बढाने के लिए सत्य, अहिसा और साधना का मार्ग है। भगवान का मार्ग वीरों का मार्ग है। वीर वह है जो अपने आत्मबल पर आश्रित रहता है। यह भ्रान्ति अधिकांश लोगों की है कि बाह्यबल बढने से ही मेरा बल बढ़ेगा। इसलिए अनेक बार साधुजन भी ऐसा कहते हैं कि मेरा श्रावक बल बढ़ेगा तो मेरा बल बढ़ेगा, मेरे प्रति मान, सम्मान एव भक्ति रखने वालों की वृद्धि होगी तो मेरा बल बढ़ेगा। फिर इस हेतु से अनेक प्रपंच भी बढ़ेंगे। यही अज्ञान है। वास्तविकता यह है कि बाह्य बल बढ़ाने से, उस पर आश्रित रहने से आत्मबल नही बढ़ता अपितु क्षीण होता है। लेकिन आत्मबल का विकास करने से सारे बल अपने आप बढ़ते है।

साधु कौन ?—साधु वही है जो बाह्यबल का आश्रय छोड़कर आत्मबल पर ही आश्रित रहता है। अत: आत्मबल का विकास करो। उसके लिए भगवान के मार्ग पर चलो। चित्त मे जितनी स्थिरता और समाधि होगी उतना ही आत्मवल का विकास होगा और उसी से समाज-श्रावक इत्यादि बल आपके

जैन धर्म दिवाकर ध्यान योगी
आचार्य सम्राट् डा० श्री शिवमुनि जी महाराज

साथ चलेंगे। बिना आत्मबल के दूसरा कोई बल साथ नहीं देगा।

असंयम किसे कहते हैं ?–इन्द्रियों के विषयों के प्रति जितनी आसक्ति होगी उतनी ही उन विषयों की पूर्ति करने वाले साधनों के प्रति (धन, स्त्री, पद, प्रतिष्ठा आदि) आसक्ति होगी। साधनों के प्रति रही हुई इस आसक्ति के कारण वह निरन्तर उसी और पुरुषार्थ करता है, उनको पाने के लिए पुरुषार्थ करता है, इस पुरुषार्थ का नाम ही असंयम है।

संयम क्या है ?–इन्द्रिय निग्रह के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह संयम है और विषयों को जुटाने के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह असयंम है।

साधु पद में गरिमायुक्त आचार्य पद–साधुजन स्वयं की साधना करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर सहयोग भी करते है। लेकिन आचार्य स्वयं की साधना करने के साथ-साथ (अपने लिए उपयुक्त साधना ढूढने के साथ-साथ) यह भी जानते है और सोचते हैं कि संघ के अन्य सदस्यों को कौन-सी और कैसी साधना उपयुक्त होगी। उनके लिए साधना का कौन-सा और कैसा मार्ग उपयुक्त है, जैसे मा स्वय ही खाना नहीं खाती अपितु किसी को क्या अच्छा लगता है, किसके लिए क्या योग्य है यह जान-देखकर वह सबके लिए खाना बनाती भी है। इसी प्रकार आचार्यदेव जानते हैं कि शुभ आलम्बन में एकाग्रता के लिए किसके लिए क्या योग्य है और उससे वैसी ही साधना करवाते हैं। इस प्रकार आचार्य पद की एक विशेष गरिमा है।

पंचाचार की प्रतिमूर्ति–हमारे आराध्य स्वरूप पूज्य गुरुदेव श्री शिवमुनि जी म. दीक्षा लेने के प्रथम क्षण से ही तप-जप एव ध्यान योग की साधना में अनुरक्त रहे हैं। आपकी श्रेष्ठता, ज्येष्ठता और सुपात्रता को देखकर ही हमारे पूर्वाचार्यों ने आपको श्रमण संघ के पाट पर आसीन कर जिन-शासन की महती प्रभावना करने का संकल्प किया। जिनशासन की महती कृपा आप पर हुई।

यह सक्रमण काल है, जब जिनशासन मे सकारात्मक परिवर्तन हो रहे है। भगवान महावीर के 2600वें जन्म कल्याणक महोत्सव पर हम सभी को एकता, संगठन एवं आत्मीयता-पूर्ण वातावरण मे आत्मार्थ की ओर अग्रसर होना है। आचार्य संघ का पिता होता है। आचार्य जो स्वयं करता है वही चतुर्विध सघ करता है। वह स्वयं पचाचार का पालक होता है तथा संघ को उस पथ पर ले जाने मे कुशल भी होता है। आचार्य पूरे सघ को एक दृष्टि देते हैं जो प्रत्येक साधक के लिए निर्माण एवं आत्मशुद्धि का पथ खोल देती है। हमारे आचार्य देव पंचाचार की प्रतिमूर्ति हैं। पंचाचार का संक्षिप्त विवरण निम्नोक्त है –

ज्ञानाचार–आज ससार में जितना भी दु:ख है उसका मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान के परिहार हेतु जिनवाणी का अनुभवगम्य ज्ञान अति आवश्यक है। आज ज्ञान का सामान्य अर्थ कुछ पढ लेना, सुन लेना एव उस पर चर्चा कर लेना या किसी और को उपदेश देना मात्र समझ लिया गया है। लेकिन जिनशासन मे ज्ञान के साथ सम्यक् शब्द जुडा है। सम्यक् ज्ञान अर्थात् जिनवाणी के सार को अपने अनुभव से जानकर, जन-जन को अनुभव हेतु प्रेरित करना। द्रव्य श्रुत के साथ भावश्रुत को आत्मसात्

करना। हमारे आराध्यदेव ने वर्षो तक बहुश्रुत गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी म सा , उपाध्याय प्रवर्तक श्री फूलचंद जी म सा. 'श्रमण' एवं अनेक उच्चकोटि के सतों से द्रव्य श्रुत का ज्ञान ग्रहण कर अध्यात्म साधना के द्वारा भाव श्रुत में परिणत किया एवं उसका सार रूप ज्ञान चतुर्विध संघ को प्रतिपादित कर रहे है एवं अनेक आगमो के रहस्य जो बिना गुरुकृपा से प्राप्त नहीं हो सकते थे, वे आपको जिनशासनदेवों एवं प्रथम आचार्य भगवंत श्री आत्माराम जी म. की कृपा से प्राप्त हुए हैं। वही अब आप चतुर्विध संघ को प्रदान कर रहे हैं। आपने भाषाज्ञान की दृष्टि से गृहस्थ में ही डबल एम ए. किया एव सभी धर्मो मे मोक्ष के मार्ग की खोज हेतु शोध ग्रन्थ लिखा और जैन धर्म से विशेष तुलना कर जैन धर्म के राजमार्ग का परिचय दिया। आज आपके शोध ग्रन्थ, साहित्य एव प्रवचनों द्वारा ज्ञानाचार का प्रसार हो रहा है। आप नियमित सामूहिक स्वाध्याय करते है एव सभी को प्रेरणा देते है। अत: प्रत्येक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका ज्ञानाचारी बनकर ही आचार्यश्री की सेवा कर सकते हैं।

दर्शनाचार—दर्शन अर्थात् श्रद्धा, निष्ठा एव दृष्टि। आचार्य स्वयं सत्य के प्रति निष्ठावान होते हुए पूरे समाज को सत्य की दृष्टि देते है। जैन दर्शन में सम्यक् दृष्टि के पाच लक्षण बताए हैं—1 सम अर्थात् जो समभाव मे रहता है। 2. सवेग—अर्थात् जिसके भीतर मोक्ष की रुचि है उसी ओर जो पुरुषार्थ करता है, जो उद्वेग में नहीं जाता। 3. निर्वेद—जो समाज-सघ मे रहते हुए भी विरक्त है, किसी मे आसक्त नही है। 4. आस्था—जिसकी देव, गुरु, धर्म के प्रति दृढ श्रद्धा है, जो स्व में खोज करता है, पर मे सुख की खोज नहीं करता है तथा जिसकी आत्मदृष्टि है, पर्यायदृष्टि नही है। पर्याय-दृष्टि राग एवं द्वेष उत्पन्न करती है। आत्म-दृष्टि सदैव शुद्धात्मा के प्रति जागरूक करती है। ऐसे दर्शनाचार से संपन्न है हमारे आचार्य प्रवर। चतुर्विध सघ उस दृष्टि को प्राप्त करने के लिए ऐसे आत्मार्थी सद्‌गुरु की शरण मे पहुंचे और जीवन का दिव्य आनन्द अनुभव करे।

चारित्राचार—आचार्य भगवन् श्री आत्माराम जी म. चारित्र की परिभाषा करते हुए कहते है कि चयन किए हुए कर्मो को जो रिक्त कर दे उसे चारित्र कहते हैं। जो सदैव समता एव समाधि की ओर हमे अग्रसर करे वह चारित्र है। चारित्र से जीवन रूपान्तरण होता है। जीवन की जितनी भी समस्याए है सभी चारित्र से समाप्त हो जाती है। इसीलिए कहा है **'एकान्त सुही मुणी वियरागी'**। वीतरागी मुनि एकान्त रूप से सुखी है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष रूपी शत्रुओं को दूर करने के लिए आप वर्षों से साधनारत है। आप अनुभव गम्य, साधना जन्य ज्ञान देने हेतु ध्यान शिविरो द्वारा द्रव्य एव भाव चारित्र की ओर समग्र समाज को एक नयी दिशा दे रहे हैं। आप सत्य के उत्कृष्ट साधक है एवं प्राणी मात्र के प्रति मगल भावना रखते है एवं प्रकृति से भद्र एव ऋजु है। इसलिए प्रत्येक वर्ग आपके प्रति समर्पित है।

तपाचार—गौतम स्वामी गुप्त तपस्या करते थे एवं गुप्त ब्रह्मचारी थे। इसी प्रकार हमारे आचार्य प्रवर भी गुप्त तपस्वी है। वे कभी अपने मुख से अपने तप एव साधना की चर्चा नही करते है। वर्षो से एकान्तर तप उपवास के साथ एव आभ्यंतर तप के रूप में सतत् स्वाध्याय एव ध्यान तप कर रहे

है। इसी ओर पूरे चतुर्विध सघ को प्रेरणा दे रहे हैं। संघ मे गुणात्मक परिवर्तन हो, अवगुण की चर्चा नहीं हो, इसी संकल्प को लेकर चल रहे है। ऐसे उत्कृष्ट तपस्वी आचार्य देव को पाकर जिनशासन गौरव का अनुभव कर रहा है।

वीर्याचार—सतत अप्रमत्त होकर पुरुषार्थ करना वीर्याचार है। आत्मशुद्धि एव संयम में स्वय पुरुषार्थ करना एवं करवाना वीर्याचार है।

ऐसे पंचाचार की प्रतिमूर्ति हैं हमारे श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म। इनके निर्देशन मे सम्पूर्ण जैन समाज को एक दृष्टि की प्राप्ति होगी। अतः हृदय की विशालता के साथ, समान विचारों के साथ, एक धरातल पर, एक ही संकल्प के साथ हम आगे बढ़े और शासन प्रभावना करें।

निर्भीक आचार्य—हमारे आचार्य भगवन् आत्मबल के आधार पर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ रहे हैं। संघ का सचालन करते हुए अनेक अवसर ऐसे आये जहा पर आपको कठिन परीक्षण के दौर से गुजरना पड़ा। किन्तु आप निर्भीक होकर धैर्य से आगे बढते गए। आपश्री जी श्रमण सघ के द्वारा पूरे देश को एक दृष्टि देना चाहते हैं। आपके पास अनेक कार्यक्रम हैं। आप चतुर्विध सघ मे प्रत्येक वर्ग के विकास हेतु योजनाबद्ध रूप से कार्य कर रहे है।

पूज्य आचार्य भगवन् ने प्रत्येक वर्ग के विकास हेतु निम्न योजनाएं समाज के समक्ष रखी है—

1 बाल सस्कार एवं धार्मिक प्रशिक्षण के लिए गुरुकुल पद्धति के विकास हेतु प्रेरणा।

2 साधु-साध्वी, श्रावक एव श्राविकाओ के जीवन के प्रत्येक क्षण मे आनन्द पूर्ण वातावरण हो, इस हेतु सेवा का विशेष प्रशिक्षण एवं सेवा केन्द्रों की प्रेरणा।

3 देश-विदेश मे जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु स्वाध्याय एवं ध्यान साधना के प्रशिक्षक वर्ग को विशेष प्रशिक्षण।

4 व्यसन-मुक्त जीवन जीने एव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आनद एवं सुखी होकर जीने हेतु शुद्ध धर्म-ध्यान एवं स्वाध्याय शिविरो का आयोजन।

इन सभी कार्यों को रचनात्मक रूप देने हेतु आपश्री जी के आशीर्वाद से नासिक मे **'श्री सरस्वती विद्या केन्द्र'** एवं दिल्ली में **'भगवान महावीर मेडीटेशन एंड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट'** की स्थापना की गई है। इस केन्द्रीय संस्था के दिशा निर्देशन में देश भर में त्रिदिवसीय ध्यान योग साधना शिविर लगाए जाते है। उक्त शिविरों के माध्यम से हजारो-हजार व्यक्तियों ने स्वस्थ जीवन जीने की कला सीखी है। अनेक लोगों को असाध्य रोगों से मुक्ति मिली है। मैत्री, प्रेम, क्षमा और सच्चे सुख को जीवन मे विकसित करने के ये शिविर अमोघ उपाय सिद्ध हो रहे है।

इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में ऐसे महान विद्वान और ध्यान-योगी आचार्यश्री को प्राप्त कर जैन संघ गौरवान्वित हुआ है।

—शिरीष मुनि

श्रुत सेवा

प्रस्तुत आगम ''श्री उत्तराध्ययन सूत्रम्'' के तृतीय भाग का प्रकाशन सर्वजन हितैषी, सुश्रावक रत्न स्व श्री सुशील कुमार जैन सुपुत्र स्व श्री रिखीराम जी जैन (मालिक सगम विवर्स) की पुण्यस्मृति में उनकी धर्मपरायण धर्मपत्नी श्रीमती सुशीला देवी जैन व उनके सुपुत्र श्री संजय जी जैन के अमूल्य सहयोग से सम्पन्न हुआ है।

मान्यवर श्रीमान् सुशील कुमार जी जैन अति सुप्रतिष्ठित व सम्माननीय व्यक्तित्व के धनी व प्रतिभाशाली भद्र पुरुष थे। देव, गुरु और धर्म के प्रति वे सदैव समर्पित रहते थे। दीन-दुःखियो की सेवा करना वे सदैव अपना परम कर्त्तव्य मानते थे। अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा भावना से समर्पित होते हुए वे सदैव गरीबो-असहायों की तन-मन-धन से सेवा करते हुए आत्मविभूति सा आनन्द प्राप्त करते थे।

सहायता चाहे शिक्षा के क्षेत्र मे हो, चाहे धार्मिक शिक्षा हो, चाहे स्वाध्याय हो, प्रत्येक क्षेत्र मे उनका अमूल्य सहयोग सदैव समर्पित रहता था। उनको एक बहुत बडी आकाक्षा थी कि रोगियो की सेवा के लिए एक सर्वसुविधापूर्ण उपचार केन्द्र अवश्य होना चाहिए जहा पर असमर्थ, बेसहारा और दीन-दु खी लोग कम व्यय मे अथवा नि शुल्क अपना उपचार करवा सकें। उनकी इसी अभिलाषा के फलस्वरूप उन्हे एक सुसयोग मिला। पजाब प्रवर्तक उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द जी महाराज की सद्प्रेरणा से रोगियो के उत्थान, कल्याण व उद्धार हेतु ''आचार्य श्री आत्माराम जैन स्वास्थ्य सेवा समिति (रजि) लुधियाना'' का गठन किया गया और श्री सुशील कुमार जी को उक्त समिति का प्रधान नियुक्त किया गया। श्री सुशील कुमार जी अपने अत करण की अभिलाषा को साकार बनाने हेतु विशाल अस्पताल निर्माण योजना मे जुट गए। उन्होंने अपने कठिन परिश्रम, निष्ठा व समर्पण भावना के फलस्वरूप ''उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द जैन चैरिटेबल अस्पताल' का निर्माण कार्य सुन्दर नगर लुधियाना मे शुरू किया। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि यह अस्पताल शीघ्रातिशीघ्र अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु कार्य करना शुरू कर दे, जिसके लिए वे पूरे समर्पण भाव से प्रयासरत भी थे। परन्तु विधि की विडम्बना कहिए अथवा आयुष्य कर्म का विधान कहिए, वे इस कार्य को शुरू तो कर गए पर इसे पूर्ण होता हुआ नही देख पाए। उनके सपनो का मदिर विशाल हस्पताल आज रोगियो की सेवा मे समर्पित है, परन्तु श्री सुशील कुमार जी हमारे मध्य मे नहीं है। हम सोचते है कि अरिहतो और गुरुदेवो के साथ-साथ उनकी कृपा दृष्टि भी इस अस्पताल पर बनी हुई है।

ऐसे महापुरुष ससार मे कम ही मिलते है। वे भले ही शारीरिक रूप से हमारे मध्य मे नही है, परन्तु उनके चले जाने से उत्पन्न हुई एक बहुत बडी कमी को उनके परिवार जन विशेषकर उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीला देवी जैन व सुपुत्र श्री सजय जैन यथासंभव पूर्ण करने के लिए सदैव प्रयासरत रहते है। उन द्वारा स्थापित आदर्शों का यथासभव पालन होता रहे व परिवारजन उनका अनुसरण करते हुए उनके चले जाने के कारण उत्पन्न हुए शून्य की पूर्ति यथासभव होती रहे, ऐसी हमारी मगलकामना है।

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति प्रस्तुत ''श्री उत्तराध्ययन सूत्रम्'' तृतीय भाग के प्रकाशन हेतु सम्प्राप्त सौजन्य के लिए हार्दिक-हार्दिक धन्यवाद करती है।

आत्म-ज्ञान-श्रमण शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना
भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सैंटर ट्रस्ट, दिल्ली

स्वर्गीय श्री सुशील कुमार जैन

आगम स्वाध्याय विधि

जैन आगमो के स्वाध्याय की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है। वर्तमान-काल मे आगम लिपिबद्ध हो चुके हैं। इन आगमो को पढ़ने के लिए कौन साधक योग्य है और उसकी पात्रता कैसे तैयार की जा सकती है इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

आगम ज्ञान को सूत्रबद्ध करने का सबसे प्रमुख लाभ यह हुआ कि उसमें एक क्रम एवं सुरक्षितता आ गई लेकिन उसमे एक कमी यह रह गई कि शब्दो के पीछे जो भाव था उसे शब्दो मे पूर्णतया अभिव्यक्त करना संभव नही था। जब तक आगम-ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा आ रहा था तब तक वह ज्ञान पूर्ण रूप से जीवन्त था। यह ऐसा था जैसे भूमि में बीज को बोना। गुरु पात्रता देखकर ज्ञान के बीज बो देते थे, और वही ज्ञान फिर शिष्य के जीवन मे वैराग्य, चित्त-स्थैर्य, आत्म-परिणामों मे सरलता और शाति बनकर उभरता था। आगम-ज्ञान को लिपिबद्ध करने के पश्चात् वह प्रत्यक्ष न रहकर किंचित् परोक्ष हो गया। उस लिपिबद्ध सूत्र को पुनः प्राणवान बनाने के लिए किसी आत्म-ज्ञानी सद्‌गुरु की आवश्यकता होती है।

आत्म-ज्ञानी सद्‌गुरु के मुख से पुनः वे सूत्र जीवन्त हो उठते हैं। ऐसे आत्म-ज्ञानी सद्‌गुरु जब कभी शिष्यों मे पात्रता की कमी देखते है तो कुछ उपायो के माध्यम से उस पात्रता को विकसित करते है। यही उपाय पूर्व मे भी सहयोग के रूप मे गुरुजनों द्वारा प्रयुक्त होते थे, हम उन्हीं उपायों का विवरण नीचे प्रस्तुत कर रहे है –

तीर्थकरो द्वारा प्रतिपादित शासन की प्रभावना मे अनेकानेक दिव्य शक्तियो का सहयोग भी उल्लेखनीय रहा है। जैसे प्रभु पार्श्वनाथ की शासन रक्षिका देवी माता पद्‌मावती का सहयोग शासन प्रभावना मे प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार आदिनाथ भगवान की शासन रक्षिका देवी माता चक्रेश्वरी देवी का सहयोग भी उल्लेखनीय है।

इन सभी शासन-देवों ने हमारे अनेक महान् आचार्यों को समय-समय पर सहयोग दिया है। यदि आगम अध्ययन किसी सद्‌गुरु की नेश्राय में किया जाए एव उनकी आज्ञानुसार शासन रक्षक देव का ध्यान किया जाए तब वह हमे आगम पढने में अत्यन्त सहयोगी हो सकता है। ध्यान एव उपासना की विधि गुरुगम से जानने योग्य है। संक्षेप में हम यहां पर इतना ही कह सकते है कि तीर्थंकरो की भक्ति से ही वे प्रसन्न होते हैं।

आगम पढ़ने में चित्त स्थैर्य का अपना महत्व है और चित्त स्थैर्य के लिए योग, आसन, प्राणायाम

एव ध्यान का सविधि एवं व्यवस्थित अभ्यास आवश्यक है। यह अभ्यास भी गुरु आज्ञा में किसी योग्य मार्गदर्शक के अन्तर्गत ही करना चाहिए।

आसन प्राणायाम और ध्यान का प्रमुख सहयोगी तत्त्व है। शरीर की शुद्धि की षड्क्रियाएं हैं। इन क्रियाओ का विधिपूर्वक अभ्यास करने से साधना के बाधक तत्त्व, शारीरिक व्याधियां, दुर्बलता, शारीरिक अस्थिरता, शरीर में व्याप्त उत्तेजना इत्यादि लक्षण समाप्त होकर आसन स्थैर्य, शारीरिक और मानसिक समाधि एव अन्तर मे शान्ति और सात्विकता का आविर्भाव होता है तथा इस पात्रता के आधार पर प्राणायाम और ध्यान की साधना को गति मिलती है।

अपने सद्गुरु देवों की भक्ति, उनका ध्यान एव प्रत्यक्ष सेवा यह ज्ञान उपार्जन का प्रत्यक्ष एवं महत्वपूर्ण उपाय है। शिष्य की भक्ति ही उसका सबसे बडा कवच है।

अनेक साधक स्वाध्याय का अर्थ केवल विद्वता कर लेते है। लेकिन स्वाध्याय का अन्तर्हृदय है, आत्म-समाधि और इस आत्म-समाधि के लिए सात्विक भोजन का होना भी एक प्रमुख कारण है।

प्रतिदिन मगलमैत्री का अभ्यास और आगम पठन केवल इस दृष्टि से किया जाए कि इससे मुझे कुछ मिले, मेरा विकास हो, मै आगे बढूं, तब तो वह स्व-केन्द्रित साधना हो जाएगी, जिसका परिणाम अहंकार एव अशांति होगा। ज्ञान-साधना का प्रमुख आधार हो कि मेरे द्वारा इस विश्व में शांति कैसे फैले, मै सभी के आनन्द एव मगल का कारण कैसे बनूं, मैं ऐसा क्या करूं कि जिससे सबका भला हो, सबकी मुक्ति कैसे हो। यह मगल भावना जब हमारे आगम ज्ञान और अध्ययन का आधार बनेगी तब ज्ञान अहम् को नही प्रेम को बढाएगा। तब ज्ञान का परिणाम विश्व प्रेम और वैराग्य होगा। अहकार और अशांति नही।

– शिरीष मुनि

पूर्व संस्करण से

शुभ स्मृति

इस विस्तृत आगम के प्रकाशन के समय सहसा मुझे चार स्वर्गीय महान् आत्माओं की शुभ स्मृति हो रही है। इन पुनीत आत्माओं के पवित्र नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—परम पूज्य आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज, पूज्यवर्य आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज, पूजनीय स्थविरपदविभूषित गणावच्छेदक श्री गणपतिराय जी महाराज एवं मेरे अन्तेवासी स्व. पण्डितवर्य मुनि श्री ज्ञानचन्द्र जी म.।

आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज मे हृदय की सरलता एवं शुद्धता, वाणी की मितता और मधुरता, अध्ययन और अध्यापन आदि मे सतत संलग्नता, शान्ति, सहिष्णुता और सद्गुणो की विशेषता थी। यह महात्मा परम गम्भीर थे। इनमे आचार्य के सब विशेष गुण विद्यमान थे। इन्होने आचार्य के कर्त्तव्यों को अच्छी तरह से निभाया। इनके समकालीन श्रीसघ में पूर्ण शान्ति और उत्तम व्यवस्था रही। जैनागमो की आरम्भिक शिक्षा मैने इन्ही से प्राप्त की थी, अत. इस प्रसिद्ध सूत्र के प्रकाशन के अवसर पर इन आचार्य-चरणो का पुण्य स्मरण करना नितान्त आवश्यक है।

आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज इनके उत्तराधिकारी थे। यह महात्मा परम तपस्वी और तेजस्वी थे। इनमे हृदय की दृढता और आत्म-बल की विशेषता थी। इन्होंने आत्मबल के द्वारा पजाब देश मे जैन धर्म का खूब प्रचार किया था। इनका आचार, तप और त्याग प्रशंसनीय है।

श्री स्वामी गणपतिराय जी महाराज की सेवा का मुझे प्रभूत सुअवसर प्राप्त हुआ। मेरे अध्ययन और लेखनादि कार्य में इनकी सहायता सब से अधिक रही। मेरे ऊपर इनकी सदैव कृपा दृष्टि रही। यह महात्मा सौम्य मूर्त्ति थे। इनका हृदय गम्भीर और उन्नत विचारो से परिपूर्ण था। इन्होने अन्त तक मनसा, वाचा, कर्मणा, संयम का निर्दोष एवं निरतिचार पालन किया। इनकी अन्तिम घडियों की शान्ति, समाधि और तेजस्विता का दृश्य अवर्णनीय है। मारणान्तिक वेदना की आकुलता के स्थान पर इनके आनन पर अद्‌भुत मुस्कराहट और अभूतपूर्व तेजस्विता दिखाई देती थी। इस शुभ अवसर पर ऐसी पुण्यात्मा की शुभ स्मृति का होना स्वाभाविक ही है।

स्व प मुनि श्री ज्ञानचन्द्र जी अद्‌भुत प्रतिभावान थे। इनकी स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक थी। केवल पाच वर्षो में ही इन्होंने व्याकरण, साहित्य और आगमो का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इनका पाण्डित्य प्रगाढ़ था। यह मेरे परम सहायक और प्रिय शिष्य थे। इन्होंने स्वयं भी कतिपय पुस्तको की रचना की और मुझे भी लेखन-कार्य के लिए प्रेरणा देते रहते थे। इस शास्त्र की विद्वन्मान्य और लोकोपयोगी टीका लिखने की इन्होंने ही मुझे विशेष रूप से प्रेरणा दी थी। अतः इस सूत्र के प्रकाशन के समय इनकी मधुर-स्मृति का होना भी अनिवार्य है।

— आचार्य आत्माराम

गुर्वावली

नायसुओ वद्धमाणो नायसुओ महामुणी ।
लोगे तित्थयरो आसी अपच्छिमो सिवंकरो ।। 1 ।।

सतित्थे ठविओ तेण पढमो अणुसासगो ।
सुहम्मो गणहरो नाम तेअंसी समणच्चिओ ।। 2 ।।

तत्तो पवट्टिओ गच्छो सोहम्मो नाम विस्सुओ ।
परंपराए तत्थासी सूरी चामरसिंघओ ।। 3 ।।

तस्स संतस्स दंतस्स मोतीरामाभिहो मुणी ।
होत्थ सीसो महापन्नो गणिपयविभूसिओ ।। 4 ।।

तस्स पट्टे महाथेरो गणावच्छेअगो गुणी ।
गणपतिसंनिओ साहू सामण्ण-गुणसोहिओ ।। 5 ।।

तस्स सीसो गुरुभत्तो सो जयरामदासओ ।
गणावच्छेअगो अत्थि समो मुत्तोव्व सासणे ।। 6 ।।

तस्स सीसो सच्चसंधो पवट्टगपयंकिओ ।
सालिग्गामो महाभिक्खू पावयणी धुरंधरो ।। 7 ।।

तस्संतेवासिणा एसा अप्पारामेण भिक्खुणा ।
उवज्झाय पयंकेणं भासाटीका समत्थिआ ।। 8 ।।

उत्तराज्झयणस्स टीकेयं लोकभासासुबद्धिआ ।
पढंताणं गुणंताणं वायंताणं पमोइणी ।। 9 ।।

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव
आगम प्रकाशन समिति के अर्थ सहयोगी

(1) श्री महेन्द्र कुमार जी जैन, मिनी किंग लुधियाना

(2) श्री शोभन लाल जी जैन, लुधियाना

(3) आर एन ओसवाल परिवार, लुधियाना

(4) सुश्राविका सुशीला बहन लोहटिया, लुधियाना

(5) सुश्राविका लीला बहन, मोगा

(6) वर्धमान शिक्षण संस्थान, फरीदकोट

(7) एस एस जैन सभा, जगराओ

(8) एस एस जैन सभा, गीदड़वाहा

(9) एस एस. जैन सभा, केसरी-सिंह-पुर

(10) उमेश बहन, लुधियाना

(11) स्त्री सभा रूपा मिस्त्री गली, लुधियाना

अपने संघ, संस्था एवं घर में अपना पुस्तकालय

"भगवान महावीर मेडीटेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर ट्रस्ट" के अन्तर्गत "आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति" द्वारा आचार्य सम्राट् पूज्य श्री शिवमुनि जी म. सा के निर्देशन मे श्रमण संघीय प्रथम पट्टधर आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी म सा द्वारा व्याख्यायित जैन आगमो की टीकाओं का पुनर्मुद्रण एव संपादन कार्य द्रुतगति से चल रहा है। प्रथम आगम उपासकदशाग सूत्र प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित हो चुका है। "दशवैकालिक सूत्र" "उत्तराध्ययन सूत्र भाग 1-3", "आचारांग सूत्र भाग 1-2" और "अनुत्तरोपपातिक सूत्र" प्रेस मे है। आने वाले एक दो माह में ये सभी आगम उपलब्ध रहेंगे एवं अन्य सभी आगम भी छप रहे है।

प्रकाशन योजना के अन्तर्गत जो भी श्रावक सघ अथवा सस्था या कोई भी स्वाध्यायी बन्धु आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी म सा के आगमो के प्रकाशन मे सहयोग एव स्वाध्याय हेतु प्राप्त करना चाहते है तो उनके लिए एक योजना बनाई गई है। 11,000/- (ग्यारह हजार रुपए मात्र) भेजकर जो भी इस प्रकाशन कार्य में सहयोग देगे उनको प्रकाशित समस्त आगम एवं आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि म सा द्वारा लिखित समस्त साहित्य तथा "आत्म दीप" मासिक पत्रिका दीर्घकाल तक प्रेपित की जाएगी। इच्छुक व्यक्ति निम्न पतो पर सम्पर्क करे .-

(1) भगवान महावीर मेडीटेशन एण्ड रिसर्च सेन्टर ट्रस्ट
द्वारा श्री आर. के. जैन सी-55, शक्ति नगर एक्सटेंशन
नई दिल्ली-110 052
फोन 011-27138164, 27473279

(2) श्री प्रमोद जैन
द्वारा श्री श्रीपाल जैन पुराना लोहा बाजार
पो. : मालेर कोटला, जिला : सगरूर, (पंजाब)
फोन : 0167-5258944

(3) श्री अनिल जैन
बी-24-4716, सुन्दर नगर
नियर जैन स्थानक लुधियाना-141008 (पंजाब)
फोन : 0161-2601725

श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (तृतीय भाग) संकेतिका

अह सामायारी छव्वीसइमं अज्झयणं

अथ सामाचारी षड्विंशमध्ययनम्

गत पच्चीसवे अध्ययन में ब्रह्मगुणो का प्रतिपादन किया गया है। ये गुण सम्यक् रूप से संयमशील साधु मे ही संगठित हो सकते हैं और सयमशील साधु वही कहला सकता है, जो कि सम्यक्तया अपनी सामाचारी का पालन करे। अत. इस छब्बीसवे अध्ययन में साधु की सामाचारी का वर्णन किया जाता है और सामाचारी का वर्णन होने से ही इस अध्ययन का नाम सामाचारी अध्ययन रखा गया है।

इसकी आद्य गाथा इस प्रकार है –

सामायारिं पवक्खामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं।
जं चरित्ताण निग्गंथा, तिण्णा संसार-सागरं ॥ १ ॥

सामाचारीं प्रवक्ष्यामि, सर्वदु:खविमोक्षणीम्।
यां चरित्वा निर्ग्रन्थाः, तीर्णाः संसार-सागरम् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–सामायारिं–सामाचारी को, **पवक्खामि**–कहूंगा, **सव्वदुक्ख**–सर्वदु:खों को, **विमोक्खणिं**–दूर करने वाली, **जं**–जिसको, **चरित्ताण**–आचरण करके, **निग्गंथा**–निर्ग्रन्थ, **संसार-सागरं**–संसार-सागर को, **तिण्णा**–तर गए।

मूलार्थ–मैं सर्व दु:खों से मुक्त करने वाली सामाचारी को कहूंगा, जिसका आचरण करने से निर्ग्रन्थ संसार-सागर से तर गए।

टीका–प्रस्तुत गाथा में सामाचारी के वर्णन की प्रतिज्ञा और उसकी फलश्रुति का उल्लेख किया गया है। श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि मै सामाचारी का वर्णन करता हूं जो सर्वप्रकार के शारीरिक और मानसिक दु:खो का विनाश करने वाली है तथा जिसके अनुष्ठान से

गुरुजनों की पूजा में और बाल-वृद्ध तथा ग्लानादि की सेवा में तत्पर रहना अभ्युत्थान कहलाता है।

उपसम्पत् नाम की दसवीं सामाचारी का अभिप्राय यह है-कि ज्ञानादि के सम्पादनार्थ अन्य गच्छादि मे सक्रमण करना, अर्थात् अपने गुरुजनो की आज्ञा लेकर विद्या ग्रहणार्थ अन्य गच्छ के आचार्य के समीप जाना और विनय एव शुश्रूषा पूर्वक श्रुत-विद्या का सम्पादन करना उपसम्पत् सामाचारी है। इस कथन से ज्ञान-विषयक उत्सुकता और गच्छान्तर के साथ प्रीतिभाव का रखना बताया गया है, कारण कि प्रत्येक गच्छ के साथ प्रीतिभाव होगा तब ही ज्ञानादि के ग्रहणार्थ वहा जाने की उत्कण्ठा उत्पन्न होगी।

इस प्रकार साधुओ की सामाचारी के ये दस नाम तीर्थकर भगवान ने प्रतिपादन किए हैं।

अब प्रत्येक सामाचारी के अर्थ और विषय का प्रदर्शन कराते है, यथा –

गमणे आवस्सियं कुज्जा, ठाणे कुज्जा निसीहियं ।
आपुच्छणं सयंकरणे, परकरणे पडिपुच्छणं ॥ ५ ॥

छन्दणा दव्वजाएणं, इच्छाकारो य सारणे ।
मिच्छाकारो य निन्दाए, तहक्कारो पडिस्सुए ॥ ६ ॥

अब्भुट्ठाणं गुरुपूया, अच्छणे उवसंपदा ।
एवं दुपंचसंजुत्ता, सामायारी पवेइया ॥ ७ ॥

गमन आवश्यकीं कुर्यात्, स्थाने कुर्यान्नैषेधिकीम् ।
आप्रच्छना स्वयंकरणे, परकरणे प्रतिप्रच्छना ॥ ५ ॥

छन्दना द्रव्यजातेन, इच्छाकारश्च सारणे ।
मिथ्याकारश्च निन्दायां, तथाकारः प्रतिश्रुते ॥ ६ ॥

अभ्युत्थानं गुरुपूजाया, अवस्थाने उपसंपद् ।
एवं द्विपंचसंयुक्ता, सामाचारी प्रवेदिता ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः–**गमणे**–गमन करने के समय, **आवस्सियं**–आवश्यकी, **कुज्जा**–करे, **ठाणे**–स्थिति करने के समय, **निसीहियं**–नैषेधिकी, **सयंकरणे**–स्वयं-अपने कार्य करने मे, **आपुच्छणं**–आप्रच्छना करे, **परकरणे**–पर के कार्य करने के समय, **पडिपुच्छणं**–प्रतिप्रच्छना करे।

छन्दणा–निमन्त्रणा करना, **दव्वजाएणं**–द्रव्य जाति से, **य**–और, **इच्छाकारो**–इच्छाकार, **सारणे**–अपने और पर के कार्य के विषय मे, **य**–तथा, **निन्दाए**–अपने आत्मा की निन्दा के विषय मे, **मिच्छाकारो**–मिथ्याकार करना, **पडिस्सुए**–गुरुओं के वचन को स्वीकारने मे **तहक्कारो**–तथाकार करना।

गुरुपूया–गुरुओ की पूजा में, **अब्भुट्ठाणं**–अभ्युत्थान-उद्यम करना, **अच्छणे**–ज्ञानादि की प्राप्ति

के लिए, **उवसंपदा**–गुरुजनो के पास रहना, **एवं**–इस प्रकार, **दुपंच**–द्विपच, **संजुत्ता**–सयुक्त, **सामायारी**–सामाचारी, **पवेइया**–प्रतिपादन की है।

मूलार्थ–चलने के समय आवश्यकी और स्थिति करते समय नैषेधिकी कहना, तथा अपने कार्य के समय पूछने को आप्रच्छना और पर के कार्यार्थ पूछने को प्रतिप्रच्छना कहते हैं।

द्रव्य की–जाति की निमन्त्रणा का नाम छन्दना, अपने और पर के कार्य के लिए इच्छा प्रकट करना इच्छाकार है, आत्म-निन्दा करना मिथ्याकार और गुरुजनों के वचनों को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करना तथाकार सामाचारी है।

गुरुजनों की पूजा में उद्यत रहना अभ्युत्थान और ज्ञानादि की शिक्षा के लिए उनके पास रहना उपसम्पदा है। इस तरह यह दश प्रकार की सामाचारी कथन की गई है।

टीका–जब किसी कारणवशात् साधु अपने स्थान से बाहर गमन करे तब गमन करते समय 'आवस्सही' कहे। उक्त वाक्य का तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय आदि पवित्र क्रियाओ को छोड़कर मै किसी आवश्यक कार्य के लिए ही उपाश्रय से बाहर जा रहा हू।

जब किसी अन्य स्थान पर स्थिति करनी हो तब 'निसिही' कहे। इसका अर्थ यह है कि मै, गमनागमनादि क्रियाओं से जो पापानुष्ठान हो जाता है उससे निवृत्ति पाकर, अब एक स्थान पर स्थिति करता हू–पापो से अपने आत्मा को बचाता हूं।

जब स्वय कोई कार्य करना हो, तब गुरुजनो से आज्ञा की प्रार्थना करनी चाहिए। जैसे कि–हे भगवन् । क्या मै अमुक कार्य करूं अथवा न करूं, इस पर गुरुजनों की आज्ञा से उनकी इच्छानुसार कार्य करना, आप्रच्छना है।

जब किसी पर कार्य में प्रवृत्ति करनी हो, तब भी गुरुजनों की आज्ञा लेनी चाहिये, जैसे कि–हे भगवन् ! क्या मै अमुक मुनि का अमुक कार्य करूं ? इस प्रकार प्रत्येक कार्य गुरुजनों की आज्ञा से ही करना चाहिए। यह प्रतिप्रच्छना है। तात्पर्य यह है कि श्वासोच्छ्वास को छोडकर अपने कार्य के लिए वा पर के कार्य के लिए गुरुजनों से बार-बार आज्ञा लेनी चाहिए, इसी को आप्रच्छना और प्रतिप्रच्छना कहते है।

अशन, पान, खादिम और स्वादिम आदि पदार्थ जो भिक्षा द्वारा मांग कर लाए हुए है, उनके लिए अन्तःकरण से अन्य भिक्षुओं को निर्मत्रित करना जैसे कि–"हे भिक्षुओ ! आप मुझ पर अनुग्रह करे, मुझसे अमुक पदार्थ ग्रहण करें, इत्यादि सामाचारी कहलाती है। जिस समय अपना या पर का कोई कार्य करना हो, उस समय गुरुओं के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करना तथा उनकी आज्ञा मिलने पर ही कार्य करना, इच्छाकार सामाचारी है। जैसे कि पात्रलेपन और सूत्रदानादि क्रियाएं है।

यदि कोई साधुवृत्ति से प्रतिकूल कार्य हो जाए तो उसके लिए आत्मनिन्दा करना, अर्थात् मुझे धिक्कार है कि जो मैंने अमुक कार्य अपनी साधुवृत्ति के विरुद्ध किया है–इस प्रकार आत्म-विगर्हा करना मिथ्याकार सामाचारी है।

जब गुरु वाचनादि देते हों, तब उनके वचनों का सत्कार पूर्वक ग्रहण करना; जैसे कि वाचनादि लेते समय 'तथास्तु' इत्यादि कहना, इसका नाम तथाकार समाचारी है।

नवमी सामाचारी अभ्युत्थान है। गुरु, आचार्य, वृद्ध और ग्लानादि की प्रतिपत्ति–सेवा के लिए सदा उद्यत रहना, अर्थात् सेवा-शुश्रूषा के अतिरिक्त अन्न और औषधि आदि के द्वारा उनकी परिचर्या में प्रवृत्त रहना अभ्युत्थान कहलाता है।

यद्यपि छन्दना में ही अभ्युत्थान का अन्तर्भाव हो सकता है, तथापि दोनों में कुछ अन्तर है। यथा-छन्दना सामाचारी में तो भिक्षावृत्ति से लाए हुए द्रव्य की निमंत्रणा मात्र होती है और अभ्युत्थान सामाचारी में गुरुजनों की सेवा मे उद्यत रहने का आदेश है।

दशवी सामाचारी उपसम्पत् नाम की है। उसका अर्थ यह है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र विधायक सद्ग्रन्थों के अध्ययनार्थ किसी अन्य आचार्यादि के पास स्थिति करना और उनसे यह कह देना कि मै अमुक कालपर्यन्त आपकी सेवा में स्थिति करूंगा। इस कथन से गच्छो का पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति भी प्रदर्शित होती है, जो कि सर्व प्रकार से उपादेय और स्पृहणीय है।

इसके अतिरिक्त–'गुरुपूया-गुरुपूजायाम्' दुपचसंजुत्ता–द्विपंच संयुक्ता' ये दोनो प्रयोग आर्ष समझने चाहिए, और 'पवेइया' भी आर्ष प्रयोग ही है।

अब ओघ-सामाचारी के विषय में कहते हैं, यथा–

पुव्विल्लम्मि चउब्भाए, आइच्चम्मि समुट्ठिए ।
भण्डयं पडिलेहित्ता, वन्दित्ता य तओ गुरुं ॥ ८ ॥

पूर्वस्मिन् चतुर्भागे, आदित्ये समुत्थिते ।
भाण्डकं प्रतिलेख्य, वन्दित्वा च ततो गुरुम् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः–पुव्विल्लम्मि–पहले, **चउब्भाए**–चतुर्थभाग में, **आइच्चम्मि**–आदित्य के, **समुट्ठिए**–उदय होने पर, **भण्डयं**–भडोपकरण को, **पडिलेहित्ता**–प्रतिलेखन करके, **य**–और, **गुरुं**–गुरु को, **वन्दित्ता**–वन्दना करके, **तओ**–प्रतिलेखनाऽनन्तर।

मूलार्थ–दिन के प्रथम चतुर्थभाग में सूर्य के उदित होने पर भाण्डोपकरण की प्रतिलेखना करके–तदनन्तर गुरु को वन्दना करके–हाथ जोड़कर पूछे–(यह अगली गाथा के साथ अन्वय करके अर्थ करना)।

टीका–पूर्व की गाथाओं मे दशविध सामाचारी का वर्णन किया गया है, अब प्रस्तुत गाथा में ओघ सामाचारी का निरूपण करते हैं। दिन के चार भाग, चार पहर कहलाते है। एक भाग या पहर आठ घड़ी का होता है, इस प्रकार विभागों की कल्पना करने पर प्रथम पहर का चतुर्थ भाग दो घड़ी मात्र होता है। तथा गाथा के पूर्वार्द्ध का यह अर्थ हुआ कि प्रथम के चतुर्थ भाग में सूर्य के उदित होने पर अर्थात् दो घड़ी प्रमाण सूर्य के उदय होने पर भंडोपकरण आदि की प्रतिलेखना करे। इसी समय को जैन

परिभाषा में 'पादोन पौरुषी' कहते है। यहा पर भांडोपकरण से प्राचीन गुर्जर भाषा मे मुख-वस्त्रिका से लेकर पात्र आदि सब उपकरणो का ग्रहण किया जाता है।

प्रतिलेखना यह पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—चक्षुओं द्वारा देखकर फिर रजोहरण आदि से प्रमार्जन करना, फिर गुरुओं को वन्दना करके—हाथ जोड़कर इस प्रकार कहे, यह आगामी गाथा से सम्बन्ध रखता है।

यद्यपि सूत्र में तो प्रथम चतुर्थभाग ही लिखा है, परन्तु यह सामान्य वाक्य है, जिससे कि 'पादोन पौरुषी' को पौरुषी कहा गया है। जैसे कि लोक-व्यवहार में कुछ न्यूनता होने पर भी वस्तु को वस्तु ही कहा जाता है और यथा अपूर्ण पट को भी पट ही कहते है, इसी प्रकार कुछ न्यून चतुर्थभाग ही कहा गया है। साराश यह है कि कुछ न्यून चतुर्थभाग अर्थात् पादोन पौरुषी में भांडोपकरणादि की प्रतिलेखना करे।

गुरु को वन्दना करके हाथ जोड़कर उनके प्रति इस प्रकार कहे—

पुच्छिज्ज पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इह ।
इच्छं निओइउं भन्ते ! वेयावच्चे व सज्झाए ॥ ९ ॥

पृच्छेत्प्राञ्जलिपुटः, किं कर्त्तव्यं मयेह?
इच्छामि नियोजयितुं भदन्त !, वैयावृत्ये वा स्वाध्याये ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**पंजलिउडो**—हाथ जोडकर, **पुच्छिज्ज**—पूछे, **मए**—मै, **इह**—इस समय, **किं कायव्वं**—क्या करूं, **भन्ते**—हे भदन्त । **इच्छं**—मै चाहता हू, **निओइउं**—नियुक्त करने को, **वैयावच्चे**—वैयावृत्य में, **व**—अथवा, **सज्झाए**—स्वाध्याय मे—अपनी आत्मा को।

मूलार्थ—हाथ जोड़कर गुरुजनों से पूछे कि 'हे भगवन् ! इस समय मैं क्या करूं? हे भदन्त! मैं चाहता हूं कि अपने आत्मा को आपकी वैयावृत्य में अथवा स्वाध्याय मे नियुक्त करूं।'

टीका—जब प्रतिलेखना कर चुके, तब वन्दना करने के अनन्तर हाथ जोड़कर गुरुओ से पूछे कि "भगवन् ! अब इस समय मुझे आप किस काम में नियुक्त करना चाहते है—वैयावृत्य मे अथवा स्वाध्याय में ? तात्पर्य यह है कि आप मुझे जिस काम मे नियुक्त करना चाहेंगे, मैं उसी मे नियुक्त हो जाऊंगा। इस प्रकार आज्ञा मांगने पर गुरु जिस कार्य के लिए आदेश करें, उसी में प्रवृत्त हो जाए।[1]

---

१ तथा च बृहद्वृत्तिकारः—'यद्वा पूर्वस्मिन्नभश्चतुर्थभागे आदित्ये समुत्थिते बहुतरप्रकाशी भवनात् तस्य, भाडमेव भांडकं ततस्तदिव धर्म-द्रविणोपार्जना-हेतुत्वेन मुखवस्त्रिका वर्षाकल्पादीह भाण्डकमुच्यते, तत् प्रतिलिख्य वंदित्वा च ततो गुरु पृच्छेत्, शेष प्राग्वत्। उपलक्षण चैतत्—यत· सकलमपि कृत्य विधाय पुनरभिवन्दनापूर्वकं प्रष्टव्या एव गुरव· इत्यादि।'

अब शिष्य के कर्त्तव्य के विषय में कहते हैं–

वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वं अगिलायओ।
सज्झाए वा निउत्तेणं, सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥ १० ॥

वैयावृत्ये नियुक्तेन, कर्तव्यमग्लान्या।
स्वाध्याये वा नियुक्तेन, सर्वदुःखविमोक्षणे ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–वेयावच्चे–वैयावृत्य में, **निउत्तेणं**–नियुक्त करने पर, **अगिलायओ**–ग्लानिभाव को छोड़कर, **कायव्वं**–करना चाहिए, **वा**–अथवा, **सज्झाए**–स्वाध्याय में, **निउत्तेणं**–नियुक्त करने से, **सव्व**–सर्व, **दुक्ख**–दुःखो से, **विमोक्खणे**–विमुक्त करने वाले।

मूलार्थ–वैयावृत्य में नियुक्त कर देने पर शिष्य ग्लानि से रहित होकर वैयावृत्य में प्रवृत्त होवे, अथवा स्वाध्याय में नियुक्त किए जाने पर सर्व दुःखो से छुड़ाने वाले स्वाध्याय में ग्लानिभाव से रहित होकर प्रवृत्ति करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे गुरु की आज्ञा के अनुसार वैयावृत्य में अथवा स्वाध्याय मे भाव-पूर्वक प्रवृत्त होने का आदेश दिया गया है। जैसे कि–आज्ञा मागने पर गुरु ने यदि वैयावृत्य मे नियुक्त होने की आज्ञा दी हो तो बिना किसी प्रकार की ग्लानि के, अर्थात् अपने शारीरिक बल का कुछ भी विचार न करते हुए विशुद्ध भाव से वैयावृत्य अर्थात् सेवा में लग जाना चाहिए। यदि गुरुओ ने स्वाध्याय की आज्ञा प्रदान की हो तो प्रेम-पूर्वक स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। स्वाध्याय-तप सर्व तपो मे प्रधान और सर्व प्रकार के दुःखो से छुड़ाने वाला है।

साराश यह है कि स्वाध्याय के अनुष्ठान से ज्ञानावरणीय कर्म प्रकृतियों का क्षय होता है। जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तब मोहनीय आदि कर्म भी नही रह सकते और मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने से अवशिष्ट सभी कर्म नष्ट हो जाते है। इसलिए स्वाध्याय के आचरण से दुःखों का समूलघात हो जाता है। अतएव स्वाध्याय और वैयावृत्य मे गुरुजनो की आज्ञा के अनुसार शीघ्र ही प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

अब औत्सर्गिक भाव से साधु की दिनचर्या के विषय में कहते है, यथा–

दिवसस्स चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो ।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ॥ ११ ॥

दिवसस्य चतुरो भागान्, कुर्याद् भिक्षुर्विचक्षणः ।
तत उत्तरगुणान्कुर्यात्, दिनभागेषु चतुर्ष्वपि ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–दिवसस्स–दिन के, **चउरो**–चार, **भागे**–भागो को, **वियक्खणो**–विचक्षण, **भिक्खू**–भिक्षु, **कुज्जा**–अपनी बुद्धि से कल्पना करे, **तओ**–तदनन्तर, **उत्तरगुणे**–उत्तरगुणों को करे, **चउसु वि**–चारों ही, **दिणभागेसु**–दिन भागों में।

मूलार्थ–विचक्षण बुद्धिमान् भिक्षु दिन के चार भागों की कल्पना करके उन चारों में ही

उत्तरगुणों की आराधना करे।

टीका—अब ओघ सामाचारी के प्रस्ताव में दिनचर्या का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते है कि—विद्वान् साधु अपनी बुद्धि से दिन के चार विभाग कर लेवे, उन चारो ही विभागो मे स्वाध्याय आदि उत्तम गुणों का आराधन करे, अर्थात् जिस-जिस विभाग में जिन-जिन गुणो का अनुष्ठान विहित हो उन सभी का आचरण करे।

यहा पर इतना स्मरण रहे कि दिन के विभाग की कल्पना का तात्पर्य यह है कि दक्षिणायन और उत्तरायण में दिन की न्यूनाधिकता होती रहती है, अतः उसके अनुसार ही विभाग मे न्यूनाधिकता कर लेनी चाहिए। जैसे कि—बत्तीस घडी के दिन-मान में आठ घडी का चतुर्थ भाग होगा और अट्ठाईस घडी के दिन-मान मे सात घड़ी का चतुर्थांश होगा।

अब निम्नलिखित गाथाओं में विभागानुसार गुणों के धारण करने के विषय का उल्लेख करते हैं कि—

पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं ॥ १२ ॥

प्रथमाया पौरुष्यां स्वाध्यायं, द्वितीयायां ध्यान ध्यायेत् ।
तृतीयायां भिक्षाचर्या, पुनश्चतुर्थ्या स्वाध्यायम् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—पढमं—प्रथम, **पोरिसि**—पौरुषी मे, **सज्झाय**—स्वाध्याय करे, **बीयं**—दूसरी पौरुषी में, **झाणं**—ध्यान करे, **झियायई**—ध्यावे—करे, **तइयाए**—तीसरी में, **भिक्खायरियं**—भिक्षाचरी करे, **पुणो**—फिर, **चउत्थीइ**—चौथी पौरुषी में, **सज्झायं**—स्वाध्याय करे।

मूलार्थ—प्रथम प्रहर (पौरुषी) में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षाचरी और चौथे प्रहर मे फिर स्वाध्याय करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे साधु की दिनचर्या का वर्णन किया गया है, जैसे कि प्रथम पौरुषी—प्रथम प्रहर में पांचों प्रकार का स्वाध्याय करे, दूसरी पौरुषी मे स्वाध्याय किये हुए पदार्थ का चिन्तन अथवा आत्म-ध्यान करे, तीसरी पौरुषी में भिक्षा को जाए और चौथी मे फिर स्वाध्याय करे।

समय का यह विभाग सामान्य अथवा स्थूल दृष्टि से किया गया है और विशेष रूप से तो प्रतिलेखना आदि का समय भी इसी प्रथम पौरुषी में ही ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार तीसरी पौरुषी में उच्चार-भूमि में जाना आदि क्रियायें भी गृहीत हैं तथा अपवाद-मार्ग में भी वह समय व्यवस्थित नही रहेगा—जैसे कि रोगी व वृद्ध साधु की सेवा-सुश्रूषा मे प्रवृत्त होने से समय की व्यवस्था नही रह सकती। तथा चतुर्थ पौरुषी में भी स्वाध्याय के अतिरिक्त स्थंडिल, प्रतिलेखना और वृद्ध-ग्लानादि के लिए आहारादि लाना आदि कार्यो का समावेश कर लेना चाहिये।

अब पौरुषी के विषय में कहते हैं कि–

आसाढे मासे दुपया, पोसे मासे चउप्पया ।
चित्तासोएसु मासेसु, तिप्पया हवइ पोरिसी ॥ १३ ॥

आषाढे मासे द्विपदा, पौषे मासे चतुष्पदा ।
चैत्राश्विनयोर्मासयोः, त्रिपदा भवति पौरुषी ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः–आसाढे मासे–आषाढ़ मास मे, **दुपया**–दो पाद से, **पोसे मासे**–पौष मास मे, **चउप्पया**–चार पाद से, **चित्तासोएसु**–चैत्र और आश्विन, **मासेसु**–मास में, **तिप्पया**–तीन पाद से, **पारिसी**–पौरुषी, **हवइ**–होती है।

मूलार्थ–आषाढ़ मास में दो पाद से, पौष मास में चार पाद से और चैत्र तथा आश्विन मासों में तीन पाद से पौरुषी होती है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे इस रहस्य का उद्घाटन किया गया है कि जिस पौरुषी मे स्वाध्याय आदि क्रियाओं का विधान किया गया है, उस प्रथम पौरुषी के जानने की विधि क्या और किस प्रकार से है। सो अब उसकी विधि बतलाते हैं। यथा–अपना दक्षिण कर्ण सूर्य के सम्मुख करके और जानु के मध्य में तर्जनी अंगुली रख कर उस अंगुली की छाया को देखे; यदि वह छाया दो पाद प्रमाण आ जाए तब आषाढ़ी पूर्णिमा मे एक पहर प्रमाण दिन आ जाता है, अर्थात् आषाढ पूर्णिमा में जब चौबीस अगुल प्रमाण छाया तृण अथवा जानु पर अगुली रखने से आ जाए, तब दिन का चतुर्थ भाग–एक पहर प्रमाण दिन आ जाता है। इसी क्रम से पौष मास मे जब चार पाद प्रमाण अर्थात् अडतालीस अंगुल प्रमाण छाया आ जाए, तब एक पहर होता है तथा चैत्र और आश्विन मास मे तीन पाद प्रमाण–छत्तीस अंगुल प्रमाण छाया आने से एक पहर होता है। प्राचीन समय में राज्य-कर्मचारी लोग तो नालिका–जलमय-घटिका यत्र के द्वारा समय का निर्णय किया करते थे और मुनि लोग अपनी निरवद्यवृत्ति के अनुसार उक्त प्रकार से पौरुषी आदि के समय का निर्णय किया करते थे।

अब शेष मासों में पौरुषी के जानने का उल्लेख करते हैं, यथा–

अंगुलं सत्तरत्तेण, पक्खेणं च दुरंगुलं ।
वड्ढए हायए वावि, मासेणं चउरंगुलं ॥ १४ ॥

अङ्गुलं सप्तरात्रेण, पक्षेण च द्व्यंगुलम्।
वर्धते हीयते वापि, मासेन चतुरंगुलम् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः–अंगुलं–एक अंगुल, **सत्तरत्तेणं**–सात अहोरात्र से, **च**–और, **पक्खेणं**–पक्ष से, **दुरंगुलं**–दो अगुल, **वा**–अथवा, **वड्ढए**–वृद्धि होती है–दक्षिणायन में, **हायए**–हीन होता है–उत्तरायण में, **अवि**–सभावना मे, **मासेण**–मास से, **चउरंगुलं**–चार अंगुल प्रमाण।

मूलार्थ–सात अहोरात्र में एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और मास मे चार अंगुल प्रमाण

दिन दक्षिणायन में वृद्धि और उत्तरायण में हानि को प्राप्त होता है, अर्थात् दक्षिणायन में बढ़ता है और उत्तरायण में घटता है।

टीका—इस गाथा में शेष मासों की पौरुषी जानने की विधि का वर्णन किया गया है। यथा—जब सूर्य दक्षिणायन में होता है, तब छः मास तक दिन की वृद्धि होती है, अर्थात् कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक और धन इन छः राशियो मे जब सूर्य होता है तब दिन बढता है और मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष और मिथुन राशियों मे घटता है, परन्तु इतना विचार इसमें अवश्य है कि मिथुन—आषाढ़ के तेरह अंश से दक्षिणायन और धन के अर्थात् पौष मास के तेरह अंशों से उत्तरायण का आरम्भ होता है।

अब हानि और वृद्धि का प्रमाण बतलाते हैं—सात अहोरात्र मे एक अगुल की वृद्धि होती है; एक पक्ष में दो अंगुल और एक मास मे चार अंगुल प्रमाण दिन बढ़ता है। इसी प्रकार हानि के विषय मे भी समझ लेना चाहिए, अर्थात् एक, दो और चार अगुल की कमी होती है।

इस कथन का सकलित भावार्थ यह हुआ कि आषाढी पूर्णमासी को चौबीस अगुल प्रमाण छाया के आ जाने पर एक प्रहर होता है और श्रावण कृष्णा सप्तमी को पच्चीस अगुल की छाया आने पर एक प्रहर होता है तथा श्रावण कृष्णा चौदस को छब्बीस अगुल प्रमाण पर, श्रावण शुक्ला सप्तमी को सत्ताईस अगुल और श्राजण शुक्ला चौदस को अट्ठाईस अगुल प्रमाण छाया के आने पर एक प्रहर दिन आ जाता है। इसी क्रम से भाद्रपद मे बत्तीस, आश्विन मे छत्तीस, कार्तिक में चालीस, मार्गशीर्ष मे चवालीस और पौष मे अडतालीस अंगुल प्रमाण छाया आ जाने पर एक प्रहर या पौरुषी होती है।

ऐसे ही वृद्धि की जगह चार-चार अंगुल प्रमाण छाया को कम करते जाना चाहिए, तब आषाढ मास मे चौबीस अंगुल प्रमाण छाया के आ जाने से पौरुषी हो जाती है।

गाथा मे जो सात अहोरात्र लिखे हैं, वे तब होते है जब कि चौदह दिन का पक्ष होता है। जब पन्द्रह दिन का पक्ष होता है तब तो साढ़े सात अहोरात्र का ही प्रमाण जानना चाहिए।

अब यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि चौदह दिन का पक्ष किस-किस मास में होता है, इसी का उत्तर देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

आसाढबहुले पक्खे, भद्दवए कत्तिए य पोसे य ।
फग्गुणवइसाहेसु य, बोद्धव्वा ओमरत्ताओ ॥ १५ ॥

आषाढे पक्षबहुले, भाद्रपदे कार्तिके च पौषे च ।
फाल्गुने वैशाखे च, बोद्धव्या अवमरात्रयः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**आसाढ**—आषाढ़, **बहुले**—कृष्ण, **पक्खे**—पक्ष में, **भद्दवए**—भाद्रपद मे, **कत्तिए**—कार्तिक में, **य**—और, **पोसे**—पौष में, **य**—तथा, **फग्गुण**—फाल्गुन, **य**—और, **वइसाहेसु**—वैशाख मास में, **ओम**—न्यून, **रत्ताओ**—अहोरात्र, **बोद्धव्वा**—जानना चाहिए।

मूलार्थ—आषाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास के कृष्णपक्ष में एक

अहोरात्र की न्यूनता जाननी चाहिए, अर्थात् चौदह दिन का पक्ष जानना चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा में चौदह दिन का पक्ष बताते हुए यह कहा गया है कि आषाढ़ आदि मासो के कृष्ण पक्ष मे एक अहोरात्र का क्षय कर देना चाहिए। इस प्रकार एक अहोरात्र के कम होने से चौदह दिन का पक्ष स्वत· ही सिद्ध हो जाता है। यह जो क्षय-विधि का प्रतिपादन किया गया है, वह व्यवहार को लेकर किया गया है और निश्चय से तो गणना का प्रकार बृहद्वृत्तिकार ने निर्युक्ति गाथा की व्याख्या[1] में जो दिया है, वही उपयुक्त है।

इस प्रकार प्रथम पौरुषी में प्रतिलेखना आदि क्रियाओं का विधान और पौरुषी के प्रमाण की विधि आदि के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है।

अब उसके परिज्ञान के विषय में कहते हैं, यथा—

जेट्ठामूले आसाढसावणे, छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा ।
अट्ठहिं बीयतियम्मि, तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ॥ १६ ॥

ज्येष्ठामूले आषाढे श्रावणे, षड्भिरंगुलैः प्रतिलेखा ।
अष्टाभिर्द्वितीयत्रिके, तृतीये दशभिरष्टभिश्चतुर्थे ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**जेट्ठामूले**—ज्येष्ठ-मूल, **आसाढ**—आषाढ, **सावणे**—श्रावण मे, **छहिं**—छ , **अगुलेहिं**—अंगुलो से, **पडिलेहा**—प्रतिलेखना का समय होता है, **बीय**—द्वितीय, **तियम्मि**—त्रिक मे, **अट्ठहि**—आठ अंगुलो से, **तइए**—तृतीय त्रिक में, **दस**—दश अंगुलो से, **चउत्थे**—चतुर्थ त्रिक मे, **अट्ठहि**—आठ अगुलो से—पादोन पौरुषी का कालमान होता है।

मूलार्थ—प्रथम त्रिक में छः अंगुल का प्रक्षेप करने से, द्वितीय त्रिक में आठ अंगुल का प्रक्षेप करने से, तीसरे त्रिक में दस और चौथे त्रिक में आठ अंगुल का प्रक्षेप करने से पादोन-पौरुषी होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे पादोन पौरुषी के ज्ञान का प्रकार बताया गया है। सर्व साधारण के ज्ञानार्थ

---

१ अयणाईय दिणगणे अट्ठगुणेणेगट्ठि भाइए लद्धु। उत्तर-दाहिणमाई उत्तरपयसोज्झ पक्खेवो'।।
अत्र चायन उत्तरायण दक्षिणायने च तस्यातीतदिनानि अतिक्रान्तदिवसास्तेषा गण —समूहोऽयनातीतदिनगणः, स चोत्कृष्टतस्त्र्यशीतिशत, तच्चाष्टगुणित जातानि चतुर्दशशतानि चतुर्षष्ट्यधिकानि, तत्र चैकषष्ट्याभागे हृते लब्धानि चतुर्विंशतिरगुलानि। तत्रापि द्वादशभिरगुलै. पदमिति जाते द्वे पदे एतयोश्च। 'उत्तर दाहिणमाई' त्ति—उत्तरायणादौ दक्षिणायनादौ च 'उत्तरपद' त्ति—उत्तरपदयो । 'सोज्झ' त्ति—शुद्धि प्रक्षेपश्च, तत्र हि उत्तरायण-प्रथम-दिने चत्वारि पदान्यासन्, ततस्तन्मध्यात् पदद्वयोत्सारणे जाते कर्कट-सक्रान्ति-दिने द्वे पदे, दक्षिणायनाद्यदिने तु द्वे पदे अभूता, तन्मध्ये च द्वयो· क्षिप्तयोर्जातानि मकरसक्रान्तौ चत्वारि पदानि। इद चोत्कृष्ट-जघन्य-दिनयो· पौरुषी मान मध्यमदिनेष्वप्यभिहित नीतित· सुधिया भावनीयमिति।

सूत्रकार ने बारह महीनों के चार विभाग कर दिए हैं, जोकि प्रथम त्रिक, द्वितीय त्रिक, तृतीय त्रिक और चतुर्थ त्रिक के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक त्रिक मे तीन-तीन मासो का समावेश किया गया है। प्रथम त्रिक में ज्येष्ठ, आषाढ़ और श्रावण ये तीन मास परिगणित किए गए है, द्वितीय त्रिक मे भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक ये तीन मास हैं, तीसरे त्रिक मे मार्गशीर्ष, पौष और माघ तथा चौथे त्रिक में फाल्गुन, चैत्र और वैशाख इन मासो का ग्रहण अभीष्ट है।

प्रथम पौरुषी के प्रमाण में यावन्मात्र अगुलियो के प्रमाण का कथन किया गया है, उस प्रमाण से यदि छः अंगुल छाया अधिक बढे तब पादोन पौरुषी का समय हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे त्रिक मे जो पौरुषी के प्रमाण की छाया है उससे यदि आठ अगुल छाया बढ जाए, तब पादोन पौरुषी का समय हो जाता है तथा तीसरे त्रिक में पौरुषी के प्रमाण की छाया से यदि दस अंगुल प्रमाण छाया अधिक बढे तब पादोन पौरुषी का समय होता है और चौथे त्रिक में आठ अगुल छाया अधिक बढ़े, तब पादोन पौरुषी होती है। यही समय पात्रादि के प्रतिलेखन का बताया गया है।

ज्येष्ठा और मूल इन दो नक्षत्रों का नाम निर्देश इसलिए किया गया है कि उक्त मास मे इनका परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार यह पादोन पौरुषी के काल-ज्ञान का शास्त्रकार ने वर्णन किया है। बृहद्वृत्तिकार ने सुगमता के लिए इसका यंत्र भी दे दिया है, जो कि इस प्रकार है-

ज्येष्ठे पदे- २-४-६ अंगु -२-१०	भाद्रपदे- २-८ अगु. ८-३-४	मार्गशीर्षे पदे- ३-८ अंगु. १०-४-६	फाल्गुने पदे- ३-४ अंगु ८-४
आषाढ़े पदे-२ अंगु ६-२-६	आश्विन पदे-३ अगु ८-३-८	पौषे पदे-४ अगु १०-४-१०	चैत्रे पदे-३ अगु ८-३-८
श्रावण पदे-२-४ अंगु ६-२-१०	कार्तिक पदे-३-४ अंगु. ८-४	माघे पदे-३-८ अंगु १०-४-६	वैशाखे पदे-२-८ अंगु ८-३-४

यह सब पादोन पौरुषी के जानने व देखने की विधि का वर्णन किया गया है, प्रतिलेखना-सम्बन्धी विषय का वर्णन कुछ तो पीछे आ चुका है और कुछ आगे वर्णन किया जाएगा।

इस प्रकार दिनकृत्य के वर्णन करने के अनन्तर अब रात्रिकृत्य का वर्णन करते हैं -

रत्तिं पि चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो ।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, राइभाएसु चउसु वि ॥ १७ ॥

रात्रावपि चतुरो भागान्, भिक्षुः कुर्याद् विचक्षणः ।
तत उत्तरगुणान्कुर्यात्, रात्रिभागेषु चतुर्ष्वपि ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–**रत्ति पि**–रात्रि के भी, **चउरो भागे**–चार भाग, **वियक्खणो**–विचक्षण, **भिक्खू**–भिक्षु, **कुज्जा**–करे, **तओ**–तदनन्तर, **चउसु वि**–चारो ही, **राइभाएसु**–रात्रि भागो में, **उत्तरगुणे**–उत्तर गुणो का आराधन, **कुज्जा**–करे।

मूलार्थ–बुद्धिमान् भिक्षु रात्रि के चार भागों की कल्पना करके उन चारों ही भागों में यथाक्रम उत्तरगुणों की आराधना करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा में साधु के रात्रिकृत्यो का निर्देश किया गया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से साधु को दिन में अपने धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करना पड़ता है, उसी प्रकार रात्रि मे भी उसको कतिपय उत्तर गुणों के आराधन की आवश्यकता रहती है। इसलिए दिनचर्या की भांति रात्रि के भी चार विभाग करके उनमें यथाक्रम आवश्यक कृत्यो का अनुष्ठान करना साधु का परम कर्त्तव्य है।

साराश यह है कि जिन उत्तर गुणो के आराधनार्थ दिन को विभक्त किया गया है उन्ही उत्तर गुणों की आराधना के लिए रात्रि के चार भागों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।

अब रात्रि के चारों भागों मे अनुक्रम से जो कर्त्तव्य हैं, उनका निरूपण करते हुए कहते हैं कि–

पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ॥ १८ ॥

प्रथमपौरुष्यां स्वाध्यायं, द्वितीयायां ध्यान ध्यायेत् ।
तृतीयायां निद्रामोक्षं तु, चतुर्थ्यां भूयोऽपि स्वाध्यायम् ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–**पढमं**–प्रथम, **पोरिसि**–प्रहर मे, **सज्झायं**–स्वाध्याय करे, **बीय**–दूसरी पौरुषी मे, **झाण**–ध्यान का आचरण करे, **तु**–और, **तइयाए**–तीसरी पौरुषी में, **तु**–और, **निद्दमोक्ख**–निद्रा से मुक्त होवे, **भुज्जो वि**–फिर भी, **चउत्थी**–चौथी मे, **सज्झायं**–स्वाध्याय करे।

मूलार्थ–रात्रि की प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय करे, दूसरी पौरुषी में ध्यान, तीसरी में निद्रा को मुक्त करे और चौथी में फिर स्वाध्याय करे।

टीका–जिस प्रकार पूर्व गाथाओं में काल-विभाग से दिनचर्या का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार प्रस्तुत गाथा मे समय-विभाग से रात्रिचर्या का वर्णन किया गया है। जैसे कि–रात्रि की प्रथम पौरुषी मे स्वाध्याय का आचरण करना चाहिए और दूसरी पौरुषी में स्वाध्याय में आये हुए क्षितिवलय द्वीप, सागर, भवनादि के स्वरूप का विचार करना चाहिए, तीसरी पौरुषी में षट् प्रहरो से जो निद्रा का निरोध किया हुआ था उसको मुक्त करना चाहिए, अर्थात् विधिपूर्वक–अनशनादि कृत्य करके आगारों के साथ–शयन करना चाहिए और चौथी पौरुषी में उठकर फिर स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाना चाहिए।

यह सब कथन उत्सर्ग-विधि मे है। अपवाद-मार्ग में तो जैसे गुरुजनों की आज्ञा हो, उसी प्रकार से आचरण करना साधु का कर्त्तव्य है।

किसी-किसी आचार्य का यह भी मत है कि तीसरी पौरुषी में निद्रा आने पर भी उसे मुक्त करे, अर्थात् जागरण करे। परन्तु यह अर्थ चिन्त्य है, क्योंकि सूत्रकर्ता ने तीसरी पौरुषी मे और किसी भी कार्य के अनुष्ठान की सूचना नहीं दी, अत: इसमे निद्रा लेना ही सिद्ध होता है। दर्शनावरणीय कर्म का विधि-पूर्वक क्षयोपशम करना यही सैद्धान्तिक मत है। परन्तु यह सिद्धान्त सर्वोत्कृष्ट वृत्ति वालो के लिए हो प्रतिपादन किया गया है। सामान्यतया प्रथम और चतुर्थ प्रहर मे जागने की आज्ञा तो सूत्रो मे देखी जाती है और इस प्रकार करने से रोगादि की प्राप्ति नही होती।

ठाणागसूत्र में लिखा है 'अइनिद्दाए' अति निद्रा से रोग उत्पन्न हो जाते है अत समस्त साधु वर्ग के लिए उचित है कि वह प्रथम और चतुर्थ प्रहर मे निद्रा को अवश्य त्यागे। शास्त्रकार की भी यही आज्ञा है, तथा 'निद्रामोक्ष' शब्द का अर्थ भी यही है कि रोकी हुई निद्रा को मुक्त करना, अर्थात् शयन करना, जिससे कि निद्रा-मुक्त हो जाने पर दर्शनावरणीय कर्म क्षयोशम भाव को प्राप्त हो जाए।

अब रात्रि के चार भागो के विषय मे कहते हैं –

जं नेइ जया रत्तिं, नक्खत्तं तम्मि नहचउब्भाए ।
संपत्ते विरमेज्जा, सज्झाय पओसकालम्मि ॥ १९ ॥

यन्नयति यदा रात्रिं, नक्षत्रं तस्मिन्नेव नभश्चतुर्भागे ।
संप्राप्ते विरमेत्, स्वाध्यायात् प्रदोषकाले ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः–**जं**–जो, **नक्खत्तं**–नक्षत्र, **जया**–जिस समय, **रत्तिं**–रात्रि को, **नेइ**–पूरी करता है, **तम्मि**–उस समय-उस नक्षत्र को, **नहचउब्भाए**–आकाश के चतुर्थभाग को, **सज्झायं**–स्वाध्याय से, **विरमेज्जा**–निवृत्त हो जाए, **पओसकालम्मि**–प्रदोष काल मे।

मूलार्थ–जो नक्षत्र जिस समय रात्रि की पूर्ति करता हो, वह नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थभाग में आ जाए, तब प्रदोषकाल होता है, उस काल में स्वाध्याय से निवृत्त हो जाए।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे रात्रि के चार भागो की कल्पना का प्रकार बताया गया है। जैसे कि–सूर्य के अस्त हो जाने पर जिस नक्षत्र ने रात्रि को पूरा करना होता है, वह नक्षत्र उस समय उदय हो जाता है। तब आकाश मे उस नक्षत्र के कालमान के अनुसार चार विभाग कर लेने चाहिए, फिर उन्ही विभागो के अनुसार पूर्व कथित रात्रिचर्या का अनुसरण करना चाहिए। जब वह नक्षत्र चतुर्थ भाग मे आ जाए, तब स्वाध्याय को छोडकर अन्य आवश्यक क्रियाओ मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए। कारण यह है कि वह काल प्रदोषकाल है, रात्रि के मुखकाल को प्रदोषकाल कहते है। वह प्रात. और सायकाल की सन्धि मे होता है। जिस पौरुषी में जिन क्रियाओ का विधान है और जिस भाग मे नक्षत्र आए उसी के अनुसार आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिए। यदि रात्रि मे उदय हुआ नक्षत्र चतुर्थभाग मे आ जाए, तब स्वाध्याय को बन्द कर देना चाहिए, क्योकि इस प्रदोषकाल में प्रतिक्रमणादि अन्य आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान भी परम आवश्यक है। इसलिए आगामी गाथा में वेरत्तिय–वैरात्रिक शब्द का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ है अकाल।

अब फिर इसी विषय में कहते है–

तम्मेव य नक्खत्ते, गयणचउब्भागसावसेसम्मि ।
वेरत्तियंपि कालं, पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥ २० ॥

तस्मिन्नेव च नक्षत्रे, गगनचतुर्भागसावशेषे ।
वैरात्रिकमपि कालं, प्रतिलेख्य मुनि. कुर्यात् ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः–तम्मेव–उसी, **नक्खत्ते**–नक्षत्र की गति, **गयण**–गगन मे, **चउब्भाग**–चतुर्थ भाग के, **सावसेसम्मि**–अवशेष होने पर, **वेरत्तियं**–वैरात्रिक, **कालं**–समय, **पि**–अपि–अन्य पौरुषी आदि काल, **पडिलेहित्ता**–देखकर, **मुणी**–मुनि, **कुज्जा**–कालग्रहण करे।

मूलार्थ–उसी नक्षत्र की गति जब गगन के चतुर्थभाग में आ जाए, तब वैरात्रिक काल को देखकर मुनि समय का ग्रहण करे।

टीका–इस गाथा में पूर्वोक्त कथन की पुष्टि की गई है, यथा–जिस नक्षत्र ने रात्रि को पूर्ण करना हो, जब वह नक्षत्र आकाश के चतुर्थ भाग मे आ जाए, तब मुनि वैरात्रिक काल को ग्रहण करके अपनी आवश्यक क्रिया में प्रवृत्त हो जाए, अथवा आकाश मे चतुर्थ भाग के अवशेष रह जाने पर उसी नक्षत्र के अनुसार समय को ठीक देखकर मुनि निज क्रियाओ मे प्रवृत्ति कर लेवे।

वैरात्रिक काल का तात्पर्य यह है कि आकाश में चतुर्थ भाग, अर्थात् गन्तव्य से जो अवशेष चतुर्थ भाग है उसी वैरात्रिक काल मे अपनी करणीय आवश्यक क्रियाए करनी चाहिए। 'अपि' शब्द से अन्य पौरुषियों का ग्रहण भी कर लेना अभीष्ट है।

ऊपर कही हुई गाथा का साराश इतना ही है कि–नक्षत्र की गति के द्वारा आकाश के चार भागो की कल्पना कर लेने पर उसके अनुसार अपनी रात्रिचर्या मे प्रवृत्ति करनी चाहिए और चतुर्थ भाग शेष रहने पर आवश्यकादि क्रियाओं में मुनि को प्रवृत्त होना चाहिए।

यहां पर 'गयण'–'गगन' शब्द में सप्तमी विभक्ति के लुप्त होने का निर्देश है। धातुओ के अनेक अर्थ होते है, इस नियम के अनुसार 'कृञ्' धातु का यहां पर 'ग्रहण करना' अर्थ लिया गया है।

इस प्रकार सामान्य रूप से रात्रि और दिन के कृत्यों का निर्देश कर देने के अनन्तर अब विशेष रूप से दिनकृत्य के विषय में कहते हैं–

पुव्विल्लम्मि चउब्भाए, पडिलेहित्ताण भण्डयं ।
गुरुं वन्दित्तु सज्झायं, कुज्जा दुक्खविमोक्खणं ॥ २१ ॥

पूर्वस्मिन् चतुर्भागे प्रतिलेख्य भाण्डकम् ।
गुरुं वन्दित्वा स्वाध्यायं, कुर्याद् दुःखविमोक्षणम् ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः–पुव्विल्लम्मि–पूर्व के, **चउब्भाए**–चतुर्थ भाग में, **भण्डयं**–भाण्डोपकरण को, **पडिलेहित्ताण**–प्रतिलेखन करके, **गुरुं**–गुरु को, **वन्दित्तु**–वन्दना करके, **दुक्खविमोक्खण**–दु:खों से

मुक्त करने वाले, **सज्झायं**–स्वाध्याय को, **कुज्जा**–करे।

मूलार्थ–दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में, भांडोपकरण की प्रतिलेखना करके फिर गुरुजनों को वन्दना करके दुःखों से मुक्त कराने वाले स्वाध्याय को करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा में विशेष रूप से साधु की दिनचर्या का वर्णन किया गया है। जब साधु के द्वारा अपनी बुद्धि से दिन के चार भाग कल्पना कर लिए गए, तब उनमें से प्रथम विभाग के प्रथम चतुर्थ भाग में, अर्थात् सूर्योदय से दो घटिका प्रमाण समय पर्यन्त भाडोपकरण–उपधि–अर्थात् अपने धर्मोपकरणो की प्रतिलेखना करे, फिर गुरुओं को वन्दना करके स्वाध्याय मे प्रवृत्त हो जाए, क्योंकि स्वाध्याय शारीरिक और मानसिक सर्व प्रकार के दुःखो का विनाश करने वाला है। यहा पर इतना स्मरण रहे कि जिस प्रकार प्रात. और सांय काल में सेवन की हुई औषधि रोग की निवृत्ति और नीरोगता की वृद्धि करने वाली होती है, उसी प्रकार प्रथम और चौथे प्रहर मे किया हुआ स्वाध्याय भी कर्मों के क्षय करने मे विशेष समर्थ होता है, क्योंकि यह दोनो समय शान्त रस के उत्पादक हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं–

पोरिसीए चउब्भाए, वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
अपडिक्कमित्ता कालस्स, भायणं पडिलेहए ॥ २२ ॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
अप्रतिक्रम्य कालं, भाजनं प्रतिलेखयेत् ॥ २२ ॥

पदार्थान्वय.–**पोरिसीए**–पौरुषी के, **चउब्भाए**–चतुर्थ भाग में, **तओ**–तदनन्तर, **गुरुं**–गुरु को, **वन्दित्ताण**–वन्दना करके, **कालस्स**–काल को, **अपडिक्कमित्ता**–अप्रतिक्रम करके, **भायणं**–भाजनो की, **पडिलेहिए**–प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ–पौरुषी के चतुर्थ भाग में गुरु को वन्दना करके काल का अप्रतिक्रम कर अर्थात् ठीक समय पर भाजनों की प्रतिलेखना करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा में प्रतिलेखना का समय बताते हुए कहते है कि जब प्रथम पौरुषी का चतुर्थ भाग शेष रह जाए, अर्थात् पादोन पौरुषी व्यतीत हो जाने पर द्वितीय पौरुषी के लगने मे दो घटिका प्रमाण समय शेष हो, तब गुरु को वन्दना करके उनकी आज्ञा लेकर पात्रादि की प्रतिलेखना करे।

सूत्र में जो "**अपडिक्कमित्तु कालस्स–अप्रतिक्रम्य कालस्य**" लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि अभी तक स्वाध्याय के करने का समय था, परन्तु उसको छोड़कर, अर्थात् स्वाध्याय के लिए जो ज्ञान के चतुर्दश अतिचारों का ध्यान किया जाता है, उसको न करके, क्योंकि चतुर्थ प्रहर में फिर स्वाध्याय करना है, अत: पात्रों की प्रतिलेखना में लग जाए। प्रथम प्रहर में दो घड़ी तक और स्वाध्याय करना शेष था, उसको छोड़कर, अर्थात् उसकी समाप्ति के सूचक कायोत्सर्गादि न करके जो पात्रादि

की प्रतिलेखना में प्रवृत्त होने का समय है उसको अप्रतिक्रम-काल कहते है। इसलिए दो घटिका प्रमाण स्वाध्याय काल मे पात्रो की प्रतिलेखना मे लग जाए।

अब प्रतिलेखना में प्रकार का वर्णन करते हैं, यथा–

मुहपोत्तिं[1] पडिलेहित्ता, पडिलेहिज्ज गोच्छगं ।
गोच्छगलइयंगुलिओ, वत्थाइं पडिलेहए ॥ २३ ॥

मुखपत्रिकां प्रतिलेख्य, प्रतिलेखयेद् गोच्छकम् ।
अङ्गुलिलातगोच्छकः, वस्त्राणि प्रतिलेखयेत् ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः–मुहपोत्तिं–मुखवस्त्रिका की, **पडिलेहित्ता**–प्रतिलेखना करके, **गोच्छगं**–गोच्छक की, **पडिलेहिज्ज**–प्रतिलेखना करे, **गोच्छगलइयंगुलिओ**–गोच्छक को अंगुलियो से ग्रहण करके फिर, **वत्थाइं**–वस्त्रो की, **पडिलेहए**–प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ–मुख-वस्त्रिका की प्रतिलेखना करके फिर गोच्छक की प्रतिलेखना करे, फिर अंगुलियों से गोच्छक को ग्रहण करके वस्त्रों की प्रतिलेखना करे।

टीका–इस गाथा मे अनुक्रम से प्रतिलेखना और प्रमार्जना की विधि का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे कि–पादोन पौरुषी मे जब प्रतिलेखना करने लगे तो प्रथम तो पात्रो की प्रतिलेखना करे, फिर मुख-वस्त्रिका (मुंहपत्ती) की प्रतिलेखना करके गोच्छक की प्रतिलेखना करे, और फिर गोच्छक को अगुलियों से ग्रहण करके वस्त्रो की प्रतिलेखना करे। यहा पर 'गुच्छग–गोच्छक' का अर्थ 'रजोहरण' समझना चाहिए। यद्यपि वृत्तिकार ने गोच्छक का अर्थ पात्रो के ऊपर का 'उपकरण' ऐसा किया है, परन्तु विचार करने पर यह अर्थ प्रकरण-संगत प्रतीत नहीं होता। यदि पात्रो के ऊपर के वस्त्र का ही यहा पर गोच्छक शब्द से ग्रहण करें, तो फिर उक्त गाथा के तीसरे पाद की वृत्ति में जो यह लिखा है–''**प्राकृतत्वादंगुलिभिर्लातो गृहीतो गोच्छको येन सोयमंगुलिलातगोच्छक.**' अर्थात् 'अगुलियो से ग्रहण किया है गोच्छक जिसने, तो फिर उसकी उपपत्ति नही हो सकेगी। इसलिए गोच्छक शब्द का पारिभाषिक अर्थ यहां पर 'रजोहरण' ही शास्त्रकार को अभिप्रेत है।

तात्पर्य यह है कि ''पात्रो पर देने वाले वस्त्र को अगुलियों मे ग्रहण करके वस्त्रों की प्रतिलेखना करे'' इसका कुछ भी अभिप्राय स्पष्ट नही होता। इसके अतिरिक्त यदि गोच्छक शब्द से 'रजोहरण' का ग्रहण यहां पर न किया जाए, तो फिर उक्त सूत्र मे रजोहरण की प्रतिलेखना का विधान करने वाली और कौन सी गाथा है? अत: 'अंगुलियो से ग्रहण किया है गोच्छक जिसने' इस अर्थ की सार्थकता रजोहरण के साथ ही सम्बन्ध रखती है, क्योंकि रजोहरण में जो फलिया होती हैं, उनकी प्रतिलेखना अगुलियो से ही की जा सकती है। इसलिए गोच्छक शब्द का गुरु-परम्परा से प्राप्त जो 'रजोहरण' अर्थ है, वही युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

---

१ मुहपोत्ति- मुखपत्तिकाम्–इत्यपि पाठ ।

बीसवीं गाथा के चतुर्थपाद मे पात्रो की प्रतिलेखना का वर्णन किया गया है, तो क्या जब कि पात्रो की प्रतिलेखना की जाएगी, तो उसके साथ में जिस वस्त्र में वे पात्र बधे हुए है उसकी प्रतिलेखना नही की जाएगी, उसकी भी साथ ही में प्रतिलेखना होगी ही। संग्रह-नय के मत से यहां पर पात्र शब्द से पात्रो के उपकरण का भी साथ में ही ग्रहण किया गया है।

इस सारे कथन का सारांश यह है कि प्रथम तो साधु अपने चिन्ह वाले उपकरणो—मुख-वस्त्रिका और रजोहरणादि—की प्रतिलेखना करे और फिर वस्त्रो की प्रतिलेखना करे। जैसे कि प्रथम मुख पर से वस्त्रिका को उतार कर उसकी प्रतिलेखना करनी और फिर अंगुलियो से रजोहरण और उसके बाद वस्त्रो की प्रतिलेखना करनी। यही हमारे गच्छ की सामाचारी है जो कि आज तक बराबर प्रवर्तमान है। आगे तो जो केवली भगवान को अभिमत हो वही ठीक है; क्योंकि तत्व केवली-गम्य है।

अब वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि में कुछ और जानने योग्य विषय का प्रतिपादन करते हैं, यथा—

उड्ढं थिरं अतुरियं, पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे।
तो बिइयं पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जिज्जा ॥ २४ ॥

उर्ध्वं स्थिरमत्वरितं, पूर्वं तावद् वस्त्रमेव प्रतिलेखयेत्।
ततो द्वितीय प्रस्फोटयेत्, तृतीयं च पुनः प्रमृज्यात् ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—उड्ढ—ऊचा, **थिरं**—स्थिर, **अतुरियं**—शीघ्रता से रहित, **पुव्व**—पूर्व, **ता**—पहले, **वत्थमेव**—वस्त्र की ही, **पडिलेहे**—प्रतिलेखना करे, **तो**—तदनन्तर, **बिइयं**—द्वितीय, **पप्फोडे**—प्रस्फोटना करे, **च**—फिर, **तइय**—तृतीय, **पुणो**—फिर, **पमज्जिज्जा**—प्रमार्जना करे।

मूलार्थ—सबसे पहले ऊर्ध्व, स्थिर और शीघ्रता से रहित वस्त्र की प्रतिलेखना करे, द्वितीय—वस्त्र की प्रस्फोटना करे, तृतीय-वस्त्र की प्रमार्जना करे।

टीका—इस गाथा में वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि का निरूपण किया गया है। जैसे कि—जब वस्त्र की प्रतिलेखना करनी हो, तब वस्त्र को काय से ऊंचा रखना और उसका तिर्यग् विस्तार करना, अर्थात् उत्कुटुक आसन पर बैठकर (पैरो के बल बैठकर) वस्त्र को ऊचा रक्खे और उसका तिरछा विस्तार करे। फिर उसको दृढ़ता से पकडे और शीघ्रता न करे तथा दृष्टि को प्रतिलेखना मे रखे; यह प्रतिलेखना की प्रथम विधि है।

इस प्रकार प्रतिलेखना करते समय यदि वस्त्र आदि मे कोई जीव दृष्टिगोचर हो तो यत्न पूर्वक वस्त्र की प्रस्फोटना करे, अर्थात् एकान्त मे वस्त्र को झाड दे; यह द्वितीय विधि है।

तीसरी विधि यह है कि—प्रस्फोटना करने पर भी यदि जीव वस्त्र से अलग न हो, तब उस जीव को हाथ मे लेकर किसी एकान्त स्थान मे रख दे। यह वस्त्र-प्रतिलेखना का प्रकार है जो कि यत्न-पूर्वक करना चाहिए ताकि किसी क्षुद्र जीव का घात न हो।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अणच्चावियं अवलियं, अणाणुबंधिममोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा नव खोडा, पाणीपाणिविसोहणं ॥ २५ ॥

अनर्तितमवलितं, अननुबंध्यमौशली चैव ।
षट्पूर्वा नवखोटकाः, पाणिप्राणिविशोधनं ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः–अणच्चावियं–वस्त्र व शरीर को नचावे नही, **अवलियं**–वस्त्र की मोटन न करे, **अणाणुबंधिं**–निरन्तर, **च**–फिर, **अमोसलिं**–मोसलि न होवे, **छप्पुरिमा**–षट्पूर्वा–वस्त्र की विभाग रूप वा प्रस्फोटन रूप, **नव**–नौ, खोडा–खोटकाप्रस्फोटन रूप, **पाणी**–हाथ में, **पाणि**–प्राणियो का, **विसोहणं**–विशोधन करना।

मूलार्थ–वस्त्र को नचावे नहीं, भित्ति आदि से लगावे नहीं, किन्तु निरन्तर उपयोग पूर्वक प्रतिलेखना करे तथा षट्पूर्व नवखोटक हाथों में लेकर प्राणियों का विशोधन करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा में भी प्रतिलेखना विधि का ही विशेष प्रकार से वर्णन किया गया है। जिस प्रकार से शरीर और वस्त्र नृत्य न करें उस प्रकार प्रतिलेखना करे; अर्थात् प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र को फटकावे नहीं। फिर वस्त्र और शरीर का मोटन न हो इस प्रकार प्रतिलेखना करे तथा जिस प्रकार वस्त्र का कोई भी विभाग अलक्ष्यमान न हो उस प्रकार प्रतिलेखना करे, अर्थात् उपयोग पूर्वक प्रतिलेखना करे। इसी का नाम अननुबंधि है। भित्ति आदि से वस्त्र का स्पर्श न होवे, यदि नीचे-ऊचे और तिर्यग् में वस्त्र का स्पर्श हो रहा हो, तो वह शुद्ध प्रतिलेखना नही होगी।

फिर वस्त्र की प्रतिलेखना करते समय वस्त्र के तीन भाग कर लेने चाहिए; तीन भाग करके एक तरफ से देख लिए गए, फिर दूसरी ओर के देख लिए जाए, उन छः भागों की पूर्वा संज्ञा है, ये भी प्रस्फोटन-रूप क्रियाविशेष है। फिर उन तीन भागो मे से प्रत्येक भाग की तीन-तीन बार प्रस्फोटना की जाती है। इस प्रकार नवखोटक हो जाते हैं। इसी प्रकार दूसरी ओर भी नवखोटक किए जाए, तो उनकी प्रखोटक सज्ञा हो जाती है। फिर उसमे उपयोग रखना चाहिए, जिससे कि उसमे यदि कोई जीव हो तो उसको यत्न पूर्वक पृथक् कर दिया जाए, ताकि किसी क्षुद्र जीव का वध न होने पाए। जिस प्रकार प्रतिलेखना के विषय में कहा गया है उपलक्षण से उसी प्रकार प्रमार्जन के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

षट्पूर्वा– ।।।   नवखोटक–।।। । । ।
।।। ।।। ।।।

दोनों ओर करने से षट् होते है।   दोनो ओर करने से नौ-प्रखोटक होते है।

अब प्रतिलेखना के दोष दूर करने के विषय में कहते हैं–

आरभडा सम्मद्दा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया ।
पप्फोडणा चउत्थी, विक्खित्ता वेइया छट्ठी ॥ २६ ॥

आरभटा संमर्दा, वर्जयितव्या च मौशली तृतीया ।
प्रस्फोटना चतुर्थी, विक्षिप्ता वेदिका षष्ठी ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**आरभडा**—विपरीत प्रतिलेखना करना, **सम्मद्दा**—वस्त्रों को संमर्दन करना, **य**—फिर, **वज्जेयव्वा**—वर्जना चाहिए, **य**—तथा, **मोसली**—नीचे ऊपर स्पर्श करना, **तइया**—तीसरी, **पप्फोडणा**—प्रस्फोटना, **चउत्थी**—चौथी है, **विक्खित्ता**—विक्षिप्ता रूप, पांचवीं है, **वेइया**—वेदिका, **छट्ठी**—छठी है।

मूलार्थ—आरभटा, संमर्दा, मोसली, प्रस्फोटना, विक्षिप्ता और वेदिका यह छः प्रकार की प्रतिलेखना वर्जनी चाहिए।

टीका—इस गाथा मे प्रतिलेखना के छः दोष कथन किए गए है। यथा—

पहली आरभटा—सूत्र से विपरीत प्रतिलेखना करना, तथा शीघ्र-शीघ्र करना और वस्त्रों को इधर-उधर से देख कर रख देना।

दूसरी संमर्दा—वस्त्र को एक कोने से पकडकर उसके दूसरे कोने से मसलना और उपधि पर बैठना, इसको समर्दा कहते हैं।

तीसरी मोसली—तिर्यग्, ऊर्ध्व और नीचे वस्त्र का स्पर्श होते रहना, अर्थात् भित्ति आदि से वस्त्र का टकरांना यह मोसली कहलाती है।

चौथी प्रस्फोटना है—जोकि बिना यत्न के वस्त्र को झाडना है।

पांचवीं विक्षिप्ता है—जो कि प्रतिलेखना किए हुए और बिना प्रतिलेखना के वस्त्रो को इकट्ठा करके रख देना अथवा वस्त्रो को इधर-उधर फैला कर रख देना है।

छठी वेदिका—रूप प्रतिलेखना है, वह भी प्रमाद-रूप होने से त्याज्य है।

वेदिका के पाच भेद हैं, यथा, प्रथम—ऊर्ध्ववेदिका, द्वितीय—अधोवेदिका, तृतीय—तिर्यग्वेदिका, चतुर्थ—उभयवेदिका और पचम—एक वेदिका।

पहली ऊर्ध्ववेदिका—प्रतिलेखना करते समय पंजों के बल बैठकर जब जानु ऊंचे किए जाए और यदि दोनो हाथ दोनो जानुओ पर रखकर प्रतिलेखना की जाए तो उसको ऊर्ध्ववेदिका कहते हैं।

दूसरी अधोवेदिका—उसका नाम है जो दोनों जानुओं के नीचे हाथ रखकर प्रतिलेखना की जाए।

तीसरी तिर्यग्वेदिका—उसे कहते है जो कि सदशकों के मध्य में दोनो हाथ रखकर प्रतिलेखना की जाए।

चौथी उभयवेदिका—उसका नाम है, जो कि दोनों भुजाओं को जानुओं से बाहर रख कर प्रतिलेखना की जाए।

पांचवीं एक वेदिका—प्रतिलेखना उसे कहते हैं, जो कि दोनों जानु दोनों हाथों के मध्य मे

रखकर की जाए, तथा एक जानु को बाह्यान्तर करके जो प्रतिलेखना की जाए, वह भी एक वेदिका कहलाती है।

यह उक्त प्रकार की पांचों ही प्रतिलेखनाएं प्रमाद-रूप होने से और शास्त्र-विपरीत होने से त्याज्य है, अर्थात् इस प्रकार की प्रतिलेखना न करनी चाहिए। एक हाथ तो दोनों जानुओ के मध्य मे हो और एक हाथ दोनों जानुओं के बाहर हो। इस प्रकार से यत्न पूर्वक प्रमाद-रहित होकर की गई प्रतिलेखना शुद्ध–निर्दोष प्रतिलेखना कही जा सकती है। इसलिए उक्त छ. प्रकार की प्रतिलेखना-सम्बन्धी दोषों को त्याग कर ही प्रतिलेखना करनी चाहिए।

अब प्रतिलेखना के अन्य दोषों का दिग्दर्शन कराते हैं–

पसिढिलपलम्बलोला, एगामोसा अणेगरूवधुणा ।
कुणइ पमाणे पमायं, संकियगणणोवगं कुज्जा ॥ २७ ॥

प्रशिथिलं प्रलंबो लोलः, एकामर्षाऽनेकरूपधूना ।
कुरुते प्रमाणे प्रमादं, शंकिते गणनोपग कुर्यात् ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः–पसिढिल–शिथिल वस्त्र पकड़ना, **पलम्ब**–विषम वस्त्र ग्रहण करना, **लोला**–वस्त्र को भूमि पर घसीटना, मसलना, **एगामोसा**–वस्त्र को मध्य से पकडकर उसके कोनो का परस्पर सघर्षण करना, **अणेगरूवधुणा**–अनेक रूप से वस्त्र को धुनना, **पमाणे**–प्रस्फोटनादि की सख्या में, **पमायं**–प्रमाद, **कुणइ**–करता है, **संकियं**–शकित होकर, **गणणोवगं**–गणना के उपयोग को, **कुज्जा**–करता है।

मूलार्थ–दृढ़ता से रहित वस्त्र पकड़ना, विषम वस्त्र पकड़ना, वस्त्र को भूमि पर घसीटना, मसलना, वस्त्र को मध्य से पकड़कर झाड़ना, प्रमाणरहित वस्त्र को धुनना, प्रमाण में प्रमाद करना और शंका हो जाने पर गणना को प्राप्त होना, ये सब प्रतिलेखना के दोष कथन किए गए हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में भी प्रतिलेखना के दोषों का वर्णन किया गया है, जैसे कि–प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को दृढता से न पकडना तथा वस्त्र को विषम पकड़ कर प्रतिलेखना करना, वस्त्र के एक कोने को पकड़ कर सर्व वस्त्र को देख लेना। भूमि पर तथा हाथों मे रख कर वस्त्र को मसलना व घसीटना और वस्त्र को मध्य से पकड कर झाड़ देना; तथा एक काल मे वस्त्रों के कोनों का परस्पर सघर्षण करना। सूत्र में तीन स्फोटना की आज्ञा दी गई है, सो उस क्रम को छोड़कर अनेक प्रकार से वस्त्र को धुनना, हिलाना या फटकना, फिर प्रतिलेखना करते समय सूत्र मे जो प्रतिलेखना का प्रमाण वर्णन किया है उसमे प्रमाद करना, प्रतिलेखना करते समय सूत्र मे जो प्रतिलेखना का प्रमाण है उसके प्रमाण में शंका उत्पन्न हो जाए, तब सख्या की अगुलियो पर गणना करने लग जाना, ये प्रतिलेखना-सम्बन्धी दोष शास्त्र में बताए गए है। संकलना करने पर इन सब दोषों की सख्या पच्चीस होती है। इन दोषो से युक्त प्रतिलेखना सदोष प्रतिलेखना है, और इनको त्यागकर जो प्रतिलेखना की जाती है वह निर्दोष प्रतिलेखना है।

अब भंगों के अनुसार प्रतिलेखना की सदोषता और निर्दोषता का वर्णन करते हैं–

अणूणाइरित्तपडिलेहा, अविवच्चासा तहेव य ।
पढमं पयं पसत्थं, सेसाणि उ अप्पसत्थाइं ॥ २८ ॥

अनूनाऽतिरिक्ता प्रतिलेखना, अविव्यत्यासा तथैव च ।
प्रथमं पदं प्रशस्तं, शेषाणि त्वप्रशस्तानि ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः–**अणूणाइरित्त**–न्यूनाधिकता से रहित, **पडिलेहा**–प्रतिलेखना, **य**–और, **तहेव**–उसी प्रकार, **अविवच्चासा**–विपर्यास अर्थात् विपरीत भी नही, **पढमं**–प्रथम, **पयं**–पद, **पसत्थं**–प्रशस्त है, **उ**–और, **सेसाणि**–शेष पद, **अप्पसत्थाइं**–अप्रशस्त है।

मूलार्थ–न्यूनाधिकता से रहित और विपर्यास अर्थात् वैपरीत्य से रहित इस प्रकार प्रतिलेखना के तीन पदों के साथ आठ भंग होते हैं, इनमें प्रथम पद तो प्रशस्त है और शेष पद अप्रशस्त हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे भंगों के द्वारा प्रतिलेखना की प्रशस्तता और अप्रशस्तता का वर्णन किया गया है। जैसे कि–सूत्र के अनुसार न्यून न हो, अतिरिक्त और विपरीत भी न हो, इन तीनों पदों–भगों के सयोग से प्रतिलेखना के आठ भग हो जाते है; सो इन आठ भंगो में से केवल प्रथम भंग शुद्ध है और शेष सभी भग अशुद्ध हैं, अतः प्रथम भंग के अनुसार ही प्रतिलेखना करनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि षट्पूर्वा, नवखोटक और नवप्रखोटक और एक दृष्टि, यह पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना पहले भग के अनुसार की जाए तो प्रशस्त है और अन्य भंगो के अनुसार की जाए तो वह अप्रशस्त है। इसलिए विचारशील साधु को प्रमाद रहित होकर पहले भंग के अनुसार प्रशस्त प्रतिलेखना का ही आचरण करना चाहिए।

भंगों की प्रशस्तता और अप्रशस्तता निम्नलिखित कोष्ठक से समझ लेनी चाहिए। यथा–

१	न्यून नहीं	अतिरिक्त नहीं	विपर्यास नही	शुद्ध है-प्रशस्त है
२	न्यून नही	अतिरिक्त नही	विपर्यास है	अशुद्ध है-अप्रशस्त
३	न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास नहीं है	अशुद्ध है-अप्रशस्त
४	न्यून है	अतिरिक्त नहीं है	विपर्यास नहीं है	अशुद्ध है-अप्रशस्त
५.	न्यून नही	अतिरिक्त है	विपर्यास है	अशुद्ध है-अप्रशस्त
६.	न्यून है	अतिरिक्त नहीं है	विपर्यास है	अशुद्ध है-अप्रशस्त
७.	न्यून नहीं	अतिरिक्त है	विपर्यास नही	अशुद्ध है-अप्रशस्त
८.	न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास है	अशुद्ध है-अप्रशस्त

इस प्रकार प्रतिलेखना करते सयम त्याग करने योग्य जो अन्य बातें हैं, अब उनके विषय में कहते हैं–

पडिलेहणं कुणन्तो, मिहो कहं कुणइ जणवयकहं वा ।
देइ व पच्चखाणं, वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥ २९ ॥

प्रतिलेखनां कुर्वन्, मिथः कथां करोति जनपदकथां वा ।
ददाति वा प्रत्याख्यानं, वाचयति स्वयं प्रतीच्छति वा ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः–पडिलेहणं–प्रतिलेखना, **कुणन्तो**–करता हुआ, **मिहो**–परस्पर, **कहं**–कथा, **कुणइ**–करता है, **वा**–अथवा, **जणवयं**–जनपद की, **कहं**–कथा करता है, **व**–अथवा, **पच्चक्खाणं**–प्रत्याख्यान, **देइ**–देता है, **वा**–अथवा, **वाएइ**–पढ़ाता है अथवा, **सयं**–स्वयं, **पडिच्छइ**–पढता है।

मूलार्थ–प्रतिलेखना करता हुआ साधु यदि परस्पर कथा करता है, अथवा जनपद-संबधी कथा करता है, अथवा किसी को प्रत्याख्यान कराता है, अथवा किसी को पढ़ाता या किसी से स्वयं पढ़ता है। (ये क्रियाएं त्याज्य हैं)

टीका–प्रस्तुत गाथा में प्रतिलेखना करते समय जिन बातों को त्याज्य माना गया है, उन सबका दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे कि–प्रतिलेखना करते समय परस्पर सम्भाषण करना, देश सबधी और उपलक्षण से स्त्री आदि की कथा करना, किसी को प्रत्याख्यान कराना, अथवा किसी को पढ़ाना या किसी से स्वयं पढना इत्यादि कार्य वर्ज्य है।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिलेखना करते समय साधु न तो किसी से अधिक संभाषण करे और न ही देश-संबंधी कथा कहे और किसी को प्रत्याख्यान भी न कराए तथा न स्वय पढे और न अन्य को पढ़ाए ही, क्योकि उक्त क्रियाओ में प्रवृत्त होने से उपयोग के भग होने की पूरी संभावना रहती है।

अब शास्त्रकार स्वयं उक्त क्रियाओ के अनुष्ठान से प्रतिलेखना में लगने वाले दोषो का वर्णन करते हैं–

पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं ।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ ॥ ३० ॥

पृथ्व्यप्काय, तेजोवायुवनस्पतित्रसानाम्।
प्रतिलेखनाप्रमत्तः, षण्णामपि विराधको भवति ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः–पुढवी–पृथ्वीकाय, **आउक्काए**–अप्काय, **तेऊ**–तेजस्काय, **वाऊ**–वायुकाय, **वणस्सइ**–वनस्पतिकाय, **तसाणं**–त्रसकाय, **पडिलेहणा**–प्रतिलेखना मे, **पमत्तो**–प्रमाद करने वाला, **छण्हंपि**–छओं कायों का, **विराहओ**–विराधक, **होइ**–होता है।

मूलार्थ–प्रतिलेखना मे प्रमाद करने वाला साधक प्रमत्त भाव से प्रतिलेखना करता हुआ, पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय–इन छओं का ही विराधक होता है।

टीका–प्रतिलेखना करते समय साधु यदि ऊपर बताए गए परस्पर कथा आदि कार्यों मे प्रवृत्त हो जाता है तो प्रमाद-वश होकर उपयोग-शून्य होने से वह षड्जीव निकाय का विराधक हो जाता है।

जैसे कि कोई साधु किसी कुम्हार की शाला में उतरा और प्रमाद-वश उपयोग शून्य होने से उसके पाव की ठोकर से एक जल का भरा हुआ घडा गिर गया, तब वह सचित्त पृथ्वी पर से होता हुआ वनस्पति और कुन्थु आदि सूक्ष्म जीवों को बहाता हुआ पास मे जलते हुए एक अग्नि कुण्ड मे जाकर गिरा। इस प्रकार अनुक्रम से पांचों कायों की हिंसा करता हुआ गिरते समय वायुकाय का भी हिसक हुआ; इस रीति से छओ कायों की हिसा हो जाती है, इसलिए प्रमाद से प्रतिलेखना करने से साधु षट्काय का विराधक बन जाता है।

अब आराधक होने का प्रकार बताते हैं, यथा–

पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं ।
पडिलेहणाआउत्तो, छण्हं संरक्खओ होइ ॥ ३१ ॥

पृथ्व्यप् तेजो, वायु-वनस्पति-त्रसाणाम् ।
प्रतिलेखनाऽऽयुक्तः, षण्णां सरक्षको भवति ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वय –**पुढवी**–पृथिवीकाय, **आउक्काए**–अप्काय, **तेउ**–तेजस्काय, **वाऊ**–वायुकाय, **वणस्सइ**–वनस्पतिकाय, **तसाणं**–त्रसकाय–त्रस जीवो की, **पडिलेहणा**–प्रतिलेखना मे, **आउत्तो**–आयुक्त अर्थात् अप्रमत्त, **छण्हं**–छओं कायो का, **सरक्खओ**–सरक्षक, (**आराहओ**–आराधक,) **होइ**–होता है।

मूलार्थ–आयुक्तता अर्थात् अप्रमत्त भाव से प्रतिलेखना करने वाला साधु पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छओं का आराधक अर्थात् सरक्षक होता है।

टीका–अप्रमत्त भाव से उपयोग पूर्वक प्रतिलेखना करने वाला साधु पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इन छः प्रकार के जीवो का आराधक अर्थात् संरक्षक होता है; क्योंकि प्रतिलेखना के समय जब उसने परस्पर सभाषण और पठन-पाठनादि क्रियाओं को छोड दिया हो, तो उसका उपयोग प्रतिलेखना मे ठीक-ठीक लग जाता है; उपयोग के ठीक लगने पर प्रमाद नही रह सकता और प्रमाद के न रहने से जीवादि की विराधना नहीं होती, बस विराधना का न होना ही आराधकता है। इसी हेतु से अप्रमत्त होकर प्रतिलेखना करने वाले को आराधक व संरक्षक कहा गया है।

इस प्रकार प्रथम पौरुषी के विषय का वर्णन किया गया। अब द्वितीय पौरुषी मे ध्यान का विषय है; सो वह भी अप्रमत्त भाव से उपयोग पूर्वक ही करना चाहिए। जिस सूत्र का स्वाध्याय किया था उसके अर्थ का चिन्तन करना और आत्मध्यान अर्थात् धर्मध्यान में प्रवृत्त रहकर केवल ध्यान में ही समय

को व्यतीत करना चाहिए।

तृतीय पौरुषी-संबंधी आवश्यक क्रियाओं के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने वाले साधु के लिए जो कर्तव्य निर्दिष्ट हैं, अब शास्त्रकार उसके विषय में कहते हैं –

तइयाए पोरिसीए, भत्तपाणं गवेसए ।
छण्हमन्नयरागम्मि, कारणम्मि समुट्ठिए ॥ ३२ ॥

तृतीयायां पौरुष्यां, भक्तपानं गवेषयेत् ।
षण्णामन्यतरस्मिन्, कारणे समुत्थिते ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः–तइयाए–तीसरी, **पोरिसीए**–पौरुषी में, **भत्त**–भक्त, **पाण**–पानीय की, **गवेसए**–गवेषणा करे, **छण्हं**–छओ के मध्य में, **अन्नयरागम्मि**–किसी एक, **कारणम्मि**–कारण के, **समुट्ठिए**–उपस्थित हो जाने पर।

मूलार्थ–तृतीय पौरुषी के आ जाने पर भक्त और पानी की अर्थात् भोजन-पानी की गवेषणा करे, षट्कारणों में से किसी एक कारण के उत्पन्न हो जाने पर।

टीका–जब साधक द्वितीय पौरुषी में करने योग्य ध्यानादि क्रियाओं को संपूर्ण कर चुके तब तृतीय पौरुषी के कर्तव्य मे प्रवृत्त हो जाए। ध्यान-क्रिया के अन्तर्गत कायोत्सर्ग का भी ग्रहण किया जा सकता है, जब तृतीय पौरुषी का समय आ जाए, तब षट्कारणों[1] मे से किसी एक कारण के उपस्थित हो जाने पर साधु आहार-पानी की गवेषणा करे।

तात्पर्य यह है कि बिना कारण के आहार-पानी की गवेषणा मे प्रवृत्त न होवे, अर्थात् बिना कारण के आहारादि नही करना चाहिए, परन्तु यह कथन उत्सर्गमार्ग का अवलबन करके किया गया है, जो कि प्रायः जिनकल्पी के लिए ही विहित है और अपवाद मार्ग मे स्थविरकल्पी तो समय पर आहारादि क्रिया मे प्रवृत्त होते ही हैं।

अब षट्कारणों के विषय में कहते हैं –

वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए व संजमट्ठाए ।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए ॥ ३३ ॥

वेदनायै वैयावृत्याय, इर्यार्थाय च संयमार्थाय ।
तथा प्राणप्रत्ययाय, षष्ठं पुनर्धर्मचिन्तायै ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः–वेयण–क्षुधा-वेदना का उपशम करने के लिए, **वेयावच्चे**–गुरु की सेवा करने के लिये, **य**–और, **इरियट्ठाए**–ईर्यासमिति के लिये, **संजमट्ठाए**–सयम के लिये, **तह**–तथा, **पाणवत्तियाए**–प्राण-रक्षा के लिए, **छट्ठं**–छठे, **धम्मचिन्ताए**–धर्मचिन्तन के लिए।

---

१ षट्कारणो का उल्लेख अगली गाथा मे किया गया है।

मूलार्थ–क्षुधा-वेदना की शांति के लिए, गुरु-जनों की सेवा के लिए, ईर्यासमिति के लिए और संयम तथा प्राणों की रक्षा के लिए एवं छठे–धर्म-चिन्तन के लिए (साधु को आहार-पानी की गवेषणा करनी चाहिए)।

टीका–प्रस्तुत गाथा में आहार-पानी के लिए गवेषणा करने के कारणो का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत गाथा का अभिप्राय यह है कि वेदनादि छ: कारणो में से किसी एक कारण को लेकर ही साधु को आहारादि की गवेषणा मे प्रवृत्त होना चाहिए। जैसे कि –

भूख और प्यास की वेदना को शान्त करने के लिए ही साधु को आहार-पानी ग्रहण करना चाहिए, न कि जिह्वा के स्वाद के लिए, पहले–क्षुधा-वेदना के बढ़ने से धर्म-ध्यान में बाधा उपस्थित हो जाती है, अत: उसकी शान्ति के लिए आहारादि करना चाहिए।

दूसरे–गुरू आदि की सेवा-भक्ति करने के उद्देश्य से आहार करना चाहिए, यदि आहार न किया जाए, तो गुरुजनो की सेवा-भक्ति का होना कठिन हो जाता है।

तीसरे–बिना भोजन किए आखो की ज्योति भी मंद पड जाती है, और उसके मन्द पडने से ईर्यासमिति के व्यवहार मे बाधा आने की संभावना रहती है, इसलिए ईर्यासमिति की रक्षा के लिए आहार ग्रहण करना चाहिए।

चौथे–संयम पालन के लिए भी आहार कर लेना चाहिए। कारण यह है कि यदि साधक आहार नही करता, तब उसकी चित्तवृत्तियां सचित्त पदार्थो के खाने में जाती है जिससे सयम का विघात हो जाता है, अत: सयम के निर्वाहार्थ भी आहार का करना आवश्यक है।

पाचवे–प्राणो की रक्षा के लिए भी आहार न किया जाए तो अविधि से मृत्यु की प्राप्त होने की सभावना रहती है और इस प्रकार का आत्मघात हिंसास्पद होने से दुर्गति का पोषक है, अत. प्राण-रक्षा के लिए आहार कर लेना चाहिए।

छठे–धर्म-चिन्ता के लिए भी आहार का लेना आवश्यक है, कारण यह है कि क्षुधा और पिपासा की प्रबलता से धर्म-ध्यान के बदले आर्त-ध्यान के उत्पन्न होने की सभावना अधिक रहती है, अत: सिद्ध हुआ कि श्रुतधर्म और व्यवहार-धर्म का पालन करने के लिए तथा पांच प्रकार के स्वाध्याय के लिए आहार करने का निषेध नहीं है, क्योंकि आकुल चित्त से धर्म का चिंतन नहीं हो सकता।

उक्त कारणों के उपस्थित होने पर आहारादि की गवेषणा आवश्यकता है अथवा नहीं, अब इस विषय में कहते हैं –

निग्गन्थो धिइमन्तो, निग्गन्थी वि न करेज्ज छहिं चेव।
ठाणेहिं उ इमेहिं, अणइक्कमणाइ से होइ ॥ ३४ ॥

निर्ग्रन्थो धृतिमान्, निर्ग्रन्थ्यपि न कुर्याद् षड्भिश्चैव।
स्थानैस्त्वेभि:, अनतिक्रमणाय तस्य भवति (तानि) ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वय:–**निग्गन्थो**–निर्ग्रन्थ–साधु, **धिइमन्तो**–धृतिमान्, **निग्गन्थी**–साध्वी, **वि**–भी, **न**

करेज्ज—न करे, **छहिं**—छः, **ठाणेहिं**—स्थानो से, **से**—आहार की गवेषणा, उ—फिर, **इमेहिं**—इन वक्ष्यमाण कारणों से, **अणइक्कमणाइ**—अनतिक्रमण सयम से, **से**—उसका, **होइ**—होता है, **य**—समुच्चय अर्थ में, **चेव**—पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—धृतिमान् साधु और साध्वी इन वक्ष्यमाण छः कारणों से (उक्त कारणों के उपस्थित होते हुए भी) आहार-पानी की गवेषणा न करे, तभी उसके संयम का अतिक्रमण नहीं होता।

टीका—इस गाथा में यह बताया गया है कि पूर्वोक्त कारणो के उपस्थित होने पर यदि वक्ष्यमाण छः कारण उपस्थित हों, तो धैर्यशील साधु और साध्वी आहार-पानी को ग्रहण न क़रे।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि प्रथम आहार ग्रहण करने के जो छः कारण बताए गए है, उनमे से एक कारण सयम-रक्षा भी है, किन्तु यदि वक्ष्यमाण कारणों के उपस्थित हो जाने पर साधु व साध्वी आहारादि की गवेषणा न करे, तो उनके संयम का अतिक्रमण—उल्लघन नहीं हो सकता, इसलिए आहार विधि भी एकान्त नही है।

जिन कारणों के उपस्थित होने पर साधु के लिए आहारादि गवेषणा का विधान नहीं, अब उन कारणों के विषय में कहते हैं —

आयंके उवसग्गे, तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥ ३५ ॥

आतंक उपसर्गे, तितिक्षया ब्रह्मचर्यगुप्तिषु।
प्राणिदयाहेतो. तपोहेतोः, शरीरव्यवच्छेदार्थाय ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः—आयंके—आतक एव रोग आदि के उत्पन्न होने पर, **उवसग्गे**—उपसर्ग के आ जाने पर, **तितिक्खया**—तितिक्षा के लिए, **बम्भचेरगुत्तीसु**—ब्रह्मचर्य की गुप्ति अर्थात् रक्षा के लिए, **पाणिदया**—प्राणियों की दया के लिए, **तवहेउं**—तप के निमित्त, **सरीर**—शरीर के, **वोच्छेयणट्ठाए**—व्यवच्छेदनार्थ।

मूलार्थ—रोग के होने पर, उपसर्ग के आने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, तितिक्षा के सहने पर, प्राणियों की दया के लिए, तप के लिए और शरीर व्यवच्छेदनार्थ—अनशन व्रत के लिए (साधु को आहारादि की गवेषणा नहीं करनी चाहिए।)

टीका—प्रस्तुत गाथा मे बताए गए आहार-त्याग के कारणो का अभिप्राय इस प्रकार है, यथा—

जब कभी ज्वरादि रोगों का आक्रमण हो जाए, तब कुछ समय के लिए आहार का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि अधिकतर रोग अजीर्णता को लेकर ही उत्पन्न होते हैं, अतः ऐसे रोगो में आहार का त्यागना ही श्रेयस्कर है।

दूसरे—उपसर्गो के उत्पन्न होने पर भी आहार का त्याग करना हितकर है। जैसे कि—दीक्षा-ग्रहण करते समय स्वजनादि वर्ग अधिक विलाप करता हो, तब भी आहार नहीं करना चाहिए। देवता-संबंधी

उपसर्ग में भी आहार का त्याग देना अच्छा है, जैसे—अर्जुन माली के शरीर में मुद्गरपाणि यक्ष ने प्रवेश किया हुआ था, तब उसके मिलने पर सुदर्शन सेठ ने आहार का त्याग कर दिया। तात्पर्य यह है कि रोग और उपसर्ग में आहार के त्याग से इन दोनों की शीघ्र निवृत्ति हो जाती है।

तीसरे—ब्रह्मचर्य-गुप्ति के लिए भी आहार का त्याग लाभप्रद है। यदि आहार करने से ब्रह्मचर्य की पूर्णतया रक्षा नहीं हो सकती, तो उसको त्याग देना चाहिए। खाने से यदि विकारों की उत्पत्ति विशेष होती हो तो उसको त्याग कर ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी ही चाहिए।

चतुर्थ—प्राणियों की दया के लिए आहार का त्याग कर देना चाहिए, जैसे—वर्षाकाल में अधिक वर्षा के होने से भूमि पर अप्काय जीव अधिक समय तक सचित्त भाव से रहते हैं तथा कुन्थु आदि सूक्ष्म जीवों की अधिकता हो जाती है, तब उन जीवों की रक्षा के लिए आहार की गवेषणा में प्रवृत्त न होना ही श्रेष्ठ है।

पाचवे—तप के वास्ते भी आहार का त्याग करना आवश्यक है, जैसे कि उपवास आदि जब करने है, तब आहार का त्याग कर दिया जाता है।

छठे—जब कि यह दृढ़ निश्चय हो जाए कि अब शरीर नहीं रहेगा और छूटने का समय बहुत निकट आ गया है, तब अवशिष्ट आयु भर के लिए अनशनव्रत धारण कर लेना चाहिए, अर्थात् आहारादि का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

साराश यह है कि पूर्व कहे गए षट्कारणों के विद्यमान होने पर भी यदि इन उक्त छ: कारणों मे से कोई कारण उपस्थित हो जाए, तब विचारशील साधु और साध्वी को आहार की गवेषणा नही करनी चाहिए, इसके अतिरिक्त यदि कोई अन्य साधु व साध्वी गवेषणा करके आहार लाया हो, तो उसे भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, यही इस गाथा का फलितार्थ है।

अब इसी विषय में पुन: कहते हैं कि—आहार की गवेषणा करता हुआ साधु किस विधि से और कितने प्रमाण क्षेत्र में भिक्षा के लिए भ्रमण करे, यथा –

अवसेसं भण्डगं गिज्झ, चक्खुसा पडिलेहए ।
परमद्धजोयणाओ, विहारं विहरए मुणी ॥ ३६ ॥

अवशेषं भाण्डकं गृहीत्वा, चक्षुषा प्रतिलेखयेत् ।
परममर्धयोजनात्, विहारं विहरेन्मुनिः ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः—अवसेसं—अवशेष, **भण्डगं**—भांडोपकरण को, **गिज्झ**—ग्रहण करके, **चक्खुसा**—चक्षुओ से, **पडिलेहए**—प्रतिलेखना करे, **परमद्ध**—परमार्द्ध, **जोयणाओ**—योजन प्रमाण, **विहारं**—विहार करके, **विहरए**—विचरे, **मुणी**—मुनि।

मूलार्थ—मुनि अब शेष भांडोपकरणों को ग्रहण करके उसकी चक्षुओं से प्रतिलेखना करे और परमार्द्ध योजन प्रमाण विचरण करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा में इस बात को प्रकाशित किया गया है कि–जब मुनि विहार करे, तब अपना सर्व भांडोपकरण साथ लेकर जाए और जो आहार कहीं से लिया है, उसको वह आधे योजन तक साथ ले जा सकता है, आगे नहीं।

कोई भी मुनि जब आहार के लिए जाए, तब उसे आहार लेने से पूर्व अपने पात्रो की भली प्रकार से प्रतिलेखना कर लेनी चाहिए।

यहा पर इतना स्मरण रहे कि जब जिनकल्पी मुनि आहार-पानी को जाता है, तब तो वह अपने सर्व भांडोपकरण साथ ही लेकर जाता है और यदि स्थविरकल्पी आहार के लिए जाए, तब वह अपनी उपाधि को अन्य मुनि को जतला कर जाता है, ताकि वर्षादि हो जाने पर वह उनकी रक्षा कर सके। यदि विहार करना हो तब जिनकल्पी वा स्थविरकल्पी अपनी-अपनी उपाधि को साथ लेकर ही विहार करें, परन्तु साधु ने जिस क्षेत्र से आहार-पानी लिया है, उसको वह उस क्षेत्र से अर्द्ध योजन अर्थात् दो कोस प्रमाण तक ही ले जा सकता है, आगे नही। यदि आगे ले जाएगा, तो उसको ''क्षेत्र-विक्रान्त'' दोष लगेगा।

इस रीति से विहार करके उपाश्रय में आकर गुरू आदि के सम्मुख आलोचनादि करके और उनके समक्ष भोजनादि करने के अनन्तर उसे फिर जो कुछ करना चाहिए, अब उसके विषय में कहते हैं –

चउत्थीए पोरिसीए, निक्खिवित्ताण भायणं ।
सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं ॥ ३७ ॥

चतुर्थ्यां पौरुष्यां, निक्षिप्य भाजनम्।
स्वाध्यायं च ततः कुर्यात्, सर्वभावविभावनम् ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः–चउत्थीए–चतुर्थी, **पोरिसीए**–पौरुषी मे, **निक्खिवित्ताण**–निक्षेपण करके, **भायणं**–भाजनो को, **तओ**–तदनन्तर, **सज्झायं**–स्वाध्याय, **कुज्जा**–करे, **च**–पुनः जो, **सव्वभाव**–सर्व भावो का, **विभावण**–प्रकाशक है।

मूलार्थ–चौथी पौरुषी के आ जाने पर पात्रों को रखकर सर्व भावों का प्रकाश करने वाले स्वाध्याय को करे।

टीका–जब तृतीय पौरुषी का समय समाप्त हो जाए और चतुर्थ पौरुषी का समय आरम्भ हो, तब मुनि को चाहिए कि वह अपने पात्रादि उपकरणों की प्रतिलेखना करके उन्हे अलग रख देवे, और सर्व भावो को प्रकाशित करने वाले स्वाध्याय मे प्रवृत्त हो जाए। कारण यह है कि स्वाध्याय के अनुष्ठान से जीवाजीवादि पदार्थों का भली-भांति ज्ञान हो जाता है, इसीलिए स्वाध्याय सर्व प्रकार के दुःखों से विमुक्त करने वाला है।

तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय के आचरण से यथार्थ ज्ञान के साथ-साथ सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र की भी प्राप्ति हो जाती है, तथा ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय वा क्षयोपशम भी हो जाता

है और आत्मा की धर्म मे स्थिरता होने से अन्य जीवो को भी धर्म में स्थिर करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

जब स्वाध्याय कर चुके तो फिर मुनि क्या करे, अब इस विषय में कहते हैं यथा –

पोरिसीए चउब्भाए, वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
पडिक्कमित्ता कालस्स, सेज्जं तु पडिलेहए ॥ ३८ ॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
प्रतिक्रम्य कालस्य, शय्या तु प्रतिलेखयेत् ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः–**पोरसीए**–पौरुषी के, **चउब्भाए**–चतुर्थ भाग मे, **तओ**–स्वाध्याय के अनन्तर, **गुरुं**–गुरु को, **वन्दित्ताण**–वन्दना करके, **कालस्स**–समय को, **पडिक्कमित्ता**–प्रतिक्रम करके, **तु**–फिर, **सेज्ज**–शय्या की, **पडिलेहए**–प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ–चतुर्थ प्रहर की पौरुषी के चतुर्थ भाग में स्वाध्याय के अनन्तर गुरु की वन्दना करके और काल को प्रतिक्रम करके फिर शय्या की प्रतिलेखना करे।

टीका–जब चतुर्थ पौरुषी का चतुर्थ भाग शेष रह जाए, तब स्वाध्याय के काल से प्रतिक्रमण करके अर्थात् स्वाध्याय को बन्द करके गुरु की वन्दना करके शय्या एव वसती की प्रतिलेखना करे, अर्थात् जिस स्थान में साधु ठहरा हुआ है उस स्थान की प्रतिलेखना करे। यद्यपि स्वाध्याय के लिए दो घडी प्रमाण और समय भी था, परन्तु उस काल से निवृत होकर अर्थात् स्वाध्याय को छोड़कर वसती की प्रतिलेखना करने का विधान इसलिए किया गया है कि ईर्यासमिति की और आठ प्रवचन-माताओ की आराधना भली-भाति हो सके।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं –

पासवणुच्चारभूमिं च, पडिलेहिज्ज जयं जई ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥ ३९ ॥

प्रस्त्रवणोच्चारभूमिं च, प्रतिलेखयेद् यतं यतिः ।
कायोत्सर्ग ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम् ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वयः–**पासवणुच्चारभूमिं च**–प्रस्त्रवणभूमि और उच्चारभूमि की, **पडिलेहिज्जा**–प्रतिलेखना करे, **जयं**–यत्नशील, **जई**–यति, **तओ**–तदनन्तर, **काउस्सग्गं**–कायोत्सर्ग, **कुज्जा**–करे जो, **सव्व**–सर्व, **दुक्ख**–दुःखो से, **विमोक्खणं**–मुक्त करने वाला है।

मूलार्थ–यत्नशील मुनि प्रस्त्रवण और उच्चारभूमि की प्रतिलेखना करे, तदनन्तर सर्व दुःखो से छुड़ाने वाला कायोत्सर्ग करे।

टीका–जब यत्नशील मुनि बसती की प्रतिलेखना कर चुके, तब प्रस्त्रवणभूमि (मूत्र-त्याग करने का स्थान) और उच्चारभूमि (पुरीष त्याग करने का स्थान) की प्रतिलेखना करे। उक्त दोनों प्रकार के

स्थानो की देख-भाल करने की इसीलिए आवश्यकता है कि-यदि कारण वशात् उक्त दोनो क्रियाओ की, अर्थात् मल-मूत्र के त्याग की आवश्यकता पड़े तो वह सुख पूर्वक कर सके, ताकि किसी जीव-जन्तु की विराधना न हो जाए।

इस प्रकार मुनि की दिन-चर्या की विधि का वर्णन किया गया है। अब रात्रि-चर्या का वर्णन करते है-जैसे कि आवश्यक सूत्र के अनुसार प्रथम आवश्यक की आज्ञा लेकर और उसके मूल सूत्र को पढकर फिर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग के करने से सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दु:खों का क्षय हो जाता है।

अब कायोत्सर्ग में विचारणीय एवं चिन्तनीय विषयों का वर्णन करते हैं –

देवसियं[1] च अईयारं, चिन्तिज्जा अणुपुव्वसो ।
नाणंमि दंसणे चेव, चरित्तम्मि तहेव य ॥ ४० ॥

दैवसिकं चातिचारं, चिन्तयेदनुपूर्वशः।
ज्ञाने च दर्शने चैव, चारित्रे तथैव च ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः–**देवसियं**–दिन-सबंधी, **अईयारं**–अतिचारो की, **अणुपुव्वसो**–अनुक्रम से, **चिन्तिज्जा**–चिन्तना करे, **च**–पुनः, **नाणंमि**–ज्ञान मे, **च**–और, **दंसणे**–दर्शन मे, **तहेव**–उसी प्रकार, **चरित्तम्मि**–चारित्र मे लगे हुए अतिचारो की विचारणा करे, **य**–और, **एव य**-पूर्ववत् अर्थ जानना।

मूलार्थ–अब मुनि को चाहिए कि वह दिन में लगे हुए ज्ञान, दर्शन और चारित्रविषयक अतिचारों की अनुक्रम से चिन्तना करे।

टीका–जब सूर्य अस्त हो जाए और रात्रि का आरम्भ हो जाए, तब मुनि कायोत्सर्ग करके दिन मे जो अतिचार लगे हो, उन सब का ध्यान मे चिन्तन करे, अर्थात् ज्ञान-दर्शन और चारित्र मे लगे हुए अतिचारों का विचार करे। सूत्रों मे ज्ञान के चौदह और दर्शन के पाच अतिचार माने गए है, तथा चारित्र मे आठ प्रवचन माता के, षट्काय, पांच महाव्रत, तैंतीस आशातनाओ और अठारह पापो से निवृत्ति आदि सभी अतिचारों का समावेश हो जाता है, सो ध्यान म उपयोग पूर्वक इन अतिचारो का चिन्तन करे। इतना ही नही, किन्तु मुख-वस्त्रिका की प्रतिलेखना से लेकर यावन्मात्र क्रियाए की गई हैं, उन सबका विचार करे। फिर इस बात का भी विचार करे कि मुझसे आज कौन-सी क्रिया सूत्रानुसार हुई है और कौन-सी सूत्र के विपरीत हुई है, क्योंकि जो क्रिया सूत्र के विपरीत हुई हो उसके लिए पश्चात्ताप करना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए साधु कायोत्सर्ग में दिन-संबधी अतिचारो का चिन्तन अवश्य करे।

अब कायोत्सर्ग के पश्चात् करने योग्य क्रिया का वर्णन करते हैं –

पारियकाउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं ।
देवसियं तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कम्मं ॥ ४१ ॥

---

१ 'देसिय' इति वृत्तिकारसम्मत. पाठ । तत्र वकारलोप· प्राकृत्वाद् ज्ञेयः।

पारितकायोत्सर्गः, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
दैवसिकं त्वतिचारं, आलोचयेद्यथाक्रमम् ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः—पारिय—समाप्त किया है, **काउस्सग्गो**—कायोत्सर्ग जिसने (ऐसा मुनि), **तओ**—तदनन्तर, **गुरुं**—गुरु की, **वन्दित्ताण**—वन्दना करके, **तु**—फिर, **देवसियं**—दिन-सबंधी, **अईयारं**—अतिचारो की, **जहक्कमं**—यथाक्रम, **आलोएज्ज**—आलोचना करे।

मूलार्थ—कायोत्सर्ग को समाप्त करने के अनन्तर मुनि गुरु की वन्दना करके, दिन-संबधी अतिचारों की अनुक्रम से आलोचना करे।

टीका—जब मुनि ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे लगे हुए अतिचारो का विचार कर चुके, तब ध्यान को त्याग कर गुरु से चतुर्विंशतिस्तव रूप द्वितीय आवश्यक के करने की आज्ञा लेवे। उसके अनन्तर वन्दना रूप तृतीय आवश्यक की आज्ञा लेकर गुरु की द्वादशावर्त वन्दना करे। फिर गुरुदेव से आज्ञा लेकर चतुर्थ आवश्यक में लग जाए, अर्थात् दिन में लगे हुए ज्ञानादि विषयक अतिचारों की अनुक्रम से गुरु के समक्ष आलोचना करे। कारण यह है कि इस प्रकार करने से भविष्य के लिए विशुद्धि के परिणाम उत्पन्न हो जाते है।[१]

अब पूर्वोक्त विषय में फिर कहते हैं –

पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वंदित्ताण तओ गुरुं ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥ ४२ ॥

प्रतिक्रम्य निःशल्यः, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
कायोत्सर्गं तत. कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम् ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः—पडिक्कमित्तु—प्रतिक्रमण से—प्रतिक्रमण करके, **निस्सल्लो**—नि·शल्य हो कर, **तओ**—तदनन्तर, **गुरुं**—गुरु की, **वंदित्ताण**—वन्दना करके, **तओ**—तत्पश्चात्, **सव्वदुक्ख-विमोक्खणं**—सर्व दुःखों से छुड़ाने वाला, **काउस्सग्गं**—कायोत्सर्ग, **कुज्जा**—करे।

मूलार्थ—अतिचारों से निवृत्त होकर फिर मायादि शल्यो से रहित होकर, गुरु की वन्दना करके तदनन्तर सर्व प्रकार के दुःखों से विमुक्त करने वाले कायोत्सर्ग को करे।

टीका—इस गाथा में भी पूर्व गाथा में वर्णित विषय का ही स्पष्टीकरण किया गया है। जैसे कि मुनि चतुर्थ आवश्यक करते हुए अतिचार रूप पापो से निवृत्त होवे, अर्थात् मन[२], वचन और काया से इसी आवश्यक मे अतिचारो के लिए **'मिच्छा मि दुक्कडं—मिथ्या दुष्कृतं'** देकर फिर श्रमण-सूत्र करे। फिर सर्व प्रकार के शल्यों से रहित होकर और गुरु की वन्दना करके पाचवें आवश्यक के अनुष्ठान की आज्ञा लेवे। तदनन्तर सर्व दुःखों के नाश करने वाला पांचवां कायोत्सर्ग नामक आवश्यक करे। यह

---

१ इन आवश्यको के सबध मे विशेष जानकारी के लिए देखिए 'आवश्यकसूत्र'।

२ मन से—भाव शुद्धि से—सूत्र पाठ से, काया से—मस्तक आदि नमाने से।

आवश्यक ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि के लिए कथन किया गया है, इसीलिए यह सर्व प्रकार के दु:खों से छुड़ाने वाला माना गया है।'

अब फिर पूर्वोक्त विषय में ही कहते हैं –

पारियकाउस्सग्गो[2], वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
थुइमंगलं च काऊणं, कालं संपडिलेहए ॥ ४३ ॥

पारितकायोत्सर्गः, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
स्तुतिमंगलं च कृत्वा, कालं संप्रतिलेखयेत् ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः–**पारिय**–पार कर, **काउस्सग्गो**–कायोत्सर्ग को, **गुरुं**–गुरु की, **वन्दित्ताण**–वन्दना करके, **च**–फिर, **थुइमंगलं**–स्तुति मगल को, **काऊणं**–करके, **कालं**–काल की, **संपडिलेहए**–प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ–कायोत्सर्ग को पार कर तदनुसार गुरु की वन्दना करके फिर स्तुति-मंगल को पढ़कर काल की प्रतिलेखना करे।

टीका–जब पाचवां आवश्यक पूर्ण हो जाए, तब ध्यान को पूर्ण करके गुरु की विधि-पूर्वक वन्दना करे, तदनन्तर स्तुति-मंगल का पाठ करे, फिर काल की प्रतिलेखना करे। जैसे कि–रात्रि मे तारो का पतन, विद्युत का प्रकाश, बादलों का गर्जन और दिग्दाह आदि तो नही हुआ, जिससे कि फिर स्वाध्याय का आरम्भ किया जाए। परन्तु वर्तमान समय मे तो पाचवे आवश्यक के पश्चात् गुरु की विधि-पूर्वक वन्दना करने के अनन्तर छठे प्रत्याख्यान रूप आवश्यक के करने की ही प्रथा चली आ रही है और वर्तमान समय का जैन-वर्ग इसी आम्नाय को अपना रहा है। परन्तु सूत्र मे जब रात्रि का आवश्यक करने का विधान किया जाएगा, तब उस समय छठे आवश्यक के करने का विधान किया गया है। यहां पर तो सामाचारी का संक्षिप्त विषय होने से उसका दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है। अत. छठा आवश्यक करके स्तुति-मंगल अर्थात् 'नमोत्थुणं' का पाठ पढ़े (अन्य सब विधि आवश्यक सूत्र से जान लेनी चाहिए) फिर स्वाध्याय करने के लिए काल की प्रतिलेखना करे, जिससे कि शास्त्रनिर्दिष्ट समय में स्वाध्याय आदि क्रियाएं की जा सके।

अब प्रतिक्रमण के पश्चात् अन्य रात्रि-कृत्यों के विषय में फिर कहते हैं –

पढमं पोरिसि सज्झायं, बिइयं झाणं झियायई ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, सज्झायं तु चउत्थिए ॥ ४४ ॥

प्रथमपौरुष्यां स्वाध्यायं, द्वितीयायां ध्यानं ध्यायेत् ।
तृतीयायां निद्रामोक्षं तु, स्वाध्यायं तु चतुर्थ्याम् ॥ ४४ ॥

---

१ इस विषय का पूर्ण विवरण 'आवश्यक सूत्र' मे देखना चाहिए।

२ बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा के प्रथम पाद के स्थान मे–सिद्धाण संथव किच्चा, ऐसा पाठान्तर भी माना है।

पदार्थान्वयः—**पढमं**—प्रथम, **पोरिसि**—पौरुषी अर्थात् प्रहर में, **सज्झायं**—मुनि स्वाध्याय करे, **बिइयं**—दूसरी पौरुषी में, **झाणं**—ध्यान, **झियायई**—को आराधना करे, **तइयाए**—तीसरी पौरुषी में, **तु**—और, **निद्दमोक्खं**—निद्रा को मुक्त करे, अर्थात् शयन करे, **सज्झायं**—स्वाध्याय, **तु**—और, **चउत्थिए**—चौथी पौरुषी में करे।

मूलार्थ—प्रथम पौरुषी अर्थात् प्रहर में मुनि स्वाध्याय करे, दूसरी पौरुषी मे ध्यान की आराधना करे और तीसरी में निद्रा को मुक्त करे और चौथी पौरुषी में स्वाध्याय करे।

टीका—प्रतिक्रमण के पश्चात् काल की प्रतिलेखना करके फिर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय करे, जब स्वाध्याय का समय पूर्ण हो जाए, तब द्वितीय पौरुषी मे ध्यान करे। 'ध्यान' शब्द से यहां पर सूत्रार्थ का चिन्तन करना अथवा धर्म और शुक्ल ध्यान आदि करना अभिप्रेत है, जिसे लोग योगाभ्यास कहते है।

तात्पर्य यह है कि द्वितीय पौरुषी के समय को सूत्रार्थ-चिन्तन में या कायोत्सर्ग करके आत्म-चिन्तन में व्यतीत करे। जब तीसरी पौरुषी का समय आए, तब निद्रा लेवे—शयन करे, एवं तृतीय पौरुषी के व्यतीत होने पर चतुर्थ पौरुषी में उठकर फिर स्वाध्याय मे लग जाए। इस प्रकार प्रस्तुत गाथा में रात्रि-चर्या का वर्णन किया गया है।

अब चतुर्थ पौरुषी के विषय में कुछ विशेष कहते हैं, यथा —

पोरिसीए चउत्थीए, कालं तु पडिलेहिया ।
सज्झायं तु तओ कुज्जा, अबोहन्तो असंजए ॥ ४५ ॥

पौरुष्यां चतुर्थ्यां, कालं तु प्रतिलेख्य ।
स्वाध्यायं तु ततः कुर्यात्, अबोधयन्नसंयतान् ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः—**पोरिसीए**—पौरुषी, **चउत्थीए**—चतुर्थी में, **कालं**—काल की, **पडिलेहिया**—प्रतिलेखना करके, **तओ**—तदनन्तर, **सज्झायं**—स्वाध्याय, **कुज्जा**—करे, **तु**—किन्तु, **असंजए**—असयतो को, **अबोहन्तो**—न जगाता हुआ।

मूलार्थ—चतुर्थ पौरुषी में काल की प्रतिलेखना करके स्वाध्याय करे, परन्तु असंयत आत्माओं को न जगाता हुआ ही स्वाध्याय करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि तृतीय पौरुषी के समाप्त होने पर और चतुर्थ के आरम्भ मे अपने आसन से उठकर साधु सबसे पहले काल की प्रतिलेखना करे और तत्पश्चात् स्वाध्याय करने लग जाए, परन्तु उठते हुए या स्वाध्याय करते हुए अन्य असंयतो अर्थात् गृहस्थों को न जगाए, अर्थात् उसके उठने या स्वाध्याय करने से किसी दूसरे गृहस्थ की निद्रा भग न हो, इस प्रकार उसे उठना और स्वाध्याय करना चाहिए। जैसे कि—इतने उच्च स्वर से स्वाध्याय न करे, जिससे कि समीप मे सोये हुए गृहस्थ जाग उठें। कारण यह है कि बहुत से ऐसे पामर प्राणी होते हैं जो कि जागने पर अनेक प्रकार

के अनर्थकारी कर्मों में प्रवृत्त हो जाते है, वधिक लोग जीवो के वध में उद्यत हो जाते हैं और विषयी लोग विषयों मे निमग्न हो जाते हैं। अत: सयमशील साधु को इन सब बातों का विचार करके अपने धर्म-कृत्य की आराधना करनी चाहिए। यहां पर समस्त प्रकार की ध्यान-क्रियाओ का स्वाध्याय मे ही समावेश समझ लेना चाहिए।

अब स्वाध्याय के अनन्तर करणीय कृत्य का वर्णन करते है –

पोरिसीए चउब्भाए, वन्दिऊण तओ गुरुं ।
पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए ॥ ४६ ॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
प्रतिक्रम्य कालस्य, कालं तु प्रतिलेखयेत् ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः–पोरिसीए–पौरुषी के, **चउब्भाए**–चतुर्थभाग मे, **गुरुं**–गुरु की, **वन्दिऊण**–वन्दना करके, **तओ**–तदनन्तर, **पडिक्कमित्तु**–प्रतिक्रमण करके, **कालस्स**–काल, **तु**–फिर, **कालं**–प्रभात काल की, **पडिलेहए**–प्रतिलेखना करे।

मूलार्थ–पौरुषी के चतुर्थ भाग में गुरु की वन्दना करके तदनन्तर काल को प्रतिक्रम करके प्रात:काल की प्रतिलेखना करे।

टीका–जिस पौरुषी में स्वाध्याय का आरम्भ किया था, उसका जब चतुर्थ भाग अर्थात् दो घडी प्रमाण समय शेष रह जाए, तब गुरु की वन्दना करके काल का प्रतिक्रम करे, अर्थात् स्वाध्याय काल को छोड कर आवश्यक करने के समय की अर्थात् प्रात:काल की प्रतिलेखना करे।

यहा पर 'कालस्स' का अर्थ वैरात्रिक काल है (**'प्रतिक्रम्य कालस्य–वैरात्रिकस्य' टीका**) और द्वितीय काल शब्द से प्रभात-काल का ग्रहण अभिमत है (**कालं–प्राभातिकम्**) तात्पर्य यह है कि जब चतुर्थ प्रहर का चतुर्थ भाग शेष रह जाए, तब साधु प्रतिक्रमण के समय को जानता हुआ स्वाध्याय को छोडकर आवश्यक के समय को ग्रहण करे। कारण यह है कि आवश्यक की सम्पूर्ण क्रिया अनुमानत: दो घडी प्रमाण काल मे समाप्त हो जाती है और उस क्रिया मे रात्रि-संबधी अतिचारो का चिन्तन किया जाता है।

'ण' शब्द यहा पर वाक्यालंकार में है और 'तु' एव अर्थ का बोधक है।

अब प्रस्तुत आवश्यक की विधि का निरूपण करते हैं, यथा –

आगए कायवोस्सग्गे, सव्वदुक्खविमोक्खणे ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥ ४७ ॥

आगते कायव्युत्सर्गे, सर्वदु:खविमोक्षणे ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदु:खविमोक्षणम् ॥ ४७ ॥

पदार्थान्वयः—**सव्वदुक्खविमोक्खणे**—सर्व दु:खो से छुड़ाने वाले, **कायवोस्सगे**—कायव्युत्सर्ग के समय के, **आगए**—आने पर, **काउस्सग्गं**—कायोत्सर्ग, **कुज्जा**—करे, **तओ**—तदनन्तर, **सव्वदुक्ख-विमोक्खणं**—सर्व दु:खो से मुक्त करने वाला।

मूलार्थ—सर्व प्रकार के दु:खों से छुड़ाने वाले कायोत्सर्ग के करने का समय आने पर सर्व दु.खों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

टीका—यहा पर भी पूर्वोक्त विधि का ही संक्षेप से वर्णन किया गया है, यथा—सामायिक आवश्यक करके फिर चतुर्विंशति स्तव करे, तदनन्तर वन्दना करके फिर चतुर्थ आवश्यक के करने की गुरु से आज्ञा लेकर कायोत्सर्ग करे।

यहां पर कायोत्सर्ग के साथ जो **'सर्वदु·खविमोक्षणं'** का बार-बार सबध किया गया है, उसका अभिप्राय कायोत्सर्ग के महत्व का वर्णन करना है; अर्थात् इसके द्वारा ही कर्मो की अत्यन्त निर्जरा हो सकती है तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि का प्रधान कारण भी यही है। इसके अतिरिक्त आत्मा को समाधि का प्राप्त होना और उसके द्वारा परमोत्कृष्ट आनन्दमय रस का पान करना भी इसी के द्वारा उपलब्ध हो सकता है, अत· प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को कायोत्सर्ग में प्रवृत्त होना चाहिए।

अब कायोत्सर्ग में चिन्तनीय अतिचारों के विषय में कहते हैं –

राइयं च अईयारं, चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणंमि दंसणंमि य, चरित्तंमि तवंमि य ॥ ४८ ॥

रात्रिकं चातिचारं, चिन्तयेदनुपूर्वशः ।
ज्ञाने दर्शने च, चारित्रे तपसि च ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वयः—**राइय**—रात्रि-संबधी, **अईयारं**—अतिचारो की, **अणुपुव्वसो**—अनुक्रम से, **चिन्तिज्ज**—चिन्तवना करे, **य**—और, **नाणंमि**—ज्ञान मे, **दसणंमि**—दर्शन में, **चरित्तमि**—चारित्र मे, **य**—और, **तवंमि**—तप मे तथा वीर्य मे—लगे हुए अतिचारो की, **च**—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—रात्रि में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य मे लगे हुए अतिचारों की अनुक्रम से चिन्तवना करे।

टीका—जब साधु प्रथम आवश्यक करने लगे तब समग्र सूत्र-पाठ को पढ़कर फिर ध्यान करता हुआ इस बात का विचार करे कि मुझे आज रात्रि मे ज्ञान-सबंधी, दर्शन-सबंधी तथा तप और वीर्य-सबंधी कोई अतिचार अर्थात् दोष तो नही लगा? ताकि आगे के लिए मै सावधान रहने का प्रयत्न करू। इस प्रकार से कायोत्सर्ग में जो अतिचारो का चिन्तवन करने का विधान है, उससे यह भी स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि शेष कायोत्सर्गों में 'चतुर्विंशति-स्तव' का चिन्तवन करना चाहिए—**'शेषकायोत्सर्गेषु चतुर्विंशतिस्तवः प्रतीतश्चिन्त्यतया साधारणश्चेति नोक्तः'** अर्थात् शेष कायोत्सर्गों मे चतुर्विंशतिस्तव की चिन्तवना की जाती है, किन्तु प्रसिद्ध होने से उसका वर्णन नहीं किया गया है।

इस प्रकार प्रथम आवश्यक का वर्णन करके अब अन्य आवश्यकों के विषय में कहते हैं –

पारियकाउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं ।
राइयं तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कमं ॥ ४९ ॥

पारितकायोत्सर्गः, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
रात्रिकं त्वतिचारं, आलोचयेद्यथाक्रमम् ॥ ४९ ॥

पदार्थान्वयः–पारिय–पार कर, **काउसग्गो**–कायोत्सर्ग, **तओ**–तदनन्तर, **वन्दित्ताण**–वन्दना करके, **गुरुं**–गुरु को, **राइयं**–रात्रि-संबंधी, **अईयारं**–अतिचारो की, **आलोएज्ज**–आलोचना करे, **जहक्कमं**–अनुक्रम से।

मूलार्थ–कायोत्सर्ग को पूर्ण करके तदनन्तर (साधु) गुरु की वंदना करके अनुक्रम से रात्रि-संबंधी अतिचारों की आलोचना करे।

टीका–साधु कायोत्सर्ग से निवृत्त होकर और गुरु की विधि-पूर्वक द्वादशावर्त वन्दना करके उनसे द्वितीय आवश्यक की आज्ञा लेवे। जब द्वितीय आवश्यक कर चुके, तब फिर वन्दना करके तृतीय आवश्यक की आज्ञा ग्रहण करे, फिर उस आवश्यक मे दो बार **'इच्छामि खमासमणो'** पढ़े। इस प्रकार जब तीसरा आवश्यक पूरा हो जाए, तब चतुर्थ आवश्यक के करने की आज्ञा लेवे और उसको करने लग जाए।

तात्पर्य यह है कि रात्रि-सबंधी जिन अतिचारो का ध्यान मे चिन्तन किया था उनको अनुक्रम से उच्च स्वर मे उच्चारण करता हुआ प्रत्येक के अन्त में **'मिच्छा मि दुक्कड'** देवे।

यहां पर अतिचारों की आलोचना करने का तात्पर्य यह है कि जिन अतिचारो का ध्यान में चिन्तन किया था, उनके लिए मुनि को पश्चात्ताप करना चाहिए, अर्थात् अपनी भूल स्वीकार करते हुए भविष्य में उनके सम्पर्क से सावधान रहने का प्रयत्न करना चाहिए। इस कथन से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि आत्मशुद्धि का यही एक प्रशस्त मार्ग है, जिस पर चलता हुआ मुमुक्षु पुरुष परम कल्याण रूप मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में ही पुनः कहते हैं –

पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥ ५० ॥

प्रतिक्रम्य निःशल्यः, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्वदुःखविमोक्षणम् ॥ ५० ॥

पदार्थान्वयः–पडिक्कमित्तु–प्रतिक्रमण करके, **निस्सल्लो**–निःशल्य हो कर, **तओ**–तदनन्तर, **गुरुं**–गुरु को, **वन्दित्ताण**–वन्दना करके, **तओ**–तत्पश्चात्, **काउस्सगं**–कायोत्सर्ग, **कुज्जा**–करे,

सव्वदुक्खविमोक्खणं–सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला।

मूलार्थ–पाप से निवृत्त और निःशल्य होकर तदनुसार गुरु की वन्दना करके तत्पश्चात् सर्वदुःखों से मुक्त करने वाले कायोत्सर्ग को करे।

टीका–जब मुनि लगे हुए अतिचारों की आलोचना कर चुके, तब फिर गुरु को वन्दना करके प्रतिक्रमण करे, अर्थात् श्रमण-सूत्र का पाठ करता हुआ पाप-कर्मों से पीछे हटे। इसका तात्पर्य यह है कि–पद और सम्पदा सहित पाठ करे और सर्व प्रकार के शल्यों से रहित होता हुआ चतुर्थ आवश्यक की पूर्ति करे। जब चतुर्थ आवश्यक विधि सहित पूरा हो जाए, तब गुरु की फिर विधि-पूर्वक वन्दना करके पांचवें आवश्यक की आज्ञा लेकर उसका आरम्भ करे। इस प्रकार जब पांचवे आवश्यक का पाठ पढ चुके, तब सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखो की निवृत्ति और निजानन्द की प्राप्ति कराने वाले कायोत्सर्ग को करे। कायोत्सर्ग का अर्थ है–काया अर्थात् शरीर का उत्सर्ग अर्थात् त्याग करना। जैसे कोई पाषाण की प्रतिमा होती है, तद्वत् काय को पूर्णतया स्थिर रखकर देह की ममता एवं देहाकर्षण को छोड कर ध्यान मे आरूढ़ होना कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग में स्थित हुआ मुनि किस बात का चिन्तन करे अब उसके संबंध में कहते हैं–

किं तवं पडिवज्जामि? एवं तत्थ विचिन्तए ।
काउस्सग्गं तु पारित्ता, करिज्जा जिणसंथवं ॥ ५१ ॥

किं तपः प्रतिपद्ये? एवं तत्र विचिन्तयेत् ।
कायोत्सर्गं तु पारयित्वा, कुर्यात् जिनसंस्तवम् ॥ ५१ ॥

पदार्थान्वयः–**किं**–क्या, **तवं**–तप, **पडिवज्जामि**–ग्रहण करूं, **एवं**–इस प्रकार, **तत्थ**–उस ध्यान में, **विचिन्तए**–चिन्तन करे, **काउस्सग्गं**–कायोत्सर्ग को, **पारिज्जा**–पार कर, **जिणसंथवं**–जिन-सस्तव, **करिज्जा**–करे।

मूलार्थ–मैं क्या तप करूं, इस प्रकार का चिन्तन ध्यान में करे, फिर कायोत्सर्ग को पार कर जिन-संस्तवन का पाठ करे।

टीका–जब मुमुक्षु साधक कायोत्सर्ग नामक पाचवे आवश्यक का अरम्भ करे, तब उसमे इस प्रकार चिन्तन करे कि–आज मैं कौन से तप को ग्रहण करू। कारण यह है कि भगवान् महावीर ने षट् मास-पर्यन्त तप किया था, अतः मै भी देखू कि मुझ मे कितनी तप करने की शक्ति विद्यमान है। तप की अपार महिमा है। आत्म-शुद्धि का यही एक सर्वोपरि विशिष्ट मार्ग है और इसी के द्वारा ससारी जीव विशुद्ध होकर परम कल्याण रूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

तप बाह्य और आभ्यन्तर भेद से बारह प्रकार का है। यह तप षट् मास से लेकर पांच मास, चार मास, तीन मास, दो और एक मास तथा पक्ष और अर्धपक्ष यावत् यथाशक्ति एक-दो दिन तक भी किया जा सकता है।

फिर कायोत्सर्ग को पार कर जिन-संस्तव "**लोगस्सउज्जोयगरे**" का पाठ करे, अपितु कई एक प्रतियों में गाथा के चतुर्थ चरण में '**वन्दईय तओ गुरुं**' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है। उसका अर्थ यह है कि–कायोत्सर्ग को पार कर फिर गुरु की वन्दना करे, परन्तु इस पाठ की अपेक्षा ऊपर दिया गया पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है। इस प्रकार पांचवे आवश्यक की विधि समाप्त हुई।

अब छठे आवश्यक के विषय में कहते हैं –

पारियकाउस्सग्गो, वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
तवं संपडिवज्जेत्ता, कुज्जा सिद्धाण संथवं ॥ ५२ ॥

पारितकायोत्सर्गः, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
तपः सम्प्रतिपद्य, कुर्यात् सिद्धानां संस्तवम् ॥ ५२ ॥

पदार्थान्वय.–**पारिय**–पार कर, **काउस्सग्गो**–कायोत्सर्ग, **तओ**–तदनुसार, **गुरुं**–गुरु की, **वन्दित्ताण**–वन्दना करके, **तवं**–तप को, **संपडिवज्जेत्ता**–अगीकार करके, **सिद्धाण**–सिद्धों का, **संथवं**–सस्तव, **कुज्जा**–करे।

मूलार्थ–कायोत्सर्ग को पार कर तदनन्तर गुरु की वन्दना करके फिर तप को अंगीकार कर सिद्धों का सस्तव करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा में छठे आवश्यक की विधि का वर्णन किया गया है। जब पाचवे आवश्यक मे यथाशक्ति तप को अंगीकार करने का निश्चय कर लिया, तब कायोत्सर्ग को पार कर गुरु की विधिपूर्वक वन्दना करके और पूर्व निश्चय के अनुसार तप को अंगीकार करके सिद्धो की स्तुति का पाठ पढ़े। तात्पर्य यह है कि गुरु से प्रत्याख्यान लेकर फिर सिद्धस्तव–नमोत्थुण' इत्यादि का पाठ करे। अपि च–प्रथम पाठ अरिहंत प्रभु का और दूसरा सिद्ध भगवान का है। कदाचित् कारणवशात् तीसरा धर्माचार्यो का भी आता है। परन्तु इस स्थान पर तो प्रत्याख्यान के पश्चात् केवल सिद्धस्तव के पढ़ने की ही आज्ञा दी गई है।[1]

अब उक्त विषय का उपसंहार और अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं –

एसा सामायारी, समासेण वियाहिया ।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ॥ ५३ ॥
त्ति बेमि।
इति सामायारी छब्बीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥ २६ ॥

एषा सामाचारी, समासेन व्याख्याता ।

---

१ इसके अतिरिक्त उक्त विषय का विशेष वर्णन देखने की जिज्ञासा रखने वाले आवश्यकसूत्र देखे।

यां चरित्वा बहवो जीवाः, तीर्णाः संसारसागरम् ॥ ५३ ॥

इति ब्रवीमि ।

इति सामाचारी-षड्विंशमध्ययनं समाप्तम् ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः–**एसा**–यह, **सामायारी**–सामाचारी, **समासेण**–संक्षेप से, **वियाहिया**–वर्णन की गई है, **जं**–जिसको, **चरित्ता**–आचरण करके, **बहू**–बहुत, **जीवा**–जीव, **संसार**–ससाररूप, **सागरं**–समुद्र को, **तिण्णा**–तर गए, **त्ति बेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ–यह सामाचारी संक्षेप से वर्णन की गई है जिसका आचरण करके बहुत से जीव संसार-सागर से तर गए है।

टीका–शास्त्रकार कहते है कि–इस दस प्रकार की ओघरूप सामाचारी का मैने सक्षेप से वर्णन किया है, इस पर आचरण करके बहुत से जीव इस ससार से तर गए–पार हो गए। उपलक्षण से, वर्तमान काल मे तर रहे हैं और आगामी काल में तरेंगे।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि पदविभागात्मक सामाचारी का छेद सूत्रो मे बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है, इस स्थान पर तो धर्मकथानुयोग होने से सामाचारी का संक्षेप से ही निरूपण हुआ है। अधिक की जिज्ञासा रखने वाले छेद-सूत्रों को देखे।

इतना और ध्यान मे रहे कि प्रस्तुत अध्ययन मे जितना भी वर्णन किया गया है, वह प्रायः औत्सर्गिक मार्ग का अवलम्बन करके किया गया है अपवाद-मार्ग मे तो इसमें कुछ व्युत्क्रम न्यूनाधिकता भी हो जाती है। जैसे प्रथम पौरुषी मे स्वाध्याय, दूसरी मे ध्यान, तीसरी मे आहार की गवेषणा और चौथी मे फिर स्वाध्याय करना, यह क्रम है। परन्तु जब विहार किया जाएगा, तब इस प्रकार की क्रम-व्यवस्था का रहना कठिन हो जाता है; अतः ऐसे समय मे अपवाद-मार्ग का अनुसरण करके समयानुसार सामाचारी के पदो की व्यवस्था करनी पडती है। इसलिए गीतार्थ मुनि सामाचारी के प्रत्येक पद का समय को देखकर आराधन करे और अन्य आत्माओं को उसके आराधन की आज्ञा प्रदान करे।

इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का भावार्थ पहले की तरह ही समझ लेना। यह सामाचारी नाम का छब्बीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

षड्विंशमध्ययनं सम्पूर्णम्

अह खलुंकिज्जं सत्तवीसइमं अज्झयणं

अथ खलुङ्कीयं सप्तविंशमध्ययनम्

गत छब्बीसवें अध्ययन मे सामाचारी का वर्णन किया गया है, परन्तु उसका सम्यक् पालन शठता के त्याग पर निर्भर है और अशठता का यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है, जब कि उसकी प्रतिपक्षभूत शठता का बोध हो जाए। अतः इस सत्ताईसवें अध्ययन मे एक दृष्टान्त के द्वारा शठता के स्वरूप का वर्णन करते हैं, यथा –

थेरे गणहरे गग्गे, मुणी आसि विसारए ।
आइण्णे गणिभावम्मि, समाहिं पडिसंधए ॥ १ ॥

स्थविरो गणधरो गार्ग्यः, मुनिरासीद् विशारदः ।
आकीर्णो गणिभावे, समाधिं प्रतिसन्धत्ते ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–**थेरे**–स्थविर, **गणहरे**–गणधर, **गग्गे**–गर्ग-गोत्रीय, **मुणी**–मुनि, **विसारए**–विशारद, **आसि**–हुआ, **आइण्णे**–गुणो से व्याप्त, **गणिभावम्मि**–गणिभाव मे स्थित, **समाहिं**–समाधि को, **पडिसंधए**–प्राप्त करने वाला।

मूलार्थ–गर्ग गोत्र वाला गर्गाचार्य नाम का स्थविर गणधर, सर्व शास्त्रों मे कुशल, गुणो से सम्पन्न, गणिभाव में स्थित और त्रुटित समाधि को जोड़ने वाला एक मुनि हुआ था।

टीका–प्रस्तुत गाथा में विषय की प्रस्तावना के लिए गर्गाचार्य नाम के एक महर्षि का वर्णन किया गया है। उस ऋषि का गर्ग गोत्र था, इसीलिए वे गार्ग्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, वे सर्व-शास्त्र-निष्णात, गच्छ के सग्रह करने में कुशल, समयज्ञ और सर्व-गुण-सम्पन्न थे। तात्पर्य यह है कि आचार्य की जो आठ सम्पदाएं कही गई हैं, उनसे वे युक्त और समाधि-अनुसधान–अर्थात् त्रुटित समाधि को फिर से जोडने वाले थे।

समाधि के दो भेद है—एक द्रव्य-समाधि, दूसरी भाव-समाधि। द्रव्यो—पदार्थो का अविरोधीभाव से परस्पर मिलना द्रव्य-समाधि है। पदार्थों के पारस्परिक मिलन से वे आनन्ददायक हो जाते है, जैसे प्रमाणपूर्वक दुग्ध में डाले हुए शर्करा आदि पदार्थ आनन्द-प्रद हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा के साथ ज्ञानादि का पूर्णतया एक रूप से रहना भाव-समाधि है। यहां पर भाव-समाधि का ही ग्रहण अभीष्ट है।

सारांश यह है कि उक्त मुनि के शिष्यों की आत्मा जब भाव-समाधि से पराङ्मुख होती थी, तब वे उसी समय उनकी आत्मा को समाधि मे जोडने का प्रयत्न करते थे। यदि कर्मोदय से किसी की आत्मा भाव समाधि से पराङ्मुख हो जाए, तब आचार्य का कर्त्तव्य है कि वह उसकी आत्मा को फिर से भाव-समाधि मे जोडने का प्रयत्न करे।

वे ऋषि शिष्यों को समाहित रहने के लिए किस प्रकार का उपदेश करते थे, अब इस विषय का वर्णन करते हैं –

वहणे वहमाणस्स, कन्तारं अइवत्तई ।
जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तई ॥ २ ॥

वाहने वाह्यमानस्य, कान्तारमतिवर्तते ।
योगे वाह्यमानस्य, संसारोऽतिवर्तते ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**वहणे**—शकटादि वाहनो में, **वहमाणस्स**—जोता हुआ वृषभ, **कन्तार**—महावन को, **अइवत्तई**—सुखपूर्वक अतिक्रमण कर जाता है, **जोए**—योग अर्थात् संयम मे, **वहमाणस्स**—सम्यक् प्रकार प्रवर्तित हुआ साधक भी, **संसारो**—संसार से, **अइवत्तई**—सुखपूर्वक पार हो जाता है।

मूलार्थ—शकटादि वाहन में जोता हुआ वृषभ जैसे सुखपूर्वक अटवी अर्थात् जंगल को पार कर जाता है, उसी प्रकार संयम में भली-भांति प्रवृत्त हुआ साधु भी इस संसार को पार कर जाता है।

टीका—जिस प्रकार शकटादि मे जोता हुआ विनीत वृषभ स्वयं, शकट और वाहक इन दोनों को लेकर सुखपूर्वक जंगल से पार हो जाता है, उसी प्रकार संयम-मार्ग में प्रवृत्त हुआ शिष्य अपने साथ प्रवर्त्तक को भी लेकर इस संसार रूप भयानक अटवी से पार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अशठता से आचरण किए गए क्रियानुष्ठान का फल निर्वाण ही होता है जिसमें कि फिर ससार में आवागमन का भय नही रह जाता।

अब सूत्रकार शठता के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए उक्त दृष्टान्त को दूसरे रूप में प्रदर्शित करते हैं –

खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलिस्सइ ।
असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ से य भज्जई ॥ ३ ॥

**खलुंकान् यस्तु योजयति, विध्यमानः क्लिश्यति ।
असमाधिं च वेदयति, तोत्रकस्तस्य च भज्यते ॥ ३ ॥**

पदार्थान्वयः–जो–जो कोई, **खलुंके**–दुष्ट वृषभों को, **जोएइ**–शकटादि में जोड़ता है, **उ**–निश्चय ही वह, **विहम्माणो**–ताडता हुआ, **किलिस्सइ**–क्लेश को पाता है, **च**–और, **असमाहिं**–असमाधि को, **वेएइ**–भोगता है, **से**–उसका, **तोत्तओ**–तोत्रक, **य**–भी, **भज्जई**–टूट जाता है।

मूलार्थ–यदि कोई व्यक्ति शकटादि में दुष्ट बैलों को जोतता है तो वह उनको ताड़ता हुआ क्लेश को प्राप्त होता है, असमाधि का अनुभव करता है। (यहां तक कि बैलों को मारते-मारते) उसका तोत्रक अर्थात् चाबुक भी टूट जाता है।

टीका–इस गाथा मे अविनीत अर्थात् दुष्ट बैलो को शकटादि में जोड़ने से वाहक को जिस कष्ट-परम्परा का अनुभव करना पडता है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। दुष्ट बैलो को जोड़ने से एक तो उनको ताडना करते हुए वाहक को क्लेश होता है, दूसरे उसके चित्त मे असमाधि–व्याकुलता उत्पन्न होती है, तीसरे ताडना करते-करते यहा तक परिणाम होता है कि वह जिस चाबुक आदि से उनकी ताडना करता है, वह भी टूट जाती है, कारण कि बैल शठ है, वे वाहक की इच्छानुसार नहीं चलते, अत· उसको उन पर क्रोध आता है और क्रोध के वशीभूत हुआ वह उनको निर्दयता के साथ मारता है, जिससे कि उसको क्लेश उत्पन्न होता है, इत्यादि।

अब उसके क्रोध का और वृषभों की दुष्टता का व्यावहारिक फल बताते है –

**एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विन्धइऽभिक्खणं ।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पह-पट्ठिओ ॥ ४ ॥**

**एकं दशति पुच्छे, एकं विंध्यत्यभीक्ष्णम् ।
एको भनक्ति समिलाम्, एक उत्पथ-प्रस्थितः ॥ ४ ॥**

पदार्थान्वयः–एगं–एक को, **पुच्छम्मि**–पूछ मे, **डसइ**–दश देता है, **एगं**–एक को, **अभिक्खणं**–बार-बार, **विन्धइ**–तोत्रादि से वेधता है, **एगे**–एक, **समिलं**–समिला अर्थात् जुए को, **भजइ**–तोड देता है, **एगो**–एक, **उप्पह**–उत्पथ मे, **पट्ठिओ**–प्रस्थित हो जाता है।

मूलार्थ–तब चालक एक की पूछ को दंश देता है, अर्थात् मरोड़ता है और दूसरे को बार-बार तोत्रादि से वेधता है। तब एक दुष्ट वृषभ समिला अर्थात् जुए को तोड़ देता है और दूसरा उत्पथ में भाग जाता है।

टीका–जब वे दुष्ट बैल वाहक की इच्छा के अनुसार गमन नही करते, तब वह गाड़ीवान क्रोध मे आकर उनकी पूछ को काटता है–मरोडता है और बार-बार उनको चाबुक की नोक चुभोता है। तब क्रोध मे आए हुए वे दुष्ट बैल भी जुए को तोडकर इधर-उधर भाग जाते है। इसका परिणाम यह होता है कि वाहक और बैल दोनों ही परम दुःखी होते है। उपलक्षणतया अश्लील वचनों का भी ग्रहण कर लेना, अर्थात् ताडना के अतिरिक्त वाहक को अनेक प्रकार के अश्लील शब्द भी कहने पड़ते हैं।

अब फिर कहते हैं –

एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निवज्जई ।
उक्कुद्दई उप्फिडई, सढे बालगविं वए ॥ ५ ॥

एक. पतति पार्श्वेण, निविशति निपद्यते ।
उत्कूर्दते उत्प्लवते, शठः बालगवीं व्रजेत् ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–**एगो**–एक वृषभ, **पासेणं**–एक ओर, **पडइ**–गिर पडता है, **निवेसइ**–बैठ जाता है, **निवज्जई**–सो जाता है, **उक्कुद्दई**–कूदता है, **उप्फिडई**–उछलता है, **सढे**–शठ, **बालगविं**–चढ़ती उमर की गौ के पीछे, **वए**–भागता है।

मूलार्थ–एक वृषभ, एक तरफ भूमि पर गिर पड़ता है, एक बैठ जाता है, कोई वृषभ सो जाता है कोई (मण्डूक की तरह) उछलता-कूदता है तथा कोई एक शठ बैल किसी चढ़ती उमर की गौ के पीछे भागने लग जाता है।

टीका–जब वाहक उन दुष्ट बैलों को मारता है, तब उनमें से कोई बैल तो एक तरफ भूमि पर गिर पडता है–एक तरफ लेट जाता है, कोई बैल बैठ जाता है, कोई सो जाता है, कोई कूदने लग जाता है और कोई उछलता है। इसके अतिरिक्त कोई-कोई शठ बैल चढती उमर की गौ के पीछे भागने लगता है।

तात्पर्य यह है कि दुष्ट बैल इस प्रकार की अनेक कुचेष्टाओ को करते हुए स्वयं दुःखी होते है और वाहक को भी अत्यन्त दुःखी करते है। यहां प्राकृत के कारण यदि 'बालगवी' पद का 'बालगवः–दुष्ट बलीवर्दः' यह अर्थ किया जाए, तब इसकी सगति के लिए यह अर्थ करना होगा कि–वे दुष्ट बैल अनेक प्रकार की कुचेष्टाए करते हैं। 'व्रजेत्–गच्छेत्' अनेक स्थानों में भागना। यद्यपि मूलपाठ मे वृषभ का उल्लेख नही, तथापि रूढ़िवशात् वृत्तिकारो ने वृषभ ही ग्रहण किया है।

अब फिर कहते हैं –

माई मुद्धेण पडई, कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं ।
मयलक्खणेण चिट्ठई, वेगेण य पहावई ॥ ६ ॥

मायी मूर्ध्ना पतति, क्रुद्धो गच्छति प्रतिपथम् ।
मृतलक्षणेन तिष्ठति, वेगेन च प्रधावति ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–**माई**–मायावान् कपटी, **मुद्धेण**–मस्तक के बल, **पडइ**–गिर पडता है, **कुद्धे**–क्रोध युक्त होता हुआ, **पडिप्पहं**–पीछे को, **गच्छइ**–भाग जाता है, **मयलक्खणेण**–मृतलक्षण से, **चिट्ठइ**–ठहर जाता है, **य**–और, **वेगेण**–वेग से, **पहावई**–दौड़ता है।

मूलार्थ–मायावी वृषभ, मस्तक के बल गिर पड़ता है, क्रोध-युक्त होकर उलटे मार्ग पर चल पड़ता है, मृतलक्षण से ठहर जाता है और कोई एक वेग से भाग खड़ा होता है।

टीका–इस गाथा मे भी पूर्वोक्त विषय का ही वर्णन है, जैसे कि कोई वृषभ अपने आप‹ निःसहाय मानता हुआ पृथ्वी पर सिर पटक कर लेट जाता है, कोई क्रोध के वशीभूत होकर पीछे ‹ भागने लगता है तथा कोई छल-पूर्वक अपने शरीर को मृतक के लक्षणों से लक्षित करता है और अवस पाकर–अर्थात् स्वामी के कहीं अन्यत्र जाने पर भाग जाता है, जिससे कि कोई रोक न सके।

किसी-किसी प्रति में 'पलयंतेण चिट्ठई' ऐसा पाठ भी है, उस पाठ का अर्थ होगा–'प्रवल‹ प्रकर्षेण कम्पमानस्तिष्ठति' अर्थात् कांपने लग जाता है।

अब फिर कहते हैं –

छिन्नाले छिंदई सेल्लि, दुद्दन्तो भंजए जुगं ।
सेवि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहित्ता पलायए ॥ ७ ॥

छिन्नालः छिनत्ति सिल्लिं, दुर्दान्तो भनक्ति युगम् ।
सोऽपि च सूत्कृत्य, उद्धाय पलायते ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः–**छिन्नाले**–दुष्ट जाति वाला वृषभ, **सेल्लि**–रश्मि को, **छिन्दइ**–छेदन कर देता है **दुद्दन्तो**–दुर्दान्त, **जुगं**–जुए को, **भंजए**–तोड देता है, **सेवि य**–वह भी, **सुस्सुयाइत्ता**–सूत्कार करके–सू-स करके, **उज्जहित्ता**–स्वामी के शकट को ले करके, **पलायए**–भाग जाता है।

मूलार्थ–छिनाल अर्थात् दुष्ट बैल रश्मि अर्थात् वाग का छेदन करता है, दुर्दान्त बैल जुग अर्थात् जुए को भी तोड़ देता है और फिर सूत्कार करके–सूं-सूं करके स्वामी और शकट को फैंक कर उत्पथ में भाग जाता है।

टीका–इस गाथा मे भी पूर्वोक्त विषय का ही वर्णन है। यथा दुष्ट वृषभ, नासिका-रज्जु (नथ) वा सयमन-रज्जु को तोड़ देता है, कोई दुर्दान्त बैल रज्जु को तोड़कर जुए को भी तोड देता है तथा कोई एक जुए आदि को तोड कर भी सू-सूं करता हुआ शकटादि को लेकर भाग जाता है।

अब उक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटा कर दिखाते हैं, यथा –

खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ती धिइदुब्बला ॥ ८ ॥

खलुंका यादृशा योज्याः, दुःशिष्या अपि खलु तादृशाः।
योजिता धर्मयाने, भज्यन्ते धृतिदुर्बलाः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः–**खलुंका**–दुष्ट वृषभादि, **जारिसा**–जैसे, **जोज्जा**–जोते हुए, **दुस्सीसा**–दुष्ट शिष्य, **वि**–भी, **तारिसा**–उनके समान, **धम्मजाणम्मि**–धर्म-यान में, **जोइया**–जोते हुए, **धिइ-दुब्बला**–धृति से दुर्बल, **भज्जन्ती**–सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति नहीं कर पाते, **हु**–अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ–दुष्ट पशु के समान धर्म-यान में जोते हुए कुशिष्य भी दुर्बल धृति वाले होने से

(धर्म-कार्यों में) भली-भांति प्रवृत्ति नहीं करते।

टीका—इस गाथा में उक्त दृष्टान्त की प्रकृत अर्थ में योजना की गई है। जैसे दुष्ट पशु शकटादि में जोतने पर कार्यसाधक नहीं हो सकते, अर्थात् अभिलषित स्थान को प्राप्त नहीं करा सकते, ठीक उसी प्रकार मुक्ति-नगर की प्राप्ति के लिए धर्मयान मे नियोजित किये गये कुशिष्य भी संयम का भली भांति उद्वहन नही कर पाते। कारण यह है कि वे धैर्यशील नहीं होते, अतएव वे धर्म-क्रियाओं के अनुष्ठान में दृढ़ नहीं रह सकते। जिस प्रकार दुष्ट पशु अपने अभीष्ट स्थान को तो पहुच ही नहीं सकता, प्रत्युत अपने स्वामी को भी खेद में डाल देता है, उसी प्रकार दुष्ट शिष्य भी मोक्ष की प्राप्ति तो नही कर सकता, किन्तु साथ मे गुरु आदि को खेदित करने मे भी कारण बनता है।

'भज्यन्ते' इस क्रिया का यही अर्थ है कि ऐसे शिष्य सयमानुष्ठान मे सम्यक् प्रवृत्ति नही कर सकते, क्योंकि वे धृतिशील नहीं होते, अर्थात् चपल स्वभाव वाले होते हैं, अतः धर्म-पथ मे उनका दृढ रहना कठिन होता है।

अब उनके धृति-दौर्बल्य का निरूपण करते हैं –

इड्ढीगारविए एगे, एगेऽत्थ रसगारवे ।
सायागारविए एगे, एगे सुचिरकोहणे ॥ ९ ॥

ऋद्धिगौरविक एकः, एकोऽत्र रसगौरवः ।
सातागौरविक एकः, एकः सुचिरक्रोधन ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**एगे**—कोई एक, **इड्ढी**—ऋद्धि से, **गारविए**—अभिमान मे रहता है, **एगे**—कोई एक, **अत्थ**—अधिकार-मद में, **रसगारवे**—रसो में मूर्छित होता है, **एगे**—कोई एक, **सायागारविए**—साता में मूर्छित रहता है, **एगे**—कोई एक, **सुचिरकोहणे**—चिरकाल तक क्रोध रखने वाला होता है।

मूलार्थ—कोई शिष्य तो ऋद्धि-गौरव में, कोई रस-गौरव में और कोई साता-गौरव में निमग्न रहता है, तथा कोई शिष्य बहुत समय तक क्रोध को अपने मन में रखने वाला होता है।

टीका—जिस प्रकार दुष्ट वृषभों की धृष्टता का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार यहा शास्त्रकार कुशिष्यों की धृष्टता का वर्णन करते है। जैसे—कोई शिष्य तो अपनी ऋद्धि का ही गर्व करता रहता है, अर्थात् उसको इस बात का अभिमान हो जाता है कि मेरे वश मे अनेक समृद्धिशाली गृहस्थ हैं, उनसे मेरे सभी प्रकार के मनोरथ सिद्ध हो सकते है, फिर गुरु की आज्ञा मे रहने से कोई प्रयोजन नहीं, इत्यादि। कुछ शिष्य रसों के आस्वादन में ही लगे रहते हैं, अर्थात् वे खाने-पीने मे ही मस्त रहते हैं, इसी कारण से वे किसी बाल, वृद्ध या ग्लान साधु की सेवा में प्रवृत्त नहीं होते तथा कुछ शिष्य अधिक सुखशील होने से अप्रति-विहारी नहीं हो पाते, उनके विचार में विहार करने में अनेक प्रकार की आपत्तियो का सामना करना पड़ता है एवं कुछ शिष्य इतने क्रोधी होते है कि उनका क्रोध चिरकाल तक बना रहता

है और उस क्रोध के वश हुए वे संयम के अनुष्ठान से भी पराङ्मुख हो जाते हैं।

गौरव का अर्थ है अपनी आत्मा में गुरुत्व का अनुभव करना, अभिमान करना। अब फिर इसी विषय में कहते हैं –

भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाणभीरुए ।
थद्धे एगेऽणुसासम्मि, हेऊहिं कारणेहि य ॥ १० ॥

भिक्षालसिक एक., एकोऽवमानभीरुकः ।
स्तब्ध एकोऽनुशास्मि, हेतुभिः कारणैश्च ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–एगे–कोई, **भिक्खालसिए**–भिक्षाचारी में आलस्य करने वाला, **एगे**–कोई एक, **ओमाणभीरुए**–अपमान से डरने वाला, **थद्धे**–स्तब्ध अर्थात् अहकारी, **य**–और, **एगे**–कुछ एक–मै कैसे, **अणुसासम्मि**–अनुशासन करूं, **हेऊहिं**–हेतुओं, **य**–और, **कारणेहि**–कारणों से।

मूलार्थ–कोई शिष्य भिक्षा में आलस्य करने वाला होता है, कोई कुशिष्य अपमान से डरता है और कोई अहंकारी होता है। (आचार्य कहते हैं कि ऐसे शिष्यों को) मैं किन हेतुओं और कारणों से शिक्षित करू ?

टीका–प्रस्तुत गाथा मे कुशिष्यो के आचरण और उनके शासन करने में आचार्यों को कठिनता के अनुभव का दिग्दर्शन कराया गया है। कुछ शिष्य तो भिक्षा लाने मे ही आलस्य करते हैं, अर्थात् भिक्षा के निमित्त गृहस्थों के घरों में जाने की उनकी इच्छा ही नही होती तथा कुछ अपमान एव लज्जा से भय खा जाते है, अर्थात् लज्जा के मारे वे किसी गृहस्थ के घर में नही जाते, तथा कुछ अहकारी हो जाते हैं, अभिमान के वशीभूत हुए अपना दुराग्रह ही नहीं छोड़ते। ऐसी दशा मे आचार्य कहते है कि–ऐसे कुशिष्यों को हम किस प्रकार से शिक्षित करे ? उनके लिए कौन से हेतु उपस्थित करे अथवा ऐसे किन कारणों को ढूंढे, जिनसे कि उनको अपने सयम-मार्ग की रक्षा एव पालन का ध्यान आए।

सारांश यह है कि ऐसे धृष्ट शिष्यों को शिक्षा देने पर भी सफल न होने से आचार्यो को प्रसन्नता नहीं होती।

यहां पर 'कथं' पद का अध्याहार कर लेना चाहिए और आर्षवाणी होने से पुरुष व्यत्यय जानना।

आचार्यो द्वारा शिक्षा दिए जाने पर उसका क्या फल होता है, अब इस विषय में कहते हैं –

सो वि अन्तरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई ।
आयरियाणं तु वयणं, पडिकूलेइऽभिक्खणं ॥ ११ ॥

सोऽप्यन्तरभाषावान् दोषमेव प्रकरोति ।
आचार्याणां तु वचनं, प्रतिकूलयत्यभीक्ष्णम् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–**सो वि**–वह कुशिष्य, **अन्तरभासिल्लो**–मध्य मे बोलने वाला, **दोसमेव**–अपराध ही, **पकुव्वई**–करता है, **आयरियाणं**–आचार्यों के, **तं**–उस, **वयणं**–वचन के, **पडिकूलेइ**–प्रतिकूल करता है, **अभिक्खणं**–पुनः पुनः।

मूलार्थ–वह कुशिष्य शिक्षा देने पर बीच में ही बोल पड़ता है, आचार्यो के वचनों में दोष निकालता है और बारम्बार उनके वचनों के प्रतिकूल चलता है।

टीका–इस गाथा में अविनीत शिष्यों को दी गई शिक्षा का जो विपरीत फल होता है उसका दिग्दर्शन कराते हुए शास्त्रकार कहते है कि–ऐसे शिष्य को जब गुरु शिक्षा देने लगते हैं, तब वह कुशिष्य बीच में ही अनाप-शनाप बोल उठता है, अतः अपना दोष दूर करने की अपेक्षा एक नया अपराध कर देता है, तथा वह गुरुजनो के वचनो में दोष निकालता है और आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनो की शिक्षा के विपरीत आचरण करता है।

साराश यह है कि जो अविनीत शिष्य होते है, उन पर गुरुजनों की हित-शिक्षा का प्रभाव विपरीत ही पडता है, इसीलिए उक्त गाथा में 'अभीक्ष्ण' पद दिया है, जो कि बार-बार होने वाली अविनीतता का पोषण कर रहा है।

अब उनकी प्रतिकूल वृत्ति का दिग्दर्शन कराते हैं –

न सा ममं वियाणाइ, न वि सा मज्झ दाहिई ।
निग्गया होहिई मन्ने, साहू अन्नोत्थ वच्चउ ॥ १२ ॥

न सा मां विजानाति, नापि सा मह्यं दास्यति ।
निर्गता भविष्यति मन्ये, साधुरन्यस्तत्र व्रजतु ॥ १२ ॥

पदार्थान्वय.–**सा**–वह–श्राविका, **ममं**–मुझको, **न वियाणाइ**–नही जानती, **न वि**–न ही, **सा**–वह, **मज्झ**–मुझे, **दाहिई**–देगी, **निग्गया**–घर से बाहर गई, **होहिई**–होगी, **मन्ने**–मै यह मानता हू, **अत्थ**–इस कार्य के लिए, **अन्नो**–और कोई, **साहू**–साधु, **वच्चउ**–चला जाए।

मूलार्थ–वह श्राविका मुझ को जानती नहीं और न ही मुझे वह अन्नादि देगी तथा मैं मानता हूँ कि वह घर से बाहर गई हुई होगी, अत. इस कार्य के लिए कोई अन्य साधु चला जाए।

टीका–प्रस्तुत गाथा में अविनीत शिष्य की प्रतिकूल चर्या का बडा ही सुन्दर चित्र खींचा गया है, जैसे कि–किसी शिष्य को आचार्य महाराज ने कहा कि ''वत्स ! जाओ, अमुक घर से अमुक औषधि अथवा ग्लान साधु के लिए आहार ले आओ।'' तब वह उत्तर देता है कि ''भगवन् ! वह श्राविका मुझको जानती नहीं है, इसलिए वह मुझे आहारादि कोई वस्तु नहीं देगी।''

इस पर आचार्य महाराज कहते हैं कि ''वत्स ! जाओ वह तुझे न पहचानती हुई भी साधु समझ कर दे देगी।'' इस पर वह कहता है कि मेरा विचार तो ऐसा है कि वह इस समय घर पर ही नही

होगी, अपितु कहीं बाहर गई हुई होगी।"

तब आचार्य महाराज ने कहा कि "वत्स ! तुम बातें मत बनाओ, अपितु वहां जाकर अमुक वस्तु ले आओ।" इस पर वह शिष्य कहता है कि यदि आपका ऐसा ही आग्रह है तो कृपा करके इस कार्य के लिए किसी और साधु को भेज दीजिए, क्योंकि मुझसे अतिरिक्त अन्य साधु भी इस कार्य को कर सकते हैं, फिर मुझे ही इस कार्य के लिए बार-बार क्यो कहा जाता है ! इत्यादि –

अब इसी विषय में फिर कहते हैं –

पेसिया पलिउंचन्ति, ते परियन्ति समन्तओ ।
रायवेट्ठिं व मन्नन्ता, करेन्ति भिउडिं मुहे ॥ १३ ॥

प्रेषिता. परिकुञ्चन्ति, ते परियन्ति समन्तात् ।
राजवेष्टिमिव मन्यमानाः, कुर्वन्ति भृकुटिं मुखे ॥ १३ ॥

पदार्थान्वय·–**पेसिया**–भेजे जाने पर, **पलिउंचन्ति**–कार्य का अपलाप अर्थात् गोपन करते है, **ते**–वे, **परियन्ति**–परिभ्रमण करते हैं, **समन्तओ**–सर्व दिशाओं में, **रायवेट्ठिं व**–राज-आज्ञावत् कार्य को, **मन्नन्ता**–मानते हुए, **भिउडिं**–भृकुटी, **मुहे**–मुख पर, **करेन्ति**–करते हैं, भृकुटी–चढाते है।

मूलार्थ–किसी कार्य के लिए भेजे जाने पर वे शिष्य उस कार्य का अपलाप करते है और सर्व दिशाओं में घूमते रहते हैं तथा कार्य को राज-आज्ञा की तरह मानते हुए भृकुटी चढ़ाते हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में भी पूर्वोक्त विषय का ही वर्णन किया गया है। जैसे कि–"गुरु ने किसी कार्य के लिए भेजा, परन्तु वह कार्य तो किया नही मात्र इधर-उधर घूमकर चले आए और जब गुरु ने पूछा कि–"जिस कार्य के लिए तुमको भेजा था वह तुम कर आए हो ?" तब उत्तर देते हैं–"आपने कब हमको अमुक कार्य के लिए जाने को कहा था ?" अथवा–यू ही कह देता है "हमने वहा पर उनको देखा ही नहीं। इत्यादि प्रकार से कुशिष्य गुरु के बताए हुए कार्य का अपलाप करते है।

यदि 'पेसिया' के स्थान पर 'पोसिया' पाठ हो तो उसका अर्थ यह होगा कि–गुरु ने आहारादि के द्वारा उनका जो पोषण किया था, उसका उपकार न मानते हुए यह कहते है कि गुरु ने हमारे ऊपर क्या उपकार किया है ? परन्तु यह पाठ समीचीन नही, क्योंकि आगामी गाथा मे 'पोसिया' शब्द का उल्लेख आया है जो कि प्रकरण-सगत है।

ऐसे कुशिष्य काम करने के भय से गुरुओं के पास तो बैठते नही, परन्तु इधर-उधर चारो दिशाओं में घूमते रहते हैं तथा जैसे कोई जबरदस्ती की हुई राज-आज्ञा को मानता हुआ[1] भृकुटी को चढ़ाता है, अर्थात् प्रसन्नता-पूर्वक उसे स्वीकार नहीं करता, ठीक उसी प्रकार गुरु की आज्ञा को सुनकर वे भृकुटी चढाते है, अर्थात् गुरु की आज्ञा को प्रसन्नता से स्वीकार नहीं करते।

---

१ 'राजवेष्टिमिव'–नृपतिहठप्रवर्त्तितकृत्यमिव मन्यमाना –मनसि अवधारयन्त" इति टीकाकार.।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं, यथा –

वाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेण पोसिया ।
जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमन्ति दिसो दिसिं ॥ १४ ॥

वाचिताः संगृहीताश्चैव, भक्तपानेन पोषिताः ।
जातपक्षा यथा हंसाः, प्रक्राम्यन्ति दिशो दिशम् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः–वाइया–पढ़ाए, **च**–और, **सगहिया**–अपने पास रखा, **एव**–अवधारण अर्थ मे है, **भत्तपाणेण**–भक्त पान से, **पोसिया**–पुष्ट किए, **जहा**–जैसे, **हंसा**–हंस, **जायपक्खा**–पंखो के उत्पन्न होने पर, **दिसो दिसिं**–दसो दिशाओ मे, **पक्कमन्ति**–घूमते है।

मूलार्थ–आचार्य मन में विचार करते हैं कि ''मैंने इन्हें पढ़ाया और अपने पास रखा तथा भक्त-पानादि से पोषित किया, परन्तु जैसे परों के आ जाने पर हंस पक्षी आकाश में स्वच्छन्दता से गमन कर जाते हैं, तद्वत् ये शिष्य भी अब स्वेच्छाचारी हो गए हैं।

टीका–शिक्षा दिए जाने पर भी विपरीत आचरण करने वाले अविनीत शिष्यो के विषय मे आचार्य महाराज के आन्तरिक उद्‌गारो का इस गाथा में उल्लेख किया गया है। आचार्य सोचते है कि ''मैने इन शिष्यो को पढाया, अर्थात् अर्थ-सहित शास्त्रो का स्वाध्याय कराया, इनको सम्यक् प्रकार से सग्रहीत किया, अर्थात् दीक्षित किया या अपने पास रखा, फिर भक्त-पान के द्वारा इनका भली-भांति पोषण किया, परन्तु माता-पिता के द्वारा लालित और पालित किए गए हस पक्षी जैसे परों के आ जाने पर माता-पिता के लालन और पालन की कुछ भी परवाह न करते हुए अपनी इच्छा के अनुसार कही भी उड जाते हैं तद्वत् ये अविनीत शिष्य भी अब स्वेच्छाचारी बन गए है।''

यद्यपि प्रथम गाथा मे भी 'पर्यटन' शब्द आया है, परन्तु वह नगर की अपेक्षा से कथन किया गया है और यहा पर देश की अपेक्षा से भ्रमण का विधान है, इसलिए पुनरुक्ति दोष की सभावना नही है।

इतना और भी स्मरण रहे कि आचार्य महाराज के ये उद्‌गार उनके पश्चात्ताप के सूचक नही, किन्तु ये शिष्य मोक्षसाधन के योग्य नही बने, इस विषय का विचार करते है। जिस प्रकार दुष्ट वृषभादि की वक्र चेष्टाओ का ऊपर वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार अविनीत शिष्यों की क्रियाओ का यहा पर दिग्दर्शन कराया गया है।

जिस प्रकार दुष्ट पशुओ की कुचेष्टाओं से उनका वाहक व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार अविनीत शिष्यो के विपरीत व्यवहार से आचार्य भी असमाधियुक्त हो जाते हैं। तब असमाधियुक्त होने से वे जो कुछ विचार करते हैं अब उस का दिग्दर्शन कराया जाता है –

अह सारही विचिंतेइ, खलुंकेहिं समागओ ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं ? अप्पा मे अवसीयई ॥ १५ ॥

अथ सारथिर्विचिन्तयति, खलुंकैः समागतः ।
कि मम दुष्टशिष्यैः ? आत्मा मेऽवसीदति ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः–**अह**–अथ, **सारही**–सारथि, **विचिन्तेइ**–चिन्तन करता है, **खलुंकेहिं**–दुष्टों के द्वारा, **समागओ**–श्रम को प्राप्त हुए, **मज्झ**–मुझे, **किं**–क्या प्रयोजन है, **दुट्ठसीसेहिं**–दुष्ट शिष्यों से, **मे**–मेरी, **अप्पा**–आत्मा, **अवसीयई**–अवसाद अर्थात् ग्लानि को प्राप्त होती है।

मूलार्थ–जैसे उन दुष्ट पशुओं द्वारा श्रम को प्राप्त हुआ सारथि विचार करता है, वैसे ही दुष्ट शिष्य मिलने पर आचार्य विचार करते हैं कि इन दुष्ट शिष्यों से मुझे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इनके संसर्ग से मेरी आत्मा ग्लानि को प्राप्त हो रही है।

टीका–दुष्ट पशुओ से वास्ता पड़ने पर खेद को प्राप्त हुए वाहक की भांति अविनीत शिष्यो से खेदित होते हुए गर्गाचार्य मन में विचारने लगे कि जब अनेक प्रकार से शिक्षा देने पर भी ये दुष्ट शिष्य सन्मार्ग पर नहीं आते तो इनसे मुझ क्या लाभ ? प्रत्युत इनके सहवास से मेरी आत्मा में ग्लानि उत्पन्न हो रही है, अतः इनके सग का त्याग करके अपनी आत्मा का कल्याण करना ही श्रेयस्कर है।

यहां पर जो सारथी पद दिया गया है, उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि जैसे दुष्ट वृषभादि पशुओं के चलाने से सारथी को अधिक श्रम उठाना पड़ता है, उसी प्रकार धर्म-सारथी धर्माचार्य को भी अविनीत शिष्यो को सुशिक्षित बनाने अर्थात् धर्म-यान मे जोडने के लिए अधिक श्रान्त होना पडता है। इस कथन से यह भी प्रमाणित होता है कि जिसका संग करने से ज्ञानादि सद्गुणों का लाभ हो उसी का संग करना चाहिए और जिसके सहवास से कुछ लाभ न हो प्रत्युत हानि हो, उसका संग त्याग देना ही श्रेष्ठ है।

अतः इस प्रकार की अविनीत शिष्य-मण्डली को त्याग कर तप में प्रवृत्त होना ही श्रेयस्कर है, अब इसी विषय में पुनः कहते हैं –

जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा ।
गलिगद्दहे जहित्ताणं, दढं पगिण्हई तवं ॥ १६ ॥

यादृशा मम शिष्यास्तु, तादृशा गलिगर्दभाः ।
गलिगर्दभांस्त्यक्त्वा, दृढं प्रगृह्णामि तपः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः–**जारिसा**–जैसे, **मम**–मेरे, **सीसा**–शिष्य है, **तारिसा**–वैसे ही, **गलिगद्दहा**–गलि गर्दभ हैं, **गलिगद्दहे**–गलि गर्दभो को, **जहित्ताणं**–छोडकर, **दढ**–दृढ़ता के साथ, **तवं**–तप को, **पगिण्हई**–ग्रहण करू, उ–पाद पूर्ति में।

मूलार्थ–जैसे गलिगर्दभ होते हैं, ठीक उसी प्रकार के ये मेरे शिष्य हैं, सो इनको छोड़ कर मै दृढ़ता के साथ तप को ग्रहण करता हूँ।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे अविनीत शिष्यों के लिए दुष्ट गर्दभ की उपमा इसलिए दी गई है कि वे बार-बार ताडना करने पर भी उलटे ही चलते हैं और वृषभादि पशुओ की अपेक्षा गर्दभ को नीच भी इसीलिए माना गया है कि वह अत्यन्त ढीठ होता है। इसी प्रकार जो शिष्य अविनीत हैं, गुरुजनों की

आज्ञा के अनुसार नहीं चलते, प्रत्युत विपरीत आचरण करते है, वे कुशिष्य गर्दभ के समान कहे जात है। अत: गर्दभ के समान आचरण करने वाले इन अविनीत शिष्यो से तंग आकर गर्गाचार्य कहतं है कि इन शिष्यों को समझाने की अपेक्षा तो इनको त्याग कर दृढ़ता-पूर्वक तपश्चर्या में प्रवृत्त होना ही अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि यह मार्ग आत्म-कल्याण के अधिक समीप है।

अस्तु, उन कुशिष्यों का त्याग करके गर्गऋषि किस प्रकार पृथ्वी पर विचरने लगे, अब उसका वर्णन करते हैं –

मिउमद्दवसंपन्नो, गम्भीरो सुसमाहिओ ।
विहरइ महिं महप्पा, सीलभूएण अप्पणा ॥ १७ ॥
त्ति बेमि।
खलुंकिज्जं सत्तवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥ २७ ॥

मृदुर्मार्दवसम्पन्नः, गम्भीरः सुसमाहितः ।
विहरति महीं महात्मा, शीलभूतेनात्मना ॥ १७ ॥
इति ब्रवीमि।
इति खलुङ्कीय सप्तविंशमध्ययनं समाप्तम् ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः—**मिउ**—मृदु—और, **मद्दव**—मार्दव से, **संपन्नो**—युक्त, **गम्भीरो**—गम्भीर, **सुसमाहिओ**—सुसमाहित-समाधियुक्त, **महिं**—पृथ्वी पर, **महप्पा**—महात्मा, **विहरइ**—विचरता है, **सीलभूएण**—शीलभूत, **अप्पणा**—आत्मा से, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मै कहता हू।

मूलार्थ—मृदु और मार्दव-भाव से सम्पन्न, गम्भीर और समाधि वाला होकर वह महात्मा, शीलभूत आत्मा से पृथ्वी पर विचरने लगा।

यह खलुंकीय सत्ताईसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

टीका—उन कुशिष्यों को त्याग कर आत्म-कल्याण की भावना से वे गर्गाचार्य ऋषि किस प्रकार से पृथ्वी पर विचरने लगे इस विषय का प्रस्तुत गाथा मे प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार गर्गाचार्य बाह्यवृत्ति से विनयवान् थे, उसी प्रकार वे अन्तर्वृत्ति से भी विनययुक्त थे तथा गम्भीरता और चित्त की प्रसन्नता से सदा युक्त रहते थे, अर्थात् समाहितचित्त थे। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार शील और सयम से युक्त अप्रतिबद्ध विहारी होकर वे पृथ्वी पर विचरने लगे।

यद्यपि उक्त गुण उनमे पहले भी विद्यमान थे, तथापि संसर्ग-दोष के कारण उनमें कलुपता आने की सभावना हो सकती है। उक्त कथन का साराश यह निकलता है कि जिन कारणो से आत्मा मे असमाधि की उत्पत्ति हो तथा उन्नति में बाधा उपस्थित हो, उन कारणों के सम्पर्क से अपने को अलग रखना मुमुक्षु जीव का परम कर्तव्य है। इस प्रकार श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी के प्रति कहा।

सप्तविंशमध्ययनं सम्पूर्णम्

अह मोक्खमग्गगई अट्ठावीसइमं अज्झयणं

अथ मोक्षमार्गगतिरष्टाविंशमध्ययनम्

गत सत्ताईसवे अध्ययन में संयम-विरोधी शठभाव के त्याग और ऋजुभाव के अगीकार से साधुवृत्ति के पालन करने का विधान किया गया है, अर्थात् यह कहा गया है कि ऋजुभाव से पूर्वोक्त दशविध सामाचारी के पालन करने से प्राप्त होने वाली आत्म-शुद्धि के द्वारा मोक्षपद की प्राप्ति हो सकती है, अत: इस अट्ठाईसवें अध्ययन में अब मोक्षमार्ग का वर्णन करते हैं। यथा –

मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं ।
चउकारणसंजुत्तं, नाण-दंसण-लक्खणं ॥ १ ॥

मोक्षमार्गगति तथ्यां, श्रृणुत जिनभाषिताम् ।
चतु:कारणसंयुक्तां, ज्ञानदर्शनलक्षणाम् ॥ १ ॥

पदार्थान्वय:–**मोक्खं**–मोक्ष, **मग्ग**–मार्ग की, **गइं**–गति को, **तच्चं**–यथार्थ, **जिणभासियं**–जिनभाषित–और, **चउकारण**–चार कारणो से, **संजुत्तं**–सयुक्त, **नाण**–ज्ञान, **दंसण**–दर्शन–जिसका, **लक्खणं**–लक्षण है, **सुणेह**–सुनो।

मूलार्थ–हे गौतम् ! अब चार कारणों से युक्त, ज्ञान और दर्शन जिसके लक्षण हैं, ऐसी जिनभाषित मोक्ष की यथार्थ गति को तुम मुझसे सुनो।

टीका–आचार्य-शास्त्रकार कहते है कि अष्टविध कर्मों का नाश करने वाली, अथवा मोक्षमार्ग की सिद्धि रूप, जो यथार्थ गति है, वह जिनभाषित है, अतएव प्रामाणिक है, तथा वह चार कारणों से युक्त है। ज्ञान एवं दर्शन जिसके आत्मभूत लक्षण हैं, ऐसी मोक्ष-गति के स्वरूप को, तुम सावधान होकर मुझसे श्रवण करो !

यद्यपि कारण का कारण नही होता, तथापि व्यवहार-नय से ऐसा कहा गया है।[1] कारण यह है कि जब अष्टविध कर्मों का क्षय हो जाता है, तब मोक्षमार्ग की ज्ञानादि गति उत्पन्न होती है और उस गति के द्वारा ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, इसलिए 'मोक्ष-मार्ग की गति' यह कथन किया गया है, जो कि युक्तिसंगत है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि मोक्ष-मार्ग की गति चार कारणों से युक्त है और ज्ञान तथा दर्शन उसका स्वरूप लक्षण है तथा जिनभाषित होने से वह प्रामाणिक और सप्रयोजन है।

अब मार्ग के विषय में कहते हैं –

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ २ ॥

ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा ।
एष मार्ग इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभिः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः–**नाण**–ज्ञान, **च**–और, **दंसणं**–दर्शन, **च**–समुच्चय अर्थ मे है, **एव**–निश्चयार्थ मे है, **चरित्तं**–चारित्र, **तह**–उसी प्रकार, **तवो**–तप, **च**–पुनः, **एस**–यह, **मग्गुत्ति**–मार्ग, इस प्रकार **पन्नत्तो**–प्रतिपादन किया है, **वरदंसिहिं**–प्रधानदर्शी, **जिणेहिं**–जिनेन्द्र देवो ने।

मूलार्थ–प्रधानदर्शी जिनेन्द्र देवों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारो को मोक्ष का मार्ग प्रतिपादन किया है।

टीका–जिसके द्वारा पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का बोध हो, उसे ज्ञान कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमभाव से जो मत्यादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वह ज्ञान है तथा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशमभाव से जो सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता वह दर्शन है। इसी प्रकार चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से जो सामायिक आदि चारित्र की उपलब्धि होती है वह चारित्र है, एवं पुरातन कर्मो का क्षय करने के लिए द्वादश प्रकार की जो तपश्चर्या वर्णन की गई है वही तप है। इस प्रकार कैवल्यदर्शी–प्रधानद्रष्टा जिनेन्द्र देवो ने ये पूर्वोक्त चार मोक्ष के कारण बताए है, अर्थात् सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप, इन चारो के द्वारा मोक्ष की उपलब्धि हो सकती है।

यद्यपि मूल गाथा मे सम्यक् पद का उल्लेख नहीं है तथापि 'वरदर्शि-प्रतिपादित' ऐसा कहने से, सशय, विपर्यय और अनध्यवसायात्मक मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर परिशेष में सम्यक्-ज्ञानादि ही लिए जाते है तथा चारित्र से पृथक् जो तप का ग्रहण किया है उसका तात्पर्य कर्म-क्षय के लिए तप को प्रधानता देना है, अर्थात् तप के द्वारा कर्मों का विशेष क्षय होता है। एवं 'जिन' इस शब्द के ग्रहण से मोक्षमार्ग की सप्रयोजनता सिद्ध की गई है।

अब मोक्ष के उक्त चारों कारणों के अनुसरण का फल वर्णन करते हैं, यथा –

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं ॥ ३ ॥

---

१ 'व्यवहारत· कारणस्यापि कारणत्वाभिधानाददोष·'।

ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा ।
एतं मार्गमनुप्राप्ताः, जीवा गच्छन्ति सुगतिम् ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–**नाणं**–ज्ञान, **दंसणं**–दर्शन, **च**–और, **चरित्तं**–चारित्र, **तहा**–उसी प्रकार, **तवो**–तप, **एवं**–इस, **मग्गं**–मार्ग को, **अणुप्पत्ता**–आश्रित हुए, **जीवा**–जीव, **सोग्गइ**–सुगति को, **गच्छन्ति**–चले जाते हैं, **एवं**–निर्धारण मे, **च**–समुच्चय अर्थ मे है।

मूलार्थ–इस ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के आश्रित हुए जीव सुगति को प्राप्त हो जाते हैं।

टीका–शास्त्रकार कहते है कि जिन जीवों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का सम्यक्तया आराधन किया है, वे जीव मोक्ष को प्राप्त हो गए, तात्पर्य यह है कि ज्ञानादि की सम्यक् आराधना का फल मोक्ष है।

स्थानागसूत्र[1] मे सुगति की व्याख्या करते हुए वह चार प्रकार की प्रतिपादित की गई है। इसमे प्रथम सिद्धो की सुगति है।

अब क्रम-प्राप्त ज्ञान का वर्णन करते हैं –

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं ।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥ ४ ॥

तत्र पंचविधं ज्ञानं, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञानं तु तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–**तत्थ**–उन में, **नाणं**–ज्ञान, **पंचविहं**–पांच प्रकार का है, **सुय**–श्रुतज्ञान, **आभिनिबोहियं**–आभिनिबोधिकज्ञान, **तु**–और, **तइयं**–तीसरा, **ओहिनाणं**–अवधिज्ञान, **मणनाणं**–मन पर्यवज्ञान, **च**–और, **केवलं**–केवल ज्ञान।

मूलार्थ–उनमें ज्ञान पांच प्रकार का है, यथा–श्रुतज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञान, अर्थात् मति-ज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय और केवल-ज्ञान।

टीका–प्रस्तुत गाथा में ज्ञान के श्रुति, मति, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये पाच भेद बताए गए हैं। अक्षरश्रुत आदि भेदो से श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का है। सन्मुख उपस्थित हुए पदार्थो के स्वरूप को जानने वाला ज्ञान आभिनिबोधिक या मतिज्ञान कहलाता है। नीचे-नीचे विशेष गति करने वाला तथा रूपी द्रव्यो को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है एवं मनोद्रव्य-वर्गणा के पर्यायों को जानने वाला मन·पर्यवज्ञान है और केवल पदार्थो के स्वरूप को जानने वाला तथा मन की सहायता के बिना लोकालोक के समस्त द्रव्य और पर्यायों का अवभास कराने वाला केवलज्ञान है।

यद्यपि नन्दी आदि सूत्रों में पहले मतिज्ञान का उल्लेख किया गया है, और इस गाथा में प्रथम

---

१ चत्तारि सोग्गईओ पण्णत्ताओ, त जहा–'सिद्ध-सोग्गई, देव-सोग्गई, मणुय-सोग्गई, सुकुलपच्चायाई [स्था ४३ १ सू २६८]

श्रुतज्ञान का उल्लेख है। मै समझता हूं कि श्रुत का प्रथम उल्लेख करने का यहा पर प्रयोजन केवल इतना ही है कि 'इन पाचो ज्ञानों में श्रुतज्ञान उपकारी होने की दृष्टि से प्रधान है' यह तथ्य स्पष्ट हो जाए। ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्'। यहां पर इतना ध्यान रहे कि ज्ञान के ये पांचों भेद क्षयोपशम भाव की विलक्षणता की अपेक्षा से माने गए हैं।

अब ज्ञान और उसके सम्बन्धी ज्ञेय पदार्थों के विषय में कुछ और विशेष कहते हैं –

एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य ।
पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि दंसियं ॥ ५ ॥

एतत्पंचविधं ज्ञानं, द्रव्याणां च गुणानां च ।
पर्यायाणा च सर्वेषां, ज्ञानं ज्ञानिभिर्दर्शितम् ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–**एयं**–यह अनन्तरोक्त, **पंचविहं**–पञ्चविध, **नाण**–ज्ञान, **दव्वाण**–द्रव्यो का, **य**–और, **गुणाण**–गुणों का, **य**–तथा, **सव्वेसिं**–सर्व, **पज्जवाणं**–पर्यायों का, **नाणं**–ज्ञान, **नाणीहि**–ज्ञानिया ने, **दंसियं**–उपदेशित किया है, **य**–समुच्चयार्थक है।

मूलार्थ–ज्ञानी गुरुषो ने द्रव्य, गुण और उनके समस्त पर्यायों के ज्ञानार्थ यह पूर्वोक्त पांच प्रकार का ज्ञान बताया है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे द्रव्य-गुण और पर्यायरूप ज्ञेय-तत्त्व मे ज्ञान की उपयोगिता का दिग्दर्शन कराया गया है। पूर्वोक्त पाच प्रकार के ज्ञान का उपयोग द्रव्य, गुण और पर्यायो के जानने के लिए ही उक्त ज्ञानपञ्चक की आवश्यकता ज्ञानियो ने बताई है। एक ही पदार्थ की बदलती हुई अवस्थाओं को पर्याय कहते है एव द्रव्य, गुण और पर्याय ये परस्पर एक दूसरे से भिन्न भी है और अभिन्न भी हैं।

अब द्रव्य, गुण और पर्याय का लक्षण बताते हैं, यथा –

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥ ६ ॥

गुणानामाश्रयो द्रव्यं, एकद्रव्याश्रिता गुणाः ।
लक्षण पर्यायाणां तु, उभयोराश्रिता भवन्ति ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–**गुणाणं**–गुणो का, **आसओ**–आश्रय, **दव्व**–द्रव्य है, **एगदव्वस्सिया**–एक द्रव्य के आश्रित, **गुणा**–गुण है, **उभओ अस्सिया**–दोनो के आश्रित, **भवे**–होना यह, **पज्जवाणं**–पर्यायो का, **लक्खणं**–लक्षण है।

मूलार्थ–गुणों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं तथा एक द्रव्य के आश्रित जो वर्ण-रस-गन्धादि तथा ज्ञानादि धर्म हों वे गुण हैं और द्रव्य तथा गुण इन दोनो के आश्रित होकर जो रहे, उसे पर्याय कहते हैं।

टीका–गुण और पर्याय को जो धारण करे वह द्रव्य है–'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'[1]।' यहाँ सहभावी धर्मों को गुण और क्रमभावी धर्मों को पर्याय कहा गया है। जैसे आत्मा एक द्रव्य है, उसके ज्ञानादि गुण हैं और कर्म के वश से उसकी मनुष्य-तिर्यंचादि जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं वे उसके पर्याय कहे जाते है।

यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि द्रव्य और पर्याय एक दूसरे से पृथक् नहीं है तथा ये परस्पर में भेद अथवा अभेद दोनों को लिए हुए हैं, अर्थात् कथंचित् भिन्न भी हैं और कथंचित् अभिन्न भी हैं तथा जिस प्रकार द्रव्य के पर्याय होते हैं इसी प्रकार गुणो के भी पर्याय हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे गुण द्रव्य के आश्रित हैं वैसे ही पर्याय द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित हैं। यहा पर द्रव्य आधार है, गुण और पर्याय आधेय हैं, परन्तु वे द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

अब द्रव्य के भेदो का वर्णन करते हैं, यथा –

धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जन्तवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ ७ ॥

धर्मोऽधर्म आकाशं, कालः पुद्गलजन्तवः ।
एष लोक इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभि ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः–**धम्मो**–धर्म, **अधम्मो**–अधर्म, **आगासं**–आकाश, **कालो**–काल, **पुग्गल**–पुद्गल, **जन्तवो**–जीव, **एस**–यह षड्द्रव्यात्मक, **लोगो त्ति**–लोक इस प्रकार, **पन्नत्तो**–प्रतिपादन किया गया है, **वरदंसिहिं**–श्रेष्ठदर्शी, **जिणेहिं**–जिनेन्द्रो ने।

मूलार्थ–केवलदर्शी जिनेन्द्रों ने इस लोक को धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव–इस प्रकार से षड् द्रव्य रूप प्रतिपादित किया है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में द्रव्यो के वर्णन के साथ-साथ लोक का भी निर्देश कर दिया गया है। यथा–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, कालद्रव्य, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन षड्द्रव्यो का समुच्चय यह लोक है, अथवा यूं कहें कि यह लोक धर्मादि षड्द्रव्यात्मक है।

तात्पर्य यह है कि जितने क्षेत्र मे ये द्रव्य हो उसे लोक कहते है, इसके विपरीत अर्थात् जहा पर उक्त द्रव्यो की सत्ता न हो वह अलोक है। अलोक मे एक मात्र आकाश द्रव्य ही होता है, अन्य पाच द्रव्यो का वहा पर अभाव होता है तथा काल को छोडकर अन्य धर्मादि पाच द्रव्य अस्तिकाय के नाम से प्रसिद्ध है और 'काल' केवल द्रव्य के नाम से विख्यात है, क्योंकि धर्मादि पांचो द्रव्य, सप्रदेशी अर्थात् प्रदेश वाले हैं और काल-द्रव्य अप्रदेशी है।

यहां पर इतना और भी स्मरण रहे कि 'अस्तिकाय' यह जैन-दर्शन का बहुप्रदेशवाची पारिभाषिक शब्द है। इसका–''अस्ति–है, काय–बहुप्रदेश जिनके ऐसे पदार्थ,'' यह व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है। इसके अतिरिक्त पुद्गल को छोडकर शेष द्रव्य अरूपी है और पुद्गल द्रव्य रूपी है। इस प्रकार से केवलदर्शी

१ तत्त्वार्थसूत्र अ. ५ सू. ३८

भगवान् जिनेन्द्र ने इनका प्रतिपादन किया है।

अब इनके संख्यासम्बन्धी भेदों का वर्णन करते हैं –

धम्मो अधम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल-जंतवो ॥ ८ ॥

धर्मोऽधर्म आकाशं, द्रव्यमेकैकमाख्यातम् ।
अनन्तानि च द्रव्याणि, कालपुद्गलजन्तवः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः–**धम्मो**–धर्म, **अधम्मो**–अधर्म, **आगासं**–आकाश, **दव्वं**–द्रव्य, **इक्किक्कं**–एक-एक, **आहिय**–कहा गया है, **य**–और, **अणंताणि**–अनन्त, **दव्वाणि**–द्रव्य, **कालो**–काल, **पुग्गल**–पुद्गल, **जन्तवो**–जीव हैं।

मूलार्थ–धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों एक-एक द्रव्य हैं, तथा काल, पुद्गल और जीव ये तीनों अनन्त द्रव्य है, अर्थात् ये तीनों द्रव्य संख्या में अनन्त हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे द्रव्य की संख्या का विचार किया गया है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनो एक-एक द्रव्य हैं, अर्थात् इनकी सख्या एक से अधिक नही है और काल, पुद्गल एव जीव-आत्मा, ये तीनों अनन्त हैं। इनमें काल-द्रव्य तो अतीत और अनागत काल की अपेक्षा से अनन्त कहा है और पुद्गल तथा जीव द्रव्य संख्या मे अनन्त है।

यद्यपि एक आत्मा को असंख्यात-प्रदेशी माना गया है, तथापि संख्या में जीव द्रव्य अनन्त हैं और अनन्त आत्माएं इस लोक मे विराजमान है। इनमें शुद्ध आत्मा तो मोक्षस्वरूप मे निवास करते है और अशुद्ध आत्मा स्व-स्व-कर्मानुसार देव, मनुष्य, नरक और तिर्यग्-गति मे भ्रमण कर रहे है।

यद्यपि आकाश-द्रव्य भी अनन्त है, तथापि लोकाकाश की अपेक्षा अथवा निरश होने की अपेक्षा से एक प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

अब प्रत्येक द्रव्य का लक्षण द्वारा वर्णन करते हैं –

गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥ ९ ॥

गतिलक्षणस्तु धर्मः, अधर्मः स्थितिलक्षणः ।
भाजनं सर्वद्रव्याणां, नभोऽवगाहलक्षणम् ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–**गइलक्खणो**–गतिलक्षण, **धम्मो**–धर्मास्तिकाय है, उ–और, **ठाणलक्खणो**–स्थानलक्षण, **अहम्मो**–अधर्मास्तिकाय है, **भायणं**–भाजन, **सव्वदव्वाणं**–सर्व द्रव्यों का, **नहं**–आकाश, **ओगाहलक्खणं**–अवगाह लक्षण वाला है।

मूलार्थ–गति अर्थात् चलने में सहायता देना धर्मास्तिकाय का लक्षण है, स्थिति अर्थात् ठहरने में सहायक होना अधर्मास्तिकाय का लक्षण है। सर्व द्रव्यों का भाजन आकाश-द्रव्य है।

सब को अवकाश देना उसका लक्षण है।

टीका–जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना जाए उसको लक्षण कहते है। प्रस्तुत गाथा मे धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन द्रव्यों के लक्षण बताए गए है। जीव और पुद्गल की गतिरूप क्रिया में सहायता पहुंचाने वाला द्रव्य धर्मास्तिकाय है, अत: उसको गति-लक्षण कहते हैं। जिस प्रकार मत्स्य के गमनागमन में जल सहायक होता है, अर्थात् जल के बिना जैसे वह गमन नहीं कर सकता, इसी प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्य भी धर्मद्रव्य के बिना गमन नही कर सकते। तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल की गति धर्म-द्रव्य पर आश्रित है।

इसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायता देने वाला अधर्म-द्रव्य है, इसलिए उसको स्थितिलक्षण कहा गया है। जेसे धूप मे चलने वाले पथिक को विश्राम के लिए वृक्ष की सघन छाया सहायक होती है, अर्थात् उसकी स्थिति मे कारणभूत होती है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायक होने वाला अधर्म-द्रव्य है। समस्त पदार्थों का आधारभूत आकाश द्रव्य है, अतएव 'सबको अवकाश देना' उसका लक्षण है, अर्थात् जिसमे सर्व द्रव्य रहते है वह आकाश है। तात्पर्य यह है कि आकाश सबका आधार है और शेष द्रव्य उसके आधेय हैं।

अब फिर इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हैं –

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥ १० ॥

वर्तनालक्षणः कालः, जीव उपयोगलक्षणः ।
ज्ञानेन दर्शनेन च, सुखेन च दुःखेन च ॥ १० ॥

पदार्थान्वय.–**वत्तणालक्खणो**–वर्तना-लक्षण, **कालो**–काल है, **जीवो**–जीव, **उवओगलक्खणो**–उपयोगलक्षण वाला है, **नाणेण**–ज्ञान से, **च**–और, **दंसणेण**–दर्शन से, **सुहेण**–सुख से, **य**–वा, **दुहेण**–दु:ख से–जीव जाना जाता है, **य**–समुच्चय अर्थ मे है।

मूलार्थ–वर्तना काल का लक्षण है, उपयोग (ज्ञानादि व्यापार) जीव का लक्षण है और वह जीव ज्ञान, दर्शन, सुख और दु.ख से जाना जाता है।

टीका–पदार्थ की क्रियाओ के परिवर्तन से समय की जो गणना की जाती है उसे वर्तना कहते हैं। यह 'वर्तना' ही काल का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि जिस-जिस ऋतु मे जो-जो भाव उत्पन्न होने वाले होते हैं, औपचारिकनय के मत से उन-उन भावो का कर्ता काल-द्रव्य ही माना जाता है, क्योंकि सर्व द्रव्यों मे काल-द्रव्य वर्त रहा है और इसी कारण से द्रव्यो मे नूतन और पुरातन पर्याय उत्पन्न होते हैं। उन सबका कर्ता काल ही है, अतएव ऋतु-विभाग से जो शीत, आतपादि पर्यायों अर्थात् दशाओ की उत्पत्ति होती है, उन सबका कारण काल-द्रव्य ही है तथा उपयोग अर्थात् ज्ञानादि व्यापार जीव का लक्षण है। यह जीव ज्ञान (विशेषग्राही), दर्शन (सामान्यग्राही), सुख (आनन्दरूप) और दु:ख

(आकुलतारूप) से जाना जाता है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख ये चारों लक्षण अजीव पदार्थ मे नहीं हैं और इसके विपरीत सजीव पदार्थों मे ये पाए जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानादि लक्षण जिसमे हो वही जीव है।

अब शिष्यों की विशेष दृढ़ता के लिए जीव का लक्षणान्तर कहते हैं –

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥ ११ ॥

ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्र च तपस्तथा ।
वीर्यमुपयोगश्च, एतज्जीवस्य लक्षणम् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–**नाणं**–ज्ञान, **च**–और, **दंसणं**–दर्शन, **च**–पुनः, **एव**–अवधारणार्थ मे है, **चरित्तं**–चारित्र, **तहा**–तथा, **तवो**–तप, **वीरियं**–वीर्य, **य**–और, **उवओगो**–उपयोग, **एयं**–यह, **जीवस्स**–जीव का, **लक्खणं**–लक्षण है।

मूलार्थ–ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग–ये सब जीव के लक्षण है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे जीव के विशिष्ट लक्षणो का वर्णन किया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये सब जीव के असाधारण लक्षण है, क्योंकि जो द्रव्य-आत्मा है वह निश्चय ही ज्ञान और दर्शनात्मा से सयुक्त है तथा वीर्यात्मा आदि भी साथ मे है, इसी हेतु से सूत्रकार ने वीर्य तथा उपयोग को जीव का लक्षण कहा है। यद्यपि वीर्य जड पदार्थो में भी विद्यमान है, परन्तु वह वीर्य शून्यता गुण वाला है, अतएव साथ मे उपयोग पद का उल्लेख किया गया है ताकि जड पदार्थ की व्यावृत्ति हो जाए। कारण यह है कि वीर्य और उपयोग–ये दोनो जीवतत्त्व को छोड़ कर अन्यत्र कहीं पर नही रहते। इसके अतिरिक्त उपयोग में ज्ञान और दर्शन का तथा वीर्य में तप और चारित्र का अन्तर्भाव करके, वीर्य और उपयोग यही जीव का यथार्थ लक्षण माना गया है। वीर्य की उत्पत्ति का कारण वीर्यान्तराय-कर्म का क्षय, अथवा क्षयोपशम भाव है।

अब पुद्गल-द्रव्य के विषय में कहते हैं –

सद्दन्धयार-उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवो इ वा ।
वण्णरसगन्धफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥ १२ ॥

शब्दाऽन्धकारोद्योतः, प्रभाच्छायाऽऽतप इति वा ।
वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शाः, पुद्गलानां तु लक्षणम् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–**सद्द**–शब्द, **अन्धयार**–अन्धकार, **उज्जोओ**–उद्योत, **पभा**–प्रभा, **छाया**–छाया, **आतवो**–आतप, **वा**–समुच्चयार्थक है, **वण्ण**–वर्ण, **रस**–रस, **गन्ध**–गन्ध, **फासा**–स्पर्श, **पुग्गलाणं**–पुद्गलो

का, **लक्खणं**—लक्षण है, **तु**—पुनः, **इति**—आद्यर्थक है।

मूलार्थ—शब्द, अन्धकार, उद्योत अर्थात् प्रकाश, प्रभा अर्थात् कान्ति, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ये सब पुद्गल के लक्षण हैं।

टीका—'पुद्गल'—यह जड़ पदार्थों के लिए प्रयुक्त होने वाला जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। शब्द, अन्धकार और उद्योत आदि सब पुद्गल के ही गुण हैं और इन्ही पुद्गल-द्रव्य के मूर्त होने से शब्दादि भी मूर्त पदार्थ हैं। इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने से अन्धकार, उद्योत और प्रभा आदि पौद्गलिक द्रव्य हैं।

अनेक विद्वान् अन्धकार को अभाव रूप मानते हैं, परन्तु विचार-दृष्टि से देखा जाए तो उनका यह कथन प्रामाणिक और युक्ति-संगत नही है, क्योंकि अन्धकार को अभावरूप नही माना जा सकता, वह तो भाव-रूप पदार्थ है, इसी आशय से सूत्रकार ने अन्धकार को पौद्गलिक द्रव्य स्वीकार किया है।

शब्द के विषय मे भी यही व्यवस्था है, अर्थात् शब्द भी गुणरूप नही, किन्तु पौद्गलिक रूप स्वतत्र द्रव्य है[1]। जो लोग शब्द को आकाश का गुण मानते है, वे भ्रान्त से प्रतीत होते हैं; कारण यह है कि आकाश अमूर्तपदार्थ है और शब्द मूर्तपदार्थ, मूर्तपदार्थ अमूर्त का गुण हो नही सकता। इसीलिए शब्द को आकाश का गुण मानना युक्ति-सगत नही है, किन्तु शब्द पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल का पर्याय है—यही मानना युक्ति और प्रमाण-सगत है।[2]

इस प्रकार द्रव्य के लक्षण और गुणों का निरूपण करने के अनन्तर अब पर्याय के विषय मे कहते हैं –

एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य ।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥ १३ ॥

एकत्वं च पृथक्त्वं च, संख्या-संस्थानमेव च ।
संयोगाश्च विभागाश्च, पर्यायाणां तु लक्षणम् ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**एगत्तं**—एकत्व, **च**—और, **पुहत्तं**—पृथक्त्व, **च**—पुनः, **संखा**—सख्या, **य**—और, **सठाण**—सस्थान, **एव**—निश्चय अर्थ मे है, **संजोगा**—सयोग, **य**—और, **विभागा**—विभाग, **य**—समुच्चय मे है, **पज्जवाणं**—पर्यायो का, **तु**—पादपूर्ति में, **लक्खणं**—लक्षण है।

मूलार्थ—एक अर्थात् इकट्ठा होना, पृथक्त्व अर्थात् अलग होना, संख्या, संस्थान—आकार,

---

१ नैयायिको ने शब्द को आकाश का गुण माना है—'शब्दगुणकमाकाशम्', परन्तु जैनदर्शन को यह स्वीकार्य नही है। उसके मत मे तो शब्द पौद्गलिक द्रव्य है। इस सिद्धान्त को वर्तमान समय का ग्रामोफोन और रेडियो ट्राजिस्टर आदि का आविष्कार प्रत्यक्षरूप से प्रमाणित कर रहा है।

२ इस विषय की अधिक स्पष्टता के लिए स्याद्वादमजरी, रत्नाकरावतारिका और सन्मतितर्क आदि ग्रन्थों का अवलोकन करे।

संयोग और विभाग—ये सब पर्यायों के लक्षण अर्थात् पर्याय के असाधारण धर्म हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे पर्यायों के लक्षण बताए गए है। द्रव्य मे अनेक प्रकार के जो परिवर्तन होते हैं वे ही पर्याय के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे कि, 'सत्' यह द्रव्य का लक्षण है और 'सत्' उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-युक्त ही माना जाता है, अत· द्रव्य मे जो उत्पाद-व्यय रूप धर्म उत्पन्न होते है, उन्हीं को पर्याय कहते हैं। पुद्‌गल-द्रव्य के सत् होने पर भी परमाणुओं का एकत्र होना, अथवा पृथक्-पृथक् होना एवं संख्या-बद्ध होना तथा आकार-युक्त होना वा संयुक्त होना और विभक्त होना—ये सब पर्याय के ही असाधारण धर्म हैं, अतएव इनको पर्यायों का लक्षण बताया गया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सहभावी धर्म को गुण और क्रमभावी धर्मो को पर्याय कहते है। जैसे कि एक ही पुद्‌गल-द्रव्य मे क्रमपूर्वक अनेक प्रकार के एकत्व—पृथक्त्वादि भाव उत्पन्न और विनष्ट होते रहते है; बस ये ही पर्याय कहे जाते है। द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है। कारण यह है कि उत्पाद और व्यय के होने पर द्रव्य की सत्ता का अभाव नही होता। जैसे कि स्वर्ण-पिड मे कटकरूप का उत्पाद और कुडलरूप का विनाश होता है, परन्तु उत्पत्ति और विनाश के होने पर भी स्वर्ण का अपना मूल स्वरूप नष्ट नही होता, अपितु वह अपने मूलरूप से सर्वदा स्थित रहता है।

इसी प्रकार परमाणुओ के समूह का एकत्र होकर घड़े का आकार बन जाना एकत्व है और परमाणुओ के समूह का बिखर जाना पृथक्त्व है। इसी प्रकार संयोग और विभाग के विषय में भी समझ लेना चाहिए और 'च' शब्द से नवीन और पुरातन अवस्था-रूप पर्यायो की कल्पना कर लेनी चाहिए।

इस प्रकार ज्ञान का वर्णन करने के अनन्तर अब दर्शन के विषय में कहते हैं, यथा –

जीवाजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥ १४ ॥

जीवा अजीवाश्च बन्धश्च, पुण्यं पापाश्रवौ तथा ।
सवरो निर्जरा मोक्ष., सन्त्येते तथ्या नव ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**जीवा**—जीव, **य**—और, **अजीवा**—अजीव, **य**—तथा, **बन्धो**—बन्ध, **पुण्णं**—पुण्य, **तहा**—तथा, **पावा**—पाप, **आसवो**—आस्रव, **संवरो**—संवर, **निज्जरा**—निर्जरा, **मोक्खो**—मोक्ष, **एए**—ये, **तहिया**—तथ्य—पदार्थ, **नव**—नौ, **सन्ति**—हैं।

मूलार्थ—जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं।

टीका—जीव एकेन्द्रियादि और अजीव धर्मास्तिकाय आदि, बन्ध—जीव और कर्म का अत्यन्त श्लेषरूप, पुण्य—शुभ प्रकृतिरूप, पाप—अशुभप्रकृतिरूप, आस्रव—कर्मो के आगमन मार्ग, संवर—आस्रव का निरोध, निर्जरा—आत्मा से कर्मदलकों का अलग होना, मोक्ष—घाति-आघाति समस्त कर्माणुओं का समूलघात—ये नौ पदार्थ जिनेन्द्र भगवान् ने भव्य जीवो के कल्याणार्थ वर्णन किए हैं। वास्तव मे तो जीव और अजीव ये दो ही मुख्य पदार्थ हैं, अन्य सबका इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि

इन्ही दो के संमिश्रण से बन्धादि अन्य पदार्थ बन जाते हैं, अत: ये सब ज्ञेय है। इसीलिए प्रस्तुत गाथा में ज्ञान के अनन्तर इनका वर्णन किया गया है।

उक्त तत्त्वों का वर्णन–क्रम भी अभिप्राय से युक्त है। यथा–अर्थात् सचेतन पदार्थ के पीछे, अजीव और जड पदार्थो का वर्णन, और जीव के मिलने से बन्ध एवं पुण्य-पाप से आश्रव, और सवर से मोक्ष का होना इत्यादि। यहां पर इतना और स्मरण रखना चाहिए कि जघन्यता से तो जीव और अजीव ये दो ही पदार्थ है, मध्यमसरण से नौ और उत्कृष्टरूप से पदार्थ अनन्त है।

अब उक्त पदार्थो के जानने का फल बताने के निमित्त प्रथम सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन करते हैं –

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ १५ ॥

तथ्यानां तु भावाना, सद्भाव उपदेशनम् ।
भावेन श्रद्दधत:, सम्यक्त्व तद् व्याख्यातम् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वय.–**तहियाण**–तथ्य, **भावाणं**–भावों के, **सब्भावे**–सद्भाव, **तु**–जो भी, **उवएसणं**–उपदेश है, **भावेणं**–अन्त:करण से, **सद्दहंतस्स**–श्रद्धा करने वाले का, **सम्मत्त**–सम्यक्त्व, **तं**–वह, **वियाहिय**–कथन किया गया है।

मूलार्थ–जीवाजीवादि पदार्थों के सद्भाव में स्वभाव से या किसी के उपदेश से भावपूर्वक जो श्रद्धा की जाती है उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन किया गया है। जीवाजीवादि पदार्थो के विषय में गुरुजनो का जो सदुपदेश है, उसको अन्त:करण से मानते हुए अर्थात् उस पर अपनी विशिष्ट श्रद्धा रखते हुए मोहनीयकर्म के क्षय वा क्षयोपशमभाव से अन्त:करण में जो अभिरुचि पैदा होती है, उसी को तीर्थंकरो ने सम्यक्त्व कहा है। यदि संक्षेप से कहे तो तत्त्वार्थविषयक-श्रद्धान को सम्यगदर्शन या सम्यक्त्व कहते है, और वह आत्म-विकास की प्रथम भूमिका है, अर्थात् चौदह गुण-स्थानो मे से अविरति अर्थात् सम्यग्दृष्टि नाम का जो चतुर्थ गुणस्थान है, उससे आत्म-विकास का प्रारम्भ होता है और वह सम्यक्त्व-मूलक ही होता है।

अब सम्यक्त्व के भेदों का वर्णन करते हैं –

निसग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्त-बीयरुइमेव ।
अभिगम-वित्थाररुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई ॥ १६ ॥

निसर्गोपदेश रुचि:, आज्ञा-रुचि: सूत्र-बीज-रुचिरेव ।
अभिगम-विस्तार-रुचि:, क्रिया-संक्षेप-धर्म-रुचि: ॥ १६ ॥

पदार्थान्वय:–**निसग्ग**–निसर्ग-रुचि, **उवएसरुई**–उपदेश-रुचि, **आणारुई**–आज्ञा-रुचि, **सुत्त**–सूत्र-

रुचि, **बीय-रुई**—बीजरुचि, **एव**—समुच्चय अर्थ में है, **अभिगम**—अभिगम-रुचि, **वित्थाररुई**—विस्तार-रुचि, **किरिया**—क्रिया-रुचि, **संखेव**—सक्षेप-रुचि, **धम्मरुई**—धर्म-रुचि।

मूलार्थ—सम्यक्त्व दस प्रकार का है, यथा—१ निसर्गरुचि, २. उपदेशरुचि, ३. आज्ञारुचि, ४. सूत्ररुचि, ५. बीजरुचि, ६. अभिगमरुचि, ७. विस्तार-रुचि, ८. क्रिया-रुचि, ९. सक्षेपरुचि और १०. धर्मरुचि।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे सम्यक्त्व के भेदों का नाम-पूर्वक निर्देश किया गया है; यथा निसर्गरुचि-सम्यक्त्व और उपदेशरुचि-सम्यक्त्व इत्यादि। धर्म में यथार्थ अभिरुचि का होना सम्यक्त्व है। वह रुचि स्वभाव से वा उपदेश से उत्पन्न होती है और वह निमित्त-भेद को लेकर अनेक प्रकार की हो जाती है। इसी अपेक्षा से प्रस्तुत गाथा में उसके उक्त दस प्रकार के भेद बताए गए हैं, परन्तु इतना ध्यान अवश्य रहे कि यह रुचि-भेद केवल व्यवहार नय को लेकर किया गया है और निश्चय-नय के अनुसार तो सम्यक्त्व-दर्शन यह जीव का निजी गुण है।

अब क्रम पूर्वक प्रत्येक का वर्णन करते हैं –

भूयत्थेणाहिगया, जीवाजीवा य पुण्ण-पावं च ।
सह सम्मइयासव-संवरो य, रोएइ उ निस्सग्गो ॥ १७ ॥

भूतार्थेनाधिगताः, जीवा अजीवाश्च पुण्यं पाप च ।
सह संमत्याऽऽश्रवसंवरौ च, रोचते (यस्मै) तु निसर्गः ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—**भूयत्थेण**—भूतार्थ से, **अहिगया**—अधिगत किया है, **जीवा**—जीव, **अजीवा**—अजीव, **य**—और, **पुण्ण**—पुण्य, **च**—और, **पावं**—पाप को, **सहसम्मइया**—स्वमति से, **आसव**—आश्रव, **सवरो**—सवर, **रोएइ**—रुचता है, **निस्सग्गो**—वह निसर्ग-रुचि है, **उ**—निश्चयार्थक है।

मूलार्थ—जिसने भूतार्थ अर्थात् जातिस्मरणादि ज्ञान के कारण जीव, अजीव, पुण्य और पाप को जान लिया है और स्वमति से ही आश्रव और सवर को जाना है और उनमें जो श्रद्धान रखता है वह निसर्ग-रुचि है।

टीका—दस प्रकार की रुचियों मे से क्रम-प्राप्त प्रथम निसर्गरुचि का स्वरूप बताते है। जिस आत्मा ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष इन नव तत्त्वो को यथार्थ रूप से जातिस्मरणादिज्ञान के द्वारा अर्थात् आचार्य आदि के उपदेश के बिना ही जानकर उन पर श्रद्धान किया है, वह जीव निसर्ग-रुचि कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा, बिना किसी के उपदेश से अर्थात् जातिस्मरणादि-ज्ञान के द्वारा स्वमति से पदार्थों के स्वरूप को जानकर उनमें पूर्ण विश्वास रखता है, विचार-पूर्वक धर्मतत्त्व की खोज में निरन्तर लगा रहता है, वह निसर्ग-रुचि कहलाता है।

सारांश यह है कि उसकी यह रुचि, स्वभाव-सिद्ध होने से निसर्गरुचि कही जाती है, जैसे कि मृगापुत्र को हुई थी। मृगापुत्र को धर्म मे जो रुचि उत्पन्न हुई थी वह निसर्गरुचि है। इस रुचि में गुरु आदि के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु क्षयोपशमजन्य-स्वमति की विचारणा की ही

आवश्यकता रहती है। यहा पर 'भूतार्थ' शब्द का अर्थ यथार्थ-ज्ञान अभिमत है।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव ।
एमेव नन्नहत्ति य, स निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥ १८ ॥

यो जिनदृष्टान् भावान्, चतुर्विधान् श्रद्दधाति स्वयमेव ।
एवमेव नान्यथेति च, स निसर्गरुचिरिति ज्ञातव्य. ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–**जो**–जो, **जिणदिट्ठे**–जिनदृष्ट, **भावे**–भावो को, **सयमेव**–स्वयमेव, **चउव्विहे**–चार प्रकार से, **सद्दहाइ**–श्रद्धान करता है, **एमेव**–यह इसी प्रकार है, **नन्नह**–अन्यथा नहीं, **य**–समुच्चयार्थक है, **निसग्गरुइ**–निसर्ग–रुचि, **त्ति**–ऐसे, **नायव्वो**–जानना।

मूलार्थ–जो जीव, जिनेन्द्र द्वारा अनुभूत भावों, अर्थात् पदार्थो को चार प्रकार से (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से) स्वयमेव ही जातिस्मरणादि-ज्ञान के द्वारा जानकर, 'पदार्थ का ऐसा ही स्वरूप है इससे भिन्न नहीं है,' ऐसा दृढ़ श्रद्धान करता है, उसे निसर्ग-रुचि अर्थात् निसर्ग-रुचि-सम्यक्त्व वाला जीव कहते हैं।

टीका–इस गाथा मे भी निसर्गरुचि के ही स्वरूप का वर्णन किया गया है। जैसे कि–जिन पदार्थो को तीर्थकर देव ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपो से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा देखा है, जिसने गुरू आदि के उपदेश के बिना स्वयमेव जातिस्मरणादि ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानकर उनमें दृढ श्रद्धान किया है, वह निसर्ग-रुचि है। तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्रदेव ने जो कुछ कथन किया है, वह सत्य ही है मिथ्या कभी नहीं हो सकता, इस प्रकार का जिसका दृढ़ विश्वास है, वह पुरुष निसर्गरुचि सम्यक्त्व वाला है। आप्त वाक्यो पर पूर्ण विश्वास करना और उसके अनुसार हेयोपादेय आदि में निवृत्ति, प्रवृत्ति करना निसर्गरुचि है।

इसकी उत्पत्ति विशिष्टतर-मोहनीय कर्म के क्षयोपशमभाव से होती है, अर्थात् क्षयोपशमभाव के द्वारा ही इसकी अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार निसर्गरुचि के अनन्तर अब उपदेशरुचि के विषय में कहते हैं –

एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहई ।
छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥ १९ ॥

एतान् चैव तु भावान्, उपदिष्टान् यः परेण श्रद्दधाति ।
छद्मस्थेन जिनेन वा, (सः) उपदेशरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः–जो–जो, **परेण**–पर के, **व**–अथवा, **छउमत्थेण**–छद्मस्थ के द्वारा, **जिणेण**–जिन के द्वारा, **उवइट्ठे**–उपदिष्ट किए गए, **एए**–इन पूर्वोक्त, **भावे**–भावों पर, **सद्दहई**–श्रद्धा करता है,

उवएसरुइ—उपदेशरुचि, **त्ति**—इस प्रकार, **नायव्वो**—जानना चाहिए, **उ**—पादपूर्ति मे, **च**—पुन·, **एव**—अवधारणार्थक है।

मूलार्थ—जो साधक किसी छद्मस्थ के द्वारा अथवा जिन-देव के द्वारा इन पूर्वोक्त भावों को सुनकर उन पर श्रद्धा करता है उसे उपदेश-रुचि कहते हैं।

टीका—जो साधक तीर्थकरोपदिष्ट इन पूर्वोक्त जीवादि पदार्थों को उनके यथार्थ स्वरूप को छद्मस्थ महासाधक के द्वारा, अथवा केवली भगवान के द्वारा श्रवण करके उनमे श्रद्धान करता है उसको उपेदशरुचि कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रवण के अनन्तर जो रुचि उत्पन्न हो, वह उपदेशरुचि है। यहां पर छद्मस्थ का अर्थ अल्पज्ञ और जिन का अर्थ सर्वज्ञ है। साराश यह है कि उक्त तत्वों का उपदेश चाहे सर्वज्ञ के द्वारा प्राप्त हो अथवा असर्वज्ञ से उपलब्ध हुआ हो, किन्तु धर्म मे जो रुचि उत्पन्न हुई है वह उपदेशमूलक होनी चाहिए।

अब आज्ञारुचि के विषय मे कहते हैं –

रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ॥ २० ॥

रागो द्वेषो मोहः, अज्ञानं यस्यापगतं भवति ।
आज्ञया रोचमानः, सः खल्वाज्ञारुचिर्नाम ॥ २० ॥

पदार्थान्वय·—**रागो**—राग, **दोसो**—द्वेष, **मोहो**—मोह, **अन्नाण**—अज्ञान, **जस्स**—जिस का, **अवगयं**—अपगत-दूर, **होइ**—हो जाता है, **आणाए**—आज्ञा से, **रोयंतो**—रुचि करता है, **सो**—वह, **खलु**—निश्चय से, **आणारुई**—आज्ञारुचि, **नाम**—नाम वाला है।

मूलार्थ—जिस साधक के राग, द्वेष, मोह और अज्ञान दूर हो गए हैं तथा जो आज्ञा से रुचि करता है, उसको आज्ञारुचि कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे आज्ञारुचि का स्वरूप एवं लक्षण बताया गया है। जिस आत्मा के राग-द्वेषादि क्षय हो गए हो ओर आचार्यादि की आज्ञा से जो तत्त्वार्थ पर श्रद्धान करता है वही आज्ञारुचि कहलाता है। यहा पर राग, द्वेष, मोह और अज्ञान का सर्वथा क्षय नही, किन्तु आंशिक क्षय समझना चाहिए। इनके आंशिक क्षय होने पर ही आज्ञा के पालन में रुचि उत्पन्न होती है। जिस आत्मा के राग-द्वेषादि सर्वथा क्षय हो जाते है, उसमे तो कैवल्य की उत्पत्ति हो जाने स वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा जीवन्मुक्त हो जाता है। उसके लिए आत्म-विकास की इस आरम्भिक दशा के कारणभूत रुचि-सम्यक्त्व की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

अब सूत्र-रुचि का लक्षण बताते हैं –

जो सुत्तमहिज्जन्तो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण व, वो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥ २१ ॥

यः सूत्रमधीयानः, श्रुतेनावगाहते तु सम्यक्त्वम् ।
अङ्गेन बाह्येन वा, सः सूत्ररुचिरिति ज्ञातव्यः ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—**जो**—जो, **सुत्तं**—सूत्र को, **अहिज्जन्तो**—पढ़ता हुआ, **सुएण**—श्रुत से, **ओगाहई**—अवगाहन करता है, **सम्मत्तं**—सम्यक्त्व को, **उ**—पादपूर्ति में, **अंगेण**—अग से, **व**—अथवा, **बहिरेण**—बाह्य से, **सो**—वह, **सुत्तरुइ**—सूत्ररुचि, **त्ति**—इस प्रकार, **नायव्वो**—जानना चाहिए।

मूलार्थ—जो जीव अंग-प्रविष्ट अथवा अंग-बाह्य सूत्रों को पढ़कर उनके द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त करता है उसे सूत्र-रुचि कहते हैं।

टीका—आचारांगादि सूत्रों को अगप्रविष्ट कहते है और इनके अतिरिक्त शेष सब सूत्र अगबाह्य कहलाते हैं तथा इन अगप्रविष्ट और अगबाह्य सूत्रों के सम्यक् अध्ययन से जिस जीव के विशुद्ध अन्तःकरण में सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है उसको सूत्ररुचि कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि श्रुत के सम्यक् अध्ययन से अन्तःकरण में एक विशिष्ट प्रकार की अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है, उसी का दूसरा नाम सम्यक्त्व है। इस प्रकार के सम्यक्त्व वाले साधक को सूत्ररुचि-सम्यक्त्वी कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त इस गाथा से यह भी सिद्ध हो जाता है कि अंग और अगबाह्य सभी आगमग्रन्थों के स्वाध्याय का साधु और गृहस्थ सभी को समान अधिकार है। कारण यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति का मुख्य कारण श्रुतज्ञान है और उसकी यथार्थ उपलब्धि आगमों के ज्ञान से होती है, अतः जो विद्वान् गृहस्थो के लिए आगमों के स्वाध्याय करने का निषेध करते है वे कृपा करके इस गाथा के अर्थ पर शात मन से अवश्य विचार करें।

अब सूत्रकार बीजरुचि का लक्षण बताते हैं –

एगेण अणेगाइं, पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदए व्व तेल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥ २२ ॥

एकेनानेकानि, पदानि य. प्रसरति तु सम्यक्त्वम् ।
उदक इव तैलबिन्दुः, स बीजरुचिरिति ज्ञातव्यः ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**एगेण**—एक से, **अणेगाइं**—अनेक, **पयाइं**—पदो मे, **जो**—जो, **पसरई**—फैलता है, **उ**—वितर्क अर्थ में है, **सम्मत्तं**—सम्यक्त्व, **उदएव्व**—उदक में जैसे, **तेल्लबिंदू**—तेल का बिन्दु, **सो**—वह, **बीयरुइ**—बीजरुचि, **त्ति**—इस प्रकार, **नायव्वो**—जानना चाहिए।

मूलार्थ—जैसे जल में डाला हुआ तेल का बिन्दु फैल जाता है, उसी प्रकार एक पद से अनेक पदों में जो सम्यक्त्व फैलता है उसे बीजरुचि सम्यक्त्व जानना चाहिए।

टीका—अब बीजरुचि का लक्षण बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार जल में डाला हुआ तेल का एक बिन्दु सारे जल पर फैल जाता है, तथा वपन किए गए एक बीज से सैकड़ों वा हजारो बीज

उत्पन्न हो जाते है; उसी प्रकार जिस जीव को एक पद से या हेतु से बहुत से पदो, बहुत से दृष्टान्तों और बहुत से हेतुओं द्वारा अन्त:करण में तत्त्व का श्रद्धान अर्थात् सम्यक्त्व की विशिष्टरूप से प्राप्ति होती है उसे बीजरुचि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जल पर फैलने वाले तैलबिन्दु की भांति एक-पद–जीवादि एक पदार्थ के द्वारा अनेक पदों में सम्यक्त्व को विस्तार प्राप्त हो जाता है, अर्थात् एक पद से अनेक पदों का ज्ञान हो जाता है, तथा जैसे–एक बीज अनेक बीजों को जन्म देता हुआ विस्तार को प्राप्त करता है, उसी प्रकार जिस जीव के अन्त:करण में वपन किया गया सम्यक्त्व का बीज अनेक प्रकार से फैलता है उस साधक को बीजरुचि कहते है। अथवा यूं कहिए कि जैसे जल के एक देश में डाला हुआ तैलबिन्दु सर्वत्र फैल जाता है, उसी प्रकार आत्मा के एक देश-प्रदेश मे उत्पन्न हुई रुचि क्षयोपशमभाव से आत्मा के सारे प्रदेशो में फैल जाती है, इसी का नाम बीजरुचि है। प्रस्तुत गाथा मे सुप् का व्यत्यय किया गया है।

अब अभिगमरुचि का वर्णन करते हैं, यथा –

सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ॥ २३ ॥

स भवत्यभिगमरुचिः, श्रुतज्ञानं येनार्थतो दृष्टम् ।
एकादशाङ्गानि, प्रकीर्णकानि दृष्टिवादश्च ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः–**सो**–वह, **होइ**–होता है, **अभिगमरुई**–अभिगमरुचि, **सुयनाणं**–श्रुतज्ञान, **जेण**–जिसने, **अत्थओ**–अर्थ से, **दिट्ठं**–देखा है, **एक्कारस**–ग्यारह, **अंगाइं**–अग, **पइण्णगं**–प्रकीर्ण, **दिट्ठिवाओ**–दृष्टिवाद, **य**–और उपागसूत्र।

मूलार्थ–जिसने एकादश अंग, प्रकीर्ण दृष्टिवाद और उपांगादिसूत्रों में अर्थ द्वारा श्रुतज्ञान को देखा है उसे अभिगम-रुचि कहते हैं।

टीका–सूत्रकार कहते है कि अभिगमरुचि वह जीव होता है जो कि आचारागादि एकादश अगसूत्रो, उत्तराध्ययनादि प्रकीर्णसूत्रों तथा दृष्टिवाद और उपागसूत्रों के द्वारा श्रुतज्ञान को भली-भांति समझ कर अपने अन्त:करण मे धारण कर लेता है।

साराश यह है कि अगोपागो मे आए हुए श्रुतज्ञान की अवगति से जिसको सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई हो वह अभिगमरुचि कहलाता है।

'प्रकीर्ण' शब्द यहा पर जाति मे एक वचन है और अंग के अन्तर्गत होने पर भी दृष्टिवाद का जो स्वतंत्र उल्लेख किया गया है वह उसकी प्रधानता-सूचनार्थ है।

अब विस्तार-रुचि के विषय में कहते हैं –

दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहिं नयविहीहिं, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥ २४ ॥

द्रव्याणां सर्वे भावाः, सर्वप्रमाणैर्यस्योपलब्धाः ।
सर्वैर्नयविधिभिः, विस्ताररुचिरिति ज्ञातव्यः ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**दव्वाण**—द्रव्यों के, **सव्वभावा**—सर्व भाव, **सव्व**—सर्व, **पमाणेहिं**—प्रमाणों से, **जस्स**—जिसको, **उवलद्धा**—उपलब्ध है, **सव्वाहिं**—सर्व, **नयविहीहिं**—नयविधियों से, **वित्थाररुइ**—विस्तार-रुचि, **त्ति**—इस प्रकार, **नायव्वो**—जानना चाहिए।

मूलार्थ—द्रव्यों के सब भावों को जिसने सर्व प्रमाणों और सर्व नयों से जान लिया है उसको विस्तार-रुचि कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विस्तार-रुचि की व्याख्या इस प्रकार से की गई है। यथा—धर्मादि-द्रव्यों के भावो को जो प्रत्यक्षादिप्रमाणो और नैगमादि-नयों के द्वारा भली प्रकार से जानता है, अर्थात् उनके द्वारा जिसको सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है उसे विस्तार-रुचि कहते हैं। पदार्थ के स्वरूप को जानने के मुख्य दो साधन हैं, जो कि प्रमाण और नय के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'प्रमाणनयैरधिगमः'[१] इसलिए इस लोक में जितने भी पदार्थ है उनके ज्ञानार्थ प्रमाण और नय की विशेष आवश्यकता है। प्रमाण के मुख्य दो परोक्ष और प्रत्यक्ष भेद, और विस्तार से—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—चार भेद हैं। प्रमाण के एक अंश को नय कहते है। सामान्य भाषा में कहे तो विचारो का वर्गीकरण या भिन्न-भिन्न अपेक्षाए नय कही जाती है। नय के भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये दो भेद है और इन्ही के विस्ताररूप १ नैगम, २ सग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजुसूत्र, ५ शब्द, ६ समभिरूढ़ और ७ एवभूत, ये सात भेद किए गए है।[२]

अब क्रियारुचि का लक्षण बताते है –

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु ।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई नाम ॥ २५ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रे, तपोविनये सत्यसमितिगुप्तिषु ।
य· क्रियाभावरुचिः, सः खलु क्रियारुचिर्नाम ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**दंसण**—दर्शन, **नाण**—ज्ञान, **चरित्ते**—चारित्र, **तव**—तप, **विणए**—विनय, **सच्च**—सत्य, **समिइ**—समिति, **गुत्तीसु**—गुप्तियों मे, **जो**—जो, **किरिया**—क्रिया, **भाव**—भाव, **रुई**—रुचि है, **सो**—वह, **खलु**—निश्चय ही, **किरिया**—क्रिया, **रुई**—रुचि, **नाम**—नाम से प्रसिद्ध है।

मूलार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति और गुप्तियों में जो क्रिया-भाव-रुचि है, अर्थात् उक्त क्रियाओं का सम्यक् अनुष्ठान करते हुए जिसने सम्यक्त्व को प्राप्त किया है वह क्रियारुचि-सम्यक्त्व वाला साधक है।

---

१ तत्त्वा सू अ १ सू ६।

२ इनका अधिक वर्णन देखना हो तो न्यायावतारिका आदि ग्रन्थो में देखे।

टीका–सत्यदर्शन और ज्ञानपूर्वक चारित्र का अनुष्ठान तथा द्वादश प्रकार का तप एव विनय और पांच प्रकार की समिति, तीन गुप्ति आदि शुद्ध क्रियानुष्ठान मे जो अभिरुचि-पूर्ण श्रद्धा है वह क्रियाभिरुचि-सम्यक्त्व है। यद्यपि चारित्र मे सर्व क्रियानुष्ठान गर्भित हैं, तथापि कर्म के क्षय करने मे तप आदि की प्रधानता ध्वनित करना सूत्रकार का मुख्य उद्देश्य है, इसलिए इनको पृथक् ग्रहण किया गया है। जिस समय चारित्रावरणीय कर्म का क्षय वा क्षयोपशम भाव होता है, उस समय इस जीव मे समिति और गुप्ति आदि के अनुष्ठान की रुचि उत्पन्न हो तो वही क्रियारुचि-सम्यक्त्व है।

अब संक्षेप-रुचि के विषय में कहते हैं –

अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥ २६ ॥

अनभिगृहीतकुदृष्टिः, संक्षेपरुचिरिति भवति ज्ञातव्यः ।
अविशारदः प्रवचने, अनभिगृहीतश्च शेषेषु ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः–अणभिग्गहियकुदिट्ठी–कुदृष्टि जिसने नहीं ग्रहण की, **संखेवरुइ त्ति**–सक्षेपरुचि इस प्रकार, **होइ**–होती है, **नायव्वो**–जानना चाहिए, **अविसारओ**–विशारद नही है, **पवयणे**–प्रवचन में, **य**–तथा, **अणभिग्गहिओ**–अनभिगृहीत है, **सेसेसु**–शेष–कपिलादि मतों मे।

मूलार्थ–जो जीव असत् मत या वाद में फंसा हुआ नहीं है और वीतराग के प्रवचन में विशारद भी नहीं है, किन्तु उसकी श्रद्धा शुद्ध है, उसे संक्षेप-रुचि कहते हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे सक्षेपरुचि का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जिस जीव ने कुदृष्टि अर्थात् असन्मार्ग का ग्रहण नहीं किया और जिन-प्रवचन मे भी अति निपुण नही है, तथा अन्य मतो का भी जिसे विशेप ज्ञान नहीं है, किन्तु वीतराग के मार्ग पर अटल विश्वास रखता है, ऐसा जीव संक्षेपरुचि-सम्यक्त्व वाला कहा जाता है।

वर्तमान काल मे इस प्रकार के जीव अधिक प्रतीत होते है, परन्तु इनके लिए धर्मप्रभावना की अधिक आवश्यकता है, अन्यथा इनके धर्मपथ से विचलित हो जाने की भी अधिक सभावना हो सकती है।

अब धर्मरुचि के सम्बन्ध में कहते हैं –

जो अत्थिकायधम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥ २७ ॥

योऽस्तिकायधर्म, श्रुतधर्म खलु चारित्रधर्मं च ।
श्रद्धत्ते जिनाभिहितं, स धर्मरुचिरिति ज्ञातव्य. ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः–जो–जो, **अत्थिकायधम्मं**–अस्तिकाय-धर्म, **च**–और, **सुयधम्मं**–श्रुत-धर्म,

खलु—निश्चयार्थक है, **चरित्तधम्मं**—चारित्र धर्म का, **जिणाभिहियं**—जिनकथित का, **सद्दहइ**—श्रद्धान करता है, **सो**—वह, **धम्मरुइ**—धर्मरुचि, **त्ति**—इस प्रकार, **नायव्वो**—जानना चाहिए।

मूलार्थ—जो जीव जिनेन्द्रप्ररूपित अस्तिकायधर्म-द्रव्यादिरूप श्रुतधर्म-शास्त्रप्रवचनरूप और समितिगुप्त्यादिरूप चारित्रधर्म पर यथातथ्यरूप श्रद्धान करता है, वह धर्म-रुचि-सम्यक्त्व वाला है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे धर्मरुचि का लक्षण बताते हुए सूत्रकार कहते है कि जो तीर्थकर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की यथार्थता पर विश्वास करता है और अंग-प्रविष्ट तथा अंग-बाह्य सभी प्रकार के श्रुत-प्रवचन में पूर्ण श्रद्धा रखता है एव जिसकी चारित्र-धर्म पर पूरी आस्था है, ऐसे जीव का जो सम्यक्त्व है उसको धर्मरुचि-सम्यक्त्व कहते है।

तात्पर्य यह है कि जिन-प्ररूपित द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान, श्रुत का बोध और चारित्र के अनुष्ठान की अभिलाषा का होना यह धर्मरुचि के विशिष्ट लक्षण है।

यद्यपि रुचियो के सारे भेद निसर्ग और उपदेशरुचि मे समाविष्ट हो सकते है, परन्तु शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थ और उपाधिभेद से भेद-निरूपणार्थ इनका पृथक्-पृथक निर्देश किया गया है।

जिन गुणों से सम्यक्त्व में श्रद्धा उत्पन्न होती है अब उनका निरूपण करते हैं, यथा —

परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठ परमत्थसेवणं वावि ।
वावन्नकुदंसणवज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा ॥ २८ ॥

परमार्थसंस्तवो वा, सुदृष्टपरमार्थसेवनं वापि ।
व्यापन्नकुदर्शनवर्जनं च, सम्यक्त्वश्रद्धानम् ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः—परमत्थ—परमार्थ का, **संथवो**—सस्तव, **वा**—अथवा, **सुदिट्ठ**—भली प्रकार से देखा है, **परमत्थ**—परमार्थ जिसने-उसकी, **सेवणं**—सेवा करनी, **वा**—वैयावृत्य करना, **अवि**—अपि समुच्चय मे, **य**—और, **वावन्न**—सन्मार्ग से पतित, **कुदंसण**—तथा कुदर्शनी व्यक्ति का, **वज्जणा**—त्याग करना, **सम्मत्तसद्दहणा**—सम्यक्त्व की श्रद्धा है।

मूलार्थ—परमार्थ-तत्त्व का बार-बार गुण-गान करना, जिन महापुरुषों ने परमार्थ को भली-भांति देखा है उनकी सेवा-सुश्रूषा करना, जो सम्यक्त्व अर्थात् सन्मार्ग से पतित हो गए हैं तथा जो कुदर्शनी अर्थात् असत्य दर्शन में विश्वास रखते हैं उनकी सगति न करना, यह सम्यक्त्व की श्रद्धा है, अर्थात् इन उक्त गुणों से सम्यक्त्व रूप श्रद्धा प्रकट होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे सम्यक्त्व के बोधक गुणो का वर्णन किया गया है। जिस पुरुष में सम्यक्त्व होता है अथवा यूं कहिए कि जो पुरुष सम्यगदर्शन से युक्त होता है उसमें निम्नलिखित तीन गुण अवश्य विद्यमान होते हैं; १. तत्त्व का संस्तव अर्थात् गुणकीर्तन, २ तत्त्ववेत्ता महापुरुषों की उपासना, ३ सन्मार्ग से भ्रष्ट और कुमार्ग मे प्रवृत्ति रखने वालों के ससर्ग का परित्याग।

इसका अभिप्राय यह है कि परमार्थ के सस्तव से हृदय में एक विशेष प्रकार का उल्लास पैदा होता है और परमार्थदर्शी सत्य पुरुषो की सेवा से आत्मगुणो के विकास मे क्रान्ति पैदा होती है एवं पतित पुरुषों के सहवास से धर्म-मार्ग से विमुख होने का भय रहता है; इसलिए जिस आत्मा में सम्यक्त्व का बीज अंकुरित होता है उसमें ये तीनो बातें स्वभावत: प्रतीत होती हैं, अर्थात् जहां पर इन उक्त गुणो की सत्ता व्यक्त हो, वहां पर सम्यक्त्व अवश्य होता है। जैसे-पर्वत-गत धूम-रेखा से वह्नि का अनुमान किया जाता है, इसी प्रकार जिस व्यक्ति में इन तीनों गुणों की अभिव्यक्ति हो, वहा सम्यक्त्व की विद्यमानता का अनुमान कर लेना चाहिए। कारण यह है कि जिस व्यक्ति में ये उक्त गुण व्यक्त नहीं होते, वहां पर सम्यक्त्व भी नही होता।

इस प्रकार सम्यक्त्व के परिचायक गुणों का वर्णन करने के अनन्तर अब उसके महत्त्व का वर्णन करते हैं –

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं ।
सम्मत्त-चरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥ २९ ॥

नास्ति चारित्रं सम्यक्त्वविहीनं, दर्शने तु भक्तव्यम् ।
सम्यक्त्व-चारित्रे, युगपत्पूर्वं च सम्यक्त्वम् ॥ २९ ॥

पदार्थान्वय.–**नत्थि**–नही है, **चरित्तं**–चारित्र, **सम्मत्तविहूणं**–सम्यक्त्व से रहित, **उ**–पुन:, **दंसणे**–दर्शन में, **भइयव्वं**–चारित्र की भजना है, **सम्मत्त-चरित्ताइं**–सम्यक्त्व और चारित्र, **जुगव**–युगपत्–एक समय मे हो तो, **पुव्वं**–प्रथम-पहले, **सम्मत्तं**–सम्यक्त्व होगा, **व**–परस्पर अपेक्षा मे है।

मूलार्थ–सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं हो सकता और दर्शन में उसकी–अर्थात् चारित्र की भजना होती है अर्थात् जहां पर सम्यक्त्व होता है वहां पर चारित्र होता भी है और नहीं भी, यदि दोनों एक काल में हों तो उनमें सम्यक्त्व की उत्पत्ति प्रथम होगी।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे सम्यक्त्व की विशिष्टता बताई गई है। सम्यक्त्व के बिना चारित्र हो ही नही सकता, अर्थात् पहले सम्यक्त्व होगा तदनन्तर चारित्र की प्राप्ति होगी। कारण यह है कि 'सम्यक्त्व' यह चारित्र की पूर्ववर्ती स्थिति विशेष है। यथार्थ श्रद्धा के बिना आचरण का होना असम्भव है। अत: दर्शनपूर्वक ही चारित्र होता है। परन्तु दर्शन में चारित्र की भजना है, अर्थात् सम्यक्त्व के होने पर चारित्र का होना कोई आवश्यक नहीं है, वह हो भी सकता है और नहीं भी होता है। यदि दर्शन और चारित्र की उत्पत्ति एक साथ हो तो उसमे प्रथम दर्शन-सम्यक्त्व ही होता है।

तात्पर्य यह है कि जहां पर सम्यक्-चारित्र होगा वहां पर दर्शन-सम्यक्त्व तो अवश्य होगा ही, परन्तु जहां पर दर्शन है वहा पर चारित्र का होना अनिवार्य नहीं, इसलिए सम्यक्त्व को ही विशिष्टता प्राप्त है। अतएव शास्त्रकारों ने मोक्षनिधि के बहुमूल्य रत्नों में सबसे प्रथम दर्शन का ही उल्लेख

किया है।[1]

अब फिर इसी विषय में कहते हैं –

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥ ३० ॥

नादर्शनिनो ज्ञानं, ज्ञानेन बिना न भवन्ति चारित्रगुणाः ।
अगुणिनो नास्ति मोक्षः, नास्त्यमोक्षस्य निर्वाणम् ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः–**अदंसणिस्स**–दर्शनरहित को, **न**–नही होता, **नाणं**–ज्ञान, **नाणेण विणा**–ज्ञान के बिना, **न हुंति**–नही होते, **चरणगुणा**–चारित्र के गुण, **अगुणिस्स**–चारित्र के गुणों से रहित का, **नत्थि मोक्खो**–मोक्ष नही है, **अमोक्खस्स**–अमुक्त को, **नत्थि निव्वाणं**–निर्वाण प्राप्त नही होता।

मूलार्थ–दर्शन–सम्यक्त्व से रहित साधक को ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र के गुण प्रकट नहीं होते, चारित्र के गुणों के बिना कर्मों से मुक्ति नहीं मिलती और कर्मो से मुक्त हुए बिना निर्वाण अर्थात् सिद्धपद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे सम्यग्दर्शन की विशिष्टता का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने मोक्ष के साधनों मे सबसे अग्रणी स्थान सम्यक्त्व को दिया है। सम्यक्त्व के बिना सम्यग्ज्ञान का होना अशक्य है और ज्ञान के बिना सम्यक्-चारित्र का होना अर्थात् चारित्र-सम्बन्धी सद्गुणो–व्रत और पिंडविशुद्धि आदि का प्राप्त होना भी दुर्लभ है। यदि चारित्र-सम्बन्धी सद्गुणो की प्राप्ति न हुई तो फिर कर्मों से मुक्त होना अर्थात् कर्मों के बन्धनो से छुटकारा पाना भी नितान्त कठिन है। जब कर्मो से छुटकारा न मिला तो फिर समस्त कर्मो का क्षयरूप जो परम-निर्वाणपद है उसकी प्राप्ति की आशा करना भी व्यर्थ ही होगा। इसलिए निर्वाणप्राप्ति की इच्छा रखने वाले जीवो को सब से प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। कारण यह है कि सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी और सम्यग्ज्ञान से चारित्र-सम्बन्धी सद्गुणों की उपलब्धि होगी, उन सद्गुणो के धारण करने से कर्मो का क्षय होगा और कर्मो के क्षय से सर्वोत्कृष्ट निर्वाणपद की प्राप्ति होगी। इस प्रकार सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता हुआ जीव, अनुक्रम से उत्तरोत्तर भूमिकाओ को प्राप्त करके अन्त मे परमकल्याणस्वरूप सिद्धगति को प्राप्त कर सकता है।

इससे सिद्ध हुआ कि निर्वाणरूप भव्य प्रासाद की आधारशिला सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन ही है।

इस प्रकार सम्यक्त्व की विशिष्टता का वर्णन करने के अनन्तर अब उसके आठ अंगों का वर्णन करते हैं –

निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उवबूह-थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥ ३१ ॥

---

१ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' तत्त्वा अ १ सू. १

निःशङ्कितं निःकांक्षितं, निर्विचिकित्स्यममूढदृष्टिश्च ।
उपबृंहास्थिरीकरणे, वात्सल्यप्रभावनेऽष्टौ ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः—निस्संकिय—शकारहित, **निक्कंखिय**—आकाक्षारहित, **निव्वितिगिच्छा**—फल में सन्देहरहित, **य**—और, **अमूढदिट्ठी**—अमूढ़दृष्टि, **उववूह**—गुणकीर्तन, **थिरीकरणं**—धर्म मे स्थिर करना, **वच्छल्ल**—वात्सल्य, **पभावणे**—धर्मप्रभावना, **अट्ठ**—आठ।

मूलार्थ—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्स्य, अमूढ़दृष्टि, उपबृंहा, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये आठ गुण दर्शन के आचार हैं अर्थात् सम्यक्त्व के अंग हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में दर्शन के आठ आचारों अर्थात् अगों का उल्लेख किया गया है, यथा –

(१) निःशंकित—जिन-प्रवचन मे किसी प्रकार की शंका न करना।

(२) निःकांक्षित—असत्य मतों वा सांसारिक सुखों की इच्छा न करना।

(३) निर्विचिकित्स्य—धर्म के फल में सन्देह रहित होना।

(४) अमूढ़दृष्टि—बहुत से मत-मतान्तरों के विवादास्पद विचारो को देखकर दिङ्मूढ न बनना, किन्तु अपनी धार्मिक श्रद्धा को दृढ़ बनाए रखना।

(५) उपबृंहा—गुणी पुरुषो को देखकर उनकी प्रशसा करना और अपने को वैसा गुणी बनाने का प्रयत्न करना।

(६) स्थिरीकरण—धर्म से विचलित होते हुए जीवों को पुनः धर्म पर दृढ़ करना।

(७) वात्सल्य—स्वधर्म का हित करना और स्वधर्मियो के प्रति प्रेम-भाव रखना, उनकी भोजनादि द्वारा सेवा-भक्ति करना।

(८) प्रभावना—सत्यधर्म की प्रभावना—उन्नति और प्रचार करना।

उपर्युक्त आठ गुण सम्यक्त्व के अंग कहे जाते है। इनमे प्रथम चार गुण तो अन्तरग है और आगे के चार बहिरंग कहे जाते है। इन आठ गुणो के द्वारा दर्शन प्रदीप्त होता है और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

अब चारित्र के विषय में कहते हैं –

सामाइयत्थ पढमं, छेदोवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च ॥ ३२ ॥

सामायिकमत्र प्रथमं, छेदोपस्थापनं भवेद्द्वितीयम् ।
परिहारविशुद्धिकं, सूक्ष्मं तथा संपरायं च ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः—अत्थ—यहां पर, **सामाइय**—मामायिक, **पढमं**—प्रथम चारित्र है, **छेदोवट्ठावणं**—

छेदोपस्थापनीय, **बीयं**–द्वितीय चारित्र, **भवे**–है, **परिहारविसुद्धीयं**–परिहारविशुद्धि-तीसरा, **सुहुमं संपरायं**–सूक्ष्म-संपराय, यह चौथा है, **च**–समुच्चयार्थ मे है।

मूलार्थ–प्रथम सामायिक-चारित्र, द्वितीय छेदोपस्थापनीय, तृतीय परिहार-विशुद्धि और चतुर्थ सूक्ष्म-संपराय चारित्र है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में चारित्र के भेदों का वर्णन किया गया है। सामायिक–सम्यक् प्रकार से गमन ही जिसका प्रयोजन है उसको सामायिक-चारित्र कहते है, अथवा जिसका राग-द्वेष सम है और उसी मे जिसका गमन है उसे सामायिक-चारित्र कहा गया है। यदि सरल शब्दो मे कहे तो अहिसादि पाच महाव्रतरूप प्रथम भूमिका के चारित्र का नाम सामायिक-चारित्र है, अतएव यह चारित्र सर्वसावद्य-निवृत्तिरूप होता है।

इस चारित्र के भी दो भेद है–१. इत्वरकालिक और २ यावत्कालिक। इन मे भारत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और चरम तीर्थंकर के समय मे इत्वरकालिक-चारित्र होता है, क्योंकि सामायिक-चारित्र के पश्चात् छेदोपस्थापनीय-चारित्र प्रदान किया जाता है और मध्य मे रहने वाले बाईस तीर्थकरो के समय मे वा महाविदेह-क्षेत्र मे यावत्कालिक-सामायिक-चारित्र रहता है। यह आयुपर्यन्त होता है।

२ छेदोपस्थापनीय–चारित्र सातिचार वा निरतिचार होने पर पूर्व-पर्याय का छेदन करके पांच महाव्रतो का आरोपण करना रूप है। अथवा पूर्व-गृहीत सामायिक-चारित्र के काल को छेद कर पांच महाव्रतरूप जो चारित्र धारण किया जाता है उसे छेदोपस्थापनीय कहते है।

३ परिहार-विशुद्धि-विशिष्ट तप के द्वारा की जाने वाली आत्मा की विशुद्धि को परिहार-विशुद्धि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उच्च प्रकार और तपश्चर्या-पूर्वक डेढ वर्ष तक चारित्र का यथाविधि पालन करना ही परिहार-विशुद्धि-चारित्र है। इसकी विधि इस प्रकार से वर्णित है–परिहार-विशुद्धि के लिए गच्छ से नौ साधु निकलते है, वे अठारह मास तक इस प्रकार से तपश्चर्या करते हैं–उन नव-साधुओ मे से चार साधु तो छ· मास तक तप करते है और चार उनकी वैयावृत्य–सेवा-शुश्रूषा करते है, तथा उनमे से एक नवमा–वाचनाचार्य होता है। जब पहले चार साधु छ: मास पर्यन्त तप कर चुकते है तो दूसरे चार जो उनकी परिचर्या मे लगे हुए थे तप करना आरम्भ कर देते हैं और पहले चार साधु उनकी वैयावृत्य मे लग जाते हैं। जब उनके छ· मास पूरे हो जाते है तो उनमें जो एक वाचनाचार्य था, वह तप करने लगता है और उन आठो मे से एक वाचनाचार्य बन जाता है, तथा शेष साधु उसकी सेवा मे प्रवृत्त रहते है। वह भी छ: मास तक तप करता है। इस प्रकार जब अठारह मास पूरे हो जाते हैं, तब वे जिन-कल्प के अथवा गच्छ के आश्रित होकर विचरने लगते हैं।

परन्तु वृत्तिकारो ने ग्रीष्म काल में जघन्य-तप–उपवास, मध्यम, षष्ठभक्त [दो दिन का उपवास] उत्कृष्ट, अष्टम [तीन दिन का उपवास] तप और पारने के लिए आचाम्ल तप करना लिखा है तथा शिशिर-काल मे जघन्य षष्ठ तप, उत्कृष्ट दशम पर्यन्त कहा है एवं वर्षा-ऋतु में जघन्य अष्टम-तप और उत्कृष्ट द्वादश-तप का करना लिखा है तथा पारने के दिन आचाम्लादि तप का उल्लेख किया है।

यह चारित्र तीर्थङ्कर, गणधर और स्थविर आदि के समीप ग्रहण किया जाता है, इसके द्वारा बहुत से कर्मों का क्षय होकर आत्मा के ज्ञानादि गुणों में अधिक विकास और विशुद्धि होती है, इसलिए इसको परिहार-विशुद्धि-चारित्र कहा है।

४. सूक्ष्म-संपराय-चतुर्थ चारित्र सूक्ष्म-संपराय है। जहां पर सूक्ष्म-केवल लोभसंज्ञक कषाय विद्यमान हो, वह सूक्ष्म-संपराय-चारित्र है। यह चारित्र उपशम-श्रेणी व क्षपक श्रेणी में आरूढ हुए मुनियों को होता है। कारण यह है कि जिसके द्वारा संसार में पर्यटन किया जाता है, उसी का नाम यहां पर लोभ है और वह सूक्ष्मसज्ञक लोभ जिस के उदय मे रह गया है उसे ही सूक्ष्म-संपराय-चारित्र कहा गया है।

ये सभी चारित्र परिणामों की तारतम्यता को लेकर कहे गए हैं। इनके द्वारा आत्म-प्रदेशो में लगी हुई कर्म-वर्गणाओ का क्षय हो जाता है।

अब यथाख्यात-चारित्र के विषय में कहते हैं –

अकसायमहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा ।
एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं ॥ ३३ ॥

अकषायं यथाख्यातं, छद्मस्थस्य जिनस्य वा ।
एतच्चयरिक्तकरं, चारित्रं भवत्याख्यातम् ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः–**अकसायं**–कषाय-रहित, **अहक्खायं**–यथा-ख्यात है, **छउमत्थस्स**–छद्मस्थ को, **वा**–अथवा, **जिणस्स**–जिन को होता है, **एयं**–यह-पांचों चारित्र, **चयरित्तकरं**–कर्मों की राशि को रिक्त करने वाले हैं, अतः, **चारित्तं**–चारित्र, **होइ**–होता है, **आहियं**–तीर्थङ्करों ने कहा है।

मूलार्थ–कषाय से रहित जो यथाख्यात चारित्र है वह छद्मस्थ को और जिन (केवली) को होता है। कर्म-राशि को क्षय करने के कारण इसे तीर्थङ्करों ने चारित्र कहा है।

टीका–यथाख्यात-चरित्र वाला जीव जैसी प्ररूपणा करता है उसी के अनुसार वह क्रियानुष्ठान भी करता है। यह चारित्र ग्यारहवें और बारहवे गुण-स्थानवर्ती छद्मस्थ को होता है और केवली भगवान् को होता है जो कि तेरहवे और चौदहवें गुण-स्थानवर्ती है।

यहां पर यदि कोई शंका करे कि यथाख्यात-चारित्र को अकषाय–कषाय-रहित कहा गया है और ग्यारहवे गुण-स्थान मे उपशमकषाय है, अर्थात् कषायों का उपशम है सर्वथा अभाव नहीं है तब ग्यारहवें गुण-स्थानवर्ती छद्मस्थ में यथाख्यात-चारित्र कैसे हो सकता है ?

इस शका का समाधान यह है कि यद्यपि ग्यारहवे गुण-स्थान में कषायो का अभाव नही, किन्तु उपशम है, तथापि कषायो का जो कार्य है उसके न होने से उपशान्त-मोहनामा ग्यारहवें गुण-स्थान को भी व्यवहारनय के अनुसार अकषाय ही माना गया है, क्योंकि वहां पर कषाय-जन्य कार्य का अभाव होने से वह भी अकषाय ही है।

चारित्र शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है, चय अर्थात् समूह कर्म-राशि को जो रिक्त-खाली करे वह चारित्र है। तात्पर्य यह है कि आत्मा को जो कर्म-मल से सर्वथा रहित कर देने की शक्ति रखता हो उसे चारित्र कहते हैं। इस प्रकार चारित्र के ये पांच भेद वर्णन किए गए है।

अब तप के विषय में कहते हैं –

तवो य दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥ ३४ ॥

तपश्च द्विविधमुक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
बाह्यं षड्विधमुक्तं, एवमाभ्यन्तरं तप. ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः—**तवो**—तप, **दुविहो**—दो प्रकार का, **वुत्तो**—कहा गया है, **बाहिर**—बाह्य, **तहा**—तथा, **अब्भतरो**—आभ्यतर, **य**—पुनः, **बाहिरो**—बाह्य, **छव्विहो**—षड्विध—छ· प्रकार का, **वुत्तो**—कहा है, **एव**—इसी प्रकार, **अब्भंतरो**—आभ्यतर, **तवो**—तप भी—षट् प्रकार का है।

मूलार्थ—तप दो प्रकार का है, बाह्य और आभ्यन्तर, उसमें बाह्य के छः भेद हैं और आभ्यन्तर तप भी छः प्रकार का है।

टीका—मोक्ष का चतुर्थ साधन तप है। वह दो प्रकार का है। एक बाह्य तप दूसरा आभ्यतर तप, इन दोनों के छ -छ· भेद है, अर्थात् छः प्रकार का बाह्य और छ· प्रकार का आभ्यन्तर तप है। इसका पूर्ण विवरण इसी सूत्र के तीसवे तपोऽध्ययन में किया गया है। इस प्रकार तप के बारह भेद होते हैं।

तप एक प्रकार की विचित्र अग्नि है जो कि आत्मा के साथ लगे हुए कर्म मल को जलाकर आत्मा को सर्व प्रकार से विशुद्ध कर देती है। इसीलिए शास्त्रकारो ने इसका पृथक् निर्देश किया है, अन्यथा चारित्र के अन्तर्गत इसका भी समावेश किया जा सकता था।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इन चारों का वर्णन करने के अनन्तर अब ज्ञानादि प्रत्येक का प्रयोजन बताते हैं, यथा –

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥ ३५ ॥

ज्ञानेन जानाति भावान्, दर्शनेन च श्रद्धत्ते ।
चारित्रेण निगृह्णाति, तपसा परिशुध्यति ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वय·—**नाणेण**—ज्ञान से, **भावे**—भावों को, **जाणई**—जानता है, **य**—फिर, **दंसणेण**—दर्शन से, **सद्दहे**—श्रद्धा करता है, **चरित्तेण**—चारित्र से, **निगिण्हाइ**—आस्रवो का निरोध करता है, **तवेण**—तप से, **परिसुज्झई**—यह जीव शुद्ध होता है।

मूलार्थ—यह जीव ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धान करता है, चारित्र से कर्माश्रवों को रोकता है और तप से शुद्धि को प्राप्त होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में ज्ञानादि चारो साधनो के पृथक्-पृथक् कार्य बताए गए है। ज्ञान का कार्य वस्तु-तत्त्व के स्वरूप को जानना है और दर्शन का कार्य उस पर पूर्ण विश्वास कराना है, तथा चारित्र का कार्य निराश्रव अर्थात् आश्रवों से रहित करना आश्रव-द्वारो—कर्मागमन के मार्गो को रोक देना है और तप का काम आत्म-सपृक्त कर्मों को जलाकर उसको शुद्ध बना देना है।

सारांश यह है कि ज्ञान द्वारा जान कर, दर्शन द्वारा श्रद्धान करके और चारित्र के द्वारा निराश्रव होकर तप के द्वारा यह आत्मा शुद्ध होती हुई मोक्ष-मदिर की पथिक बन जाती है। ये चारो ही बन्ध की निवृत्ति के उपाय हैं। इनके द्वारा कर्म-बन्धनो को काट कर यह आत्मा सर्व प्रकार से स्वतन्त्र हो जाती है। जैसे कोई ऋणी पुरुष ऋण से मुक्त होने के लिए प्रथम ऋण का ज्ञान करता है और फिर उसका निश्चय करता है तथा आगे ऋण न बढे उसके लिए प्रयत्न करता है और जो ऋण सिर पर विद्यमान है उसको थोडा-थोडा करके देता जाता है और अन्त में ऋण-मुक्त होकर परम सुखी बन जाता है, उसी प्रकार कर्म-बन्ध से मुक्त होने के लिए इस आत्मा को भी उक्त चारो साधनो का अवलबन लेना पडता है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि –

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो ॥ ३६ ॥
त्ति बेमि ।
इति मोक्खमग्गगई समत्ता ॥ २८ ॥

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, सयमेन तपसा च ।
प्रहीणसर्वदु·खार्था·, प्रक्रामन्ति महर्षय: ॥ ३६ ॥
इति ब्रवीमि ।
इति मोक्षमार्गगति. समाप्ता ॥ २८ ॥

पदार्थान्वय.—**खवित्ता**—क्षय करके, **पुव्वकम्माइं**—पूर्व कर्मो को, **सजमेण**—संयम से, **य**—और, **तवेण**—तप से, **सव्वदुक्खपहीणट्ठा**—जिससे सब दु.ख नष्ट हो जाते हैं ऐसे सिद्ध पद की प्राप्ति के लिए, **महेसिणो**—महर्षि लोग, **पक्कमन्ति**—पराक्रम करते है, **त्ति**—परिसमाप्ति में, **बेमि**—मैं कहता हू।

मूलार्थ—इस प्रकार तप और संयम के द्वारा पूर्व कर्मो का क्षय करके सर्व प्रकार के दु.खों से रहित जो सिद्धपद है उसके लिए महर्षिजन पराक्रम करते है।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि महर्षि जन तप और संयम के द्वारा पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों को खपा कर सभी दु.खों से रहित मोक्ष-गति के लिए पराक्रम करते हैं। तात्पर्य यह है कि उनके तप और सयम के अनुष्ठान का सारा प्रयोजन मोक्ष-गति को प्राप्त करना होता है।

यहा पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को, संयम और तप इन दो में अन्तर्भाव करके वर्णन किया गया है। संयम के सत्रह भेद हैं और तप के बारह, इनके द्वारा अर्थात् इनका अनुष्ठान करने से सर्व प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाता है।

इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्ववत् जान लेना चाहिए।

अष्टाविंशमध्ययनं संपूर्णम्

अह सम्मत्तपरक्कमं एगूणतीसइमं अज्झयणं

अथ सम्यक्त्वपराक्रममेकोनत्रिंशत्तममध्ययनम्

गत अट्ठाइसवें अध्ययन मे ज्ञानादि मोक्ष-मार्गो का वर्णन किया गया है, परन्तु उनके लिए सवेग की परम आवश्यकता है तथा इन ज्ञानादि गुणो को ग्रहण करने का मुख्य उपाय अप्रमाद है एव उक्त साधनो के द्वारा जो मोक्ष-गति को प्राप्त करना है वह भी वीतरागतापूर्वक ही हो सकता है। इसलिए प्रस्तुत २९वे अध्ययन मे सवेग, अप्रमाद और वीतरागता, इन तीनो अधिकारों का वर्णन किया गया है। यह इनका परस्पर सम्बन्ध है। इस अध्ययन में ७३ प्रश्नोत्तरो का सदर्भ है जो कि मुमुक्षुओ के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा उपादेय है। प्रस्तुत अध्ययन का गद्यरूप आदिम सूत्र इस प्रकार है। यथा–

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए, जं सम्मं सद्दहित्ता पत्तियाइत्ता, रोयइत्ता, फासित्ता, पालइत्ता, तीरित्ता, कित्तइत्ता, सोहइत्ता, आराहित्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

श्रुतं मयाऽऽयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातम्। इह खलु सम्यक्त्वपराक्रमं नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदितम्। यत्सम्यक् श्रद्धाय, प्रतीत्य, रोचयित्वा, स्पृष्ट्वा, पालयित्वा, तीरयित्वा, कीर्तयित्वा, शोधयित्वा, आराध्य, आज्ञयाऽनुपाल्य बहवो जीवाः सिध्यन्ति, बुध्यन्ते, मुच्यन्ते, परिनिर्वान्ति, सर्वदुःखानामन्त कुर्वन्ति।

पदार्थान्वयः–**सुयं**–सुना है, **मे**–मैंने, **आउसं**–हे आयुष्मन् ! **तेणं**–उस, **भगवया**–भगवान् ने, **एवं**–इस प्रकार, **अक्खायं**–कहा है, **इह**–इस शासन मे वा जगत् में, **खलु**–निश्चय ही, **सम्मत्तपरक्कमे**–

सम्यक्त्व-पराक्रम, **अज्झयणे**—नाम वाला अध्ययन, **समणेण**—श्रमण, **भगवया**—भगवान्, **महावीरेणं**—महावीर, **कासवेणं**—कश्यपगोत्री ने, **पवेइए**—प्रतिपादन किया है, **जं**—जिसको, **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से, **सद्दहिता**—श्रद्धान करके, **पत्तियाइत्ता**—ग्रहण करके, **रोयइत्ता**—रुचि करके, **फासित्ता**—स्पर्श करके, **पालइत्ता**—पालन करके, **तीरित्ता**—पार करके, **कित्तइत्ता**—कीर्तन करके, **सोहइत्ता**—शुद्ध करके, **आराहित्ता**—आराधन करके, **आणाए**—गुरु की आज्ञा से, **अणुपालइत्ता**—निरन्तर पालन करके, **बहवे**—बहुत से, **जीवा**—जीव, **सिज्झंति**—सिद्ध होते है, **बुज्झंति**—बुद्ध होते है, **मुच्चंति**—कर्मो से मुक्त होते है, **परिनिव्वायंति**—शीतलीभूत होते हैं, **सव्वदुक्खाणं**—सर्व प्रकार के दु:खो का, **अंतं करेंति**—अन्त करते हैं।

मूलार्थ—हे शिष्य ! मैंने सुना है कि श्री भगवान ने इस प्रकार कहा है—इस जगत् में वा जिन-शासन में निश्चय ही सम्यक्त्व-पराक्रम नामक अध्ययन कश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किया है, जिसको सम्यक् प्रकार से श्रद्धान करके, अंगीकार करके, रुचि करके, स्पर्श करके, पालन करके, पार करके, कीर्तन करके, शुद्ध करके, आराधन करके और आज्ञा से निरन्तर सेवन करके बहुत से जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, कर्मो से मुक्त होते है, कर्मरूप दावानल से रहित होकर शान्त हो जाते हैं और सब प्रकार के शारीरिक वा मानसिक दु.खों का अन्त कर देते है।

टीका—श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते है कि 'हे आयुष्मन् ! मैन सुना है जगत्-प्रसिद्ध कश्यपगोत्रीय भगवान् श्री महावीरस्वामी ने कहा है कि इस जगत् वा जिन-शासन मे सम्यक्त्व-पराक्रम नामक अध्ययन है। सम्यक्त्वयुक्त जीव और उसके द्वारा उत्तरोत्तर गुणो की प्राप्ति के लिए पराक्रम करना इत्यादि सब इस अध्ययन मे वर्णित हे, अत: गुण-गुणी का अभेद होने से प्रस्तुत अध्ययन का नाम भी सम्यक्त्व-पराक्रम रखा गया है। इस अध्ययन को भगवान् ने मेरे प्रति प्रतिपादित किया है।

इस प्रकार वक्ता के द्वारा इस अध्ययन का माहात्म्य वर्णन किया गया है। अब फलश्रुति से इसका महत्व वर्णन करते हुए कहते है कि—इस अध्ययन का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान करके, विशेषता से इसको अंगीकार करके, वा निश्चित करके इस अध्ययन मे कथन किए गए क्रियानुष्ठान में रुचि उत्पन्न करके तथा उस क्रिया को स्पर्श करके, निरतिचाररूप से पालन करके और उस क्रियानुष्ठान को पार पहुचाकर तथा स्वाध्यायादि के द्वारा इसका कीर्तन करके, उत्तरोत्तर गुणो की शुद्धि करके, एव उत्सर्ग और अपवाद-मार्ग से इसकी आराधना करके, गुरु की आज्ञा से इसका निरन्तर अनुशीलन करके, अथवा मन, वचन और काया से स्पर्श करके, मन से सूत्रार्थ का चिन्तन करना, वचन से इसकी प्ररूपणा करना, काया मे इसकी भग होने से रक्षा करना, इस प्रकार तीनो योगो से भली-भांति स्पर्श करके तथा परावर्तनादि से रक्षा करके, अध्ययनादि से इसकी समाप्ति करके और गुरुजनो की विनय-भक्ति करके मैने इसको पढ़ा है। इस प्रकार इसका कीर्तन करके, एवं गुरु की आज्ञा से इसकी शुद्धि करके, तथा उत्सूत्र-प्ररूपणा के परिहार से इसकी आराधना करके बहुत से जीव सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् घाती कर्मो को क्षय करके केवल-ज्ञान को प्राप्त कर लेते है, फिर सर्व कर्मो से मुक्त होकर

निर्वाणस्वरूप परमशांति को प्राप्त हो जाते हैं, सर्व प्रकार की दु:ख-परम्परा का अन्त करके मोक्षगति को प्राप्त कर लेते है।

भगवान् महावीर-स्वामी के द्वारा इस अध्ययन की प्ररूपणा का वर्णन करने से इसकी विशिष्ट प्रामाणिकता ध्वनित की गई है।

अब शिष्यों पर अनुग्रह करने के लिए प्रस्तुत अध्ययन में आने वाले विषयों की तालिका देते हैं। यथा–

तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तं जहा:–१ संवेगे, २ निव्वेए, ३ धम्मसद्धा, ४ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया, ५ आलोयणया, ६ निंदणया, ७ गरिहणया, ८ सामाइए, ९ चउव्वीसत्थवे, १० वंदणे, ११ पडिक्कमणे, १२ काउस्सग्गे, १३ पच्चक्खाणे, १४ थयथुइमंगले, १५ कालपडिलेहणया, १६ पायच्छित्तकरणे, १७ खमावयणया, १८ सज्झाए, १९ वायणया, २० पडिपुच्छणया, २१ परियट्टणया, २२ अणुप्पेहा, २३ धम्मकहा, २४ सुयस्स आराहणया, २५ एगग्गमणसंनिवेसणया, २६ संजमे, २७ तवे, २८ वोदाणे, २९ सुहसाए, ३० अप्पडिबद्धया, ३१ विवित्तसयणासणसेवणया, ३२ विणियट्टणया, ३३ संभोगपच्चक्खाणे, ३४ उवहिपच्चक्खाणे, ३५ आहारपच्चक्खाणे, ३६ कसायपच्चक्खाणे, ३७ जोगपच्चक्खाणे, ३८ सरीरपच्चक्खाणे, ३९ सहायपच्चक्खाणे, ४० भत्तपच्चक्खाणे, ४१ सब्भावपच्चक्खाणे, ४२ पडिरूवणया, ४३ वेयावच्चे, ४४ सव्वगुणसंपण्णया, ४५ वीयरागया, ४६ खन्ती, ४७ मुत्ती, ४८ मद्दवे, ४९ अज्जवे, ५० भावसच्चं, ५१ करणसच्चे, ५२ जोगसच्चे, ५३ मणगुत्तया, ५४ वयगुत्तया, ५५ कायगुत्तया, ५६ मणसमाधारणया, ५७ वयसमाधारणया, ५८ कायसमाधारणया, ५९ नाणसंपन्नया, ६० दंसणसंपन्नया, ६१ चरित्तसंपन्नया, ६२ सोइंदियनिग्गहे, ६३ चक्खुंदियनिग्गहे, ६४ घाणिंदियनिग्गहे, ६५ जिब्भिंदियनिग्गहे, ६६ फासिंदियनिग्गहे, ६७ कोहविजए, ६८ माणविजए, ६९ मायाविजए, ७० लोहविजए, ७१ पेज्ज-दोस-मिच्छादंसणविजए, ७२ सेलेसी, ७३ अकम्मया।

तस्य अयमर्थः एवमाख्यायते, तद्यथा:–१ संवेगः, २ निर्वेदः, ३ धर्मश्रद्धा, ४ गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणम्, ५ आलोचना, ६ निन्दा, ७ गर्हाः, ८ सामायिकम्, ९ चतुर्विंशतिस्तव., १० वन्दनम्, ११ प्रतिक्रमणम्, १२ कायोत्सर्गः, १३ प्रत्याख्यानम्, १४ स्तवस्तुतिमङ्गलम्, १५ कालप्रतिलेखना, १६ प्रायश्चित्तकरणम्, १७ क्षमापना, १८ स्वाध्यायः, १९ वाचना, २० प्रतिप्रच्छना, २१ परिवर्तना, २२ अनुप्रेक्षा, २३ धर्मकथा, २४ श्रुतस्य आराधना, २५

एकाग्रमनःसंनिवेशना, २६ संयमः २७ तपः, २८ व्यवदानम्, २९ सुखशायः, ३० अप्रतिबद्धता, ३१ विविक्तशयनासनसेवना, ३२ विनिवर्तना, ३३ सम्भोग-प्रत्याख्यानम्, ३४ उपधिप्रत्याख्यानम्, ३५ आहारप्रत्याख्यानम्, ३६ कषायप्रत्याख्यानम्, ३७ योगप्रत्याख्यानम्, ३८ शरीरप्रत्याख्यानम्, ३९ साहाय्यप्रत्याख्यानम्:, ४० भक्तप्रत्याख्यानम्, ४१ सद्भावप्रत्याख्यानम्, ४२ प्रतिरूपता, ४३ वैयावृत्यम्:, ४४ सर्वगुणसम्पन्नता, ४५ वीतरागता, ४६ क्षान्तिः, ४७ मुक्तिः, ४८ मार्दवम्, ४९ आर्जवम्, ५० भावसत्यम्, ५१ करणसत्यम्, ५२ योगसत्यम्, ५३ मनोगुप्तिता, ५४ वचोगुप्तिता, ५५ कायगुप्तिता, ५६ मनःसमाधारणा, ५७ वाक्समाधारणा, ५८ कायसमाधारणा, ५९ ज्ञानसम्पन्नता, ६० दर्शनसम्पन्नता, ६१ चारित्रसम्पन्नता, ६२ श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहः, ६३ चक्षुरिन्द्रियनिग्रहः, ६४ घ्राणेन्द्रियनिग्रहः, ६५ जिह्वेन्द्रियनिग्रहः, ६६ स्पर्शेन्द्रियनिग्रह·, ६७ क्रोधविजय., ६८ मानविजयः, ६९ मायाविजयः, ७० लोभविजयः, ७१ रागद्वेषमिथ्यादर्शनविजयः, ७२ शैलेषी, ७३ अकर्मता।

मूलार्थ—इस अध्ययन का यह अर्थ—अभिधेय इस प्रकार कहा है। जैसे कि—१ संवेग, २ निर्वेद, ३ धर्म-श्रद्धा, ४ गुरु और सधर्मियों की सेवा-शुश्रूषा, ५ आलोचना, ६ निन्दा, ७ गर्हा, ८ सामायिक, ९ चतुर्विंशतिस्तव, १० वन्दना, ११ प्रतिक्रमण, १२ कायोत्सर्ग, १३ प्रत्याख्यान, १४ स्तवस्तुतिमंगल, १५ कालप्रतिलेखना, १६ प्रायश्चितकरण, १७ क्षमापना, १८ स्वाध्याय, १९ वाचना, २० प्रतिपृच्छना, २१ परावर्त्तना, २२ अनुप्रेक्षा, २३ धर्म-कथा, २४ श्रुत की आराधना, २५ एकाग्र मन की सन्निवेशना, २६ संयम, २७ तप, २८ व्यवदान, २९ सुखशाय, ३० अप्रतिबद्धता, ३१ विविक्त शय्यासन का सेवन, ३२ विनिवर्तना, ३३ संभोग-प्रत्याख्यान, ३४ उपधि-प्रत्याख्यान, ३५ आहार-प्रत्याख्यान, ३६ कषाय-प्रत्याख्यान, ३७ योग-प्रत्याख्यान, ३८ शरीर-प्रत्याख्यान, ३९ सहाय-प्रत्याख्यान, ४० भक्त-प्रत्याख्यान, ४१ सद्भाव-प्रत्याख्यान, ४२ प्रतिरूपता, ४३ वैयावृत्य, ४४ सर्वगुण-सम्पूर्णता, ४५ वीतरागता, ४६ क्षांति, ४७ मुक्ति, ४८ मार्दव, ४९ आर्जव, ५० भावसत्य, ५१ करणसत्य, ५२ योगसत्य, ५३ मनोगुप्तता, ५४ वाग्गुप्तता, ५५ कायगुप्तता, ५६ मनःसमाधारण, ५७ वाक्समाधारण, ५८ कायसमाधारण, ५९ ज्ञानसम्पन्नता, ६० दर्शनसम्पन्नता, ६१ चारित्रसम्पन्नता, ६२ श्रोत्र-इन्द्रिय का निग्रह, ६३ चक्षु इन्द्रिय का निग्रह, ६४ घ्राण इन्द्रिय का निग्रह, ६५ जिह्वा इन्द्रिय का निग्रह, ६६ स्पर्श इन्द्रिय का निग्रह, ६७ क्रोध पर विजय, ६८ मान पर विजय, ६९ माया पर विजय, ७० लोभ पर विजय, ७१ राग, द्वेष और मिथ्या-दर्शन पर विजय, ७२ शैलेशी, ७३ अकर्मता, ये इस अध्ययन के द्वार हैं।

टीका—सूत्रकर्ता महर्षि ने प्रस्तुत अध्ययन मे आने वाले विषयो की यह अनुक्रमणिका दे दी है, जिससे कि विषय-विवेचन में क्रम और सुगमता रहे और इनमें से प्रत्येक विषय का वर्णन आगे स्वयं सूत्रकार ही करेगे, अतः इनके यहा पर अर्थ लिखने की आवश्यकता नही है।

अब क्रमप्राप्त संवेग के विषय में कहते हैं —

संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ। अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ। अणंताणुबंधिकोह-माण-माया लोभे खवेइ। नवं च कम्मं न बंधइ, तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ। दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ। विसोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ॥ १॥

संवेगेन भदन्त ! जीवः किं जनयति? संवेगेनानुत्तरां धर्मश्रद्धां जनयति। अनुत्तरया धर्मश्रद्धया संवेगं शीघ्रमागच्छति। अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान् क्षपयति। नवं च कर्म न बध्नाति। तत्प्रत्ययिकां च मिथ्यात्वविशुद्धिं कृत्वा दर्शनाराधको भवति। दर्शनविशुद्ध्या च विशुद्धोऽस्त्येकक तेनैव भवग्रहणेन सिध्यति। विशुद्ध्या च विशुद्धः तृतीयं पुनर्भवग्रहणं नातिक्रामति॥ १॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे भगवन्, **संवेगेणं**—संवेग से, **जीवे**—जीव, **किं—जणयइ**—क्या उपार्जन करता है? **संवेगेणं**—संवेग से, **अणुत्तरं**—प्रधान, **धम्मसद्धं**—धर्म-श्रद्धा को, **जणयइ**—उत्पन्न करता है, **अणुत्तराए धम्मसद्धाए**—अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से, **संवेगं**—सवेग, **हव्वं**—शीघ्र, **आगच्छइ**—आ जाता है—जिससे, **अणंताणुबंधि**—अनन्तानुबधी, **कोहमाणमायालोभे**—क्रोध, मान, माया और लोभ को, **खवेइ**—क्षय करता है, **च**—फिर, **नवं**—नवीन, **कम्मं**—कर्म को, **न बंधइ**—नही बाधता, **तप्पच्चइयं**—क्षय-प्रत्यय है निमित्त जिसका, वह, तत्प्रत्ययिका है, **च**—और कर्मों के बन्धन का अभाव होने से, **णं**—वाक्यालंकार मे है, **मिच्छत्तविसोहिं**—मिथ्यात्व की विशुद्धि, **काऊण**—करके, **दंसणाराहए**—दर्शन का आराधक, **भवइ**—होता है, **दंसणविसोहीए**—दर्शन की विशुद्धि से, **विसुद्धाए**—विशुद्ध होने पर, **य**—फिर, **ण**—वाक्यालंकार में, **अत्थेगइए**—अस्ति-है कोई एक भव्य जीव, **तेणेव**—उसी, **भवग्गहणेणं**—भवग्रहण से, **सिज्झइ**—सिद्ध हो जाता है, **य**—तथा, **विसोहीए**—दर्शन की विशुद्धि से, **विसुद्धाए**—विशुद्ध होने पर, **तच्चं**—तृतीय भव, **पुणो**—पुनः, **भवग्गहणं**—भव ग्रहण को, **नाइक्कमइ**—अतिक्रम नही करता।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! संवेग से जीव किस गुण का उपार्जन करता है?

उत्तर—हे शिष्य ! संवेग से यह जीव अनुत्तर धर्मश्रद्धा को उत्पन्न करता है। अनुत्तर धर्मश्रद्धा से संवेग शीघ्र आ जाता है, फिर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ को क्षय कर देता है तथा नवीन कर्मो को नहीं बांधता। इसी कारण से मिथ्यात्व की विशुद्धि करके वह दर्शन का आराधक हो जाता है, तथा दर्शन की विशुद्धि से विशुद्ध होने पर कोई एक भव्य जीव उसी जन्म में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, अन्यथा तीसरे भव का तो अतिक्रमण कर ही नहीं सकता, अर्थात् तीसरे जन्म में तो अवश्यमेव उसका मोक्ष हो जाता है।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन में ७३ प्रश्नोत्तर बड़ी सुन्दरता से वर्णन किए गए हैं। यद्यपि इनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है, तथापि प्रत्येक प्रश्न का उत्तर प्रश्न के अनुरूप दिया गया है।

मोक्ष-मन्दिर तक पहुंचने के लिए जो निसरणी (सीढ़ी) है उसका प्रथमपाद संवेग है, अर्थात् मोक्ष-मार्ग का आरम्भ संवेग से होता है, इसलिए प्रथम संवेग के विषय में प्रश्न किया गया है।

शिष्य ने प्रश्न किया कि भगवन् ! संवेग का क्या फल है ? अर्थात् मुमुक्षु जीव को उससे किस गुण की—किस योग्यता की प्राप्ति होती है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री आचार्य कहते हैं कि मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले जीव को प्रधान श्रुतधर्मादि के करने की श्रद्धा उत्पन्न होती है। फिर श्रद्धा से संवेग अर्थात् वैराग्य की शीघ्र उत्पत्ति हो जाती है। कारण यह है कि धर्मश्रद्धा से विषयों का राग छूट जाता है और उसके प्रभाव से अनन्तानुबन्धी कषायों—क्रोध, मान, माया, और लोभ का क्षय होता है। इनके क्षय होने से फिर नवीन अशुभ कर्मों का बन्ध नहीं होता। इससे मिथ्यात्व की निवृत्ति होकर साधक दर्शन क्षायिक-सम्यक्त्व का आराधक बन जाता है, अर्थात् सम्यक्त्वगत दोषो को दूर करके निरतिचार-दर्शन का आराधन करने लगता है, अतः दर्शन की विशुद्धि से अत्यन्त शुद्ध होकर कई एक जीव तो इसी जन्म में मोक्षगति को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे कि मरुदेवी माता को उसी भव में मोक्ष की प्राप्ति हुई। यदि कुछ कर्म शेष रह जाएं तो अधिक से अधिक वह जीव तीसरे जन्म मे तो अवश्यमेव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। कारण यह है कि तीसरे जन्म तक शेष रहे हुए कर्म भी विनष्ट हो जाते है।

अब निर्वेद के विषय में कहते हैं :—

निव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? निव्वेएणं दिव्व-माणुस-तेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ। सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिच्चायं करेइ। आरंभपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गं पडिवन्ने य हवइ ॥ २ ॥

निर्वेदेन भदन्त ! जीवः किं जनयति? निर्वेदेन दिव्य-मानुष्य-तैरश्चेषु कामभोगेषु निर्वेदं शीघ्रमागच्छति। ततः सर्वविषयेभ्यो विरज्यति। सर्वविषयेभ्यो विरज्यमान आरम्भ-परित्यागं कुर्वाण संसारमार्गं व्युच्छिनत्ति, सिद्धिमार्गं प्रतिपन्नश्च भवति ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन्, **निव्वेएणं**—निर्वेद से, **जीवे**—जीव, **कि जणयइ**—क्या गुण उत्पन्न करता है, **निव्वेएण**—निर्वेद से, **दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु**—देव, मनुष्य और तिर्यक् सम्बन्धी, **कामभोगेसु**—काम भोगो से, **हव्वं**—शीघ्र ही, **निव्वेयं**—निर्वेद को, **आगच्छइ**—प्राप्त करता है, तथा, **सव्व**—सर्व, **विसएसु**—विषयो में, **विरज्जइ**—वैराग्य को प्राप्त करता है, **सव्वविसएसु**—सर्व विषयो मे, **विरज्जमाणे**—वैराग्य को प्राप्त होता हुआ, **आरम्भ**—आरम्भ—हिंसादि का, **परिच्चायं**—परित्याग, **करेइ**—करता है, **आरंभपरिच्चायं करेमाणे**—आरम्भादि का सर्व प्रकार से त्याग करता हुआ, **संसारमग्गं**—संसार-मार्ग को, **वोच्छिंदइ**—छेदन करता है, **य**—फिर, **सिद्धिमग्गं**—सिद्धिमार्ग को, **पडिवन्ने**—ग्रहण करने वाला, **हवइ**—होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! निर्वेद से यह जीव, क्या गुण उपार्जन करता है?

उत्तर—निर्वेद से यह जीव देव, मनुष्य और तिर्यक्-सम्बन्धी काम-भोगों में शीघ्र ही निर्वेदता को प्राप्त करता है, फिर सर्व विषयों से विरक्त हो जाता है, सर्व विषयों से विरक्त होता हुआ सर्व प्रकार से आरम्भ का परित्याग कर देता है, आरम्भ का त्याग करता हुआ

संसार-मार्ग का विच्छेद कर देता है, फिर सिद्धि-मार्ग का ग्रहण करने वाला हो जाता है।

टीका–शिष्य पूछता है कि भगवन् ! निर्वेद का क्या फल है?

गुरु उत्तर देते हैं कि निर्वेद से देव-मनुष्यादि से सम्बन्ध रखने वाले सर्व प्रकार के विषय-भोगों से उपरामता हो जाती है, उपरामता से आरम्भादि का परित्याग होता है, आरम्भादि के परित्याग से संसार-मार्ग अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग का विच्छेद हो जाता है और मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि निर्वेद से यह जीवात्मा समस्त प्रकार के काम-भोगो से विरक्त हो जाता है, विषयो से विरक्त होने पर सर्व प्रकार के आरम्भ का त्याग कर देता है और आरम्भ के परित्याग से भव-परम्परा का विच्छेद करता हुआ मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है।

कई एक प्राचीन प्रतियो मे '**आरम्भपरिग्गहं परिच्चायं**' ऐसा पाठ भी देखने मे आता है। इसमे आरम्भ के साथ परिग्रह का भी उल्लेख है, तब इसका अर्थ होता है आरम्भ और परिग्रह का त्याग।

इस प्रकार संवेग और निर्वेद के फल का वर्णन करने के अनन्तर अब धर्म-श्रद्धा के विषय में कहते हैं –

धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ? धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ। अगारधम्मं च णं चयइ। अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयण-भेयण-संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ। अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ॥ ३ ॥

धर्मश्रद्धया भदन्त ! जीव· किं जनयति? धर्मश्रद्धया सातासौख्येषु रज्यमानो विरज्यते। आगारधर्म च त्यजति। अनगारो जीव. शारीरमानसाना दुःखाना छेदनभेदन-संयोगादीनां व्युच्छेदं करोति। अव्याबाध च सुखं निर्वर्तयति॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **धम्मसद्धाएणं**–धर्मश्रद्धा से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण का उत्पादन करता है? **धम्मसद्धाएणं**–धर्मश्रद्धा से, **सायासोक्खेसु**–साता-सुख मे, **रज्जमाणे**–राग करता हुआ, **विरज्जइ**–वैराग्य को प्राप्त होता है, **च**–फिर, **आगार धम्मं**–गृहधर्म को, **चयइ**–छोड देता है, **ण**–वाक्यालंकार में, **अणगारिए णं**–अनगार–साधु होने पर, **जीवे**–जीव, **सारीर**–शारीरिक और, **माणसाण**–मानसिक, **दुक्खाण**–दु·खों का, **छेयण**–छेदन, **भेयण**–भेदन तथा, **संजोगाईणं**–अनिष्टसयोगादि मानसिक दुःखो का, **वोच्छेयं**–विच्छेद, **करेइ**–करता है, फिर, **अव्वाबाहं**–समस्त प्रकार की पीडा से रहित, **सुहं**–सुख को, **निव्वत्तेइ**–उत्पन्न करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! धर्मश्रद्धा से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है?

उत्तर–हे शिष्य ! धर्मश्रद्धा से सातावेदनीय कर्म-जन्य सुख में अनुराग करता हुआ यह जीव वैराग्य को प्राप्त कर लेता है, फिर गृहस्थ-धर्म को छोडकर अनगार-धर्म को ग्रहण करता हुआ शारीरिक और मानसिक दुःखों का छेदन, भेदन तथा अनिष्ट-संयोग-जन्य

मानसिक दुःखों का व्यवच्छेद कर देता है, तदनन्तर समस्त बाधा-रहित सुख का सम्पादन करता है।

टीका—शिष्य ने पूछा कि "भगवन् ! धर्म-श्रद्धा से यह जीव किस फल को प्राप्त करता है, अर्थात् धर्म मे श्रद्धा करने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ?

गुरु ने उत्तर दिया कि हे शिष्य ! जिस समय इस जीव को धर्म करने मे श्रद्धा उत्पन्न होती है, उस समय सातावेदनीय-कर्म-जन्य सुख के उपभोग मे उसका जो अनुराग था उससे वह विरक्त हो जाता है, उससे वह गृहस्थ-धर्म का त्याग करके अनगार अर्थात्-साधु-धर्म को धारण कर लेता है तथा अनगार-धर्म की आराधना से वह छेदन और भेदन रूप शारीरिक और इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-सयोग रूप मानसिक दुःखों का विनाश कर देता है।

तात्पर्य यह है कि जिन अशुभ कर्मो से उक्त प्रकार के दुःख उत्पन्न होते है उनका वह नाश कर देता है। इस प्रकार नवीन कर्मों के बन्ध से निवृत्त होकर और पूर्व कर्मो का क्षय करके वह सर्व प्रकार की बाधाओं से रहित जो मोक्ष-सुख है उसको प्राप्त कर लेता है। कारण यह है कि निज-गुण का सुख एक अनुपम सुख होता है और सातावेदनीय कर्म के क्षयोपशम से जो सुख उत्पन्न होता है वह अनित्य—सादि, सान्त होता है, विपरीत इसके जो आध्यात्मिक सुख है वह अजन्य होने से नित्य अथवा अनन्त पद वाला है।

यद्यपि ऊपर सवेगादि के फल-प्रदर्शन में धर्म-श्रद्धा का भी उल्लेख किया गया है, परन्तु यहा पर धर्म-श्रद्धा का जो स्वतन्त्र निर्देश किया है वह उसकी विशिष्टता का द्योतक है, अत· पुनरुक्ति दोष की सम्भावना नही है।

धर्मश्रद्धा के अनन्तर गुरुशुश्रूषा की प्राप्ति होती है, अतः अब गुरुशुश्रूषा के विषय में कहते हैं –

गुरु-साहम्मियसुस्सूसणाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ? गुरु-साहम्मिय-सुस्सूसणाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ। विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चा-सायणसीले नेरइय-तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देवदुग्गईओ निरुंभइ। वण्णसं-जलणभत्ति-बहुमाणयाए मणुस्स-देवसुगईओ निबंधइ। सिद्धिसोग्गइं च विसोहेइ। पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणिइत्ता भवइ ॥ ४ ॥

गुरु-साधर्मिकशुश्रूषणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति? गुरु-साधर्मिकशुश्रूषया विनयप्रतिपत्तिं जनयति। विनयप्रतिपन्नश्च जीव. अनत्याशातनाशीलो नैरयिक-तिर्यग्-योनिक- मनुष्य-देवदुर्गतीर्निरुणद्धि । वर्णसंज्वलनभक्तिबहुमानतया मनुष्य-देवसुगतीर्निबध्नाति। सिद्धिं सुगतिं च विशोधयति। प्रशस्तानि च विनयमूलानि सर्वकार्याणि साधयति। अन्येषाञ्च बहूनां जीवानां विनेता भवति॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे भगवन्, **गुरु-साहम्मियसुस्सूसणाएण**—गुरु और सधर्मियों की सेवा से, **जीवे**—जीव, **किं**—क्या, **जणयइ**—उत्पन्न करता है, **गुरु-साहम्मियसुस्सूसणाएणं**—गुरु और सधर्मियो की सेवा से, **विणयपडिवत्तिं**—विनयप्रतिपत्ति को, **जणयइ**—उत्पन्न करता है, **य**—फिर, **णं**—वाक्यालङ्कार में, **विणयपडिवन्ने**—विनयप्रतिपन्न, **जीवे**—जीव, **अणच्चासायणसीले**—आशातना करने के शील से रहित, **नेरइय**—नरकयोनि को, **तिरिक्खजोणिय**—तिर्यग्योनि को, **मणुस्स**—मनुष्य और, **देव**—देव की, **दुग्गईओ**—दुर्गति को, **निरुंभइ**—रोकता है, **वण्ण**—श्लाघा, **संजलण**—गुणों का प्रकाश करना, **भत्ति**—भक्ति, **बहुमाणयाए**—बहुमान से, **मणुस्सदेवसुगईओ**—मनुष्यगति और देवगति को, **निबंधइ**—बाधता है, **च**—और, **सिद्धिसोग्गइं**—सिद्धिरूप सुगति की, **विसोहेइ**—विशुद्धि करता है, **च**—फिर, **णं**—वाक्यालङ्कार में, **पसत्थाइं**—प्रशस्त, **विणयमूलाइं**—विनयमूल, **सव्वकज्जाइं**—सर्व कार्यों को, **साहेइ**—सिद्ध कर लेता है, **य**—फिर, **अन्ने**—अन्य, **बहवे**—बहुत से, **जीवे**—जीवों को, **विणिइत्ता**—विनय को ग्रहण कराने वाला, **भवइ**—होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! गुरु और सधर्मी-जनों की सेवा करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है?

उत्तर—हे शिष्य ! गुरु और सधर्मियों की सेवा करने से विनय की प्राप्ति होती है। विनय की प्राप्ति से आशातना का त्याग करता हुआ यह जीव, नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देवगति सम्बन्धी दुर्गतियों को रोक देता है तथा श्लाघा, गुणो का प्रकाश, भक्ति और बहुमान को प्राप्त करता हुआ मनुष्य और देवसम्बन्धी सुगति को बांधता है, सिद्धिरूप सुगति को विशुद्ध करता है तथा विनय-मूलक सर्व प्रकार के प्रशस्त कार्यों को साध लेता है और साथ मे बहुत से अन्य जीवों को भी विनय-धर्म में प्रवृत्त करता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे गुरु-भक्ति और सधर्मी-जनो की सेवा का फल प्रदर्शित किया गया है। शिष्य ने पूछा कि ''भगवन् ! गुरु और सधर्मी बन्धुओ की सेवाभक्ति से इस जीव को क्या फल प्राप्त होता है?''

तब गुरु उत्तर देते हैं कि ''हे शिष्य ! गुरु और सधर्मियो की सेवा से इस जीव को विनयधर्म की प्राप्ति होती है और विनयधर्म के प्राप्त होने से सम्यक्त्व के विरोधी अर्थात् रोकने वाले आशातनादि कारणो का नाश करके यह जीव, नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देवगति-सम्बन्धी दुर्गतियों को रोक देता है तथा इस ससार मे बहुमान और यश आदि उत्तम गुणों से अलकृत होता हुआ देव और मनुष्य गति को प्राप्त होता है। इस प्रकार विनय गुण से वह समस्त प्रकार के प्रशस्त कार्यो को आचरण मे लाकर मोक्षरूप सद्गति के मार्ग ज्ञान, दर्शन और चारित्र को विशुद्ध करता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य जीवो को भी इसी मार्ग पर चलने को प्रेरित करता है।

ऊपर आशातना को सम्यक्त्व का विरोधी या विनाशक कहा गया है। यह भाव उसकी व्युत्पत्ति से उपलब्ध हो जाता है। **'आयं सम्यक्त्वलाभं शातयति विनाशयति इत्याशातना'** 'आय' शब्द का अर्थ है सम्यक्त्व-लाभ, उसको विनाश करने वाले दुर्गुण को आशातना कहा गया है।

प्रस्तुत मूलपाठ में जो वाक्य आया है उसकी सस्कृत छाया है **'अनत्याशातनाशील:'** अर्थात् आशातना करने का जिसका शील अर्थात् स्वभाव न हो उसको ''अनत्याशातनाशील'' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो जीव आशातना का सर्वथा त्याग करने वाला हो वह नरक, पशु, मनुष्य और देव-सम्बन्धी दुर्गतियों को प्राप्त नहीं होता। नारकी और तिर्यक् की दुर्गति तो प्रसिद्ध ही है, मनुष्य की दुर्गति अधमाधम जाति मे उत्पन्न होना और देव-सम्बन्धी दुर्गति किल्विषिकत्वादि जाति है तथा सुगति के विषय में–मनुष्य की सुगति ऐश्वर्ययुक्त विशिष्टकुल में उत्पन्न होना और देव-सम्बन्धी सुगति अहमिन्द्रादि पदवी को प्राप्त करना है।

अब आलोचना के विषय में कहते हैं –

आलोयणाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ? आलोयणाएणं माया-नियाणमिच्छा-दंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारबंधणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं च जणयइ। उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेयनपुंसगवेयं च न बंधइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ ॥ ५ ॥

आलोचनया भदन्त ! जीवः किं जनयति? आलोचनया मायानिदानमिथ्या-दर्शनशल्याना मोक्षमार्गविघ्नानामनन्तसंसारवर्द्धनानामुद्धरण करोति। ऋजुभावं प्रतिपन्नश्च जीवोऽमायी स्त्रीवेदं नपुसकवेदं च न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **आलोयणाएणं**–आलोचना से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस फल की प्राप्ति करता है, **आलोयणाएण**–आलोचना से, **माया**–छल-कपट, **नियाण**–निदान, **मिच्छादसण**–मिथ्यादर्शन, **सल्लाणं**–शल्यों की, **मोक्खमग्ग**–मोक्षमार्ग मे, **विग्घाणं**–विघ्न करने वाले तथा, **अणंतसंसारबंधणाण**–अनन्त ससार को बढ़ाने वाले–उनका, **उद्धरणं**–उद्धरण, **करेइ**–करता है, **च**–पुनः, **उज्जुभाव**–ऋजु भाव को, **जणयइ**–उत्पन्न करता है, **उज्जुभावपडिवन्ने**–ऋजुभाव से युक्त, **जीवे**–जीव, **अमाई**–माया से रहित, **इत्थीवेय नपुंसगवेयं च**–स्त्री-वेद और नपुसक-वेद को, **न बंधइ**–नही बांधता है, **च**–वा, **पुव्वबद्धं**–पूर्व बाधे हुए को, **निज्जरेइ**–निर्जरा कर देता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भदन्त ! आलोचना से जीव किस फल को प्राप्त करता है?

उत्तर–आलोचना से यह जीव मोक्ष-मार्ग के विघातक और अनन्त संसार को देने वाले माया, निदान और मिथ्यादर्शन रूप शल्यों को दूर कर देता है और ऋजुभाव–सरलता को उत्पन्न करता है तथा ऋजुभाव को प्राप्त करके माया से रहित हुआ यह जीव, स्त्रीवेद या नपुंसकवेद को नहीं बांधता, अथ च पूर्व में बंधे हुए की निर्जरा कर देता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे आलोचना के फल का दिग्दर्शन कराया गया है। आत्मा में लगे हुए दोषो को गुरुजनों के समीप निष्कपट भाव से प्रकाशित करके उनकी आज्ञानुसार प्रायश्चित करने को आलोचना कहा जाता है।

शिष्य ने पूछा कि भगवन् ! आलोचना का क्या फल है?

गुरु ने उत्तर दिया कि हे वत्स ! आलोचना से माया, निदान और मिथ्यादर्शन रूप शल्यों की निवृत्ति होती है। माया का अर्थ है—कपट और दम्भ। किसी निमित्त-विशेष को लेकर तप करना अर्थात् "मेरे इस तप के प्रभाव से ऐसा हो जाए" इस प्रकार की कामना करना निदान है। मिथ्यात्व अर्थात् असद्दृष्टि को मिथ्या-दर्शन कहते हैं। इन तीनों को जैन-दर्शन में शल्य माना गया है। जिस प्रकार शरीर में रहा हुआ तोमरादि का शल्य शरीर को अत्यन्त पीड़ा देने वाला होता है, उसी प्रकार आत्मा मे रहे हुए ये मायादि शल्य भी साधक के लक्ष्य अर्थात् मोक्ष-मार्ग में विघ्न रूप हैं और अनन्त ससार के बढाने वाले है, परन्तु आलोचना के द्वारा यह जीव इन मायादि शल्यो को दूर कर देता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे शरीरगत शल्य की देखभाल करके उसको शरीर से निकाल कर फैक दिया जाता है, उसी प्रकार आलोचना से यह जीव मायादि शल्यों से रहित हो जाता है। एवं निःशल्य होने से वह ऋजुभाव को प्राप्त करता है और मायारहित हो जाता है। तब मायारहित होने से वह स्त्री अथवा नपुसक वेद को नही बाधता और यदि कदाचित् उनका पूर्वभव में बंध भी हो चुका हो तो उसका वह नाश कर देता है।

इस कथन में इतना और समझ लेना चाहिए कि अगर उस जीव के इस जन्म मे सारे कर्म नष्ट हो जाए, तब तो वह मोक्ष को प्राप्त करता है और यदि कुछ बाकी रह गए हो तो वह पुरुष-वेद को ही बाधता है, अर्थात् मृत्यु होने के अनन्तर वह पुरुष ही बनता है, स्त्री अथवा नपुसक नहीं। इस सारे कथन का साराश इतना ही है कि आत्म-शुद्धि का विशिष्टतम साधन आलोचना है।

अब निन्दा के विषय में कहते हैं –

निंदणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ? निंदणयाएणं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ। करणगुणसेढीपडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ॥ ६ ॥

निन्दनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति? निन्दनया पश्चात्तापं जनयति। पश्चादनुतापेन विरज्यमानः करणगुणश्रेणिं प्रतिपद्यते। करणगुणश्रेणिप्रतिपन्नश्चानगारो मोहनीय कर्मोद्घातयति॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भदंत, **निंदणयाएणं**–आत्मनिन्दा करने से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है, **निंदणयाएणं**–आत्म-निन्दा से, **पच्छाणुतावं जणयइ**–पश्चात्ताप को उत्पन्न करता है, **पच्छाणुतावेणं**–पश्चात्ताप से, **विरज्जमाणे**–वैराग्य युक्त होता हुआ, **करणगुणसेढिं**–करणगुण-श्रेणी को, **पडिवज्जइ**–प्राप्त कर लेता है, **य**–फिर, **करणगुणसेढि**–करणगुणश्रेणी को, **पडिवन्ने**–प्राप्त हुआ, **अणगारे**–अनगार, **मोहणिज्जं**–मोहनीय, **कम्मं**–कर्म को, **उग्घाएइ**–क्षय करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! आत्मनिन्दा करने से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–आत्म-निन्दा से पश्चात्ताप की उत्पत्ति होती है, पश्चात्ताप से वैराग्य-युक्त होता हुआ यह जीव करणगुणश्रेणी को प्राप्त करता है, फिर करणगुण-श्रेणी को प्राप्त हुआ अनगार दर्शन-मोहनीय-कर्म का नाश कर देता है।

टीका–आलोचना के अनन्तर आत्म-निन्दा–आत्मगत दोषों के विमर्शन करने का इसलिए विधान किया गया है कि आलोचना मे उसकी अधिक आवश्यकता है। आत्म-निन्दा के बिना आलोचना मे पुष्टि नहीं आती, अत: प्रस्तुत मूलगाथा में आत्मनिन्दा का फल प्रदर्शन करते है।

शिष्य पूछता है कि भगवन् ! आत्मनिन्दा से इस जीव को किस फल की प्राप्ति होती है?

शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि हे भद्र ! आत्मनिन्दा अर्थात् आत्मगत दोपो के विमर्श से पश्चात्ताप की उत्पत्ति होती है–"हाय ! मैने यह अयोग्य कार्य क्यो किया !" इत्यादि प्रकार का जब हृदय मे पश्चात्ताप उत्पन्न होता है तब उस पश्चात्ताप से जीव को तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और उस वैराग्य के प्रभाव से वह करणगुणश्रेणी–क्षपकश्रेणी को प्राप्त कर लेता है, और क्षपकश्रेणी को प्राप्त करने वाला साधु शीघ्र ही मोहनीय कर्म का क्षय कर देता है, जिसका अति निकट फल मोक्ष है। अपूर्वकरण से गुण का हेतु जो श्रेणी है उसी का नाम करणगुणश्रेणी है। अथवा करणगुण से–अपूर्वकरणादि के माहात्म्य से प्राप्त होने वाली जो श्रेणी है उसी का नाम करणगुण-श्रेणी है, इसी का दूसरा नाम "क्षपक-श्रेणी" है।

तात्पर्य यह है कि तथाकरण अर्थात् पिंडविशुद्धि आदि से उपलक्षित ज्ञानादि गुणो की श्रेणी को उत्तरोत्तर परम्परारूप मे ग्रहण करता है, अर्थात् पिंड-विशुद्धि से ज्ञानादि गुणों को अगीकार करता है।

इसके अतिरिक्त संप्रदाय के अनुसार, जिन गुणो को आत्मा ने प्रथम कभी प्राप्त न किया हो उन गुणो की श्रेणी का नाम अपूर्व-करणगुण-श्रेणी है। अपूर्व-करणगुण-श्रेणी को प्राप्त करने वाला भिक्षु दर्शन-मोहनीय आदि कर्मो की प्रकृतियो को क्षय करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यह आत्मनिन्दा की फलश्रुति है।

अब गर्हा के विषय में कहते हैं –

गरहणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ? गरहणयाएणं अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ। पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ ॥ ७ ॥

गर्हया भदन्त ! जीव: किं जनयति? गर्हयाऽपुरस्कारं जनयति। अपुरस्कारगतो जीवोऽप्रशस्तेभ्यो योगेभ्यो निवर्तते, प्रशस्तयोगांश्च प्रतिपद्यते। प्रशस्तयोगप्रतिपन्नश्चानगारोऽनन्तघातिन: पर्यायान् क्षपयति ॥ ७ ॥

पदार्थान्वय·–**भंते**–हे भगवन्, **गरहणयाएणं**–गर्हा से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस फल को प्राप्त करता है, **गरहणयाएणं**–गर्हा से, **अपुरक्कार**–अपुरस्कार को, **जणयइ**–उत्पन्न करता है, **अपुरक्कारगए णं**–अपुरस्कार को प्राप्त हुआ, **जीवे**–जीव, **अप्पसत्थेहिंतो**–अप्रशस्त, **जोगेहिंतो**–योगो से, **नियत्तेइ**–निवृत्त हो जाता है, **य**–फिर, **पसत्थे**–प्रशस्त योगों को, **पडिवज्जइ**–ग्रहण करता है, **पसत्थजोगपडिवन्ने**–प्रशस्त योगों को प्राप्त हुआ, **य णं**–पुनः, **अणगारे**–अनगार, **अणंतघाइपज्जवे**–अनन्तघाति-पर्यायों को, **खवेइ**–क्षय कर देता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–हे भदन्त ! आत्म-गर्हा करने से जीव किस फल को प्राप्त करता है?

उत्तर–आत्म-गर्हा से यह जीव अपुरस्कार अर्थात् आत्म-नम्रता को प्राप्त करता है। आत्म-नम्रता को प्राप्त हुआ जीव अप्रशस्त योगों से निवृत्त हो जाता है और प्रशस्त योगों को प्राप्त करता है तथा प्रशस्त योगों से युक्त हुआ अनगार–साधु अनन्त घाती-पर्यायों को क्षय कर देता है।

टीका–निन्दा के बाद अब गर्हा के फल का वर्णन करते है। शिष्य ने पूछा कि भगवन् ! आत्म-गर्हा से किस फल की प्राप्ति होती है?

तब गुरु ने उत्तर दिया कि "हे शिष्य ! आत्म-गर्हा से आत्म-विनम्रता की प्राप्ति होती है, अर्थात् साधक आत्म-गौरव का परित्याग करके आत्म-लघुता को प्राप्त करता है। आत्म-विनम्रता से वह अशुभ योगो स निवृत्त होकर शुभ योगो को प्राप्त करता है। इस प्रकार शुभ योगों को धारण करने वाला मुनि अनन्त ज्ञान और अनन्त-दर्शन के घातक जो ज्ञानावरणीय आदि कर्म-पर्याय हैं उनको क्षय कर देता है जिसके प्रभाव से उसको मोक्ष-पद की प्राप्ति हो जाती है।

पर्याय शब्द से यहा पर कर्म-वर्गणाओं का ग्रहण समझना चाहिए तथा 'योग' शब्द से मन, वचन और काया का व्यापार अभिमत है। आलोचना, वास्तव में सामायिक वाले जीवो की ही ठीक होती है।

अत. अब सामायिक के विषय में कहते हैं –

सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? ।
सामाइएणं सावज्जजोग-विरइं जणयइ ॥ ८ ॥

सामायिकेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? ।
सामायिकेन सावद्ययोगविरति जनयति ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **सामाइएणं**–सामायिक से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या फल प्राप्त करता है? **सामाइएणं**–सामायिक से, **सावज्जजोग विरइं**–सावद्ययोगविरति को, **जणयइ**–प्राप्त करता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–हे भगवन् ! सामायिक करने से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर—सामायिक से यह जीव सावद्ययोगो से निवृत्ति को प्राप्त करता है।

टीका—आलोचना आदि के अनन्तर षडावश्यक का फल बताते हुए प्रथम सामायिक का फल बताते है। समभाव में स्थिर होने का नाम सामायिक है। उसके अनुष्ठान का फल पूछने पर गुरु उत्तर देते है कि सामायिक के अनुष्ठान से सावद्य योग अर्थात् पापमय मन, वचन और काया के व्यापारों से इस जीव की निवृत्ति हो जाती है। कारण यह है कि सामायिक मे सावद्य योगों का प्रत्याख्यान किया जाता है और शुभ योगो के द्वारा कर्मो की निर्जरा में प्रवृत्ति करने का यत्न किया जाता है।

सामायिक करते हुए सामायिक के निरूपकों की स्तुति नितान्त आवश्यक है, अतः अब उसके विषय मे कहते हैं –

चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? ॥
चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥ ९ ॥

चतुर्विंशतिस्तवेन भदन्त ! जीव. किं जनयति ? ॥
चतुर्विंशतिस्तवेन दर्शनविशुद्धिं जनयति ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे पूज्य, **चउव्वीसत्थएणं**—चतुर्विंशति-स्तव से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—क्या फल उत्पन्न करता है? **चउव्वीसत्थएणं**—चतुर्विंशतिस्तव से, **दंसणविसोहिं**—दर्शन-विशुद्धि को, **जणयइ**—उत्पन्न करता है।

मूलार्थ—(प्रश्न)—हे पूज्य ! चतुर्विंशति-स्तव से यह जीव किस फल की प्राप्ति करता है?

उत्तर—चतुर्विंशतिस्तव से यह जीव दर्शन-सम्यक्त्व की विशुद्धि कर लेता है।

टीका—अब द्वितीय आवश्यक के विषय में पूछते हैं। शिष्य कहता है कि भगवन् ! चतुर्विंशतिस्तव का पाठ करने से किस फल की प्राप्ति होती है? इसका गुरु उत्तर देते है कि चतुर्विंशतिस्तव के पाठ से यह जीव, दर्शन की विशुद्धि करता है, अर्थात् दर्शन में बाधा उत्पन्न करने वाले जो कर्म हैं, वे सब दूर हो जाते है। तात्पर्य यह है कि इस अवसर्पिणी में जो चौबीस तीर्थकर हुए है उनकी श्रद्धापूर्वक स्तुति करने से इस जीव का सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है।

तीर्थकरो की स्तुति भी आसन्नोपकारी गुरुजनों की वन्दना करने पर ही सफल हो सकती है, अतः अब गुरु-वन्दना के विषय में कहते हैं –

वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? ॥

वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबंधइ। सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ। दाहिणभावं च णं जणयइ ॥ १० ॥

वन्दनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? ।

वन्दनया नीचैर्गोत्रं कर्म क्षपयति। उच्चैर्गोत्रं कर्म बध्नाति। सौभाग्यं चाप्रतिहतमाज्ञाफलमुत्पादयति। दाक्षिण्यभावं च जनयति ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–भगवन्, **वंदणएणं**–गुरु-वन्दना से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस फल को उत्पन्न करता है? **वंदणएणं**–वन्दना से, **नीयागोयं**–नीच गोत्र, **कम्मं**–कर्म को, **खवेइ**–क्षय करता है, **उच्चागोयं**–उच्चगोत्र को, **निबंधइ**–बांधता है, **च णं**–फिर, **सोहग्गं**–सौभाग्य, **अपडिहय**–अप्रतिहत, **आणाफलं**–आज्ञाफल को, **निव्वत्तेइ**–उत्पन्न करता है, **च णं**–तथा, **दाहिणभावं**–दक्षिण भाव को, **जणयइ**–उपार्जन करता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–हे भगवन् ! वन्दना से यह जीव किस फल को प्राप्त करता है?

उत्तर–वन्दना से यह जीव नीच गोत्र-कर्म का क्षय करता है और उच्च गोत्र को बांधता है तथा अप्रतिहत सौभाग्य और आज्ञा-फल को प्राप्त करता है एवं दक्षिण-भाव का उपार्जन करता है।

टीका–प्रस्तुत सूत्र मे गुरु वन्दना का फल बताते हुए प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि गुरुजनो की वन्दना करने से यदि इस जीव ने नीच गोत्र भी बाधा हुआ हो तो उसको दूर करके वह उच्च गोत्र को बांध लेता है, अर्थात् जिन कर्मों के प्रभाव से वह अधम कुल मे उत्पन्न होता है उनका विनाश करके उत्तम कुल मे उत्पन्न कराने वाले कर्मो का उपार्जन कर लेता है। इसके अतिरिक्त वह सौभाग्य और सफल आज्ञा के फल को प्राप्त करता है, अर्थात् जनसमुदाय का वह मान्य बन जाता है और दाक्षिण्य भाव को प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि उसका सौभाग्य स्पृहणीय बन जाता है और जनसमुदाय पर उसका पूर्ण प्रभाव होता है, इसीलिए वह विश्व का प्यारा बन जाता है, उस पर सभी लोग विश्वास करते है, तथा सभी अवस्थाओ में लोग उसके अनुकूल रहते हैं और वह लोगों के अनुकूल रहता है।

अब प्रतिक्रमण का उल्लेख करते हैं, यथा –

पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयण-मायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥ ११ ॥

प्रतिक्रमणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रतिक्रमणेन व्रतच्छिद्राणि पिदधाति, पिहितव्रतच्छिद्रः पुनर्जीवो निरुद्धाश्रवोऽशबलचारित्रश्चाष्टसु प्रवचनमातृषूपयुक्तोऽपृथक्त्व. सुप्रणिहितो विहरति ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **पडिक्कमणेणं**–प्रतिक्रमण से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस फल को प्राप्त करता है? **पडिक्कमणेणं**–प्रतिक्रमण से, **वयछिद्दाणि**–व्रतों के छिद्रों को, **पिहेइ**–ढांपता है, **पिहियवयछिद्दे**–पिहित-व्रत-छिद्र, **पुण**–फिर, **जीवे**–जीव, **निरुद्धासवे**–निरोध किया है आस्त्रवो को जिसने, **असबल**–अकर्बुर, **चरित्ते**–चारित्रवान्, **अट्ठसु**–आठ, **पवयण-मायासु**–प्रवचन-माताओ

मे, **उववुत्ते**–उपयुक्त, **अपुहत्ते**–पृथक्त्व से रहित, **सुप्पणिहिए**–भली प्रकार से समाधियुक्त होकर संयममार्ग मे, **विहरइ**–विचरता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–हे भगवन् ! प्रतिक्रमण से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–हे शिष्य ! प्रतिक्रमण से जीव व्रतों के छिद्रों को ढांपता है, अर्थात् ग्रहण किए हुए व्रतो को दोषों से बचाता है, फिर शुद्ध व्रतधारी होकर आश्रवों को रोकता हुआ आठ प्रवचन-माताओं में सावधान हो जाता है और विशुद्ध चारित्र को प्राप्त करके उनसे अलग न होता हुआ समाधिपूर्वक संयम-मार्ग में विचरता है।

टीका–प्रस्तुत सूत्र में प्रतिक्रमण नाम के चतुर्थ आवश्यक के फल का वर्णन किया गया है। शिष्य पूछता है कि भगवन् ! प्रतिक्रमण का क्या फल है?

उत्तर में गुरु प्रतिक्रमण का फल बताते हुए कहते हैं कि प्रतिक्रमण से यह जीव ग्रहण किए हुए अहिसादि व्रतो में अतिचाररूप जो छिद्र है उनको ढापने का उद्योग करता है, अर्थात् व्रतो मे लगने वाले अतिचारादि दोषों को दूर करता है। इस प्रकार व्रतो को अतिचार आदि दोषो से रहित करके वह अपने चारित्र को शबल अर्थात् कलुषित नही होने देता। शुद्ध-चारित्रयुक्त होकर आस्रव-द्वारों को रोकता हुआ पाप के मार्गो का निरोध करता हुआ, आठ प्रवचन-माताओ के आराधन में सावधान हो जाता है और उनसे पृथक् न होकर सयम-मार्ग में समाहित चित्त होकर विचरता है। आठ प्रवचन-माताओ का वर्णन पीछे आ चुका है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है पीछे हटना, अर्थात् सावद्य-प्रवृत्ति मे जितने आगे बढ़े थे उतने ही पीछे हट जाना[१]। यह प्रतिक्रमण २२ तीर्थंकरों के समय मे तो दोष के लगने पर ही किया जाता था, परन्तु प्रथम और चरमतीर्थंकर के समय में तो दोष लगे अथवा न लगे, प्रतिक्रमण करने का तो नित्य विधान है।

इस प्रकार चतुर्थ आवश्यक का फल बताया गया है, अब पांचवें कायोत्सर्ग नाम के आवश्यक के विषय में कहते हैं –

काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥ १२ ॥

कायोत्सर्गेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

कायोत्सर्गेणातीतप्रत्युत्पन्नं प्रायश्चित्तं विशोधयति। विशुद्धप्रायश्चित्तश्च जीवो निवृतहृदयोऽपहृतभार इव भारवहः प्रशस्त-ध्यानोपगतः सुखं सुखेन विहरति ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे पूज्य, **काउस्सग्गेण**–कायोत्सर्ग से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण

१. 'प्रतिक्रमणेन अपराधेभ्यः प्रदीपनिवर्तनात्मकेन' इति वृत्तिकार ।

को प्राप्त करता है? **काउस्सग्गेणं**–कायोत्सर्ग से, **तीय**–अतीतकाल, **पडुप्पन्नं**–वर्तमानकाल के, **पायच्छित्तं**–प्रायश्चित को, **विसोहेइ**–विशोधन करता है, **य**–फिर, **विसुद्ध पायच्छित्ते**–प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ, **जीवे**–जीव, **निव्वुयहियए**–चिन्तारहित हृदय वाला, **ओहरियभरुव्व-भारवहे**–उतार दिया है भार जिसने ऐसे भारवाहक की तरह, **पसत्थज्झाणोवगए**–प्रशस्त ध्यानयुक्त, **सुहं सुहेणं**–सुखपूर्वक, **विहरइ**–विचरता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–हे भगवन् ! कायोत्सर्ग से जीव किस गुण की प्राप्ति करता है?

उत्तर–कायोत्सर्ग से साधक अतीत और वर्तमान काल के अतिचारों का शोधन करता है। फिर प्रायश्चित से विशुद्ध होकर दूर हो गया है भार जिसका ऐसे शांत हृदय-भारवाहक की भांति चिन्ता-रहित होकर प्रशस्त ध्यान में लगा हुआ सुख-पूर्वक विचरता है।

टीका–कायोत्सर्ग का फल वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि कायोत्सर्ग अर्थात् ध्यानावस्था मे शरीर द्वारा समस्त चेष्टाओं का परित्याग कर देने पर चिरकाल के लगे हुए और वर्तमान काल में लग रहे अतिचारों अर्थात् दोषो की विशुद्धि होती है, अर्थात् प्रमाद के कारण आत्मा के साथ लगे हुए अतीत और वर्तमान कालीन दोष दूर होते हैं। उन दोषों के दूर हो जाने पर यह जीव इस प्रकार हलका और शान्त हो जाता है जिस प्रकार सिर पर से भार के उतर जाने से एक भार-वाहक सुखी हो जाता है। तदनन्तर वह ध्यान-पूर्वक होकर सुख-पूर्वक इस ससार मे विचरता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग का विशिष्ट फल वर्णन किया गया। अब छठे प्रत्याख्यान नामक आवश्यक का फल बताते हैं –

पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ[1]। (पच्चखाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ ॥ १३ ॥)

प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रत्याख्यानेनास्रव-द्वाराणि निरुणद्धि। प्रत्याख्यानेन इच्छानिरोधं जनयति। इच्छानिरोधगतश्च जीवः सर्वद्रव्येषु विनीततृष्णः शीतीभूतो विहरति ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **पच्चखाणेणं**–प्रत्याख्यान से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण की प्राप्ति करता है, **पच्चक्खाणेण**–प्रत्याख्यान से, **आसवदाराइं**–आस्रव द्वारो को, **निरुंभइ**–रोक देता है, **इच्छानिरोह**–इच्छा-निरोध को, **जणयइ**–उत्पन्न करता है, **य**–पुनः, **इच्छानिरोहं** गए–इच्छा-निरोध को प्राप्त हुआ, **जीवे**–जीव, **सव्वदव्वेसु**–सर्व द्रव्यों मे, **विणीयतण्हे**–तृष्णा से रहित और, **सीइभूए**–शीतलीभूत होकर, **विहरइ**–विचरता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–हे भगवन् ! प्रत्याख्यान करने से इस जीव को क्या फल मिलता है?

---

१ बृहद्वृत्ति मे तो इतना ही पाठ है–परन्तु ब्रैकेट में दिया गया पाठ अन्य हस्तलिखित प्रतियो मे उपलब्ध होता है।

उत्तर–हे शिष्य ! प्रत्याख्यान से जीव आस्रव-द्वारों को रोक देता है, तथा प्रत्याख्यान से इच्छाओं का निरोध करता है, फिर इच्छा-निरोध को प्राप्त हुआ जीव सर्व द्रव्यों में तृष्णा-रहित होकर परम शांति में विचरता है।

टीका–"प्रत्याख्यान अर्थात् मूलगुण वा उत्तरगुणरूप प्रत्याख्यान से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि प्रत्याख्यान करने से आश्रव-द्वारो का अर्थात् कर्माणुओ के आने के सभी मार्गों का निरोध होता है तथा प्रत्याख्यान से इच्छाओ का निरोध होता है। इच्छा-निरोध होने से यह जीव सर्व द्रव्यो–पदार्थों मे तृष्णारहित हो जाता है और तृष्णारहित होने से वह परमशाति को प्राप्त होता हुआ विचरता है। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का प्रत्याख्यान (त्याग-नियम या प्रतिज्ञा) किया जाता है, फिर उस वस्तु को प्राप्त करने, अथवा प्राप्त हुई वस्तु का उपभोग करने की इच्छा नही होती। इस प्रकार इच्छा-निरोध से इस जीव की समस्त पदार्थो पर से तृष्णा उठ जाती है और जब तृष्णा उठ गई तो बाह्य और आभ्यन्तर के सन्तापो से रहित होकर साधक परम शाति में विचरण करता है।

अब स्तुति-मंगल-पाठ के फल के विषय में कहते हैं, यथा –

थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

थय-थुइमंगलेणं-नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं जणयइ। नाण-दंसण-चरित्त- बोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ ॥ १४ ॥

स्तवस्तुतिमङ्गलेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? ।

स्तव-स्तुति-मङ्गलेन ज्ञान-दर्शन-चारित्र-बोधिलाभं जनयति। ज्ञान-दर्शनचारित्र-बोधि-लाभसम्पन्नश्च जीवोऽन्तक्रियां कल्पविमानोत्पत्तिकामाराधनामाराध्नोति ॥ १४ ॥

पदार्थान्वय.–**थय-थुइ**–स्तव-स्तुति, **मंगलेणं**–मंगल से, **भंते**–हे पृज्य, **जीवे**–जीव, **कि जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है? **थयथुइ**–स्तव-स्तुति, **मंगलेणं**–मगल से, **नाणदसणचरित्त-बोहिलाभं**–ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूप बोधिलाभ का, **जणयइ**–उपार्जन करता है, **नाणदंसणचरित्त-बोहिलाभसंपन्ने**–ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूप बोधिलाभ से सपन्न, **जीवे**–जीव, **अतकिरिय**–अन्त-क्रिया वा, **कप्पविमाणोववत्तियं**–कल्पविमानोत्पत्ति की, **आराहण**–आराधना का, **आराहेइ**–आराधन करता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–हे भगवन् ! स्तव-स्तुति-मंगल पाठ से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है?

उत्तर–स्तव-स्तुति मंगल-पाठ से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करता है, फिर ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करने वाला जीव, अंतक्रिया वा कल्पविमानोत्पत्ति को प्राप्त करता है।

टीका–प्रस्तुत सूत्र में अरिहंत और सिद्ध भगवान् की स्तुति करने का फल प्रदर्शन किया गया है। शिष्य के पूछने पर कि भगवन् ! स्तव-स्तुतिमगल-पाठ के करने से इस जीव को क्या फल मिलता है? गुरु उत्तर देते हैं कि हे भद्र ! स्तवस्तुतिमगल-पाठ का फल ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधि-लाभ की प्राप्ति है और बोधि-लाभ को प्राप्त करने वाला जीव अन्तक्रिया अर्थात् मोक्ष की आराधना–प्राप्ति करता है अथवा कल्प-देवलोको मे, या नवग्रैवेयक और पाच अनुत्तर-विमानों में उत्पन्न होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि बोधि-लाभ से संसार का अन्त करने वाली अथवा कर्मों का क्षय करने वाली अर्थात् जिस क्रिया के अनुष्ठान से अन्त मे अन्तक्रिया अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है उस अन्तक्रिया को प्राप्त करता है।

साराश यह है कि यदि इस जीव के समस्त घाति-कर्मो का क्षय हो गया हो तब तो उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है और यदि कुछ कर्म बाकी रह गए हों, तब वह आत्मा नवग्रैवेयक और पाच अनुत्तर-विमान तथा कल्प-विमानो मे–जो कि स्वर्ग मे सब से उत्तम स्थान है वहा उत्पन्न होती है। वहा से च्यव कर उत्तम मानव-भव को प्राप्त करके अन्त में मोक्ष को प्राप्त करती है। यही स्तुतिमगल-पाठ की आराधना का फल है।

कर्मो की विलक्षणता से अन्तक्रिया के भी चार-भेद वर्णन किए गए हैं। १ अल्पसयम, अल्पवेदना–जैसे मरुदेवी माता। २ अल्पसयम, बहुवेदना–जैसे गजसुकुमाल। ३. बहुकालसंयम, अल्पवेदना–जैसे भरत चक्रवती। ४. बहुकालसयम, बहुवेदना–जैसे सनतकुमार चक्रवर्ती। इस प्रकार अन्तक्रिया के चार भेद कहे गए हैं।

'थयथुइ–स्तव-स्तुति' मे प्राकृत के कारण प्रत्यय-व्यत्यय अर्थात् 'क्ति' प्रत्ययान्त का परनिपात किया गया है। एव स्तव शब्द से यहां पर शक्र-स्तव का ग्रहण है और स्तुति से एकादि सप्तश्लोकान्त स्तुति का अर्थात् चतुर्विंशतस्तव का ग्रहण करना चाहिए और मगल शब्द इनकी विशिष्टता का द्योतक है।

स्तुतिपाठ के अनन्तर अब कालप्रत्युपेक्षणा अर्थात् प्रतिलेखना के विषय में कहते हैं –

कालपडिलेहणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? ।
कालपडिलेहणयाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥ १५ ॥

कालप्रतिलेखनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?
कालप्रतिलेखनया ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः–कालपडिलेहणयाएणं–कालप्रतिलेखना से, **भंते**–हे भगवन् ! **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या फल प्राप्त करता है, **कालपडिलेहणयाएणं**–काल-प्रति-लेखना से, **नाणावरणिज्जं कम्मं**–ज्ञानावरणीय कर्म को, **खवेइ**–खपाता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–हे पूज्य ! स्वाध्यायादि काल की प्रतिलेखना से जीव किस फल की प्राप्ति करता है?

उत्तर–काल-प्रतिलेखना से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है।

टीका–यहा पर 'काल' शब्द से स्वाध्याय-काल का ग्रहण करना चाहिए। आगम-विहित जो प्रदोषिकादि काल हैं उनमें यथाविधि निरूपण–ग्रहण करना, तथा प्रतिजागरणा अर्थात् समय का विभाग करके उसके अनुसार क्रियाएं करना, यह काल-प्रतिलेखना है। काल-प्रतिलेखना के फल के विषय में शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि काल-प्रतिलेखना अर्थात् प्रत्युपेक्षणा के द्वारा यह जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर देता है। कारण यह है कि समय-विभाग मे आत्मा को प्रमाद-रहित होना पड़ता है और उपयोग रखना पड़ता है। उसका फल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

कदाचित् अकाल में स्वाध्याय किया गया हो तो उसका प्रायश्चित करना चाहिए, अत. अब प्रायश्चित के विषय में कहते हैं –

पायच्छित्तकरणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? ।

पायच्छित्तेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ। निरइयारे आवि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयारफलं च आराहेइ ॥ १६ ॥

प्रायश्चित्तकरणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रायश्चित्तेन पापकर्मविशुद्धिं जनयति। निरतिचारश्चापिभवति। सम्यक् च प्रायश्चित्त प्रतिपद्यमानः (सम्यक्त्व-) मार्गञ्च (सम्यक्त्व-) मार्गफलञ्च विशोधयति, आचारञ्चाचार-फलञ्चाराधयति ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः–पायच्छित्तकरणेणं–प्रायश्चित के करने से, **भंते**–हे भगवन् ! **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस फल की प्राप्ति करता है? **पायच्छित्तेणं**–प्रायश्चित्त से, **पावकम्मविसोहिं**–पापकर्म की विशुद्धि का, **जणयइ**–उपार्जन करता है, **च**–फिर, **सम्मं**–भली प्रकार, **पायच्छित्तं**–प्रायश्चित्त को, **पडिवज्जमाणे**–ग्रहण करता हुआ, **निरइयारे आवि**–निरतिचार भी, **भवइ**–हो जाता है, **च**–तथा, **मग्गं**–मार्ग की, **च**–और, **मग्गफलं**–मार्ग के फल की, **विसोहेइ**–विशुद्धि करता है, **आयारं**–आचार की, **च**–और, **आयारफलं**–आचार के फल की, **आराहेइ**–आराधना करता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–हे पूज्य ! प्रायश्चित करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है?

उत्तर–हे शिष्य ! प्रायश्चित्त से यह जीव पाप-कर्म की विशुद्धि कर लेता है, फिर वह निरतिचार-व्रत के अतिचारों अर्थात् दोषो से रहित हो जाता है तथा सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त को ग्रहण करता हुआ ज्ञान-मार्ग और उसके फल की विशुद्धि करता है और आचार तथा आचार के फल की आराधना कर लेता है।

टीका–जिसके करने से पापों का विच्छेद हो जाए उसे प्रायश्चित्त कहते हैं, इसलिए आलोचनादि प्रायश्चित्त से पापो की विशुद्धि होती है और पापों की विशुद्धि से इस जीव का चारित्र निरतिचार अर्थात्

अतिचारों से रहित हो जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु शुद्ध मन से प्रायश्चित्त को ग्रहण करता हुआ जीव कल्याण के मार्ग और उसके फल को भी विशुद्ध कर लेता है, अर्थात् सम्यक्त्व और उसके फलरूप ज्ञान को निर्मल कर लेता है तथा चारित्र और उसके फल मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

पहले अट्ठाइसवें अध्ययन मे कह आए हैं कि सबसे पहले दर्शन होता है, तथा चारित्र-प्राप्ति निबन्धन होने से दर्शन और ज्ञान ही उसका फल है, अत: ज्ञानाचारादि का फल मोक्ष कहा गया है। अथवा ''मार्ग'' शब्द से मुक्तिमार्ग का ग्रहण करना चाहिए और क्षायोपशमिक दर्शनादि उस मार्ग के फल है। जब वे प्रकर्ष दशा को प्राप्त हुए क्षायिक भाव को प्राप्त होते है, तब उनका फल मुक्ति है। इसलिए विशोधना और आराधना के द्वारा सर्वदा निरतिचार संयम का ही पालन करना चाहिए, जिसका कि फल मोक्ष-पद की प्राप्ति है।

खमावणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

खमावणयाएणं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भाव-विसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥ १७ ॥

क्षमापनया भदन्त ! जीव किं जनयति ?

क्षमापनया प्रह्लादनभावं जनयति। प्रह्लादनभावमुपगतश्च सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु मैत्रीभावमुपगतश्चापि जीवः भावविशुद्धिं कृत्वा निर्भयो भवति ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन् ! **खमावणयाएण**–क्षमापना से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या फल प्राप्त करता है, **खमावणयाएणं**–क्षमापना से, **पल्हायणभावं**–प्रह्लादनभाव अर्थात् चित्त की प्रसन्नता को, **जणयइ**–प्राप्त करता है, **पल्हायणभाव**–चित्त-प्रसन्नता को, **उवगए**–प्राप्त हुआ, **सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु**–सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वों मे, **मित्तीभावं**–मैत्रीभाव को, **उप्पाएइ**–उत्पन्न करता है, **य**–फिर, **मित्तीभावं**–मैत्रीभाव को, **उवगए**–प्राप्त हुआ, **जीवे**–जीव, **भावविसोहिं**–भावविशुद्धि, **काऊण**–करके, **निब्भए**–निर्भय, **भवइ**–हो जाता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–हे भगवन् ! क्षमापना से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है?

उत्तर–हे शिष्य ! क्षमापना से प्रह्लादनभाव अर्थात् चित्त की प्रसन्नता की प्राप्ति होती है, चित्त-प्रसन्नता की प्राप्ति से सर्व-प्राण-भूत-जीव और सत्त्व आदि में मैत्रीभाव की उत्पत्ति होती है और मैत्रीभाव को प्राप्त करके यह जीव भाव-विशुद्धि के द्वारा सर्वथा निर्भय हो जाता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में क्षमा के फल का वर्णन किया गया है। किसी के द्वारा अपराध हो जाने पर प्रतिकार का सामर्थ्य रखते हुए भी उसकी उपेक्षा कर देना, अर्थात् किसी प्रकार का दंड देने के लिए उद्यत न होना क्षमा कहलाती है। शिष्य पूछता है कि–'भगवन् ! क्षमा धारण करने से यह जीव किस गुण को प्राप्त करता है?'

उत्तर में गुरु कहते है कि क्षमा के आचरण से इस जीव का चित्त, परम आह्लाद को प्राप्त होता हे और आह्लादित चित्त होकर यह जीव संसार के सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव उत्पन्न कर लेता है। यहां पर प्राणी–द्वीन्द्रियादि जीव, भूत–वनस्पति, जीव–पञ्चेन्द्रिय और शेष जीवो की सत्त्व सज्ञा है। इस प्रकार सारे विश्व का मित्र होने से वह अपने भाव को विशुद्ध बनाता हुआ अन्त में निर्भय हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि क्षमा से इस जीव को आह्लाद की प्राप्ति होती है और आह्लाद से सर्वजीवों के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न होता है, प्रेम से राग-द्वेष का क्षय होकर भाव की विशुद्धि होती है और भाव विशुद्धि से इस जीव को निर्भयता की प्राप्ति होती है।

अब स्वाध्याय के विषय में कहते है –

सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? ।
सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥ १८ ॥

स्वाध्यायेन भदन्त ! जीव. किं जनयति ? ।
स्वाध्यायेन ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन् ! **सज्झाएणं**–स्वाध्याय से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस फल को प्राप्त करता है, **सज्झाएणं**–स्वाध्याय से, **नाणावरणिज्जं कम्मं**–ज्ञानावरणीय कर्म को, **खवेइ**–खपाता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–भगवन् ! स्वाध्याय से जीव किस फल को प्राप्त करता है?

उत्तर–स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है।

टीका–षडावश्यक के अनन्तर स्वाध्याय करना परम आवश्यक होने से प्रस्तुत गाथा मे उसके फल का वर्णन किया गया है। यद्यपि ज्ञानावरणीय के अतिरिक्त अन्य कर्मो का भी क्षय होता है, तथापि स्वाध्याय का मुख्य फल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय है। तात्पर्य यह है कि जिन क्रियाओ के द्वारा ज्ञानाच्छादक कर्म-वर्गणाए आत्म-प्रदेशों के साथ लग रही हैं वे स्वाध्याय के अनुष्ठान से आत्म-प्रदेशों से पृथक् हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप में आत्मा की ज्ञान-ज्योति निर्मल हो जाती है।

शास्त्र में स्वाध्याय के पांच भेद वर्णन किए गए हैं, उनमे प्रथम भेद वाचना है। इसलिए अब वाचना के विषय में कहते हैं –

वायणाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वायणाएणं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ। तित्थधम्मं अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ १९ ॥

वाचनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वाचनया निर्जरां जनयति। श्रुतस्य चानुषज्जनेन अनाशातनायां वर्तते। श्रुतस्यानुषज्जनेनाशातनायां वर्तमानस्तीर्थधर्ममवलम्बते। तीर्थधर्ममवलम्बमानो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे पूज्य ! **वायणाएणं**—वाचना से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस गुण की प्राप्ति करता है, **वायणाएणं**—वाचना से, **निज्जरं**—निर्जरा का, **जणयइ**—उपार्जन करता है, **य**—और, **सुयस्स**—श्रुत के, **अणुसज्जणाए**—अनुवर्तन से, **अणासायणाए**—अनाशातना मे, **वट्टए**—वर्तता है, **सुयस्स**—श्रुत के, **अणुसज्जणाए**—अनुवर्तन और, **अणासायणाए**—अनाशातना मे, **वट्टमाणे**—वर्तता हुआ, **तित्थधम्मं**—तीर्थधर्म का, **अवलंबइ**—अवलबन करता है, **तित्थधम्मं**—तीर्थधर्म का, **अवलंबमाणे**—अवलम्बन करने से, **महानिज्जरे**—कर्मो की महानिर्जरा, **महापज्जवसाणे**—महापर्यवसान, **भवइ**—होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! वाचना से जीव को क्या फल होता है?

उत्तर—हे शिष्य ! वाचना से कर्मों की निर्जरा होती है तथा श्रुत का अनुवर्तन होने से उसकी (श्रुत की) आशातना नहीं होती, फिर श्रुत के अनुवर्तन और अनाशातना में प्रवृत्त हुआ जीव तीर्थधर्म का अवलम्बन करता है, तीर्थ-धर्म के अवलम्बन से महानिर्जरा और महापर्यवसान (कर्मों का अन्त) होता है।

टीका—स्वाध्याय के प्रथम भेदरूप वाचना के फल का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि वाचना का फल कर्मों की निर्जरा करता है, अर्थात् आत्मप्रदेशों में लगे हुए कर्म-पुद्गल उनसे अलग हो जाते है और श्रुत का अनुवर्तन सदैव पठन-पाठन होने से श्रुत की आशातना नहीं होती। श्रुत-प्रणाली का व्यवच्छेद नहीं होता। इस प्रकार श्रुत-प्रणाली का व्यवच्छेद और आशातना का अभाव होने से यह जीव तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है। तात्पर्य यह है कि—तीर्थ नाम है गणधर का, उसका जो आचार तथा श्रुत-प्रदानरूप धर्म है उसके आश्रित हो जाता है, अथवा श्रुतरूप तीर्थ का जो स्वाध्यायरूप धर्म है उसके आश्रित होता हुआ यह जीव महानिर्जरा और महापर्यवसान को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेता है।

कतिपय प्रतियो में 'अणुसज्जणाए' यह पद नही है, परन्तु बृहद्वृत्तिकार ने इसकी मूल गाथा का पाठ मानकर इसको '**तत्रानुषज्जनमनुवर्तनं तत्र वर्तते कोऽर्थः? अव्यवच्छेदं करोति**' यह व्याख्या की है।

अब स्वाध्याय के दूसरे भेद के फल का उल्लेख करते हैं —

पडिपुच्छणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिपुच्छणयाएणं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिंदइ ॥ २० ॥

प्रतिप्रच्छनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रतिप्रच्छनया सूत्रार्थतदुभयानि विशोधयति। काङ्क्षामोहनीयं कर्म व्युच्छिनत्ति ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भदन्त, **पडिपुच्छणयाएणं**–प्रतिपृच्छा से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण की प्राप्ति करता है, **पडिपुच्छणयाएणं**–प्रतिपृच्छा से, **सुत्तत्थतदुभयाइं**–सूत्र और अर्थ दोनों की, **विसोहेइ**–विशुद्धि करता है तथा, **कंखामोहणिज्जं**–काक्षामोहनीय, **कम्मं**–कर्म का, **वोच्छिंदइ**–विच्छेद करता है।

मूलार्थ–(प्रश्न)–हे भगवन् ! प्रतिपृच्छना अर्थात् शास्त्र-चर्चा से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–प्रतिपृच्छा अर्थात् शास्त्रचर्चा करने से सूत्र और उसका अर्थ, इन दोनों की विशुद्धि करता है तथा कांक्षामोहनीय कर्म का विशेष रूप से नाश करता है।

टीका–सूत्रार्थ मे सन्देह उत्पन्न होने पर उसकी निवृत्ति के लिए जो विनय-पूर्वक शंकासमाधान के रूप मे चर्चा की जाए, उसको प्रतिपृच्छा कहते है। शिष्य पूछता है कि भगवन् ! प्रतिपृच्छा से इस जीव को क्या लाभ होता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते है कि भद्र ! प्रतिपृच्छा से सूत्र और उसका अर्थ दोनो ही शुद्ध हो जाते है और साथ मे कांक्षामोहनीय कर्म का भी क्षय हो जाता है। काक्षामोहनीय मे अनभिग्रहिक मिथ्यात्व होता है, इसलिए यह दर्शन-मोहनीय का ही भेद है।

अब परिवर्तना के फल का वर्णन करते हैं –

परियट्टणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? ।
परियट्टणयाएणं वंजणाइं जणयइ। वंजणलद्धिं च उप्पाएइ ॥ २१ ॥

परिवर्तनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? ।
परिवर्तनया व्यञ्जनानि जनयति। व्यञ्जनलब्धिञ्चोत्पादयति ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **परियट्टणयाएणं**–परिवर्तना से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है, **परियट्टणयाएणं**–परिवर्तना से, **वंजणाइं**–व्यजनो को, **जणयइ**–उत्पन्न करता है, **वंजणलद्धिं**–व्यजन-लब्धि को, **च**–तथा पदानुसरणीलब्धि को, **उप्पाएइ**–उत्पन्न करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! परिवर्तना से यह जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–हे शिष्य ! परिवर्तना से यह जीव व्यंजन और व्यंजन-लब्धि को प्राप्त कर लेता है तथा पदानुसरणीलब्धि भी उसको प्राप्त हो जाती है।

टीका–पढे हुए सूत्र-पाठ को पुनः-पुनः आवर्तन करना परिवर्तना है। गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! परिवर्तना से यह जीव जिनके द्वारा अर्थ की प्राप्ति होती है उन व्यजनों–अक्षरों को उत्पन्न कर लेता है, अर्थात् बार-बार आवृत्ति करने से यह अस्खलित-सूत्रार्थ हो जाता है। यदि पाठ करते-करते विस्मृति हो जाए तो शीघ्र ही स्मरण हो आता है। इतना ही नहीं, किन्तु क्षयोपशम के प्रभाव से उसको व्यजनलब्धि और चकार से पदलब्धि की प्राप्ति हो जाती है। अक्षरलब्धि–अक्षरों का स्मरण है और पदलब्धि–पदों का स्मरण।

अब अनुप्रेक्षा के फल के विषय में कहते हैं –

अणुप्पेहाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? अणुप्पेहाएणं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ। बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सिया बंधइ, सिया नो बंधइ। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकांतारं खिप्पामेव वीइवयइ ॥ २२ ॥

अनुप्रेक्षया भदन्त ! जीवः कि जनयति ?

अनुप्रेक्षयाऽऽयुर्वर्ज्जा सप्तकर्मप्रकृतीर्गाढबन्धनबद्धाः शिथिलबन्धनबद्धाः प्रकरोति। दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति। तीव्रानुभावा मन्दानुभावाः प्रकरोति। बहुप्रदेशाग्रा अल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति। आयुः कर्म च स्याद्बध्नाति स्यान्न बध्नाति। आशातावेदनीयञ्च कर्म नो भूयोभूय उपचिनोति। अनादिकञ्चाऽनवदग्रं दीर्घाद्धव चतुरन्त संसारकान्तारं क्षिप्रमेव व्यतिव्रजति ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **अणुप्पेहाएणं**–अनुप्रेक्षा से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण की प्राप्ति करता है, **अणुप्पेहाएणं**–अनुप्रेक्षा से, **आउयवज्जाओ**–आयुकर्म को वर्ज कर, **सत्तकम्मप्पगडीओ**–सातों कर्म-प्रकृतिया जो, **धणिय**–गाढे, **बंधण**–बधनो से, **बद्धाओ**–बांधी हुई थी, **सिढिल**–शिथिल, **बंधणबद्धाओ**–बन्धनों से बधी हुई, **पकरेइ**–करता है, **दीहकाल**–दीर्घ काल, **ट्ठिइयाओ**–स्थिति से, **हस्सकाल**–ह्रस्व काल की, **ट्ठिइयाओ**–स्थिति वाली, **पकरेइ**–करता है, **तिव्वाणुभावाओ**–तीव्रानुभाव से, **मंदाणुभावाओ**–मद भाव वाली, **पकरेइ**–करता है, **बहुपएसग्गाओ**–बहुप्रदेश वाली कर्म स्थिति को, **अप्पपएसग्गाओ**–अल्प प्रदेश वाली, **पकरेइ**–करता है, **च**–फिर, **आउयं**–आयुष्य, **कम्मं**–कर्म को, **सिया**–कदाचित, **बंधइ**–बाधता है, **सिया**–कदाचित्, **नो बंधइ**–नही भी बाधता, **च**–तथा, **असायावेयणिज्जं**–असातावेदनीय, **कम्मं**–कर्म को, **नो**–नही, **भुज्जो भुज्जो**–बारम्बार, **उवचिणाइ**–एकत्रित करता है, **च**–अन्य कर्मो की अशुभ प्रकृतियों को भी, **अणाइय**–अनादि, **अणवदग्गं**–अनन्त, **दीहमद्धं**–दीर्घ मार्ग वाला, **चाउरंतं**–चार गति रूप, **संसारकातारं**–ससार रूप कान्तार जगल को, **खिप्पामेव**–शीघ्र ही, **वीइवयइ**–व्यतिक्रम कर जाता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भदन्त ! अनुप्रेक्षा से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–हे भद्र ! अनुप्रेक्षा से (तत्त्व-चिन्तन से) जीव आयुकर्म को त्यागकर अन्य गाढ़े बन्धनों से बांधी हुई सात कर्मों की प्रकृतियों को शिथिल बन्धनों वाली कर देता है, और यदि वे लम्बे काल की स्थिति वाली हों तो उन्हें अल्पकाल की स्थिति वाली बना देता है, तथा यदि वे तीव्र अनुभाग रस वाली हों तो उनको मन्द रसवाली बना डालता है। एवं यदि बहुप्रदेशी हों

तो अल्पप्रदेशी कर देता है। उसके आयुकर्म का बन्ध कदाचित् हो और न भी हो परन्तु असातावेदनीयकर्म को वह बार-बार नहीं बांधता, और वह अनादि अनन्त तथा दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिरूप संसारजंगल को शीघ्र ही पार कर जाता है।

टीका—अनुप्रेक्षा नाम सूत्रार्थचिन्तन का है। दूसरे शब्दों में उसे तत्त्व-चिन्तन कहते है। शिष्य इस तत्त्वचिन्तन के फल को गुरुओं से पूछता है। इसके उत्तर में गुरु कहते है कि अनुप्रेक्षा करने से यह जीव निकाचित कर्मों के प्रगाढ़ बन्धनों को शिथिल करता है। उनकी दीर्घकालीन स्थिति को क्षय करके स्वल्पकाल की बनाता है तथा यदि उनका विपाक कटु अर्थात् तीव्र हो तो उसको मन्द कर लेता है। इसी प्रकार यदि वह स्थिति बहुप्रदेश वाली है, उसको स्वल्पप्रदेशी बना लेता है। इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि अध्यवसाय-विशेष से आत्म-प्रदेशों के साथ कर्माणुओं का क्षीर-नीर की तरह जो सम्बन्ध होता है उसको बन्ध कहते है। उसके चार भेद है—१. प्रकृतिबन्ध, २ स्थितिबन्ध, ३ अनुभाग-रसबन्ध और ४. प्रदेशबन्ध। अनुप्रेक्षा करने से यह जीव बन्ध के इन चारों भेदो मे नयूनता का सम्पादन कर देता है अर्थात् इन चारों प्रकृतियो के अशुभ बन्ध में कमी कर देता है, जैसे कि ऊपर कहा गया है। इसके अतिरिक्त वह आयुकर्म को बांधता भी है और नहीं भी बाधता है। कारण यह है कि शास्त्रकारों ने आयुकर्म का बन्ध आयु के तीसरे भाग मे प्रतिपादन किया है, अतः यदि अनुप्रेक्षा करते समय तीसरा भाग न हो तो आयु.कर्म नही बांधेगा, अथवा जिस आत्मा को उसी जन्म में मोक्ष पाना है वह भी आयुःकर्म का बन्ध नहीं करता। परन्तु आसातावेदनीय आदि अशुभ कर्मप्रकृतियों को वह पुन॰-पुनः नहीं बांधता। यहां पर पुनः-पुन. शब्द इसलिए प्रयुक्त किया गया है कि यदि यह जीव अप्रमत्तगुणस्थान से प्रमत्तगुणस्थान मे आ जाए तो उक्त कथन असभव हो जाएगा। किसी-किसी प्रति मे यह पाठ है कि—"**सायावेयणिज्ज च ण कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ—सातावेदनीयञ्च कर्म भूयो भूय उपचिनोति**"—अर्थात् सातावेदनीय कर्म को पुन.-पुनः बांधता है। अतः च शब्द से शुभ प्रकृतियो के समूह का ग्रहण करना चाहिए। यह संसार रूप वन अनादि-अनन्त और बहुत लम्बा-चौड़ा है। देव, मनुष्य, नरक और तिर्यक् रूप चारो गतियां इसके अवयव है। ऐसे भयानक संसारवन को यह जीव अनुप्रेक्षा के द्वारा पार कर जाता है। अनुप्रेक्षा से यहा पर सभी प्रकार की अनुप्रेक्षाओ का ग्रहण अभिमत है। यथा—अनित्यादि द्वादश अनुप्रेक्षा, धर्मध्यानसम्बन्धी चार और शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षा इत्यादि।

अब धर्मकथा के विषय में कहते हैं, यथा –

धम्मकहाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
धम्मकहाएणं निज्जरं जणयइ। धम्मकहाएणं पवयणं पभावेइ ।
पवयण-पभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ ॥ २३ ॥

धर्मकथया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? ।
धर्मकथया निर्जरां जनयति। धर्मकथया प्रवचनं प्रभावयति।
प्रवचनप्रभावेण जीव आगमिष्यद्भद्रताया. कर्म निबध्नाति ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन्, **धम्मकहाएणं**—धर्मकथा से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस फल को प्राप्त करता है, **धम्मकहाएणं**—धर्मकथा से, **निज्जर**—निर्जरा की, **जणयइ**—उत्पत्ति करता है, **धम्मकहाएणं**—धर्मकथा से, **पवयणं**—प्रवचन की, **पभावेइ**—प्रभावना करता हैं, **पवयण-पभावेणं**—प्रवचन की प्रभावना से, **जीवे**—जीव, **आगमेसस्स**—आगामी काल के, **भद्दत्ताए**—भद्रता के, **कम्म**—कर्म को, **बंधइ**—बांधता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! धर्मकथा कहने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—हे शिष्य ! धर्मकथा कहने से कर्मों की निर्जरा होती है तथा प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन की प्रभावना से यह जीव भविष्यत्काल में केवल शुभ कर्मों का ही बन्ध करता है।

टीका—शिष्य ने गुरु से पूछा कि भगवन् ! धर्म-कथा कहने से जीव को क्या फल प्राप्त होता है ?

गुरु कहते हैं कि धर्मकथा से कर्मों की निर्जरा और प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन की प्रभावना करने वाले आठ माने गए है।—१ धर्मकथा कहने वाला, २. प्रावचनी, ३ वादी, ४ नैमित्तिक, ५ तपस्वी, ६ विद्वान्, ७ सिद्ध और ८ कवि, इसलिए धर्मकथा कहने से प्रवचन की प्रभावना होती है और प्रवचन-प्रभावक जीव आगामी काल मे भद्रकर्म का ही बन्ध करता है।

परन्तु यहा पर इतना स्मरण रहे कि धर्मकथा के कहने का अधिकार उसी जीव को है जो उसमे योग्यता रखता है। यदि योग्यता के बिना प्रवचन करेगा तो उत्सूत्र-प्ररूपणा से भविष्यकाल मे अशुभ कर्मों के बन्ध की भी पूरी सम्भावना रहती है।

अब श्रुत की आराधना के सम्बन्ध में कथन करते है, यथा –

सुयस्स आराहणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
सुयस्स आराहणयाएणं अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ ॥ २४ ॥

श्रुतस्याऽऽराधनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?
श्रुतस्याऽराधनयाऽज्ञानं क्षपयति, न च संक्लिश्यति ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन्, **सुयस्स आराहणयाएण**—श्रुत की आराधना से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस गुण की प्राप्ति करता है, **सुयस्स आराहणयाएणं**—श्रुत की आराधना से, **अन्नाणं**—अज्ञान का, **खवेइ**—क्षय करता है, **य**—पुनः, **न**—नहीं, **संकिलिस्सइ**—क्लेश को प्राप्त होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! श्रुत की आराधना से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर—श्रुत की आराधना से साधक अज्ञान का नाश करता है और क्लेश को प्राप्त नहीं होता है।

टीका—श्रुत अर्थात् सूत्र-सिद्धान्त की आराधना से अथवा श्रुत का भली-भांति मनन करने से अज्ञान का नाश होता है, क्योंकि श्रुत-जन्य विशिष्ट बोध अज्ञान का नाशक होता है, तथा अज्ञान के नाश होने से राग-द्वेष-जन्य जो आन्तरिक क्लेश है, वह भी दूर हो जाता है। इसलिए श्रुत की आराधना से अज्ञान और तज्जन्य क्लेश भी शान्त हो जाते है तथा श्रुतसेवी मुनि के सद्भावपूर्ण चित्त में अपूर्व आनन्द-सवेग और विशिष्ट श्रद्धा की उत्पत्ति होने लगती है।

अब मन की एकाग्रता के विषय में कहते हैं —

एगग्गमण-संनिवेसणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
एगग्गमण-संनिवेसणयाएणं चित्तनिरोहं करेइ ॥ २५ ॥

एकाग्रमनःसंनिवेशनया भदन्त ! जीव. किं जनयति ?
एकाग्रमनःसंनिवेशनया चित्तनिरोधं करोति ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन्, **एगग्गमणसंनिवेसणयाएण**—एकाग्रमन-सन्निवेशना से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस गुण की प्राप्ति करता है, **एगग्गमणसंनिवेसणयाएण**—मन की एकाग्रता से **चित्तनिरोहं**—चित्त का निरोध, **करेइ**—करता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! एकाग्रमनःसंनिवेश अर्थात् मन को एकाग्र करने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर—मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे मन की एकाग्रता से उत्पन्न होने वाले फल का वर्णन किया गया है। शिष्य पूछता है कि भगवन् ! यदि किसी शुभ आलम्बन के द्वारा मन को एकाग्र किया जाए तो ऐसा करने वाले जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? उत्तर में गुरु कहते हैं कि—भद्र ! यदि उक्त प्रकार से मन को एकाग्र किया जाए तो इधर-उधर दौडने वाली जो चित्तवृत्तियां हैं उनका निरोध हो जाता है, तात्पर्य यह है कि यह अति चचल मन उसके वश मे हो जाता है। यद्यपि सूत्र में केवल 'एकाग्र' पद ही दिया गया है, तथापि प्रस्ताव से शुभ आलम्बन का ही ग्रहण किया जाता है। यदि शुभ आलम्बन का ग्रहण न किया जाए तो आर्त और रौद्र ध्यान मे भी मन की स्थिति एकाग्र हो सकती है इसलिए आर्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर केवल धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान में ही किसी शुभ आलम्बन के द्वारा मन की एकाग्रता शास्त्रकार को सम्मत है। उसी से चित्तवृत्ति का निरोध होना अभीष्ट है। यदि दूसरे शब्दों मे कहे तो प्रस्तुत गाथा मे द्रव्यप्राणायाम और भावप्राणायाम का स्पष्ट वर्णन दिखाई देता है—क्योकि मन और वायु के निरोध से मन की एकाग्रता हो जाती है। उसका फल चित्त का सर्वथा निरोध है, इसीलिए पातञ्जल योगदर्शन मे 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' [यो १-१-२] कहा गया है।

चित्त के निरोध से ही संयम के फल की प्राप्ति होती है। अतः अब संयम के विषय में कहते हैं –

संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ॥ २६ ॥

संयमेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?
संयमेनानहंस्कत्व जनयति ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **संजमेणं**–संयम के द्वारा, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण का उपार्जन करता है, **संजमेणं**–संयम से, **अणण्हयत्तं**–अनास्रवत्व (कर्मों को न बाधना) को, **जणयइ**–प्राप्त करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! संयम से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ?

उत्तर–हे शिष्य ! संयम से यह जीव आस्रव से रहित हो जाता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे संयम के आराधन का फल वर्णन किया गया है। सयम के धारण करने से कर्मो का बन्धन नहीं होता। कारण यह-है कि सयम की आराधना से पांचो आस्रवो का निरोध हा जाता है। उसके कारण अनास्रवी–आस्रवरहित होता हुआ जीव पुण्य और पाप दोनों का ही बन्ध नही करता। यद्यपि शास्त्रकारों ने संयम के १७ भेद कर दिए है, तथापि उनमे से अन्तिम के जो मन:सयम, वाक्संयम और कायसयम, ये तीन भेद है, उनका यदि सम्यक्तया पालन किया जाएगा तभी यह जीव अनास्रवी हो सकता है।

इस प्रकार सयमयुक्त होने पर भी तप के बिना पूर्वकृत कर्मो का क्षय नहीं हो सकता, अतः अब तप के विषय में कहते हैं –

तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
तवेणं वोदाणं जणयइ ॥ २७ ॥

तपसा भदन्त ! जीवः किं जनयति ?
तपसा व्यवदानं जनयति ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **तवेणं**–तप से, **जीवे**–जीव को, **किं**–क्या, **जणयइ**–फल प्राप्त होता है, **तवेणं**–तप से, **वोदाणं**–व्यवदान पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय, **जणयइ**–उपार्जन करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! तप से जीव किस फल को प्राप्त करता है?

उत्तर–तप से व्यवदान अर्थात् पूर्वसंचित कर्मो का क्षय करके आत्मशुद्धि की प्राप्ति करता है।

टीका–तप एक प्रकार की विशिष्ट अग्नि है जो कर्मरूप मल को जलाकर भस्मसात् कर देने का अपने मे पूर्ण सामर्थ्य रखती है। यद्यपि यहां पर तप के भेदो का निरूपण नही किया गया है तथापि

तप शब्द से बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के तपों का ग्रहण कर लेना चाहिए।

अब व्यवदान के विषय में कहते हैं –

वोदाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ २८ ॥

व्यवदानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

व्यवदानेनाक्रियां जनयति। अक्रियो भूत्वा ततःपश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदु.खानामन्तं करोति ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **वोदाणेणं**–व्यवदान से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण का उपार्जन करता है, **वोदाणेणं**–व्यवदान से, **अकिरियं**–क्रिया-रहित, **जणयइ**–हो जाता है, **अकिरियाए भवित्ता**–क्रिया रहित होकर, **तओ पच्छा**–तदनन्तर, **सिज्झइ**–सिद्ध हो जाता है, **बुज्झइ**–बुद्ध हो जाता है, **मुच्चइ**–मुक्त हो जाता है, **परिनिव्वायइ**–परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है, **सव्वदुक्खाणं**–सर्व दुःखो का, **अंतं करेइ**–अन्त कर देता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! व्यवदान से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–व्यवदान से जीव अक्रिया अर्थात् क्रिया रहित हो जाता है। क्रिया रहित होने से यह जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परम शांति को प्राप्त करता हुआ सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है।

टीका–पूर्वसूत्र में तप का फल व्यवदान अर्थात् पूर्व-सचित कर्मो का विनाश बताया गया है और इस सूत्र मे अब व्यवदान के फल का निरूपण करते हैं। तप के द्वारा जब पूर्वसचित कर्मो का क्षय हो गया और आत्मा की विशुद्धि हो गई, तब आत्मा की उस विशिष्ट शुद्धि का फल क्या होता है? शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर मे गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! इस प्रकार शुद्ध हुई आत्मा निष्क्रिय अर्थात् क्रिया से रहित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि उसको शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद की प्राप्ति हो जाती है तथा ऐसा जीव ईर्यापथिकी-क्रिया से भी रहित हो जाता है। ज्ञानदर्शन के उपयोग से वस्तु-तत्व को यथार्थ रूप से जानने वाला हो जाता है और संसार-चक्र से मुक्त होकर परमनिर्वाण परमशांति–को प्राप्त हो जाता है। इसी को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त कहते हैं।

कई लोगो का कथन है कि मुक्ति मे प्राप्त हुई आत्मा शून्य अवस्था को प्राप्त हो जाती है। परन्तु उनका यह कथन युक्ति और प्रमाण दोनों से ही रहित है। इसी विचार से सूत्रकर्ता ने 'बुद्ध' पद का प्रयोग किया है। जिस समय इस आत्मा के समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं, तब वह सादि-अनन्त जो मोक्षपद है उसको प्राप्त करके सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों का अन्त कर देती है अर्थात् फिर वह जन्म-मरण-परम्परा के चक्र में नही आती है।

अब सुखशाता के विषय में कहते हैं –

सुहसाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ। अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ॥ २९ ॥

सुखशातेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? ।

सुखशातेनानुत्सुकत्वं जनयति। अनुत्सुको हि जीवोऽनुकम्पकोऽनुद्भटो विगतशोकश्चारित्रमोहनीय कर्म क्षपयति ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन् ! **सुहसाएणं**–सुखत्याग से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है, **सुहसाएणं**–सुखत्याग से, **अणुस्सुयत्तं**–अनुत्सुकता का, **जणयइ**–उपार्जन करता हैं, **अणुस्सुयाए**–अनुत्सुक–निस्पृह, **जीवे**–जीव, **अणुकंपए**–अनुकम्पा करने वाला, **अणुब्भडे**–अनुद्भट–उद्भटता से रहित, **विगयसोगे**–विगतशोक–शोकरहित होता है, **चरित्तमोहणिज्ज**–चारित्रमोहनीय, **कम्म**–कर्म का, **खवेइ**–क्षय कर देता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! सुखेच्छा के निर्वाण से अर्थात् विषयजन्य सुखों का त्याग करने से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–हे शिष्य ! सुखत्याग से जीव अनुत्सुकता अर्थात् निस्पृहता को प्राप्त करता है। निस्पृही जीव अनुकम्पायुक्त, अभिमान तथा बाह्य श्रृंगारादि विभूषा का त्यागी और भय-शोकादि से रहित होकर चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करने वाला होता है।

टीका–प्रस्तुत सूत्र में '**सुहसाए**' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसके संस्कृतरूप ऐसे बनते हैं–''सुखशातता और सुखशायिता। सुखशातता का अर्थ है–वैषयिक सुख निवारण और सुखशायिता का अर्थ है–आध्यात्मिक सुख में 'तल्लीनता, दोनो रूप एक ही भावार्थ को प्रकट करते हैं। स्थानाग-सूत्र में सुख-शय्या के चार भेद वर्णन किए गए है :–१ प्रवचन मे नि:शक होना, २. पर-लाभ की स्पृहा न करना, ३. कामभोगादि मे तृष्णा-रहित होना और ४ शरीर के श्रृगार का परित्याग करके तपश्चर्या मे उद्यत रहना। प्रवचन मे पूर्ण श्रद्धा रखते हुए विषय-जन्य सुखो का परित्याग करके निराकुलता-युक्त परम सन्तोषी होना सुखशय्या है। तब शिष्य पूछता है कि भगवन्! सुखशय्या में विश्राम करने वाले जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? यह प्रश्न 'सुहसाए' का 'सुखशायिता' अनुवाद करने पर होता है और यदि उसका प्रतिरूप 'सुखशात' करे तो उसका–**'सुख वैषयिक शातयति–नाशयति'** इस व्युत्पत्ति के द्वारा यह अर्थ होगा कि विषयजन्य सुख के त्याग करने से जीव को क्या फल मिलता है? तथा ऊपर जो लक्षण किया गया है वह दोनों रूपो मे घटित हो जाता है। शिष्य के इन दोनो प्रकार के प्रश्नो का एक ही उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि सुख-शय्या मे विश्राम करने से तथा विषयजन्य सुखो का परित्याग करने से विषयों के प्रति निस्पृहता उत्पन्न हो जाती है और सयम में स्थिरता की प्राप्ति होती है फिर निस्पृही–स्पृहारहित हुआ–जीव किसी प्राणी को यदि दु:ख में पड़ा देखता है तो उसका

अन्त:करण कापने लग जाता है और वह दु:खी को देखकर दु:खी बन जाता है। इसके अतिरिक्त वह अभिमान से भी रहित हो जाता है तथा किसी इष्ट पदार्थ के वियोग और अनिष्ट के संयोग से उसको किसी प्रकार का शोक, सन्ताप भी नहीं होता। इस प्रकार प्रकृष्टतम शुभ अध्यवसाययुक्त होने से वह चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय कर डालता है।

अब अप्रतिबद्धता के विषय में कहते हैं –

अप्पडिबद्धयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अप्पडिबद्धयाएणं निस्संगत्तं जणयइ। निस्संगत्तेणं जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ॥ ३० ॥

अप्रतिबद्धतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ? ।

अप्रतिबद्धतया निःसङ्गत्वं जनयति। निःसङ्गत्वेन जीव एक एकाग्रचित्तो दिवा च रात्रौ चाऽसजन्नप्रतिबद्धश्चापि विहरति ॥ ३० ॥

पदार्थान्वय.–**भंते**–हे भगवन्, **अप्पडिबद्धयाएणं**–अप्रतिबद्ध भाव से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या गुण उत्पन्न करता है, **अप्पडिबद्धयाएणं**–अप्रतिबद्धता से, **निस्संगत्तं**–नि:सगता को, **जणयइ**–प्राप्त करता है, **निस्संगत्तेणं**–नि.संगता से, **जीवे**–जीव, **एगे**–एकाकी, **एगग्गचित्ते**–एकाग्रचित्त होकर, **दिया**–दिन मे, **य**–अथवा, **राओ**–रात्रि मे, **य**–समुच्चय अर्थ मे, **असज्जमाणे**–अनासक्त, **अप्पडिबद्धे**–अप्रतिबद्ध, **य**–पुन: **अवि**–विशेष भाव से युक्त, **विहरइ**–विचरता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! अप्रतिबद्धता से अर्थात् विषयादि के अप्रतिबन्ध से–जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–अप्रतिबद्धता से जीव निस्संगत्व अर्थात् असंगता को प्राप्त करता है। निस्संगता से रागादिरहित होकर जीव को चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। उससे वह जीव अहोरात्र किसी भी वस्तु में अनुराग न रखता हुआ अप्रतिबद्धभाव से विचरता है।

टीका–शिष्य पूछता है कि भगवन् ! अप्रतिबद्धता अर्थात् किसी भी पदार्थ मे ममत्व न रखने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? इसके उत्तर मे गुरु कहते है कि ममत्व के त्याग से इस जीव को असंगत्व की प्राप्ति होती है, अर्थात् वह संग से रहित हो जाता है। सगरहित होने से उसका किसी भी पदार्थ मे राग नहीं रह जाता। इसलिए वह हर प्रकार के बाह्य सग का परित्याग करता हुआ अप्रतिबद्धरूप से विचरने लगता है। तात्पर्य यह है कि जब किसी पदार्थ पर से इस जीव का प्रतिबन्ध अर्थात् ममत्व उठ जाता है तो उसको पदार्थ की प्राप्ति तथा अप्राप्ति मे किसी प्रकार का हर्ष या शोक नही होता और सगदोष से उत्पन्न होने वाली नानाविध उपाधियों से भी मुक्त रहता है। अतएव अप्रतिबद्ध भाव से विचरण करता हुआ वह मास-कल्पादि के अनुष्ठान मे सदा उद्यत रहता है। परन्तु अप्रतिबद्धता विविक्त-शयनासन से ही सभव हो सकती है।

अत: अब विविक्त शयनासन के विषय में कहते हैं –

विवित्तसयणासणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

विवित्तसयणासणयाएणं चरित्तगुत्तिं जणयइ। चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ ॥ ३१ ॥

विविक्तशयनासनतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

विविक्तशयनासनतया चारित्रगुप्तिं जनयति। गुप्तचारित्रो हि जीवो विविक्ता हारो, दृढचारित्र एकान्तरतो मोक्षभावप्रतिपन्नोऽष्टविधकर्मग्रन्थिं निर्जरयति ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः–विवित्तसयणासणयाएणं–विविक्त शयनासन के सेवन से, **भंते**–हे भगवन्, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण की प्राप्ति करता है, **विवित्त-सयणासणयाएणं**–विविक्त-शयनासन से, **चरित्तगुत्तिं**–चारित्रगुप्ति को, **जणयइ**–उत्पन्न करता है, **य**–पुनः, **चरित्तगुत्ते**–चारित्र से गुप्त हुआ, **णं**–वाक्यालङ्कार में, **जीवे**–जीव, **विवित्ताहारे**–विकृति-रहित आहार करने वाला, **दढचरित्ते**–दृढचारित्रवान्, **एगंतरए**–एकान्तसेवी, **मोक्खभावपडिवन्ने**–मोक्ष को प्राप्त करने वाला, **अट्ठविहं**–आठ प्रकार की, **कम्मगंठिं**–कर्मग्रन्थि को, **निज्जरेइ**–निर्जरा करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन् ! विविक्त शयनासन के सेवन से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–हे भद्र ! विविक्त-शयनासन से चारित्रगुप्ति की प्राप्ति होती है। चारित्रगुप्ति को प्राप्त हुआ जीव विविक्ताहारसेवी, दृढ़चारित्रवान्, एकान्तप्रिय और मोक्ष को प्राप्त करने वाला होता हुआ आठ प्रकार की कर्मग्रन्थियों को तोड़ देता है, अर्थात् आठों कर्मों के बन्धनों को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

टीका–स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित जो स्थान है उसे विविक्त स्थान कहते हैं, अर्थात् जहा पर स्त्री, पशु और नपुसक आदि निवास न करते हों ऐसे स्थान मे निवास करने वाला जीव किस फल को प्राप्त करता है? यह शिष्य का प्रश्न है। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि ऐसे स्थान के सेवन से चारित्र की रक्षा होती है और चारित्र के सरक्षित होने पर वह जीव विकृत आहार का त्यागी, शुद्ध चारित्र का धारक और एकान्तसेवी होता हुआ अष्टविध कर्मों का नाश करके मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेता है। जो पदार्थ अपने प्रथम रस को छोडकर अन्य रस को प्राप्त हो चुका है उसे विकृत या विकृति कहते है तथा चित्त मे विकार उत्पन्न करने वाले जो पदार्थ हैं उनको भी विकृति कहते हैं। अतः शास्त्रकारो ने दुग्ध, दधि, नवनीत और घृत आदि को भी विकृति मे परिगणित किया है। जिस पुरुष ने इन विकृतियो का त्याग कर दिया है उसे विविक्ताहारी कहते हैं। तथा चारित्र-गुप्त शब्द 'गुप्तचारित्र' के अर्थ में है। केवल प्राकृत के कारण गुप्त शब्द का–परनिपात हुआ है।

अब विनिवर्तना–निवृत्ति के विषय में कहते हैं –

विणियट्टणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

विणियट्टणयाएणं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाणं च निज्जरणयाए पावं नियत्तेइ। तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयइ ॥३२॥

विनिवर्तनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

विनिवर्तनया पापानां कर्मणामकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठति । पूर्वबद्धानाञ्च निर्जरणया पापं निवर्तयति। ततः पश्चाच्चतुरन्तं संसारकान्तार व्यतिव्रजति ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे भगवन्, **विणियट्टणयाएणं**—विनिवर्तना से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस गुण को प्राप्त करता है, **विणियट्टणयाएणं**—विनिवर्तना से, **पावकम्माणं**—पाप-कर्मो के, **अकरणयाए**—न करने के लिए, **अब्भुट्ठेइ**—उद्यत होता है, **य**—फिर, **पुव्वबद्धाणं**—पूर्व बांधे हुए को, **निज्जरणयाए**—निर्जरा करने से, **पावं**—पाप-कर्म की, **नियत्तेइ**—निवृत्ति करता है, **तओ पच्छा**—तत्पश्चात् **चाउरंतं**—चतुर्गति रूप, **संसारकंतार**—संसार कान्तार को, **वीइवयइ**—अतिक्रम कर जाता है, अर्थात् लाघ जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! विनिवर्तना अर्थात् विषय-वासना के त्याग से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर—हे शिष्य ! विषय-वासना के त्याग से जीव पापकर्मो को नहीं बांधता और पूर्व में बंधे हुए कर्मो की निर्जरा कर देता है। तदनन्तर चतुर्गतिरूप इस संसारकान्तार को पार कर जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे विषय-विरक्ति के फल का वर्णन किया गया है, अर्थात् विषयों से पराङ्मुख होने वाला जीव किस गुण को प्राप्त करता है? ऐसी शिष्य की शका का समाधान करते हुए गुरु कहते है कि विषयों से विरक्त होने वाला जीव नए पापकर्मो का उपार्जन नहीं करता और पूर्व में सचित किए हुए कर्मो का नाश कर देता है। इस प्रकार पूर्वसचित कर्मों का नाश और नवीन कर्मो के बन्ध का अभाव हो जाने से वह जीव इस ससाररूप महाभयानक जगल से पार हो जाता है, अर्थात् फिर इसको जन्म-मरण की परम्परा मे नहीं आना पडता।

अब संभोग-प्रत्याख्यान के विषय मे कहते हैं —

संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ। निरालंबणस्स य आयट्ठिया जोगा भवंति। सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसादेइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभं अणस्सायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ॥ ३३ ॥

संभोगप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

संभोगप्रत्याख्यानेन जीव आलम्बनानि क्षपयति। निरालम्बस्य चायतार्था योगा भवन्ति। स्वेन लाभेन सन्तुष्यति। परस्य लाभं नास्वादयति, नो तर्कयति, नो स्पृहयति, नो प्रार्थयति, नोऽभिलषति। परस्य लाभमनास्वादयन्, अतर्कयन्, अस्पृहयन्, अप्रार्थयन्, अनभिलषन् द्वितीयां सुखशय्यामुपसम्पद्य विहरति ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वय·–**भंते**–हे भगवन्, **संभोगपच्चक्खाणेणं**–सभोग के प्रत्याख्यान से, **जीवे**–जीव, **कि जणयइ**–किस गुण की उपार्जना करता है, **संभोगपच्चक्खाणेणं**–संभोग के प्रत्याख्यान से, **आलंबणाइं**–परालम्बन का, **खवेइ**–क्षय कर देता है, **य**–फिर, **निरालंबणस्स**–स्वावलम्बी जीव के, **जोगा**–योग मन, वचन और काय का व्यापार, **आयट्ठिया**–मोक्षैकप्रयोजन वाले, **भवंति**–होते हैं, **सएणं**–अपने, **लाभेणं**–लाभ में, **संतुस्सइ**–संतुष्ट रहता है, **परलाभं**–पर के लाभ का, **नो आसादेइ**–आस्वादन नही करता, **नो तक्केइ**–तर्कणा नहीं करता, **नो पीहेइ**–स्पृहा नहीं करता, **नो पत्थेइ**–प्रार्थना नही करता, **नो अभिलसइ**–अभिलाषा नहीं करता, **परलाभं**–पर के लाभ का, **अणस्साएमाणे**–आस्वादन न करता हुआ, **अतक्केमाणे**–तर्कणा न करता हुआ, **अपीहेमाणे**–स्पृहा न करता हुआ, **अपत्थेमाणे**–प्रार्थना न करता हुआ, **अणभिलसमाणे**–अभिलाषा न करता हुआ, **दुच्चं**–दूसरी, **सुहसेज्ज**–सुखशय्या को, **उवसंपज्जित्ता णं**–अगीकार करके, **विहरइ**–विचरता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! सभोग के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–संभोग के प्रत्याख्यान से जीव का परावलम्बीपन छूट जाता है और वह स्वावलम्बी हो जाता है। स्वावलम्बी होने से उसकी सभी प्रवृत्तियां केवल मोक्षार्थ हो जाती हैं, वह अपने लाभ मे सन्तुष्ट रहता है। पर के लाभ का आस्वादन-उपभोग नहीं करता, कल्पना नहीं करता, इच्छा नही करता, प्रार्थना नही करता और अभिलाषा नहीं करता है। इस प्रकार पर के लाभ का आस्वादन, कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना और अभिलाषा न करता हुआ वह जीव दूसरी सुखशय्या को अंगीकार करके विचरण करता है।

टीका–इस सूत्र मे सभोग-प्रत्याख्यान के फल का वर्णन किया है। सभोग के प्रत्याख्यान से इस जीव का परावलम्बीपन दूर होकर उसको स्वावलम्बन की प्राप्ति होती है। स्वावलम्बी होने पर उसकी मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का मुख्य प्रयोजन संयम की आराधना और मोक्ष की प्राप्ति ही होता है। फिर वह यथा-लाभ में सन्तुष्ट रहता है। किसी के लाभ की वह न तो इच्छा करता है, न कल्पना, न प्रार्थना और न ही अभिलाषा करता है।

यद्यपि इन शब्दो के अर्थ में कोई भेद नहीं है तथापि विभिन्न देशीय शिष्यों के सुबोधार्थ इनका प्रयोग किया गया है, अर्थात् अनेक शब्दो की योजना की गई है।

सुख-शय्या वही है जो कि स्थानांग-सूत्र मे चार प्रकार की वर्णन की गई है। अपने लाभ मे सन्तुष्ट रहना और पर-लाभ की मन मे कल्पना तक न करना आदि जो कुछ ऊपर बताया गया है वही दूसरी सुख-शय्या कही जाती है।

इसके अतिरिक्त संभोग का अर्थ है–अनेक साधुओ के द्वारा एकत्रित किए गए भोजन को मंडलीबद्ध बैठकर खाना, अर्थात् समुदाय मे बैठकर आहार करना, उसका प्रत्याख्यान–त्याग करना सभोगप्रत्याख्यान है। जब जिनकल्प का ग्रहण किया जाता है, तब सभोग का प्रत्याख्यान करके जिनकल्पी साधु उद्यतविहारी, स्वावलम्बी होकर विचरता है और वीर्याचार में सदा उद्यत रहता है। परन्तु इतना स्मरण रहे कि इस प्रकार का त्याग गीतार्थ-अवस्था में ही करना चाहिए, अन्य क्रोधादि अवस्था

में नही, अत: प्रधान चारित्र की शुद्धि के लिए सभोग-प्रत्याख्यान की परम आवश्यकता है।

अब उपधि-प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं –

उवहिपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ। निरुवहिए णं जीवे निक्कंखी उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सइ ॥ ३४ ॥

उपधिप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीव: किं जनयति ?

उपधिप्रत्याख्यानेनापरिमन्थं जनयति। निरुपधिको हि जीवो निराकांक्षी उपधिमन्तरेण च न संक्लिश्यते ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वय—**भंते**—हे भगवन्, **उवहिपच्चक्खाणेणं**—उपधि के प्रत्याख्यान से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस गुण की प्राप्ति करता है, **उवहिपच्चक्खाणेणं**—उपधि का प्रत्याख्यान करने से, **अपलिमंथं**—स्वाध्याय मे निर्विघ्नता की, **जणयइ**—प्राप्ति करता है, **निरुवहिए**—उपधिरहित, **जीवे**—जीव, **निक्कंखी**—आकांक्षा से रहित हुआ, **य**—फिर, **उवहिमंतरेण**—उपधि के बिना, **न संकिलिस्सइ**—क्लेश को प्राप्त नही होता।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—हे शिष्य ! उपधिप्रत्याख्यान से स्वाध्याय में निर्विघ्नता की प्राप्ति होती है, फिर उपधि से रहित हुआ जीव आकांक्षा रहित होने पर क्लेश को प्राप्त नहीं होता।

टीका—यहां पर उपधि से रजोहरण और मुख-वस्त्रिका को छोड़कर अन्य उपधि—उपकरणो का ग्रहण अभिमत है। जिसके द्वारा सयम का निर्वाह किया जाए उसको उपधि कहते है। वस्त्र-पात्रादि का उपधि शब्द से ग्रहण किया जाता है। जब मन का धैर्य बढ़ जाए और परीषहो के सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो जाए तब उपधि के परित्याग से यह जीव शारीरिक और मानसिक व्यथा से छूट जाता है, अर्थात् उसको उपधि के न होने से किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक क्लेश नही होता है तथा उपधि के कारण से स्वाध्याय में पड़ने वाला विघ्न भी दूर हो जाता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि उपधि का जो परित्याग है वह रजोहरण और मुख-वस्त्रिका को छोड़कर है, अर्थात् इन दोनो का उपधि मे ग्रहण नही किया जाता। कारण यह है कि ये दोनों साधु के लिग चिह्न हैं। यदि इनका भी परित्याग कर दिया जाए, तब तो गृहस्थ-लिंग का परित्याग करके साधु-लिग का ग्रहण करना ही निरर्थक ठहरता है। अत: सिद्ध हुआ कि उपधि से रजोहरण और मुखवस्त्रिका का ग्रहण नहीं किया जाता किन्तु इनको छोड़कर वस्त्रादि अन्य उपकरण ही ग्रहण किए जाते है।

अब आहार-प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं –

आहारपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ। जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेणं न संकिलिस्सइ ॥ ३५ ॥

आहारप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

आहारप्रत्याख्यानेन जीविताशंसाप्रयोगं व्युच्छिनत्ति। जीविताशंसाप्रयोगं व्यवच्छिद्य जीव आहारमन्तरेण न संक्लिश्यते ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे भगवन्, **आहारपच्चक्खाणेणं**—आहार के प्रत्याख्यान से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस फल को प्राप्त करता है, **आहारपच्चक्खाणेणं**—आहार के प्रत्याख्यान से, **जीवियासंसप्पओगं**—जीविताशसा-सप्रयोग को अर्थात् जीवन की लालसा को, **वोच्छिंदइ**—व्यवच्छेद कर देता है, तोड देता है, **जीवियासंप्पओगं**—जीवन की लालसा का, **वोच्छिंदित्ता**—व्यवच्छेद कर देने से, **जीवे**—जीव, **आहारमंतरेणं**—आहार के बिना भी, **न संकिलिस्सइ**—क्लेश को प्राप्त नहीं होता।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! आहार के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण की प्राप्ति करता है?

उत्तर—हे शिष्य ! आहार के प्रत्याख्यान से यह जीव जीवन की आशा का व्यवच्छेद कर देता है, अर्थात् जीवन-लालसा से मुक्त हो जाता है और जब वह जीवन की आशा से मुक्त हो जाता है, तब उसको आहार के बिना भी किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता।

टीका—शिष्य पूछता है कि भगवन् । जो जीव आहार के सर्वथा त्याग की शक्ति रखता है, अर्थात् आहार का प्रत्याख्यान कर देता है उसको किस गुण की प्राप्ति होती है? इसके उत्तर मे गुरु कहते है कि—आहार का प्रत्याख्यान करने से जीवन की जो अभिलाषा है, उसका सप्रयोग अर्थात् जीवन की आशा के निमित्त जो व्यापार किया जाता है उसका व्यवच्छेद हो जाता है, क्योंकि आहार के आधीन ही मनुष्यों का जीवन है, तो जब आहार का प्रत्याख्यान कर दिया, तब जीवन की लालसा का छूट जाना स्वाभाविक है और जब जीवन की लालसा छूट गई, तब आहार के बिना (तपश्चर्या से) इस जीव को किसी प्रकार का क्लेश उत्पन्न नही होता। अनेषणीय आहारादि के प्रत्याख्यान के कारण जब कोई परीषह उपस्थित हो जाता है, तब उसकी आत्मा दृढता-पूर्वक जीवन की आशा को छोडकर उसका सामना करती है, अर्थात् वह सब प्रकार के क्लेशो से रहित एवं विमुक्त हो जाता है। अपि च, यह कथन ज्ञान-पूर्वक क्रियाओ के अनुष्ठान के लिए कहा गया है।

अब कषायों के विषय में कहते हैं —

कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्ने य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥ ३६ ॥

कषायप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

कषायप्रत्याख्यानेन वीतरागभावं जनयति। वीतरागभावं प्रतिपन्नश्चापि जीवः समसुखदुःखो भवति ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **कसायपच्चक्खाणेणं**–कषाय के प्रत्याख्यान से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण की प्राप्ति करता है, **कसायपच्चक्खाणेणं**–कषाय के प्रत्याख्यान से, **वीयरागभावं**–वीतरागता का, **जणयइ**–उपार्जन करता है, **य**–फिर, **वीयरागभावपडिवन्ने**–वीतरागभाव को प्राप्त हुआ, **जीवे**–जीव, **समसुहदुक्खे**–समान-दु.ख वाला, **भवइ**–होता है, **अवि**–पुनरर्थक है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! कषाय के प्रत्याख्यान से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–कषाय के प्रत्याख्यान से वीतरागता की प्राप्ति होती है और वीतराग भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख और दु.ख दोनों में समान भाव वाला हो जाता है।

टीका–क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारो की कषाय सज्ञा है। 'कष' अर्थात् ससार का, 'आय' अर्थात् आगमन हो जिससे, वह कषाय है। इन कषायो के प्रत्याख्यान–परित्याग से इस जीवात्मा को वीतरागता की प्राप्ति होती है, अर्थात् कषायमुक्त जीव रागद्वेष से रहित हो जाता है। रागद्वेष से मुक्त होने के कारण उसको सुख और दुःख मे भेद-भाव की प्रतीति नही होती, अर्थात् सुख की प्राप्ति पर उसको हर्ष नही होता और दु.ख मे वह किसी प्रकार के उद्वेग का अनुभव नही करता, किन्तु सुख और दु.ख दोनों का वह समानबुद्धि से आदर करता है।

तात्पर्य यह है कि उसकी आत्मा में समभाव की परिणति होने लगती है, इसलिए समभाव से भावित हो जाना ही कषाय-त्याग का फल है।

अब योग-प्रत्याख्यान के विषय मे कहते हैं – .

जोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ ॥ ३७ ॥

योगप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

योगप्रत्याख्यानेनायोगित्वं जनयति। अयोगी हि जीवो नवं कर्म न बध्नाति, पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन् ! **जोगपच्चक्खाणेणं**–योग के प्रत्याख्यान से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है, **जोगपच्चक्खाणेणं**–योग के प्रत्याख्यान से, **अजोगत्तं**–अयोगित्व–अयोगिभाव को, **जणयइ**–प्राप्त करता है, **अजोगी**–अयोगी, **जीवे**–जीव, **नवं**–नवीन, **कम्मं**–कर्म को, **न बंधइ**–नहीं बांधता, **पुव्वबद्धं**–पहले बांधे हुए का, **निज्जरेइ**–नाश कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! योग के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर—हे भद्र ! योग का प्रत्याख्यान करने से जीव अयोगी अर्थात् मन, वचन, काया की प्रवृत्ति से रहित हो जाता है और अयोगी हुआ जीव नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता तथा पूर्व मे संचित किए हुए कर्मों की निर्जरा (नाश) कर देता है।

टीका—मन, वचन और शरीर के व्यापार (प्रवृत्ति) का नाम योग है। वह प्रशस्त और अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का है। उक्त योग का निरोध करने से इस जीव को किस फल की प्राप्ति होती है?' यह शिष्य का प्रश्न है। इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि योग के प्रत्याख्यान से जीव मन, वचन और शरीर की शुभाशुभ प्रवृत्ति से रहित हो जाता है। मन, वचन और शरीर के व्यापार से रहित होने वाला जीव अयोगी कहलाता है। इस प्रकार योगों के निरोध से वह जीव नवीन कर्मों का बन्ध नही करता, क्योंकि कर्मबन्ध मे हेतुभूत मन, वचन और काया का व्यापार है, इनका निरोध कर लेने से फिर कर्म का बन्ध नही हो सकता और पूर्व में बाधे हुए नाम, गोत्र और वेदनीय आदि कर्मों का वह क्षय कर डालता है, यही योग-प्रत्याख्यान का फल है। परन्तु यह सब कथन चौदहवे गुणस्थान की अपेक्षा से जानना चाहिए। दूसरे गुणस्थानो में तो अनेक प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया गया है जो कि योग के बिना नही हो सकते। इसलिए अयोगी आत्मा ही चार प्रकार के अघाती कर्मो का क्षय करके मोक्षपद को प्राप्त कर सकती है।

अब शरीर-प्रत्याख्यान के विषय में कहते हैं –

सरीरपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वत्तेइ, सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गभावमुवगए परमसुही भवइ ॥ ३८ ॥

शरीरप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीव किं जनयति ?

शरीरप्रत्याख्यानेन सिद्धातिशयगुणत्वं निर्वर्तयति। सिद्धातिशयगुणसम्पन्नश्च जीवो लोकाग्रभावमुपगतः परमसुखी भवति ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे भगवन्, **सरीरपच्चक्खाणेणं**—शरीर के प्रत्याख्यान से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस गुण की प्राप्ति करता है, **सरीरपच्चक्खाणेणं**—शरीर के प्रत्याख्यान से, **सिद्धाइसयगुणत्तणं**—सिद्ध के अतिशय गुणभाव को, **निव्वत्तेइ**—प्राप्त करता है, **य**—फिर, **सिद्धाइसयगुणसंपन्ने**—सिद्ध के अतिशय गुण को प्राप्त हुआ, **जीवे**—जीव, **लोगग्गभाव**—लोक के अग्रभाव को, **उवगए**—प्राप्त होकर, **परमसुही**—परम सुखी, **भवइ**—हो जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! शरीर के प्रत्याख्यान से जीव किस गुण का उपार्जन करता है?

उत्तर—शरीर के प्रत्याख्यान—त्याग करने से जीव सिद्धों के अतिशयरूप गुण की प्राप्ति कर लेता है तथा सिद्धों के अतिशय गुणभाव को प्राप्त होकर वह लोक के अग्रभाग में पहुंचकर परमसुख को प्राप्त करता है।

टीका—शरीर शब्द यहां पर औदारिकादि शरीरों का बोधक है, अर्थात् औदारिकादि शरीरों के परित्याग से इस जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि शरीर के परित्याग से सिद्धों के अतिशय-परमोत्कृष्ट गुणभावो को प्राप्त करके यह जीवात्मा लोक के अग्रभाग अर्थात् मोक्ष होते ही परमसुख को प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि ऐसा जीव सर्व प्रकार के कर्मबन्धनों से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध, अजर और अमर पद को प्राप्त करता हुआ अनन्तशक्तिसपन्न होकर परमसुखी हो जाता है।

अब सहाय-प्रत्याख्यान के सम्बन्ध मे कहते हैं –

सहायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ ॥ ३९ ॥

सहायप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सहायप्रत्याख्यानेनैकीभावं जनयति। एकीभावभूतोऽपि च जीव एकत्वं भावयन्नल्प-शब्दाऽल्पझाञ्झोऽल्पकलहोऽल्पकषायोऽल्पत्वंत्वः, संयमबहुलः, संवरबहुलः, समाधिबहुलः, समाहितश्चापि भवति ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे भगवन्, **सहायपच्चक्खाणेण**—सहायक के प्रत्याख्यान से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस गुण को प्राप्त करता है, **सहायपच्चक्खाणेणं**—सहायक के प्रत्याख्यान से, **एगीभाव**—एकत्वभाव को, **जणयइ**—प्राप्त करता है, **य**—फिर, **एगीभावभूए**—एकत्वभाव को प्राप्त हुआ, **जीवे**—जीव, **एगत्तं**—एकाग्रता की, **भावेमाणे**—भावना करता हुआ, **अप्पसद्दे**—अल्पशब्द वाला, **अप्पझंझे**—वचन-कलह से रहित, **अप्पकलहे**—अल्पक्लेश वाला, **अप्पकसाए**—अल्पकषाय वाला, **अप्पतुमंतुमे**—अल्प तू तूं वाला-किंतु, **संजमबहुले**-प्रधानसयमवान्, **संवरबहुले**—विशिष्टसवरवान्, **च**—और, **समाहिए**—समाधियुक्त, **यावि**—ही, **भवइ**—होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! सहायक का प्रत्याख्यान करने से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर—सहायक के प्रत्याख्यान से जीव एकत्व भाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव को प्राप्त हुआ जीव एकाग्रता की भावना करता हुआ अल्पशब्द, अल्पझंझ अर्थात् अल्प-वाक्-कलह, अल्प-कलह, अल्प-कषाय और ज्ञानादि समाधि से युक्त होता है।

टीका—शिष्य कहता है कि—"हे भगवन् ! जिस साधु ने अपनी दैनिकचर्या मे वा अपनी नियत क्रियाओ में अन्य यतियों की सहायता का परित्याग कर दिया है, अर्थात् 'मैं अपनी किसी भी क्रिया में किसी अन्य यति की सहायता ग्रहण नही करूगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करने वाला साधु किस गुण को प्राप्त करता है? गुरु कहते है कि हे शिष्य ! सहायक के प्रत्याख्यान से यह जीव एकत्वभाव को प्राप्त कर

लेता है। एकत्वभाव के प्राप्त होने पर वह अल्प भाषण करता है। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप कषाय भी कम हो जाते है तथा अल्प अपराध के हो जाने पर जो 'तूं-तूं' कहा जाता है—जैसे कि 'तूं ने पहले भी ऐसा किया और अब भी वैसे ही करता है' इत्यादि—इस व्यवहार का भी उसमें अभाव होता है। संयम, सवर और समाधि में वह अधिक दृढ हो जाता है।

साराश यह है कि सहाय्य का परित्याग करने से जीव परस्पर के विवाद से रहित हो जाता है। उसमें किसी प्रकार के कलह-क्लेश आदि दोषों के उत्पन्न होने की सभावना नहीं रह जाती। इसीलिए उसे 'तूं-तूं' 'मैं-मैं' का भी अवसर प्राप्त नही होता और इसके विपरीत संयम की बहुलता और संवर की प्रधानता तथा ज्ञानादि समाधि की उत्पत्ति होती है। इसलिए एकत्वभाव को प्राप्त हुआ जीव क्लेशादि से मुक्त होकर सयम और समाधि-युक्त होता हुआ शांति-पूर्वक इस संसार मे विचरता है।

परन्तु यहां पर इतना स्मरण रहे कि यह उक्त कथन वैराग्य के आश्रित होकर एकत्वभाव प्राप्त करने से सम्बन्ध रखता है और यदि किसी रोष आदि के कारण एकत्वभाव को अंगीकार किया जाए तो उससे गुण प्राप्ति के बदले अनेक प्रकार के दोषो के ही उत्पन्न होने की सभावना रहती है। अत: साहाय्य-प्रत्याख्यान में वैराग्य को ही मुख्य कारण माना जाना चाहिए।

अब भक्त-प्रत्याख्यान के विषय में कहते हैं –

भत्तपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ ॥ ४० ॥

भक्तप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?
भक्तप्रत्याख्यानेनानेकानि भवशतानि निरुणद्धि ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन् ! **भत्तपच्चक्खाणेणं**—भक्तप्रत्याख्यान से, **जीवे**—जीव, **कि जणयइ**—किस गुण की प्राप्ति करता है, **भत्तपच्चक्खाणेणं**—भक्तप्रत्याख्यान से, **अणेगाइं**—अनेक, **भवसयाइं**—सैकड़ों जन्मो को, **निरुंभइ**—रोक देता है और अल्पससारी हो जाता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! भक्तप्रत्याख्यान अर्थात् आहार के परित्याग से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर—हे भद्र ! भक्त के प्रत्याख्यान से यह जीव सैकड़ों भवों अर्थात् जन्मो का निरोध कर लेता है।

टीका—भक्तप्रत्याख्यान अर्थात् अनशनव्रत से—अनशनव्रतरूप तपश्चर्या के द्वारा यह जीव अपने अनेक भवो को कम कर देता है। कारण यह है कि आहार के त्याग से भावों मे विशेष दृढता आ जाती है। उससे यह जीव अपने अनेक जन्मों को घटा देता है, अर्थात् उसे जितने जन्म धारण करने थे, उनमें बहुत कमी हो जाती है। यदि संक्षेप मे कहें तो अल्पससारी होना भक्त-प्रत्याख्यान का फल है।

अब सद्भाव-प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में कहते हैं –

सब्भावपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सब्भावपच्चक्खाणेणं अणियट्टिं जणयइ। अणियट्टिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि कम्मंसे खवेइ। तं जहा-वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ ४१ ॥

सद्भावप्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सद्भावप्रत्याख्यानेनानिवृत्तिं जनयति। अनिवृत्तिं प्रतिपन्नश्चानगारश्चत्वारि कर्मांशानि क्षपयति। तद्यथा—वेदनीयम्, आयुः, नाम, गोत्रम्। तत्पश्चात्सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः—भंते—हे भगवन्, **सब्भावपच्चक्खाणेणं**—सद्भाव के प्रत्याख्यान से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस गुण की उपार्जना करता है, **सब्भावपच्चक्खाणेणं**—सद्भाव के प्रत्याख्यान से, **अणियट्टिं**—अनिवृत्तिरूप शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद को, **जणयइ**—प्राप्त होता है, **य**—फिर, **अणियट्टिं पडिवन्ने**—अनिवृत्तिकरण को प्राप्त हुआ, **अणगारे**—अनगार, **चत्तारि**—चार, **कम्मंसे**—कर्मांशो को, **खवेइ**—क्षय करता है, **तं जहा**—जैसे कि, **वेयणिज्जं**—वेदनीयकर्म, **आउयं**—आयुकर्म, **नामं**—नामकर्म, **गोय**—गोत्रकर्म, **तओ पच्छा**—तदनन्तर, **सिज्झइ**—सिद्ध हो जाता है, **बुज्झइ**—बुद्ध हो जाता है, **मुच्चइ**—मुक्त हो जाता है, **परिनिव्वायइ**—सर्व प्रकार से शान्त हो जाता है, **सव्वदुक्खाणं**—सर्व प्रकार के दुःखो का, **अंतं करेइ**—अन्त कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! सद्भाव का प्रत्याख्यान करने से जीव को किस गुण की प्राप्ति हो सकती है?

उत्तर—सद्भाव का प्रत्याख्यान करने से अनिवृत्ति शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद की प्राप्ति होती है। अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अनगार वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चार अघाति कर्मों का क्षय कर देता है। तदनन्तर सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त होकर सर्व दुःखों का नाश करता हुआ परम शांति को प्राप्त हो जाता है।

टीका—प्रवृत्तिमात्र के परित्याग का नाम सद्भाव-प्रत्याख्यान है। जिस समय किसी भी प्रकार की क्रिया शेष नही रह जाती और सर्व प्रकार से सवर-भाव की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् जिस समय यह जीवात्मा चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है, उस समय आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है?' यह शिष्य का प्रश्न है।

इसके उत्तर में गुरु कहते है कि उस समय यह जीवात्मा अनिवृत्तिकरण को प्राप्त होता है, अर्थात् अनिवृत्तिरूप शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद को प्राप्त कर लेता है। जिस स्थान से इस जीवात्मा का फिर पतन नहीं होता, उस स्थान को अनिवृत्ति कहते हैं। चौदहवें गुणस्थान से इस आत्मा का फिर पतन नही होता, इसलिए चौदहवे गुणस्थान में पहुंचकर अनिवृत्तिकरण को प्राप्त हुआ जीवात्मा वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र इन चार अघाति कर्मो की ग्रथियो का क्षय कर डालता है। तदनन्तर वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त

और कर्मदावानल को शान्त करता हुआ सर्व प्रकार के दुःखो का सदा के लिए अन्त कर देता है, अर्थात् परम-निर्वाणपद को प्राप्त कर लेता है।

यहां पर 'कर्मांश' शब्द कर्म-ग्रन्थि का बोधक है। [**कार्मग्रन्थिकपरिभाषया अंशशब्दस्य सत्पर्यायत्वात्**] तथा पाठान्तर में 'अनिवृत्ति' के स्थान पर 'निवृत्ति' ऐसा पद भी देखने में आता है और उसका यह अर्थ किया जाता है कि-वेदनीय कर्म की जो दो समयमात्र की स्थिति है उसके बन्ध की निवृत्ति का सम्पादन करता है, परन्तु अधिक प्रतियों मे तो प्रायः 'अनिवृत्ति' पाठ ही देखने मे आता हैं और संगत भी वही प्रतीत होता है।

परन्तु यह पूर्वोक्त सद्भाव-प्रत्याख्यान प्रायः प्रतिरूपता में ही सम्भव हो सकता है, अतः अब प्रतिरूपता के विषय में कहते है –

पडिरूवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ लघुभूए। णं जीवे अप्पमत्ते, पागडलिंगे, पसत्थलिंगे, विसुद्धसम्मत्ते, सत्तसमिइसमत्ते, सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेसु वीससणिज्जरूवे, अप्पपडिलेहे, जिइंदिए, विउलतवसमिइसमन्नागए यावि भवइ ॥ ४२ ॥

प्रतिरूपतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रतिरूपतया लाघविकतां जनयति। लघुभूतश्च जीवोऽप्रमत्तः प्रकटलिङ्गः, प्रशस्तलिङ्गो विशुद्धसम्यक्त्वः, समाप्तसत्यसमितिः सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वेषु विश्वसनीयरूपोऽल्पप्रतिलेखो, जितेन्द्रियो, विपुलतपः, समितिसमन्वागतश्चापि भवति ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **पडिरूवयाए णं**–प्रतिरूपता से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है, **पडिरूवयाए णं**–प्रतिरूपता से, **लाघविय**–लाघवता को, **जणयइ**–प्राप्त करता है, **लघुभूए**–लघुभाव को प्राप्त हुआ, **जीवे**–जीव, **अप्पमत्ते**–प्रमाद-रहित, **पागडलिंगे**–प्रकटलिंग, **पसत्थलिंगे**–प्रशस्तलिग, **विसुद्धसम्मत्ते**–विशुद्ध सम्यक्त्व वाला, **सत्तसमिइसमत्ते**–सत्य समिति से युक्त–प्रतिपूर्ण, **सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेसु**–समस्त प्राणि, भूत, जीव और सत्त्व मे, **वीससणिज्जरूवे**–विश्वसनीयरूप, **अप्पपडिलेहे**–अल्प प्रतिलेखना वाला, **जिइंदिए**–जितेन्द्रिय, **विउलतवसमिइ**–विपुल तप और समिति से, **समन्नागए**–समन्वित, **भवइ**–होता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! प्रतिरूपता से किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–प्रतिरूपता से लघुभाव अर्थात् लघुता की प्राप्ति होती है। फिर लघुता को प्राप्त हुआ जीव, अप्रमत्त होकर प्रकट और प्रशस्त चिन्हों को धारण करता हुआ विशुद्ध-सम्यक्त्वी और सत्य-समिति वाला होकर सर्व प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों में विश्वस्त, अल्प प्रतिलेखना वाला और जितेन्द्रिय तथा विपुल तप और समिति से युक्त होता है, अर्थात् महाजितेन्द्रिय और विपुल तपस्वी होता है।

टीका–स्थविर-कल्पी मुनि की द्रव्य और भाव-पूर्ण आन्तरिक तथा बाह्य दशा को प्रतिरूपता कहते है। दूसरे शब्दो में प्रतिरूप का अर्थ आदर्श है, अर्थात् द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से शुद्ध जो स्थविर-कल्पी का वेष है उसको धारण करने वाला जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि स्थविर-कल्पादि के समान वेष धारण करने से अधिक उपकरणो का परित्याग करता हुआ जीव द्रव्य और भाव से लघुभूत अर्थात् हलका हो जाता है। द्रव्य से अल्प उपकरण वाला, भाव से अल्पकषायी और अप्रतिबद्धतायुक्त होता है। इस प्रकार लघुताप्राप्त जीव अप्रमत्त अर्थात् प्रमाद से रहित हो जाता है और प्रकट तथा प्रशस्त चिन्हों को धारण करके अर्थात् जीवरक्षा के निमित्त रजोहरणादि को धारण करके निर्मल सम्यक्त्व और समितियुक्त होकर समस्त जीवो का विश्वास-पात्र बन जाता है। जब कि उपकरण अल्प हो गए तथा प्रतिलेखना भी स्वल्प हो गई, अर्थात् प्रतिलेखना में जो अधिक समय लगता था उसमे कमी हो गई, प्रतिलेखना से बचे हुए समय को स्वाध्याय में लगाने से उसके ज्ञान मे और निर्मलता प्राप्त हो जाती है, उसके परिणाम-स्वरूप वह चारित्र की शुद्धि करता हुआ परम जितेन्द्रिय और विपुल तपस्वी बन जाता है।

साराश यह है कि अन्त.करण की विशुद्धि हो जाने पर भी बाह्य वेष की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योकि प्रकट और प्रशस्त साधुवेष इस जीव को कई प्रकार के अकार्यो से बचाए रखता है तथा सर्व प्राणियो का विश्वासपात्र हो जाने से अनेक भव्य जीव उसके उपदेश से सन्मार्ग मे प्रवृत्त हो जाते है। इस जीव के अप्रमत्त, जितेन्द्रिय और तपस्वी होने मे भी इसको [बाह्यवेष को] थोडे–बहुत अश मे कारणता प्राप्त होती है, इसलिए मुनियों को अपने मुनिवेष मे ही रहना उचित है।

यहा पर 'समिति' का पुन:-पुन: वर्णन उसकी प्रधानता द्योतनार्थ है, इसलिए पुनरुक्ति दोष की उद्‌भावना करनी युक्तिसगत नही।

'सत्तसमिइसम्मत्ते–समाप्तसत्त्वसमिति:'–यहां पर प्राकृत के कारण से ही क्त-प्रत्ययान्त का पर निपात हुआ है।

अब वैयावृत्य के विषय में कहते हैं –

वेयावच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ ॥ ४३ ॥

वैयावृत्येन भदन्त ! जीव: कि जनयति ?
वैयावृत्येन तीर्थङ्करनामगोत्रं कर्म निबध्नाति ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वय:–**भते**–हे भगवन्, **वेयावच्चेण**–वैयावृत्य से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या उपार्जन करता है, **वेयावच्चेणं**–वैयावृत्य से, **तित्थयरनामगोत्तं**–तीर्थङ्कर-नामगोत्र, **कम्मं**-कर्म को, **निबंधइ**–बांधता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! वैयावृत्य से यह जीव क्या उपार्जन करता है?

उत्तर–वैयावृत्य से यह जीव तीर्थंकर-नामगोत्र-कर्म को बांधता है।

टीका–स्थविरादि मुनियों की यथोचित सेवा का नाम वैयावृत्य है। इस वैयावृत्य अर्थात् नि:स्वार्थ सेवा-भक्ति से यह जीव किसी समय तीर्थंकर-नामगोत्र-कर्म का उपार्जन कर लेता है। सिद्धान्त मे वैयावृत्य का फल कर्मों की निर्जरा भी माना गया है।

अब सर्वगुणसम्पूर्णता के विषय में कहते हैं –

सव्वगुणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणराविंत्तिं जणयइ। अपुणरावित्तिं पत्तए य जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ ॥ ४४ ॥

सर्वगुणसम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सर्वगुणसम्पन्नतयाऽपुनरावृत्तिं जनयति। अपुनरावृत्तिं प्राप्तश्च जीवः शरीरमानसानां दुखानां नो भागी भवति ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वय.–**भंते**–हे भगवन्, **सव्वगुणसपन्नयाए णं**–सर्वगुणसपूर्णता से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या उपार्जन करता है, **सव्वगुणसंपन्नयाए णं**–सर्वगुणसपूर्णता से, **अपुणरावित्तिं**–अपुनरावृत्ति को, **जणयइ**–उपार्जन करता है, **य**–फिर, **अपुणरावित्तिं पत्तए णं**–अपुनरावृत्ति को प्राप्त हुआ, जीवे–जीव, **सारीरमाणसाणं**–शारीरिक और मानसिक, **दुक्खाणं**–दुक्खों का, **भागी**–भोगने वाला, **नो भवइ**–नही होता।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन् ! सर्वगुणसम्पन्नता से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–हे शिष्य ! सर्वगुण-सम्पन्नता से इस जीव को अपुनरावृत्ति-पद की प्राप्ति होती है और अपुनरावृत्तिपद को प्राप्त हुआ जीव शारीरिक और मानसिक सर्व प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।

टीका–सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र से सम्पन्न होना सर्वगुण सम्पन्नता है। इस प्रकार की सर्वगुण-सम्पन्नता अर्थात् सर्व गुणो की प्राप्ति कर लेने से इस जीव को क्या लाभ होता है? यह शिष्य का प्रश्न है।

इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि सर्वगुणसम्पन्नता से अपुनरावृत्ति का लाभ होता है। अपुनरावृत्ति को प्राप्त हुआ जीव सर्व प्रकार के दुःखो से रहित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मोक्षदशा को प्राप्त हो जाने पर न तो कोई कर्म शेष रहता है और न किसी प्रकार के दुःख का उपभोग करना पडता है।

अब वीतरागता के विषय में कहते हैं, यथा –

वीयरागयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ। मणुन्नामणुन्नेसु सद्द-फरिस-रूप-रस-गंधेसु सचित्ताचित्त-मीसएसु चेव विरज्जइ ॥ ४५ ॥

वीतरागतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वीतरागतया स्नेहानुबन्धनानि तृष्णानुबन्धनानि च व्युच्छिनत्ति। मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु सचित्ताचित्तमिश्रेषु चैव विरज्यते ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **वीयरागयाए ण**–वीतरागता से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या उपार्जन करता है। **वीयरागयाए णं**–वीतरागता से, **नेहाणुबंधणाणि**–स्नेह बन्धनों का, **य**–और, **तण्हाणुबंधणाणि**–तृष्णा के अनुबन्धनों का, **वोच्छिंदइ**–व्यवच्छेद करता है तथा **मणुन्नामणुन्नेसु**–मनोज्ञ और अमनोज्ञ, **सद्दफरिसरूवरसगंधेसु**–शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध मे, **सचित्ताचित्तमीसएसु**–सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यो मे, **च**–पुनः, **एव**–अवधारण अर्थ में है, **विरज्जइ**–विरक्त हो जाता है।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन् ! वीतरागता से किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–वीतरागता से स्नेहानुबन्ध तथा तृष्णानुबन्ध का व्यवच्छेद हो जाता है। फिर प्रिय और अप्रिय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों में उसका वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

टीका–वीतरागता की प्राप्ति से यह जीव स्नेह के बन्धनों को तोड देता है, अर्थात् पुत्रादि-विषयक उसका जो राग है वह जाता रहता है। इसके अतिरिक्त द्रव्यादिविषयक जो तृष्णा है उसका भी क्षय हो जाता है। इसीलिए प्रिय तथा अप्रिय जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और सचित्ताचित्त तथा मिश्र द्रव्य है उनसे वह विरक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष के क्षय हो जाने से उसकी किसी भी पदार्थ मे आसक्ति नही रह जाती और न ही उसके लिए कोई पदार्थ प्रिय अथवा अप्रिय होता है। यद्यपि वीतरागता का कथन पहले भी आ चुका है, तथापि राग की प्रधानता दर्शाने के लिए यह प्रश्न किया गया है। कारण यह है कि ससार मे सर्व प्रकार के अनर्थों का मूल यदि कोई है तो वह राग है। उसका दूर करना ही वीतरागता है, जो कि परमपुरुषार्थरूप मोक्षतत्त्व का साधक है।

अब क्षमा के विषय में कहते है –

खंतीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
खंतीए णं परीसहे जिणइ ॥ ४६ ॥

क्षान्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ?
क्षान्त्या परीषहान् जयति ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः–**भते**–हे भगवन्, **खतीए णं**–क्षमा से, **जीवे**–जीव, **कि जणयइ**–क्या उपार्जन करता है, **खंतीए ण**–क्षमा से, **परीसहे**–परीषहों को, **जिणइ**–जीतता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! क्षमा से जीव किस गुण की उपलब्धि करता है?

उत्तर–क्षमा से जीव परीषहों को जीतता है।

टीका–क्षमा धारण करने का फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! क्षमा से यह जीव

२२ परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है, तात्पर्य यह है कि समस्त अनर्थों के मूल कारण क्रोध को क्षमा के द्वारा जीत लेने पर सर्व प्रकार के परीषहों को जीता जा सकता है और क्षमावान् पुरुष का कोई शत्रु भी नहीं रहता।

अब मुक्ति के विषय में कहते हैं –

मुत्तीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जे भवइ ॥ ४७ ॥

मुक्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

मुक्त्याऽऽकिञ्चन्यं जनयति। अकिञ्चनश्च जीवोऽर्थलोलानां पुरुषाणामप्रार्थनीयो भवति ॥ ४७ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **मुत्तीए णं**–मुक्ति से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है, **मुत्तीए णं**–मुक्ति से, **अकिंचणं**–अकिचनता को, **जणयइ**–प्राप्त करता है, **य**–फिर, **अकिचणे**–अकिंचन, **जीवे**–जीव, **अत्थलोलाणं**–अर्थ के लोभी, **पुरिसाणं**–पुरुषों का, **अपत्थणिज्जे**–अप्रार्थनीय, **भवइ**–होता है।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन् ! मुक्ति अर्थात् निर्लोभता से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–मुक्ति अर्थात् निर्लोभता से इस जीव को अकिंचनभाव की प्राप्ति होती है, फिर अकिंचनभाव को प्राप्त हुआ जीव अर्थ के अर्थात् धन के लोभी पुरुषों का अप्रार्थनीय होता है, अर्थात् चोर, ठग आदि लोभी पुरुष उसके पीछे नहीं लगते।

टीका–प्रस्तुत प्रकरण मे मुक्ति का अर्थ निर्लोभता और अकिचनता परिग्रह-शून्यता है। जो पुरुष निर्लोभी होता है, वह अकिचन, अर्थात् परिग्रह-रहित होने से चौरादि के द्वारा किसी प्रकार का भी कष्ट नही भोगता। तात्पर्य यह है कि द्रव्यशून्य होने से उसको किसी प्रकार की चिन्ता नही रहती, जैसे कि धन के लोभी पुरुषो को रहती है।

अब आर्जवता के विषय में कहते हैं –

अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अज्जवयाए णं काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं, अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायण-संपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥ ४८ ॥

आर्जवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

आर्जवेन कायर्जुकतां, भावर्जुकतां, भाषर्जुकतां, अविसंवादनं जनयति। अविसंवादनसम्पन्नतया जीवो धर्मस्याराधको भवति ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **अज्जवयाए णं**–आर्जवता से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस

गुण को प्राप्त करता है, **अज्जवयाए णं**–आर्जवता से, **काउज्जुययं**–काया की ऋजुता अर्थात् अवक्रता, **भावुज्जुययं**–भाव की ऋजुता, **भासुज्जुययं**–भाषा की ऋजुता, **अविसंवायणं**–अविसंवादनता–छल क्रिया से रहितपना, **जणयइ**–उपार्जन करता है, **अविसंवायण-संपन्नयाए**–अविसंवादनता-संपन्न, **जीवे**-जीव, **धम्मस्स**–धर्म का, **आराहए**–आराधक, **भवइ**–होता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! ऋजुता–आर्जवभाव से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–ऋजुभाव से काया की ऋजुता अर्थात् अवक्रता, भाव की ऋजुता अर्थात् अवक्रता और भाषा की ऋजुता–अवक्रता तथा अविसवादपन की प्राप्ति होती है। फिर अविसंवादनता-सम्पन्न जीव धर्म का आराधक बन जाता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे आचार्य कहते हैं कि आर्जवता अर्थात् सरलता या निष्कपटता का सम्पादन करने वाला जीव काया से ऋजु, भाव से ऋजु और भाषा से ऋजु–अवक्र एवं सरल हो जाता है तथा अविसवादनता अर्थात् निश्छलता को प्राप्त करता है। अविसवादनभाव को प्राप्त हुआ जीव धर्म का आराधक–धर्म की प्राप्ति करने वाला होता है। कुब्जादि वेष का धारण करना, भ्रूविकारादि से लोगो को हसाना आदि काया की वक्रता है। मन मे कुछ और वाणी मे कुछ, यह भाव–सम्बन्धी वक्रता है। उपहास के लिए अन्य देशों की भाषा का व्यवहार में लाना भाषा की वक्रता है। इसी प्रकार अन्य लोगो के ठगने के निमित्त विलक्षण चेष्टाएं करना विसंवादनता है। जिस जीव ने ऋजुभाव को धारण किया है उसमे इन उपर्युक्त बातो का अभाव होता है, अर्थात् वह शरीर से ऋजु भाव से ऋजु और भाषा से भी ऋजु–सरल होता है। उसकी कोई भी चेष्टा कपटयुक्त नहीं होती। ऐसा ही मनुष्य धर्म का आराधक होता है तथा शुद्ध अध्यवसायी होने के कारण उसको जन्मान्तरो मे भी धर्म की प्राप्ति होती है।

अब मार्दव के विषय में फरमाते हैं –

मद्दवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्तेणं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ ॥ ४९ ।

मार्दवेन भदन्त ! जीव: किं जनयति ?

मार्दवेनानुत्सुकत्वं जनयति। अनुत्सुकत्वेन जीवो मृदुमार्दवसम्पन्नोऽष्टौ मदस्थानानि निष्ठापयति (क्षपयति) ॥ ४९ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **मद्दवयाए णं**–मार्दव अर्थात् मृदुभाव से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या उपार्जन करता है, **मद्दवयाए णं**–मार्दव से, **अणुस्सियत्तं**–अनुत्सुकता का, **जणयइ**–उपार्जन करता है, **अणुस्सियत्तेणं**–अनुत्सुकता से, **जीवे**–जीव, **मिउ**–मृदु, **मद्दव**–मार्दव से, **संपन्ने**–सयुक्त

होकर, **अट्ठ**—आठ, **मयट्ठाणाइं**—मदस्थानो को, **निट्ठावेइ**—विनाश कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! मार्दव—मृदुभाव से जीव किस गुण का उपार्जन करता है?

उत्तर—मार्दव से जीव अनुत्सुकता का उपार्जन करता है। अनुत्सुकता से मृदुमार्दव-सम्पन्न जीव मद के आठ स्थानों का क्षय कर देता है।

टीका—शिष्य पूछता है कि जो जीव मृदु अर्थात् द्रव्य और भाव से कोमल-स्वभाव वाला है उसको क्या लाभ होता है? इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि मृदुता से इस जीव को अनुत्सुकता—अनुद्धता (अभिमान से, चपलता से राहित्य) की प्राप्ति होती है। अनुद्धता से मृदुता को प्राप्त करके वह जीव जाति, कुल, रूप, तप, ज्ञान, ऐश्वर्य और लाभ, इन आठ प्रकार के मद-स्थानो का नाश कर देता है।

अब भाव-सत्य के विषय में कहते है —

भावसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए भवइ ॥ ५० ॥

भावसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

भावसत्येन भावविशुद्धिं जनयति। भावविशुद्धौ वर्तमानो जीवोऽर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनायै अभ्युत्तिष्ठते। अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनाय अभ्युत्थाय परलोकधर्मस्याराधको भवति ॥ ५० ॥

पदार्थान्वयः—**भंते**—हे भगवन्, **भावसच्चेणं**—भाव-सत्य से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस गुण का उपार्जन करता है, **भावसच्चेणं**—भाव सत्य से, **भावविसोहिं**—भाव विशुद्धि का **जणयइ**—उपार्जन करता है, **भावविसोहीए**—भावविशुद्धि मे, **वट्टमाणे**—प्रवर्तमान, **जीवे**—जीव, **अरहंतपन्नत्तस्स**—अर्हन्त के प्रतिपादन किए हुए, **धम्मस्स**—धर्म की, **आराहणयाए**—आराधना के लिए, **अब्भुट्ठेइ**—उद्यत होता है, **अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए**—अर्हन्त-प्रणीत धर्म की आराधना मे, **अब्भुट्ठित्ता**—उत्थित होकर, **परलोगधम्मस्स**—परलोको मे धर्म का, **आराहए**—आराधक, **भवइ**—होता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! भावसत्य से किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर—भावसत्य से भाव की विशुद्धि होती है, भावविशुद्धि मे प्रवृत्त हुआ जीव अरिहन्तदेव-प्रणीत धर्म की आराधना के लिए उद्यत होता है। अरिहन्तदेव-प्ररूपित धर्म की आराधना के लिए उद्योग करने वाला जीव परलोक में धर्म का आराधक बनता है। तात्पर्य यह है कि वह लोक-परलोक दोनों को ही सिद्ध कर सकता है।

टीका—भावसत्य अर्थात् शुद्धान्तःकरण से भाव की शुद्धि होती है, अर्थात् जीवात्मा के अध्यवसाय शुद्ध हो जाते है। भावों की शुद्धि हो जाने पर अरिहन्तदेव के प्रतिपादन किए हुए धर्म की

आराधना में यह जीव प्रवृत्त हो जाता है और उक्त धर्म की आराधना इस जीव को परलोक में भी धर्म की प्राप्ति करा देती है, अर्थात् जन्मान्तर मे भी वह धर्म का आराधक होता है। यही भावसत्य के अनुष्ठान का फल है।

अब करण-सत्य के विषय में कहते हैं –

करणसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ ॥ ५१ ॥

करणसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

करणसत्येन करणशक्तिं जनयति। करणसत्ये वर्तमानो जीवो यथावादी तथाकारी चापि भवति ॥ ५१ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **करणसच्चेणं**–करणसत्य से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या उपार्जन करता है, **करणसच्चेणं**–करणसत्य से, **करणसत्तिं**–करणशक्ति का, **जणयइ**–उपार्जन करता है, **करणसच्चे**–करणसत्य मे, **वट्टमाणे**–प्रवर्तमान, **जीवे**–जीव, **जहावाई**–जैसे कहता है, **तहाकारी**–उसी प्रकार करने वाला, **यावि**–भी, **भवइ**–होता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! करणसत्य से अर्थात् सत्यप्रवृत्ति से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–करण-सत्य से जीव सत्य-क्रिया करने की शक्ति प्राप्त करता है तथा करणसत्य में प्रवृत्त हुआ जीव जैसे कहता है वैसे ही करता भी है।

टीका–करणसत्य के फलविषयक किए गए प्रश्न के उत्तर मे आचार्य कहते है कि करणसत्य के द्वारा इस जीव में क्रिया-कलाप के करने की शक्ति उत्पन्न होती है और करण-सत्य मे प्रवृत्ति करने वाला जीव जिस प्रकर सूत्रोक्त उपदेश करता है उसी प्रकार वह क्रिया करने वाला भी होता है। तात्पर्य यह है कि प्रतिलेखनादि क्रियाओ का जिस प्रकार से आगम मे उल्लेख किया गया है उनका करण शक्ति के प्रभाव से सम्यक्तया अनुष्ठान करता हुआ उन क्रियाओ का अपने उपदेश के अनुसार ही यथाविधि पालन करता है, अर्थात् उसका उपदेश और आचरण दोनो समान होते है। वह जैसा कहता है वैसा ही करता है।

अब योगसत्य के विषय में कहते हैं –

जोगसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ ॥ ५२ ॥

योगसत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?
योगसत्येन योगान् विशोधयति ॥ ५२ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **जोगसच्चेणं**–योगसत्य से, **जीवे**–जीव, **कि जणयइ**–क्या प्राप्त करता है? **जोगसच्चेणं**–योगसत्य से, **जोगं विसोहेइ**–योगो की शुद्धि करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! योग-सत्य से किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–हे शिष्य ! योगसत्य अर्थात् सत्ययोग से योगों की विशुद्धि होती है।

टीका–मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का नाम योग है। सत्ययोग प्राप्त होने पर मन, वचन और शरीर के व्यापार शुद्ध हो जाते है।

अब मनोगुप्ति के विषय में कहते हैं –

मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्तेणं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ॥ ५३ ॥

मनोगुप्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

मनोगुप्त्या जीव ऐकाग्रयं जनयति। एकाग्रचित्तेन जीवो मनोगुप्तः संयमाराधको भवति ॥ ५३ ॥

पदार्थान्वय.–**भंते**–हे भगवन्, **मणगुत्तयाए णं**–मनोगुप्ति से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण का उपार्जन करता है? **मणगुत्तयाए णं**–मनोगुप्ति से, **जीवे**–जीव, **एगग्गं**–एकाग्रता की, **जणयइ**–प्राप्ति करता है, **एगग्गचित्तेणं**–एकाग्रचित्त से, **जीवे**–जीव, **मणगुत्ते**–गुप्त मन वाला, **संजमाराहए**–संयम का आराधक, **भवइ**–होता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! मनोगुप्ति से जीव को क्या फल प्राप्त होता है?

उत्तर–हे भद्र ! मनोगुप्ति से चित्त की एकाग्रता होती है और एकाग्र मन वाला जीव संयम का आराधक होता है।

टीका–चित्त की एकाग्रता मनोगुप्ति का फल है और चित्त की एकाग्रता से सयम की आराधना होती है, अत. परम्परया संयम का सम्यक् प्रकार से आराधक होना मनोगुप्ति का फल है। जिस समय सत्य-मनोयोग, असत्य-मनोयोग, मिश्र-मनोयोग और व्यवहार-मनोयोग, इन चारो योगो का निरोध किया जाता है, तब मनोगुप्ति कही जाती है, अत: उक्त प्रकार के चारो योगो का निरोध करना ही मनोगुप्ति है। अपि च–जो लोग अशुभ मनोयोग के निरोध को मनोगुप्ति कहते है, उनका कथन युक्ति-युक्त न होने से अप्रामाणिक है, क्योंकि इस प्रकार के निरोध को मन.प्रतिसंलीनता कहा गया है। गुप्तियों का सांगोपाग वर्णन गत २४वे अध्ययन में हो चुका है।

अब वाग्गुप्ति के विषय में कहते है –

वयगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वयगुत्तयाए णं निव्विकारत्तं जणयइ। निव्विकारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ ॥ ५४ ॥

वाग्गुप्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वाग्गुप्त्या निर्विकारत्वं जनयति। निर्विकारो हि जीवो वाग्गुप्तोऽध्यात्मयोगसाधनयुक्तश्चापि भवति ॥ ५४ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **वयगुत्तयाए णं**–वचन-गुप्ति से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या प्राप्त करता है? **वयगुत्तयाए णं**–वचनगुप्ति से **निव्विकारत्तं**–निर्विकारता की, **जणयइ**–प्राप्ति होती है, **निव्विकारे णं**–निर्विकारी, **जीवे**–जीव, **वइगुत्ते**–वचनगुप्त और, **अज्झप्पजोग-साहणजुत्ते**–अध्यात्म-योग-साधना में युक्त, **यावि**–भी, **भवइ**–होता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे पूज्य ! वचनगुप्ति से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–वचन-गुप्ति से जीव को निर्विकारत्व-निर्विकारभाव की प्राप्ति होती है और निर्विकारी जीव वचन से गुप्त होने के अतिरिक्त अध्यात्मयोग के साधन से भी युक्त होता है।

टीका–शिष्य पूछता है कि पूज्य ! वचन सयम से जीव को क्या फल प्राप्त होता है? गुरु उत्तर देते है कि वचन का सयम करने से यह जीव निर्विकारी अर्थात् विकाररहित हो जाता है, अर्थात् वचन के द्वारा जो विकार-क्लेश उत्पन्न होते है वे सब दूर हो जाते है। निर्विकारी होने से जीव अध्यात्मयोग के साधनों से युक्त हो जाता है, अथवा यो कहिए कि अध्यात्मयोग-साधनो द्वारा वचन-सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। वचनयोग के सम्यक् निरोध का नाम वचनगुप्ति है, फिर वह योग चाहे प्रशस्त हो चाहे अप्रशस्त।

अब कायगुप्ति के सम्बन्ध में कहते हैं –

कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

कायगुत्तयाए संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ॥ ५५ ॥

कायगुप्त्या भदन्त ! जीव. किं जनयति ?

कायगुप्त्या संवरं जनयति। संवरेण कायगुप्तः पुनः पापास्त्रवनिरोधं करोति ॥ ५५ ॥

पदार्थान्वय.–**भंते**–हे भगवन्, **कायगुत्तयाए ण**–कायगुप्ति से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है, **कायगुत्तयाए**–कायगुप्ति से, **संवरं**–सवर की, **जणयइ**–उपलब्धि होती है, **संवरेण**–संवर के द्वारा, **कायगुत्ते**–कायगुप्ति वाला जीव, **पुणो**–फिर, **पावासवनिरोहं**–पापास्त्रव का निरोध, **करेइ**–करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! कायगुप्ति से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–कायगुप्ति से जीव मंवर को प्राप्त करता है और संवर के द्वारा कायगुप्ति वाला जीव सर्व प्रकार के पापास्त्रवों का निरोध कर देता है।

टीका–कायिक व्यापार के निरोध का नाम कायगुप्ति है। इसका फल संवरत्व की प्राप्ति है अर्थात्

कायगुप्ति से यह जीव संवरत्व को प्राप्त करता है और उसके द्वारा पापास्रवों–पाप के मार्गों–का निरोध करता है अर्थात् पाप के प्रवाह को रोक देता है। यद्यपि यहां पर वृत्तिकारों ने 'संवरं जणयइ–संवर जनयति' का 'अशुभयोगनिरोधरूपं जनयति' ऐसा अर्थ किया है, परन्तु यह अर्थ मनोयोग-प्रतिसलीनतादि मे संघटित हो सकता है। गुप्तियों में नहीं।

यदि ऐसा कहें कि सूत्र में पापास्रव का निरोध लिखा है, उसमे पुण्य शब्द का प्रयोग नही किया गया, इससे अशुभ योग का निरोध ही सिद्ध होता है। यह कथन भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि निश्चय मे, पुण्य और पाप दोनों ही आस्रवरूप हैं। अत: बन्ध का कारण होने स दोनो ही पापरूप है। पुण्य और पाप के जो दो भेद हैं वे केवल व्यवहार को लेकर हैं। जैसे 'वीतराग' इस पद में राग के साथ द्वेष का भी ग्रहण किया जाता है तथा राग के दूर होने से द्वेष भी दूर हो जाता है। इसी प्रकार पाप के साथ पुण्य का भी ग्रहण हो जाता है, अर्थात् पापास्रव के निरोध मे पुण्यास्रव का निरोध भी हो जाता है, इसलिए गुप्ति मे निरोध ही प्रधान है।

अब मन के समाधारण का फल वर्णन करते हैं, यथा –

मणसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मणसमाहारणयाए एगग्गं जणयइ। एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ। नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं च निज्जरेइ ॥ ५६ ॥

मन:समाधारणया भदन्त ! जीव: किं जनयति ?

मन:समाधारणयैकाग्र्यं जनयति। ऐकाग्र्यं जनयित्वा ज्ञानपर्यवान् जनयति। ज्ञानपर्यवान् जनयित्वा सम्यक्त्वं विशोधयति, मिथ्यात्वञ्च निर्जरयति ॥ ५६ ॥

पदार्थान्वय·–**भंते**–हे भगवन्, **मणसमाहारणयाए णं**–मन के समाधारण से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या प्राप्त करता है, **मणसमाहारणयाए**–मन के समाधारण से, **एगग्गं**–एकाग्रता की, **जणयइ**–प्राप्ति होती है, **एगग्गं जणइत्ता**–एकाग्रता को प्राप्त करके, **नाणपज्जवे**–ज्ञान-पर्यायो का, **जणयइ**–उपार्जन करता है, **नाणपज्जवे जणइत्ता**–ज्ञानपर्यवों को प्राप्त करके, **सम्मत्तं**–सम्यक्त्व की, **विसोहेइ**–विशुद्धि करता है, **च**–और, **मिच्छत्तं**–मिथ्यात्व की, **निज्जरेइ**–निर्जरा करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! मन के समाधारण (समाधि में स्थापित करने) से जीव किस गुण को प्राप्त करता है ?

उत्तर–हे भद्र ! मन की समाधारणा से एकाग्रता की प्राप्ति होती है, एकाग्रता को प्राप्त करके यह जीव ज्ञान के पर्यायों को प्राप्त करता है। ज्ञान के पर्यायों को प्राप्त करने के अनन्तर सम्यक्त्व की शुद्धि तथा मिथ्यात्व को क्षय करता है।

टीका–शिष्य पूछता है कि हे भगवन् । मन की समाधारणा अर्थात् जिन-प्रवचन के अनुसार मन को समाधि में स्थापित करने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है ? तब गुरु उत्तर देते हैं कि हे भद्र ! मन की समाधि से एकाग्रता की प्राप्ति होती है और जब एकाग्रता की प्राप्ति हो गई, तब यह

जीव ज्ञान के पर्यायों को प्राप्त करता है, अर्थात् मति, श्रुत आदि ज्ञानो को तथा ज्ञान की अन्य शक्तियो को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि उसका ज्ञान अति निर्मल हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान के पर्यायो को प्राप्त करके यह जीव सम्यक्त्व को विशुद्ध कर लेता है, क्योंकि ज्ञान के निर्मल होने से उसके अन्तःकरण में शका आदि दोषो की उत्पत्ति नहीं होती एव सम्यक्त्व की विशुद्धि-निर्मलता होने पर मिथ्यात्व का क्षय अवश्यम्भावी है, इसलिए वह जीव सम्यक्त्व की विशुद्धि के साथ ही मिथ्यात्व का विनाश भी कर डालता है।

अब वचन की समाधारणा के विषय में कहते हैं –

वयसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वयसमाहारणयाए वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ। वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहित्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ, दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ ॥ ५७ ॥

वाक्समाधारणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वाक्समाधारणया वाक्साधारण-दर्शनपर्यवान् विशोधयति। वाक्साधारणदर्शनपर्यवान् विशोध्य सुलभबोधिकत्वं निर्वर्तयति, दुर्लभबोधिकत्वं निर्जरयति ॥ ५७ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **वयसमाहारणयाए**–वचनसमाधारण से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है ? **वयसमाहारणयाए**–वाक्-समाधारण से, **वयसाहारण**–वचन-साधारण, **दंसणपज्जवे**–दर्शन पर्यायो की, **विसोहेइ**–विशुद्धि करता है, **वयसाहारण-दंसणपज्जवे**–वचन-साधारण-दर्शनपर्यायों को, **विसोहित्ता**–विशुद्ध करके, **सुलहबोहियत्त**–सुलभबोधि कत्व अर्थात् सुलभ बोधिपन को, **निव्वत्तेइ**–सम्पादन करता है, **दुल्लहबोहियत्तं**–दुर्लभ बोधिपन की, **निज्जरेइ**–निर्जरा करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! वचन-समाधारण से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–हे भद्र ! वाक्-समाधारण से वचन-साधरण-दर्शन-पर्यायों की विशुद्धि करके सुलभ बोधिभाव की प्राप्ति और दुर्लभ बोधिभाव की निर्जरा हो जाती है।

टीका–सदैवकाल स्वाध्याय में वचनयोग का स्थापन करना वचन-समाधारण है। शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! वचनयोग की निरन्तर स्वाध्याय में स्थापना करने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है? इसका उत्तर देते हुए गुरु कहते है कि हे शिष्य ! वचनयोग को स्वाध्याय मे लगाने से अथवा वचनयोग का सम्यक् व्यापार करने से दर्शन के पर्यायों की विशुद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय करने और सम्यक्त्व के भेदो का बार-बार निर्वचन करने से इस जीव का सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। कारण यह है कि द्रव्यानुयोग के सतत अभ्यास से सम्यक्त्व को मलिन करने वाले शंका आदि समस्त दोष दूर हो जाते हैं और उसमें निर्मलता आ जाती है। इस प्रकार जब इस जीव का सम्यक्त्व निर्मल हो गया तब उसको सुलभ बोधिपने की प्राप्ति हो जाती है और दुर्लभ बोधिपना उसका विनष्ट हो जाता है। सुलभ-बोधि-जीव को भवान्तर में सत्य धर्म की प्राप्ति अवश्य होती है।

अब काय-समाधारण के विषय में कहते हैं –

कायसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

कायसमाहारणयाए चरित्तपज्जवे विसोहेइ। चरित्तपज्जवे विसोहित्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ। अहक्खायचरित्तं विसोहित्ता चत्तारि कम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ ५८ ॥

कायसमाधारणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

कायसमाधारणया चारित्रपर्यवान्विशोधयति। चारित्रपर्यवान्विशोध्य यथाख्यातचारित्र विशोधयति। यथाख्यातचारित्रं विशोध्य चतुरः कर्मांशान् क्षपयति। ततःपश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदु.खानामन्तं करोति ॥ ५८ ॥

पदार्थान्वय--**भंते**–हे भगवन्, **कायसमाहारणयाए णं**–काय-समाधारण से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या उपार्जन करता है? **कायसमाहारणयाए णं**–काय-समाधारण से, **चरित्तपज्जवे**–चारित्र के पर्यायो की, **विसोहेइ**–विशुद्धि करता है, **चरित्तपज्जवे**–चारित्रपर्यायों को, **विसोहित्ता**–विशुद्ध करके, **अहक्खायचरित्तं**–यथाख्यातचारित्र की, **विसोहेइ**–विशुद्धि करता है, **अहक्खायचरित्त**–यथाख्यातचारित्र की, **विसोहित्ता**–विशुद्धि करके, **चत्तारि**–चार, **कम्मंसे**–कर्माशो का, **खवेइ**–क्षय करता है, **तओ पच्छा**–तत्पश्चात्, **सिज्झइ**–सिद्ध होता है, **बुज्झइ**–बुद्ध होता है, **मुच्चइ**–मुक्त हो जाता है, **परिनिव्वायइ**–परम शाति को प्राप्त होता है, **सव्वदुक्खाणं**–सर्व दु:खो का, **अंत करेइ**–अन्त कर देता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! कायसमाधारणा से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–काय-समाधारणा से जीव चारित्र के पर्यायों की विशुद्धि करता है, चारित्र-पर्यायों को विशुद्ध करके यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि करता है एवं यथाख्यातचारित्र के विशोधन से चारों अघाति कर्मों का क्षय करता है। तदनन्तर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परम शांति को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार के दु:खों का अन्त अर्थात् सर्वथा नाश कर देता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे काय-सयम का फल वर्णन किया गया है। संयम-योग में शरीर को स्थापना करना काय-समाधारणा है। इसके सतत अभ्यास से जीव को चारित्र-पर्यायो के विशोधन का अवसर प्राप्त होता है, अर्थात् इससे क्षयोपशमरूप चारित्र-भेदों को विशुद्ध कर लेता है। तात्पर्य यह है कि उन्मार्गप्रवृत्ति के निरोध होने से उनकी शुद्धि हो जाती है। चारित्र-पर्यायों के विशुद्ध होने से यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि हो जाती है। तदनन्तर चारों अघाती-कर्मों का क्षय करके यह जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् अपनी समस्त शक्तियों का विकास करता हुआ सर्व दु:खो का अन्त करके परम निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

अब ज्ञान-सम्पन्नता के विषय में कहते हैं –

नाणसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरंते संसारकंतारे न विणस्सइ।

जहा सूई ससुत्ता पडियावि न विणस्सइ।

तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ ॥

नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ, ससमय-परसमय-विसारए य असंघायणिज्जे भवइ ॥ ५९ ॥

ज्ञानसम्पन्नतया भदन्त ! जीव. किं जनयति ?

ज्ञानसम्पन्नतया जीवः सर्वभावाभिगमं जनयति। ज्ञानसम्पन्नो हि जीवश्चतुरन्ते संसारकान्तारे न विनश्यति।

यथा सूची ससूत्रा पतिताऽपि न विनश्यति।

तथा जीव. ससूत्रः संसारे न विनश्यति ॥

ज्ञानविनयतपश्चारित्रयोगान् सम्प्राप्नोति, स्वसमय-परसमय-विशारदश्चासंघातनीयो भवति ॥ ५९ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **नाणसंपन्नयाए णं**–ज्ञान-सम्पन्नता से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या प्राप्त करता है? **नाणसंपन्नयाए णं**–ज्ञान सम्पन्नता से, **सव्वभावाहिगमं**–सर्व भावो के अधिगम अर्थात् बोध को, **जणयइ**–प्राप्त करता है, **नाणसपन्ने ण**-ज्ञानसपन्न, **जीवे**–जीव, **चाउरंते**–चतुर्गतिरूप, **ससारकंतारे**–ससार-कान्तार मे **न विणस्सइ**–विनाश को प्राप्त नही होता। **जहा**–जैसे, **सूई**–सूची, **ससुत्ता**–सूत्रयुक्त, **पडियावि**-गिरी हुई भी, **न विणस्सइ**–नष्ट नही होती, **तहा**–उसी प्रकार, **जीवे**–जीव, **ससुत्ते**–श्रुतयुक्त होकर, **संसारे**–संसार मे, **न विणस्सइ**--विनाश को प्राप्त नहीं होता, अपितु, **नाणविणयतवचरित्तजोगे**–ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योग को, **सपाउणइ**–सम्प्राप्त करता है, **ससमय**–स्वसमय–स्वमत, **य**–और, **परसमय**–परसमय–परमत का, **विसारए**–विशारद होकर, **असंघायणिज्जे**–माननीय पुरुष, **भवइ**–होता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! ज्ञान-सम्पन्नता से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–हे भद्र ! ज्ञान-सम्पन्नता से इस जीव को सर्व भावों अर्थात् पदार्थों का बोध हो जाता है। ज्ञानसम्पन्न जीव चार गतिरूप संसार-कान्तार अर्थात् वन में विनाश को प्राप्त नहीं होता। जैसे डोरे के साथ गिरी हुई सूई खोई नहीं जाती, उसी प्रकार श्रुतज्ञान से युक्त जीव भी संसार में विनाश को प्राप्त नहीं होता, किन्तु ज्ञान, विनय, तप और चारित्रयोग को प्राप्त कर लेता है। फिर स्व और पर-मत का ज्ञाता होकर वह प्रामाणिक पुरुष हो जाता है।

टीका–शिष्य ने पूछा कि भगवन् ! ज्ञान-सम्पन्न आत्मा को क्या लाभ होता है? इसके उत्तर मे

गुरु कहते हैं कि वत्स ! ज्ञानसम्पन्न आत्मा सर्व पदार्थों के रहस्य को जान लेती है तथा चतुर्गतिरूप ससार-अटवी में इतस्ततः भटकती हुई विनाश को प्राप्त नहीं होती, अर्थात् ससाररूप महा जंगल मे खोई नही जाती। इस पर दृष्टान्त देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जैसे डोरे से युक्त सुई खोई नहीं जाती, अर्थात् जिस सुई के साथ डोरा लगा हुआ है वह यदि कचरे में गिर भी जाए तो ढूंढ़ने पर जल्दी ही मिल जाती है, उसी प्रकर श्रुत-ज्ञान से युक्त जीव भी इस संसार में भटकने से बच जाता है, अर्थात् इस संसार-अटवी से पार हो जाता है, क्योकि श्रुत-ज्ञान उसको समय-समय पर मार्ग दर्शाता रहता है।

इसके अतिरिक्त वह ज्ञान, विनय, तप और चारित्र योग को प्राप्त करके स्वपर-मत का विज्ञ होकर प्रामाणिक पुरुष बन जाता है। तात्पर्य यह है कि दोनो मतो का जानकार होने से वह जिज्ञासु जनों के सशयों को दूर करने मे विशिष्ट प्रभाव रखने वाला हो जाता है। अतएव सब लोग उसको सम्मान की दृष्टि से देखते है।

अब दर्शन सम्पन्नता के विषय में कहते हैं।

दंसण-संपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ। परं न विज्झायइ। परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥ ६० ॥

दर्शनसम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

दर्शनसम्पन्नतया भवमिथ्यात्वच्छेदनं करोति। परं न विध्यापयति। परमविध्यापयन्ननुत्तरेण ज्ञानदर्शनेनात्मानं संयोजयन् सम्यग् भावयन् विहरति ॥ ६० ॥

पदार्थान्वयः–दंसण-सपन्नयाए णं–दर्शन-सम्पन्नता से, **भंते**–हे भगवन्, **जीवे**–जीव, **कि जणयइ**–क्या गुण प्राप्त करता है, **दंसण–सपन्नयाए**–दर्शन-सपन्नता से, **भवमिच्छत्तछेयणं**–भव का हेतु जो मिथ्यात्व है उसका छेदन, **करेइ**–करता है, **परं**–उत्तर काल मे, **न विज्झायइ**–ज्ञान के प्रकाश का अभाव नही होता, **परं**–उत्तर काल मे, **अविज्झाएमाणे**–प्रकाश के विद्यमान होने से, **अणुत्तरेणं**–प्रधान, **नाण**–ज्ञान, **दंसणेणं**–दर्शन से, **अप्पाण**–आत्मा को, **संजोएमाणे**–जोडता हुआ, **सम्म**–सम्यक्, **भावेमाणे**–भावित करता हुआ, **विहरइ**–विचरता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! दर्शन-सम्पन्न जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–हे भद्र ! दर्शन-सम्पन्न जीव क्षायिक-दर्शन को प्राप्त करता है जो कि संसार के हेतु मिथ्यात्व का सर्वथा उच्छेद कर देने वाला है। फिर उत्तर काल में उसके दर्शन का प्रकाश बुझता नहीं, किन्तु उस दर्शन के प्रकाश से युक्त हुआ जीव अपने अनुत्तर ज्ञान-दर्शन से आत्मा का संयोजन करता है तथा सम्यक् प्रकार से उसे भावित करता हुआ विचरण करता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में दर्शन-सम्पत्ति का फल बताया गया है। शिष्य पूछता है कि भगवन् ! क्षायोपशमिक दर्शन-सम्यक्त्व से इस जीव को क्या लाभ होता है? उत्तर में गुरु कहते हैं कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्च से युक्त जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इस सम्यक्त्व को प्राप्त कर

लेने से वह संसार के हेतुभूत अर्थात् जन्म-मरण परम्परा के कारणभूत मिथ्यात्व का सर्वथा नाश कर देता है। उसका यह ज्ञान-दर्शन-सम्बन्धी प्रकाश फिर बुझता नहीं। वह उत्कृष्ट ज्ञान को तो उसी भव में और अधिक से अधिक तीसरे भव में तो केवल-ज्ञान को भी अवश्य प्राप्त कर लेता है तथा अनुत्तर-ज्ञान-दर्शन से अपनी आत्मा को जोडता हुआ, अर्थात् हर समय पर-अपर पदार्थों में उपयोग का सघटन करता हुआ और सम्यक् प्रकार से आत्मा का आत्मा के द्वारा अनुप्रेक्षण करता हुआ भवस्थ केवली होकर विचरता है।

अब चारित्र-सम्पन्नता के विषय में कहते हैं –

चरित्तसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि कम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ ६१ ॥

चारित्रसम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

चारित्रसम्पन्नतया शैलेशीभाव जनयति। शैलेशीं प्रतिपन्नश्चाऽनगारश्चतुरः कर्मांशान् क्षपयति। तत. पश्चात्सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदु.खानामन्तं करोति ॥ ६१ ॥

पदार्थान्वयः–चरित्तसंपन्नयाए णं–चारित्र-सम्पन्नता से, **भंते**–हे पूज्य, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है, **चरित्तसंपन्नयाए णं**–चारित्र-सम्पन्नता से, **सेलेसीभाव**–मेरु के समान स्थिरता को, **जणयइ**–प्राप्त करता है, **सेलेसिं**–शैलेशीभाव को, **पडिवन्ने**–प्राप्त हुआ, **अणगारे**–अनगार, **चत्तारि**–चार, **कम्मंसे**–कर्मांशो का, **खवेइ**–क्षय कर देता है, **तओ पच्छा**–तत्पश्चात्, **सिज्झइ**–सिद्ध होता है, **बुज्झइ**–बुद्ध होता है, **मुच्चइ**–बन्धन से मुक्त हो जाता है, **परिनिव्वायइ**--शीतलीभूत होता है, **सव्वदुक्खाणं**–सर्व दु.खों का, **अंतं करेइ**–अन्त कर देता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! चारित्र-सम्पन्नता से इस जीव को क्या फल प्राप्त होता है?

उत्तर–हे शिष्य ! चारित्र-सम्पन्नता से इस जीव को शैलेशीभाव की प्राप्ति होती है। शैलेशी-भाव-प्रतिपन्न जीव चारों अघाती कर्मांशों को क्षय कर देता है, तदनन्तर वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परम शांति को प्राप्त करता हुआ सर्व प्रकार के दु.खों का अन्त कर देता है।

टीका–शैल का अर्थ है पर्वत, उसका ईश अर्थात् स्वामी, शैलेश कहलाता है। तात्पर्य यह है कि शैलेश का अर्थ मेरु पर्वत हे, उसके समान योगो के निरोध करने मे जो आत्मा स्थिरता अर्थात् धैर्य रखने वाली हो उसको भी शैलेश कहते है। इस अवस्था की प्राप्ति ही शैलेशीभाव है, उसको प्राप्त होने वाला जीव वेदनीयादि चारो अघाति-कर्मप्रकृतियो का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परम निर्वाणपद को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति कर देता है। सारांश यह है कि पूर्णरूप से चारित्र की प्राप्ति करने वाला जीव तीनों योगों का विधि-पूर्वक निरोध करता हुआ मेरु की तरह

अकम्पावस्था को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् फिर वह किसी से कम्पायमान नही हो सकता। इस शैलेशीभाव का फल मोक्षपद की प्राप्ति है।

अब इन्द्रियों के विषय का प्रस्ताव करते हुए प्रथम श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध में कहते हैं यथा –

सोइंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सोइंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६२ ॥

श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति। तत्प्रत्ययं (रागद्वेषोत्पन्न) कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥ ६२ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **सोइंदियनिग्गहेणं**–श्रोत्र-इन्द्रिय के निग्रह से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण की प्राप्ति करता है, **सोइंदियनिग्गहेणं**–श्रोत्र-इन्द्रिय के निग्रह से, **मणुन्नामणुन्नेसु**–मनोज्ञामनोज्ञ, **सद्देसु**–शब्दो में, **रागदोस**–रागद्वेष के, **निग्गहं**–निग्रह को, **जणयइ**–प्राप्त करता है, **च**–फिर, **तप्पच्चइयं**–तत्प्रत्यायक, **कम्मं**–कर्म को, **न बधइ**–नहीं बाधता, **च**–और, **पुव्वबद्धं**–पूर्व में बांध हुए की, **निज्जरेइ**–निर्जरा कर देता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! श्रोत्र-इन्द्रिय के निग्रह से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–श्रोत्र-इन्द्रिय के निग्रह से प्रिय और अप्रिय शब्दो में राग-द्वेष का निग्रह हो जाता है, फिर तन्निमित्तक कर्मों का बन्ध नहीं होता और पूर्व में बांधे हुए कर्मो की निर्जरा हो जाती है।

टीका–श्रोत्र-इन्द्रिय का निग्रह कर लेने से इस जीव की शब्दविषयक राग-द्वेष की परिणति का निरोध हो जाता है, तात्पर्य यह है कि उसको शब्द की प्रियता में राग और अप्रियता में द्वेष नही रह जाता, इसलिए राग-द्वेष-जन्य जो कर्मबन्ध है, उसका भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार राग-द्वेष का निग्रह होने से पूर्वसंचित कर्मो का भी विनाश हो जाता है।

अब चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह के विषय में कहते हैं –

चक्खिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? ।

चक्खिंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६३ ॥

चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रूपेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति। तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति।

पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥ ६३ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **चक्खिदियनिग्गहेणं**–चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से, **जीवे**-जीव, **किं जणयइ**–क्या प्राप्त करता है? **चक्खिंदियनिग्गहेणं**–चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से, **मणुन्नामणुन्नेसु**–मनोज्ञामनोज्ञ, **रूवेसु**–रूपों में, **रागदोसनिग्गहं**–राग-द्वेष के निग्रह को, **जणयइ**–प्राप्त करता है, **च**–फिर, **तप्पच्चइयं**–तन्निमित्तक, **कम्मं**–कर्म को, **न बंधइ**–नही बाधता, **पुव्वबद्धं**–पूर्वसचित कर्मो की, **निज्जरेइ**–निर्जरा कर देता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से प्रिय और अप्रिय रूप में राग-द्वेष का निग्रह हो जाता है। फिर रागद्वेष-निमित्तक कर्मो का बन्ध नही होता और पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा अर्थात् क्षय हो जाता है।

टीका–जब प्रिय और अप्रिय रूप के देखने स अन्तःकरण में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नही होते, तब रूपनिमित्तक कर्मो का भी वह जीव बन्ध नही करता और समपरिणामी होने से पूर्वसचित कर्मो का भी विनाश कर देता है।

अब घ्राणेन्द्रिय के निग्रह के विषय मे कहते हैं –

घाणिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

घाणिंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु गंधेसु रागदोस-निग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६४ ॥

घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीव. कि जनयति ?

घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु गन्धेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति। तत्प्रत्ययिक कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥ ६४ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **घाणिदियनिग्गहेण**–घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–क्या उपार्जन करता है, **घाणिंदियनिग्गहेणं**–घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह स, **मणुन्नामणुन्नेसु**–मनोज्ञामनोज्ञ, **गंधेसु**–गधो मे, **रागदोस-निग्गहं**–रागद्वेष के निग्रह को, **जणयइ**–प्राप्त करता है, **तप्पच्चइय**–तत्प्रत्ययिक–तन्निमित्तक, **कम्मं**–कर्म को, **न बंधइ**–नही बांधता, **च**–और, **पुव्वबद्धं**–पूर्व बाधे हुए को, **निज्जरेइ**–क्षय कर देता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से प्रिय व अप्रिय गन्ध में जो राग-द्वेष के भाव उत्पन्न होते है उनका निग्रह हो जाता है और उस राग-द्वेष के निमित्त से जो कर्म-बन्ध होना था वह नहीं होता, तथा पूर्वसंचित कर्मो का क्षय हो जाता है।

टीका–घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से सुगन्ध और दुर्गन्ध-विषयक राग-द्वेष के भाव उत्पन्न न होने से तन्निमित्तक कर्म का बन्ध भी नहीं होता और पूर्वबद्ध की निर्जरा भी हो जाती है।

अब जिह्वेन्द्रिय के विषय में कहते हैं –

जिब्भिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

जिब्भिंदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६५ ॥

जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेसु रागद्वेषनिग्रहं जनयति। तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥ ६५ ॥

पदार्थान्वयः–**भते**–हे भगवन् ! **जिब्भिंदियनिग्गहेणं**–जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से, **जीवे**-जीव, **किं जणयइ**–किस गुण की प्राप्ति करता है? **जिब्भिंदियनिग्गहेणं**–जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से, **मणुन्नामणुन्नेसु**–प्रिय वा अप्रिय, **रसेसु**–रसों मे, **रागदोसनिग्गहं जणयइ**–राग-द्वेष का निग्रह करता है, **तप्पच्चइय**–तन्निमित्तक, **कम्मं**–कर्म को, **न बंधइ**–नहीं बाधता, **च**–और, **पुव्वबद्ध**–पूर्वबद्ध की, **निज्जरेइ**–निर्जरा कर देता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से जीव किस गुण को प्राप्त करता है?

उत्तर–जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से जीव इष्ट-अनिष्ट रसों मे राग-द्वेष का निग्रह करता है और तन्निमित्तक कर्म को नहीं बांधता और साथ ही पूर्वसंचित कर्मो का भी क्षय कर देता है।

टीका–रसना इन्द्रिय के निग्रह से रसों के विषय में राग-द्वेष के जो भाव उत्पन्न होते है उनका निग्रह हो जाता है, इत्यादि सब प्रथम की भांति जान लेना चाहिए।

अब स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में कहते हैं –

फासिंदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

फासिंदिय-निग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६६ ॥

स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त ! जीवः कि जनयति ?

स्पर्शनेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु स्पर्शेषु रागद्वेष-निग्रहं जनयति। तत्प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥ ६६ ॥

पदार्थान्वयः–**भंते**–हे भगवन्, **फासिंदियनिग्गहेणं**–स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण की उपार्जना करता है? **फासिंदियनिग्गहेणं**–स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से,

मणुन्नामणुन्नेसु—प्रिय वा अप्रिय, **फासेसु**—स्पर्शों मे, **रागदोसनिग्गहं जणयइ**—रागद्वेष के निग्रह का उपार्जन करता है, **तप्पच्चइयं**—तत्प्रत्ययिक-तन्निमित्तक, **कम्मं**—कर्म को, **न बंधइ**—नहीं बांधता, **च**—फिर, **पुव्वबद्धं निज्जरेइ**—पूर्वबद्ध की निर्जरा करता है, (च)—प्राग्वत्।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! स्पर्शन-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव किस गुण की प्राप्ति करता है?

उत्तर—हे भद्र ! स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह से मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते, उनके न होने से कर्म का बन्ध भी नहीं होता और पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है अर्थात् पूर्वोपार्जित कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

टीका—स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह अर्थात् संयम से अच्छे-बुरे स्पर्श में यह जीव रागद्वेष से रहित हो जाता है, इसीलिए उसको रागद्वेष-जन्य कर्मों का बन्ध नहीं होता तथा पूर्वोपार्जित कर्म भी नष्ट हो जाते है।

इन्द्रिय-निग्रह के अनन्तर कषाय-विजय के प्रस्ताव में प्रथम क्रोध-विजय के विषय मे कहते हैं। यथा –

कोहविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

कोहविजएणं खंतिं जणयइ। कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६७ ॥

क्रोधविजयेन भदन्त ! जीव. किं जनयति ?

क्रोधविजयेन क्षान्तिं जनयति। क्रोधवेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥ ६७ ॥

पदार्थान्वयः—भंते—भगवन्, **कोहविजएणं**—क्रोध की विजय से, **जीवे**—जीव, **किं जणयइ**—किस गुण को प्राप्त करता है, **कोहविजएणं**—क्रोध पर विजय से, **खंतिं जणयइ**—क्षमा को प्राप्त करता है, **कोहवेयणिज्जं**—क्रोधवेदनीय, **कम्मं**—कर्म को, **न बंधइ**—नही बांधता, **च**—पुन:, **पुव्वबद्धं**—पूर्व बाधे हुए को, **निज्जरेइ**—क्षय कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! क्रोध के जीतने से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर—क्रोध पर विजय प्राप्त करने से जीव को क्षमा-गुण की प्राप्ति होती है। ऐसा क्षमायुक्त पुरुष क्रोधवेदनीय अर्थात् क्रोधजन्य कर्मों का बंध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर देता है।

टीका—शिष्य ने पूछा कि भगवन् ! क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेने से किस गुण की प्राप्ति होती है? इसके उत्तर में गुरु ने कहा कि भद्र ! क्रोध पर विजय से क्षमा-गुण की प्राप्ति होती है और क्षमा से क्रोधजन्य कर्म का बन्ध नहीं होता तथा पूर्वसंचित कर्मों का विनाश हो जाता है। क्रोध के उदय

से भोगने योग्य कर्माणुओं का आत्मा के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे क्रोध वेदनीय कर्म कहते है।

अब मान के सम्बन्ध में कहते हैं –

माणविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

माणविजएणं मद्दवं जणयइ। माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६८ ॥

मानविजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ? ।

मानविजयेन मार्दवं जनयति। मानवेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥ ६८ ॥

पदार्थान्वयः–भंते–हे भगवन्, **माणविजएणं**–मान की विजय से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है, **माणविजएणं**–मान पर विजय से, **मद्दव**–मृदुता गुण की, **जणयइ**–प्राप्ति करता है, **माणवेयणिज्जं कम्मं**–मानवेदनीय कर्म का, **न बंधइ**–बन्ध नहीं करता, **च**–और, **पुव्वबद्ध**–पूर्वबद्ध कर्मों की, **निज्जरेइ**–निर्जरा करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! मानविजय से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–हे शिष्य ! मान-विजय से इस जीव को मार्दव-मृदुता गुण की प्राप्ति होती है, फिर मार्दव-गुण-संयुक्त जीव मानवदेनीय अर्थात् मानजनित कर्मो का बध नहीं करता तथा पूर्वबद्ध कर्मो का क्षय कर देता है।

टीका–गर्व अथवा अहकार को मान कहते हैं। मान को जीतने से जीव मृदुस्वभाव अर्थात् कोमल-स्वभाव वाला हो जाता है। इस मृदुता गुण को प्राप्त करने वाला जीव मानजन्य कर्मो का बन्ध नही करता, अर्थात् मान करने से जिन कर्मो का बन्ध होता है वह उसका दूर हो जाता है और इसके अतिरिक्त वह पूर्व मे बाधे हुए कर्मो का भी क्षय कर देता है।

अब माया के विषय में कहते है –

मायाविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मायाविजएणं अज्जवं जणयइ। मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६९ ॥

मायाविजयेन भदन्त ! जीव· किं जनयति ?

मायाविजयेनार्जवं जनयति। मायावेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥ ६९ ॥

पदार्थान्वय·–भंते–भगवन्, **मायाविजएणं**–माया पर विजय करने से, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण को प्राप्त करता है, **मायाविजएणं**–माया की विजय से, **अज्जवं**–आर्जव अर्थात् सरलता को, **जणयइ**–प्राप्त करता है, **मायावेयणिज्जं**–मायावेदनीय, **कम्मं**–कर्म को, **न बंधइ**–नही बांधता, **च**–और, **पुव्वबद्धं**–पूर्वबद्ध का, **निज्जरेइ**–क्षय कर देता है।

मूलार्थ–प्रश्न–भगवन् ! माया पर विजय से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–माया पर विजय से जीव को आर्जव अर्थात् सरलता की प्राप्ति होती है और ऋजुभाव से युक्त हुआ जीव मायावेदनीय कर्म अर्थात् मायाजनित कर्मपुद्गलों का बन्ध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय कर देता है।

टीका–मायाचार के करने से अवश्य भोगने योग्य कर्माणुओ का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना मायावदेनीय कर्म है। जिस आत्मा ने मायाचार का परित्याग करके सरलता को धारण कर लिया है, वह उक्त कर्म का बन्ध नहीं करती, अपितु पूर्व मे बाधे हुए कर्मो का भी क्षय कर देती है, अत: मुमुक्षु-जनो को मायाचार का त्याग और सरलता के अंगीकार मे अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार क्रोधादि अन्य कषायों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

अब लोभ के विषय में कहते है –

लोभविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

लोभविजएणं संतोसं जणयइ। लोभवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ७०॥

लोभविजयेन भदन्त ! जीव. किं जनयति ?

लोभविजयेन सन्तोषं जनयति। लोभवेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति ॥ ७०॥

पदार्थान्वय:–लोभविजएण–लोभ पर विजय से, **भंते**–हे भगवन्, **जीवे**–जीव, **किं जणयइ**–किस गुण की प्राप्ति करता है? **लोभविजएणं**–लोभ की विजय से, **सतोसं**–सन्तोष-गुण की, **जणयइ**–प्राप्ति करता है, **लोभवेयणिज्जं**–लोभवेदनीय, **कम्मं**–कर्म को, **न बधइ**–नही बांधता, **पुव्वबद्धं**–पूर्वबद्ध कर्म की, **निज्जरेइ**–निर्जरा करता है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे पूज्य ! लोभ पर विजय से जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–हे शिष्य ! लोभ की विजय से सन्तोष-गुण की प्राप्ति होती है। सन्तोषान्वित जीव लोभवेदनीय कर्म का बन्ध नही करता तथा पूर्वबद्ध कर्मो की भी निर्जरा कर देता है।

टीका–शिष्य ने पूछा कि भगवन् ! लोभ को जीत लेने से यह जीव किस गुण को प्राप्त करता है? गुरु ने उत्तर दिया कि भद्र ! लोभ पर विजय प्राप्त कर लेने से इस जीव को सन्तोषामृत का लाभ हाता है। फिर ऐसा सन्तोषी जीव लोभवदेनीय अर्थात् लोभजन्य-कर्म का बन्ध नहीं करता और लोभ से सचित किए हुए पूर्व कर्मो का भी क्षय कर देता है, अत: लोभ को जीतकर सन्तोष-गुण को प्राप्त करना भव्य पुरुषों का सबसे उत्तम कर्त्तव्य है। यह उक्त गद्यरूप गाथा का फलितार्थ है।

कषाय-विजय के अनन्तर राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय की प्राप्ति होती है, अत: कषाय-विजय के बाद अब राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं –

पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं नाण-दंसण-चरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वीए अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं, नवविहं दंसणावरणिज्जं, पंचविहं अंतराइयं, एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ। तओ पच्छा अणुत्तरं अणंतं, कसिणं, पडिपुण्णं, निरावरणं, वितिमिरं, विसुद्धं, लोगालोगप्पभावं, केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेइ। जाव सजोगी भवइ, ताव इरियावहियं कम्मं निबंधइ, सुहफरिसं दुसमयठिइयं। तं जहा-पढमसमए बद्धं, बिइयसमए वेइयं, तइयसमए निज्जिण्णं, तं बद्धं, पुट्ठं, उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ ॥ ७१ ॥

प्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनविजयेन भदंत ! जीवः किं जनयति ?

प्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनविजयेन ज्ञान-दर्शन-चारित्राराधनायामभ्युत्तिष्ठते। अष्टविधस्य कर्मण. कर्मग्रन्थिविमोचनाय, तत्प्रथमतया यथानुपूर्व्या अष्टाविंशतिविधं मोहनीयं कर्मोद्घातयति । पञ्चविधं ज्ञानावरणीयम्, नवविध दर्शनावरणीयम्, पञ्चविधमन्तरायिकम्, एतानि त्रीण्यपि कर्माणि युगपत् क्षपयति। तत. पश्चादनुत्तरम्, अनन्तम्, कृत्स्नम्, प्रतिपूर्णम्, निरावरणम्, वितिमिरम्, विशुद्धम्, लोकालोकप्रभावम्, केवलवरज्ञान-दर्शनं समुत्पादयति। यावत्सयोगी भवति, तावदैर्यापथिकं कर्म बध्नाति, सुखस्पर्शं, द्विसमयस्थितिकम्। तद्यथा-प्रथमसमये बद्धं, द्वितीयसमये वेदितम्, तृतीयसमये निर्जीर्णं, तद्बद्धं, स्पृष्टमुदीरितं, वेदितं निर्जीर्णमेष्यत्काले चाकर्मापि भवति ॥ ७१ ॥

पदार्थान्वयः-भंते-हे भगवन्, **पिज्ज**-प्रेम, **दोस**-द्वेष, **मिच्छादंसण**-मिथ्यादर्शन की, **विजएणं**-विजय से, **जीवे**-जीव, **किं जणयइ**-किस गुण को प्राप्त करता है? **पिज्जदोस-मिच्छादंसणविजएणं**-प्रेम, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय से, **नाण**-ज्ञान, **दसण**-दर्शन, **चरित्त**-चारित्र की, **आराहणयाए**-आराधना मे, **अब्भुट्ठेइ**-उद्योग करता है, **अट्ठविहस्स**-आठ प्रकार के, **कम्मस्स**-कर्मो की, **कम्मगंठि**-कर्म-ग्रन्थि को, **विमोयणयाए**-विमोचन अर्थात् खोलने-दूर करने के लिए, **तप्पढमयाए**-वह प्रथमतः, **जहाणुपुव्वीए**-यथाक्रम, **अट्ठावीसइविहं**-अट्ठाईस प्रकार के, **मोहणिज्जं**-मोहनीय, **कम्मं**-कर्म का, **उग्घाएइ**-क्षय करता है, तथा, **पंचविहं**-पाच प्रकार के, **नाणावरणिज्जं**-ज्ञानावरणीय कर्म, **नवविहं**-नौ प्रकार के, **दंसणावरणिज्जं**-दर्शनावरणीय कर्म, **पचविहं**-पांच प्रकार के, **अंतराइयं**-अन्तराय कर्म, **एए**-इन, **तिन्नि**-तीन, **कम्मंसे**-कर्माशो को, **जुगवं**-युगपत्-एक काल में, **खवेइ**-क्षय करता है, **तओ पच्छा**-क्षय करने के पश्चात्, **अणुत्तरं**-प्रधान, **अणंतं**-अनन्त, **कसिणं**-सम्पूर्ण, **पडिपुण्णं**-प्रतिपूर्ण, **निरावरणं**-आवरणरहित, **वितिमिर**-अंधकाररहित, **विसुद्धं**-विशुद्ध, **लोगालोगप्पभावं**-लोक और अलोक का प्रकाशक, **केवल**-सहायरहित, **वर**-प्रधान,

नाणदंसणं–ज्ञान और दर्शन को, **समुप्पाडेइ**–सम्पादन करता है, **जाव**–जब तक, **सजोगी**–सयोगी-योगों के साथ, **भवइ**–होता है, **ताव**–तब तक, **इरियावहियं**–ईर्यापथिक, **कम्मं**–कर्म क्रिया को, **निबंधइ**–बांधता है, **सुहफरिसं**–सुखरूप स्पर्श, **दुसमयठिइयं**–दो समय की स्थिति वाला, **तं जहा**–जैसे कि, **पढमसमए बद्धं**–प्रथम समय में बांधा, **बिइयसमए**–दूसरे समय में, **वेइयं**–वेदन किया, **तइयसमए**–तीसरे समय मे, **निज्जिण्णं**–निर्जीर्ण-क्षय हो जाता है, **तं**–वह, **बद्धं**–बाधा हुआ, **पुट्ठं**–स्पर्शा हुआ, **उदीरिय**–उदय को प्राप्त हुआ, **वेइयं**–वेदा हुआ, **निज्जिण्णं**–निर्जर किया हुआ, **य**–फिर, **सेयाले**–भविष्यत् काल में, **च**–चतुर्थ समय में, **अकम्मं**–कर्म से रहित, **भवइ**–होता है, **अवि**–परस्पर अपेक्षा मे, सभावना मे आया हुआ है।

मूलार्थ–प्रश्न–हे भगवन् ! राग-द्वेष और मिथ्या-दर्शन की विजय से इस जीव को किस गुण की प्राप्ति होती है?

उत्तर–हे शिष्य ! राग-द्वेष और मिथ्या-दर्शन की विजय से यह जीव ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत हो जाता है। तदनन्तर वह आठ प्रकार के कर्मो की ग्रन्थि को खोलने के लिए उद्योग करता है। यथा-प्रथम, वह अनुक्रम से २८ प्रकार के मोहनीय कर्म का क्षय करता है। फिर पांच प्रकार के ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय और पांच प्रकार के अन्तराय, इन तीनों कर्मांशों–कर्मप्रकृतियों का एक ही समय में क्षय कर देता है। तदनन्तर यह जीवात्मा सर्वप्रधान, अनन्त, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, आवरणरहित, अंधकारशून्य, विशुद्ध और लोकालोक के प्रकाशक, ऐसे सर्वश्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेती है और जब तक वह सयोगी अर्थात् मन, वचन और काया के योग–व्यापार वाली होती है, तब तक ईर्यापथिक-कर्म अर्थात् क्रिया का बन्ध करती है, परन्तु उसका विपाक सुखकर और स्थिति केवल दो समय मात्र की होती है। यथा-प्रथम समय में बन्ध, द्वितीय समय में उदय और वेदन तथा तीसरे समय मे फल देकर विनष्ट हो जाना। इस प्रकार प्रथम समय मे बंध और स्पर्श, दूसरे में उदय और वेदन, तथा तीसरे मे निर्जरा होकर चौथे समय मे यह जीवात्मा सर्वथा कर्मो से रहित हो जाती है।

टीका–शिष्य अपने गुरुजनो से पूछता है कि भगवन् ! राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर लेने से इस जीवात्मा को किस गुण की प्राप्ति होती है? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं कि भद्र ! राग-द्वेष और मिथ्या-दर्शन पर विजय प्राप्त करने वाला जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना मे तत्पर होता हुआ अष्टविध कर्मो की ग्रन्थियो को खोलने के लिए अनुक्रम से–मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन चार कर्मो की प्रकृतियों का क्षय करके सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है और जब तक वह केवली जीव सयोगी अर्थात् मन, वचन और काया के योग वाला–प्रवृत्ति वाला होता है, तब तक वह ऐर्यापथिक क्रिया का बन्ध करता है। क्योंकि उसका काय-योग स्थिर नही होता, इसलिए नाम मात्र के लिए ऐर्यापथिक क्रिया का बन्ध होता है। परन्तु इस बन्ध की स्थिति केवल दो समय मात्र की होती है और उसका आत्म-प्रदेशो के

साथ जो स्पर्श होता है वह भी अत्यन्त सुखरूप होता है। यथा–प्रथम समय में तो उसका बन्ध अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ स्पर्श हुआ, दूसरे समय में उसके रस का अनुभव किया और तीसरे समय में उसकी निर्जरा कर दी। इस प्रकार प्रथम समय मे बन्ध, दूसरे समय में उदय और तीसरे समय में निर्जरा होने से चौथे समय मे वह जीवात्मा सर्व प्रकार से कर्मरहित हो जाती है, यही उक्त गाथा का तात्पर्य है।

(१) ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये आठ प्रकार के कर्म कहे है।

(२) मोहनीय कर्म के २८ भेद हैं–(क) मोहनीय के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो भेद है। इनमें दर्शनमोहनीय के सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय ये तीन भेद है और चारित्रमोहनीय के कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय ये दो भेद है। (ख) इनमे कषायमोहनीय के १६[1] और नोकषायमोहनीय के ९, इस प्रकार २५ भेद चारित्रमोहनीय के और ३ दर्शनमोहनीय के मिलाने से कुल २८ भेद मोहनीय कर्म के होते हैं।

(३) मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मन:पर्यवज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय, इस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद है।

(४) दर्शनावरणीय के ९ भेद इस प्रकार हैं–चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि।

(५) तथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय, ये पांच भेद अन्तराय-कर्म के है[2] तथा मोहनीय कर्म की २८ उत्तर प्रकृतियो का क्षय इस प्रकार करता है। यथा–प्रथम अनन्तानुबंधी क्रोधादि को युगपत् अन्तर्मुहूर्त में क्षय कर देता है और उसका अनन्तवा भाग मिथ्यात्व मे प्रक्षेप करता है। फिर उसके साथ ही प्रज्वलित अग्नि के द्वारा अर्द्धदग्ध ईंधन की तरह बढ़े हुए तीव्र शुभ परिणामों से मिथ्यात्व का क्षय कर देता है। तदनन्तर मिथ्यात्वांश को सम्यग् मिथ्यात्व मे प्रक्षेप करके उसे भी क्षय कर देता है। फिर उसके अशसहित सम्यक्त्व मोहनीय को, तदनन्तर सम्यक्त्व मोहनीय शेष-दलिक के साथ अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायो को एक साथ क्षय करना आरम्भ करता है। इनका क्षय करते समय निम्नलिखित उत्तर प्रकृतियो का भी क्षय करता है। यथा–गति, अनुपूर्वी ये दो-दो जातिनाम यावत् चतुरिंद्रिय, आताप, उद्योत, स्थावरनाम और सूक्ष्मनाम साधारण, अपर्याप्त, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि। शेष आठो को किंचित् सावशेष नपुसकवेद में प्रक्षेप करके उसके साथ ही क्षय कर देता है। इसी प्रकार उसके अवशिष्टाश के साथ स्त्रीवेद को, उससे अवशिष्ट के साथ हास्यादि छहो को, उसके अंश के साथ दो खड से युक्त पुरुषवेद

१ क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों मे प्रत्येक के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानावरणीय और सज्वलन, ये चार-चार भेद हैं· अत. ये सब मिलकर १६ हुए। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद ये ९ भेद नोकषाय के हैं।

२. इस विषय का सविस्तर वर्णन इसी सूत्र के ३३वें अध्ययन मे मिलेगा।

की यदि पुरुष भाव को प्राप्त हुआ स्त्री वा नपुसक, अथवा स्व-स्व वेद के दो-दो खंड, तदनन्तर प्रक्षेप किया हुआ वेद तीसरे खंड के साथ संज्वलन को क्षय कर देता है। इसी भांति पूर्व-पूर्वांशसहित उत्तर-उत्तर का संज्वलनलोभपर्यन्त क्षय करता है। तीसरे खंड के संख्यात खंड करके पृथक्-पृथक् काल-भेद से क्षय करता है, परन्तु सब का क्षयकाल अन्तर्मुहूर्त ही जानना चाहिए। कारण यह है कि मुहूर्त के भी असख्यात भेद हैं। इसके अतिरिक्त चरम खंड के भी फिर असंख्येय खंड करता है। उनको प्रति समय एक-एक से क्षय कर देता है फिर चरम खंड असंख्येय सूक्ष्म खण्ड करके उसी प्रकार क्षय करता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म को क्षय करके अन्तर्मुहूर्त में यथाख्यातचारित्र का अनुभव करता हुआ छद्मस्थ वीतरागता को द्वि-चरम समय मे प्राप्त करता है। प्रथम समय में निद्रा, प्रचला, नाम देवगत्यादि नाम कर्म की प्रकृतियो का क्षय करता है। इसी प्रकार पञ्चविध ज्ञानावरणीय, नवविध दर्शनावरणीय और पांच प्रकार के अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियो का एक साथ ही क्षय कर देता है।

अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न, परिपूर्ण, निरावरण और वितिमिर आदि सब केवलज्ञान और केवलदर्शन के विशेषण है। सयोगी-केवली नामक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव चारों घातिकर्मों का क्षय करके लोका-लोकप्रकाशी ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। परन्तु जब तक उसका शरीर रहता है तब तक वह शरीर-सम्बन्धी क्रियाए करता है, परन्तु वे क्रियाएं आसक्ति-रहित होने से उसके लिए बन्ध का कारण नही बन पातीं। किन्तु आत्म-प्रदेशो से उन शारीरिक कर्मो का बन्ध घट के साथ आकाश के सम्बन्ध की भाति होता है और उनका स्पर्श भी इसी प्रकार का होता है, जैसे पाषाण की दीवार के साथ सिकता-बालू आदि का स्पर्श होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे पत्थर की दीवार से स्पर्श करते ही रेत बिखर जाती है, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों से स्पर्श करते ही वे कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। इस विषय का अधिक विवेचन प्रज्ञापना-सूत्र और कर्म-प्रकृति आदि ग्रन्थों मे किया गया है। यहा पर विस्तार भय से उल्लेख नही किया। जिज्ञासु जन वहां से देख ले।

अब कर्मरहित आत्मा की आगामी दशा का अर्थात् अयोगी-केवली अवस्था का वर्णन करते हैं –

अह आउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तद्धावसेसाए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं निरुंभइ, वइजोगं निरुंभइ, कायजोगं निरुंभइ, आणपाणनिरोहं करेइ। ईसि पंचरहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोत्तं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥ ७२ ॥

अथ यावदायुः पालयित्वाऽन्तर्मुहूर्ताद्धावशेषायुष्यक. (सन्) योगनिरोधं करिष्यमाणः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति-शुक्ल-ध्यानं ध्यायन् 'तत्प्रथमतया मनोयोगं निरुणद्धि, (मनोयोगं निरुध्य) वाग्‌योगं निरुणद्धि, काययोगं निरुणद्धि, आनापाननिरोधं करोति। ईषत्पंचह्रस्वा-क्षरोच्चारणाद्धायाञ्चानगारः समुच्छिन्नक्रियमनिवृत्तिशुक्लध्यानं ध्यायन् वेदनीयमायुर्नाम गोत्रञ्चैतान्

चतुरः कर्मांशान् युगपत्क्षपयति ॥ ७२ ॥

पदार्थान्वयः—**अह**—अथ—केवल-ज्ञान के अनन्तर, **आउयं**—आयुकर्म को, **पालइत्ता**—भोगकर, **अंतोमुहुत्तद्धावसेसाए**—अन्तर्मुहूर्त कालप्रमाण अवशेष आयु में, **जोगनिरोहं**—योग का निरोध **करेमाणे**—करता हुआ, **सुहुमकिरियं**—सूक्ष्म क्रिया, **अप्पडिवाइ**—अप्रतिपाति, **सुक्कज्झाणं**—शुक्लध्यान को, **झायमाणे**—ध्याता हुआ, **तप्पढमयाए**—वह प्रथम, **मणजोगं**—मनोयोग का, **निरुंभइ**—निरोध करता है, **वइजोगं**—वचन योग का, **निरुंभइ**—निरोध करता है, **कायजोग**—काययोग का, **निरुंभइ**—निरोध करता है, **आणापाणनिरोहं**—आनापान—श्वासोच्छ्वास का निरोध, **करेइ**—करता है, **ईसि**—ईषत्,-स्वल्प, **पंच**—पाच, **रहस्सक्खरुच्चारणद्धाए**—ह्स्वाक्षर के उच्चारण काल मे, **य**—फिर, **अणगारे**—अनगार, **समुच्छिन्नकिरियं**—समुच्छिन्नक्रिया, **अनियट्टि**—अनिवृत्ति-नामक, **सुक्कज्झाणं**—शुक्लध्यान को, **झियायमाणे**—ध्याता हुआ, **वेयणिज्ज**—वेदनीय, **आउयं**—आयु, **नाम**—नाम, **गोत्तं**—गोत्र, **एए**—इन, **चत्तारि**—चार, **कम्मंसे**—कर्मांशों को, **जुगवं**—युगपत्-एक ही काल मे, **खवेइ**—क्षय कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! केवलज्ञान प्राप्ति के अनन्तर फिर क्या होता है?

उत्तर—हे शिष्य ! केवलज्ञान के अनन्तर यह आत्मा अपने अवशिष्ट आयु-कर्म को भोगकर जब अन्तर्मुहूर्त—दो घड़ी—प्रमाण आयु शेष रह जाती है, तब योगों अर्थात् मन, वचन और काया के व्यापारों—का निरोध करती हुई सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिनामक शुक्लध्यान के तृतीय पाद का ध्यान करके प्रथम मनोयोग का निरोध करती है, फिर वचन और काया-योग का निरोध करती है। तदनन्तर श्वासोच्छ्वास क्रिया का निरोध करके, पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितने काल मे, वह समुच्छिन्नक्रिया-अनिवृत्तिनामक शुक्ल ध्यान का चिन्तन करती हुई वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चार अघाति-कर्मांशों का एक ही काल में क्षय कर देती है, अर्थात् सर्वथा क्रियारहित होकर परम निर्वाण-पद को प्राप्त हो जाती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में चौदहवे गुणस्थानावर्ती जीवात्मा की अवस्था का वर्णन किया गया है। केवल-ज्ञान-प्राप्त आत्मा अपने आयु-कर्म को भोगती हुई जब आयु मे दो घड़ियो का समय शेष रह जाता है, तब वह योगनिरोध अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को रोकती हुई, सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती शुक्लध्यान के तीसरे भेद का चिन्तन करते हुए प्रथम मन के और तदनन्तर वचन के और फिर काया के योगों का निरोध करती है।

तात्पर्य यह है कि पर्याप्त सज्ञी जीव का जहा तक जघन्य योग होता है, उससे भी असंख्यात गुणहीन मनोयोग का निरोध करती है और फिर बढते-बढ़ते सर्वथा मनोयोग का निरोध कर देती है। तदनन्तर जो वचनयोग का निरोध है वह भी पर्याप्तमात्र द्वीन्द्रिय जीव का जितना जघन्य वचनयोग होता है, उससे असंख्यात गुणहीन वचनयोग का निरोध करती है। फिर निरोध करते-करते वचन का सर्वथा निरोध कर देती है। इसी प्रकार काया के विषय मे भी समझ लेना चाहिए।

तदनन्तर वह श्वासोच्छ्वास क्रिया का निरोधक बनती है। इस अवस्था को प्राप्त होने के बाद

स्वल्प काल में 'अ इ उ ऋ लृ' इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय तक शैलेशी अवस्था में रहकर वह आत्मा, अनगार समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्तिनामक शुक्ल-ध्यान के चतुर्थ भेद को ध्याती हुई चारों अघाति कर्मों की प्रकृतियों को एक ही समय में क्षय कर देती है।

यहां पर इतना और स्मरण रहे कि शुक्ल-ध्यान के चार भेद हैं। यथा–१. पृथक्त्ववितर्कसविचार २. एकत्ववितर्कनिर्विचार ३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ४ समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति। इनमें प्रथम के दो भेद तो सालम्बन अर्थात् आलम्बन-सहित हैं, कारण यह है कि इनके लिए श्रुतज्ञान का आलम्बन रहता है और अन्त के दोनों भेद निरालम्बन अर्थात् आलम्बन से रहित है, अर्थात् इन दोनों मे किसी प्रकार के भी श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं होता। प्रथम के दो भेद पूर्वधरो में होते हैं और अन्त के दोनों केवलियों में हुआ करते हैं।

(१) वितर्क–श्रुतज्ञान-सहित अर्थात् श्रुत के आधार से जो भेद-प्रधान चिन्तन होता है उसे पृथक्त्व-वितर्क-सविचार कहते हैं।

(२) इसी प्रकार श्रुतज्ञानानुसारी अभेद-प्रधान चिन्तन को एकत्व-वितर्कनिर्विचार कहते है।

(३) जिस मे सूक्ष्म शरीरयोग के द्वारा मन, वचन और काया के योगो का निरोध किया जाता है, ऐसा अप्रतिपाति अर्थात् पतनशून्य [जिसमें से फिर पतन होने की सम्भावना नहीं रहती] जो ध्यान होता है उसको सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती कहा गया है, कारण यह है कि इसमें केवल शरीर की श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही शेष रह जाती है।

(४) जिसमे स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी प्रकार की मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रिया शेष नहीं रह जाती, अर्थात् किसी प्रकर की भी क्रिया के न होने से जहां आत्म-प्रदेशो मे सर्वथा अकम्पनता अर्थात् निश्चलता होती है, इस प्रकार की कभी न जाने वाली स्थिति को समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति कहते है। इस ध्यान के प्रभाव से यह आत्मा सर्व कर्मो का आत्यन्तिक क्षय करती हुई परम निर्वाणपद को प्राप्त कर लेती है।

अब वेदनीयादि कर्मो के क्षय होने के अनन्तर की अवस्था का वर्णन करते हैं –

तओ ओरालिय-तेयकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता, उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई, उड्ढं, एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, जाव अंतं करेइ ॥ ७३ ॥

तत औदारिकतेजःकर्माणि सर्वाभिर्विप्रहाणिभिस्त्यक्त्वा ऋजुश्रेणिं प्राप्तोऽस्पर्शद्गति-रूर्ध्वमेकसमयेनाविग्रहेण तत्र गत्वा साकारोपयुक्तः सिध्यति, बुध्यते, यावदन्तं करोति ॥ ७३ ॥

पदार्थान्वयः–तओ–तदनन्तर, **ओरालिय**–औदारिक, **तेय**–तैजस, **कम्माइं**–कार्मण शरीर को, **सव्वाहि**–सर्व, **विप्पजहणाहिं**–त्याग से, **विप्पजहित्ता**–छोड़कर, **उज्जुसेढिपत्ते**–ऋजु श्रेणी को प्राप्त हुआ, **अफुसमाणगई**–अस्पर्शमानगति, **उड्ढं**–ऊंचा, **एगसमएणं**–एक समय मे, **अविग्गहेणं**–अविग्रहगति

से, **तत्थ**—वहां पर, **गंता**—जाकर, **सागारोवउत्ते**—साकारोपयुक्त, **सिज्झइ**—सिद्ध होता है, **बुज्झइ**—बुद्ध होता है, **जाव**—यावत्, **अंतं करेइ**—सर्वदु:खों का अन्त कर देता है।

मूलार्थ—प्रश्न—वेदनीय आदि कर्मों के क्षय कर देने से फिर क्या होता है?

उत्तर—तदनन्तर औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को त्यागकर ऋजुश्रेणि को प्राप्त हुआ अव्याहत गति तथा एक समय की ऊंची अविग्रह गति से यह जीव मोक्ष में जाकर ज्ञानोपयोग से सिद्ध हो जाता है, बुद्ध हो जाता है, मुक्त हो जाता है तथा सर्व प्रकार के दु:खों का अन्त कर देता है।

टीका—वेदनीयादि कर्मो के क्षय हो जाने के अनन्तर यह आत्मा औदारिक, तैजस, और कार्मण, इन तीनों शरीरों का परित्याग कर देती है। फिर समश्रेणी को प्राप्त होकर जिन आकाश-प्रदेशों में शरीर को छोड़ा है उनसे अतिरिक्त अन्य आकाश-देशो को स्पर्श न करती हुई[१], एक समय की ऊची अविग्रहगति से मोक्ष-स्थान मे जाकर अपने मूल शरीर की अवगाहना के दो तिहाई जितने आकाश-प्रदेशों में सर्व प्रकार के कर्ममल से सर्वथा रहित होकर ज्ञानोपयोग से विराजती है।

यद्यपि उक्त सूत्र में ७३ प्रश्नो का उल्लेख किया गया है, परन्तु कतिपय प्रतियों में ७२वे और ७३वे प्रश्नों को एक मानकर कुल ७२ प्रश्न माने गए हैं। कुछ भी हो, इसमे सिद्धान्तगत कोई भेद नही है, यह विषय विशेष उपेक्षणीय या अपेक्षणीय प्रतीत नहीं होता।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं –

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए, पन्नविए, परूविए, दंसिए, निदंसिए, उवदंसिए ॥ ७४ ॥

त्ति बेमि।

इति सम्मत्तपरक्कमे समत्ते ॥ २९ ॥

एष. खलु सम्यक्त्वपराक्रमस्याध्ययनस्यार्थः श्रमणेन भगवता महावीरेणाख्यात. प्रज्ञापित·, प्ररूपितो, दर्शितो, निदर्शित, उपदर्शितः ॥ ७४ ॥

इति ब्रवीमि।

इति सम्यक्त्वपराक्रमः समाप्तः ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः—**एस**—यह, **खलु**—निश्चय में, **सम्मत्तपरक्कमस्स**—सम्यक्त्वपराक्रम, **अज्झयणस्स**—अध्ययन का, **अट्ठे**—अर्थ, **समणेणं**—श्रमण, **भगवया**—भगवान्, **महावीरेणं**—महावीर ने, **आघविए**—प्रतिपादन किया, **पन्नविए**—प्रज्ञापित किया, **परूविए**—प्ररूपण किया, **दंसिए**—दिखलाया,

---

१ अफुसमाणगइत्ति—अस्पृशद्गतिरिति—नायमर्थो यथा नायमाकाशप्रदेशान्न स्पृशति अपि तु यावत्सु जीवोऽवगाढ तावत्सु एव स्पृशति, न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि आकाशप्रदेशम्। इति वृत्तिकार·।

निदंसिए—दृष्टान्तों से वर्णन किया, **उवदंसिए**—उपदेश किया, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मै कहता हू, **इति सम्मत्त परक्कमे समत्ते**—यह सम्यक्त्व-पराक्रम-अध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—इस सम्यक्त्व-पराक्रम-अध्ययन का अर्थ श्रमण भगवान महावीर ने प्रतिपादन किया, प्रज्ञापित किया, निरूपण किया, दर्शाया, दृष्टान्तों के द्वारा वर्णन किया। इस प्रकार मैं कहता हूं।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए आचार्य कहते है कि इस प्रकार सम्यक्त्व-पराक्रम नाम के अध्ययन का अर्थ श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने कहा है, दिखाया है और उपदेश किया है। तात्पर्य यह है कि सामान्य और विशेष रूप से प्रतिपादन किया, हेतुफलादि के प्रकाशन से अर्थात् प्रकर्षज्ञापन से प्रज्ञापित किया, स्वरूप कथन से प्ररूपित किया, नानाविध भेद-दर्शन से वर्णन किया और दृष्टान्त, उपनय आदि के द्वारा उपदिष्ट किया इत्यादि।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू । जिस प्रकार मैंने भगवान् महावीर स्वामी से श्रवण किया है उसी प्रकार मैंने तुम से कहा है। तात्पर्य यह है कि इस विषय मे मेरी निज बुद्धि की कोई कल्पना नही है।

एकोनत्रिंशत्तमाध्ययनं संपूर्णम्

नोट—इन ७३ प्रश्नो का न्यूनाधिक रूप से श्री व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र मे भी उल्लेख आता है जो कि इस प्रकार है—'अह भते । सवेगे, णिव्वेए, गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया, आलोयणया, निदणया, गरहणया, खमावणया, सुयसहायता, विउसमणया, भावे अप्पडिबद्धया, विणिवट्टणया, विवित्तसयणासणसेवणया, सोइदियसवर जाव फासिंदियसवरे, जोगपच्चक्खाणे, सरीरपच्चक्खाणे, कसायपच्चक्खाणे, सभोगपच्चक्खाणे, उवहिपच्चक्खाणे, भत्तपच्चक्खाणे, खमा, विरागया, भावसच्चे, जोगसच्चे, करणसच्चे, मणसमाहरणया, वयसमाहरणया, कायसमाहरणया, कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे, नाणसंपन्नया, दसणसपन्नया, चरित्तसपन्नया, वेदणअहियासणया, मारणंतिय-अहियासणया एए ण भंते । पया कि पज्जवसाणफला पण्णत्ता? समणाउसो ! गोयमा ! संवेगे, निव्वेगे जाव मारणंतिय अहियासणया, एए णं सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता समणाउसो ! सेवं भंते ! २ जाव विहरति। [शत० १७ उ० ३ सू० ६००]

अह तवमग्गं तीसइमं अज्झयणं

अथ तपोमार्ग त्रिंशत्तममध्ययनम्

उनत्तीसवे अध्ययन में अप्रमादता का विशेष वर्णन किया गया है और साथ ही सम्यक्त्व मे पराक्रम करने का भी उपदेश दिया गया है, परन्तु सम्यक्त्वी और अप्रमादी जीव को सँचित किए हुए पाप-कर्मो का क्षय करने के निमित्त तपश्चर्या की अधिक आवश्यकता है, अत: इस तीसवे अध्ययन मे तपश्चर्या का वर्णन किया जाता है। यथा –

जहा उ पावगं कम्मं, रागदोससमज्जियं।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥ १ ॥

यथा तु पापकं कर्म, राग-द्वेषसमर्जितम्।
क्षपयति तपसा भिक्षुः, तदेकाग्रमनाः श्रृणु ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–**जहा**–जिस प्रकार से, **राग-दोससमज्जियं**–राग-द्वेष से उपार्जन किए हुए, **पावगं कम्मं**–पापकर्म, **खवेइ**–क्षय करता है, **तपसा**–तप से, **भिक्खू**–भिक्षु–साधु, **तं**–वह, **एगग्गमणो**–एकाग्रमन होकर, **सुण**–सुनो, **उ**–अवधारण मे।

मूलार्थ–राग-द्वेष से अर्जित किए हुए पापकर्म को भिक्षु जिस प्रकार तप के द्वारा क्षय करता है, उसको तुम एकाग्रमन होकर श्रवण करो।

टीका–श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से तपश्चर्या का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि जितने भी पापकर्म हैं, उन सबके उपार्जन करने का हेतु राग-द्वेष है। राग और द्वेष से ही पापकर्मो का संचय किया जाता है, अत: उन संचित किए पापकर्मों का क्षय करने के लिए मैं तुम को तपश्चर्या अर्थात् तपकर्म के अनुष्ठान का उपदेश करता हू। तुम उसको एकाग्रचित्त से अर्थात् ध्यान-पूर्वक सुनो।

यहा पर 'श्रृणु' इस क्रियापद के द्वारा शिष्य को श्रवणोन्मुख होने के लिए आमत्रित किया गया है।

कर्मों का क्षय करने के लिए इस जीव को प्रथम अनास्त्रवी—आस्त्रव-रहित होने की परम आवश्यकता है, अतः निम्नलिखित गाथा में अनास्त्रवी का स्वरूप वर्णन करते हैं, यथा –

पाणिवह—मुसावाया, अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥ २ ॥

प्राणिवध-मृषावाद, अदत्त-मैथुन-परिग्रहेभ्यो विरतः।
रात्रिभोजनविरत·, जीवो भवति अनास्त्रवः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—पाणिवह—प्राणिवध, **मुसावाया**—मृषावाद, **अदत्त**—चोरी, **मेहुण**—मैथुन, **परिग्गहा**—परिग्रह से, **विरओ**—विरत-विरक्त, **राईभोयणविरओ**—रात्रि-भोजन का त्यागी, **जीवो**-जीव, **अणासवो**—आस्त्रवरहित, **भवइ**—हाता है।

मूलार्थ—प्राणिवध अर्थात् हिंसा, मृषावाद अर्थात् झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से तथा रात्रि-भोजन से विरत अर्थात् विरक्त हुआ जीव अनास्त्रवी अर्थात् आस्त्रवरहित होता है।

टीका—हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह, ये पांच आस्त्रव कहे जाते है। इन पावों आस्त्रवा तथा रात्रि-भोजन का त्याग करने वाला जीव अनास्त्रवी अर्थात् आस्त्रवरहित माना जाता है। यद्यपि रात्रि-भोजन का पहले व्रत में ही समावेश हो जाता है, अर्थात् उक्त पाच आस्त्रवो के त्याग मे रात्रि-भोजन का त्याग भी आ जाता है, तथापि उसकी प्रधानता बताने के लिए उसका पृथक् ग्रहण किया गया है।

यहा पर इतना ध्यान रहे कि भव्य जीव का प्रधान लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है, परन्तु मोक्ष का प्राप्त होना निरतिचार सयम की सम्यक् आराधना पर अवलम्बित हैं तथा सयम की सम्यक् आराधना के लिए इस जीव को सर्वथा अनास्त्रवी अर्थात् आस्त्रवरहित होने की आवश्यकता है। इसी विचार से भगवान् ने प्रथम अनास्त्रवी होने का उपदेश दिया है।

अब अनास्त्रवी होने का उपाय बताते हैं, यथा –

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो ॥ ३ ॥

पञ्चसमितस्त्रिगुप्तः, अकषायो जितेन्द्रियः।
अगौरवश्च निःशल्य., जीवो भवत्यनास्त्रवः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वय·—पंचसमिओ—पांच समितियो से युक्त, **तिगुत्तो**—तीनो गुप्तियो से गुप्त, **अकसाओ**—कषायरहित, **जिइंदिओ**—जितेन्द्रिय, **अगारवो**—गर्व से रहित, **य**—और, **निस्सल्लो**—शल्य

से रहित, **जीवो**–जीव, **अणासवो**–आस्रव-रहित, **होइ**–होता है।

मूलार्थ–पांच समितियों तथा तीन गुप्तियों से युक्त, कषाय-रहित, जितेन्द्रिय और तीन प्रकार के गर्वों तथा तीन प्रकार के शल्यों से रहित जो जीव है वह अनास्रवी होता है।

टीका–ईया-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-निक्षेप-समिति और परिष्ठापना-समिति, इन पांच समितियों तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, इन तीन गुप्तियो का वर्णन पीछे आ चुका है। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाद की सज्ञा से प्रसिद्ध है। इन्द्रियां को जीतने अर्थात् वश मे रखने वाला जितेन्द्रिय है। ऋद्धिगर्व, सातागर्व और रसगर्व, ये तीन प्रकार के गर्व माने गए हैं तथा माया, निदान और मिथ्यादर्शन ये तीन शल्य हैं। ऊपर जो कुछ बताया गया है, वह सब अनास्रव अर्थात् आस्रवरहित होने का साधन बताया गया है। जैसे–पाचो समितियो का पालन करना, तीनों गुप्तियों का आराधन करना, चार प्रकार के कषायो से रहित होना, इन्द्रियों का दमन करना, तीन प्रकार के अभिमान और शल्यो से रहित होना, ये सब अनास्रवता के हेतु हैं, अतः इन उक्त साधनो का अनुष्ठान करने वाला जीव अनास्रवी कहा जाता है।

अब कर्मक्षय की विधि का वर्णन करते हैं, यथा –

एएसिं तु विवच्चासे, रागदोससमज्जियं ।
खवेइ उ जहा भिक्खू, तं मे एगमणो सुण ॥ ४ ॥

एतेषां तु विपर्यासे, रागद्वेषसमर्जितम् ।
क्षपयति तु यथा भिक्षुः, तन्मे एकमनाः श्रृणु ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–**एएसिं**–इन उक्त गुणों के, **विवच्चासे**–विपर्यास से, **रागदोस**–राग और द्वेष से, **समज्जियं**–उपार्जन किया हुआ कर्म, **जहा**–जिस प्रकार, **भिक्खू**–भिक्षु, **खवेइ**–खपाता है, **त**–उसको, **मे**–मुझसे, **एगमणो**–एकमन होकर, **सुण**–श्रवण करो।

मूलार्थ–इन उक्त गुणों से विपरीत दोषो के द्वारा राग-द्वेष से अर्जित किए हुए कर्म को जिस विधि से भिक्षु नष्ट करता है उसको तुम एकाग्रचित्त होकर श्रवण करो।

टीका–प्रस्तुत गाथा में कर्मों के क्षय करने के प्रकार को बताने की प्रतिज्ञा की गई है। आचार्य कहते है कि जिस विधि से भिक्षु संचित किए हुए पाप-कर्मों का क्षय करता है, उस विधि को मै तुम्हारे प्रति वर्णन करता हू तुम एकाग्रचित होकर सुनो।

तात्पर्य यह है कि अहिंसादि गुणो के विपरीत आस्रव के हेतु जो दोष हैं, उनके द्वारा राग-द्वेष से पाप-कर्मो का संचय किया जाता है। उन संचित किए हुए पाप-कर्मो को नष्ट करने का जो मार्ग है, उसको बताने की प्रस्तुत गाथा मे प्रतिज्ञा की गई है।

उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार कर्म-क्षय का प्रकार बताते हुए प्रथम एक दृष्टान्त के द्वारा उसकी भूमिका प्रस्तुत करते हैं, यथा–

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥ ५ ॥

यथा महातडागस्य, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उत्सिञ्चनेन तपनेन, क्रमेण शोषणा भवेत् ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–**जहा**–जैसे, **महातलायस्स**–महान् तालाब के, **जलागमे**–जल के आने के मार्ग का, **संनिरुद्धे**–निरोध किए जाने पर, **उस्सिंचणाए**–उलीचने से, **तवणाए**–सूर्य के ताप से, **कमेणं**–क्रम से, **सोसणा**–सुखाया जाना, **भवे**–होता है।

मूलार्थ–जिस प्रकार किसी बड़े तालाब का पानी, जल के आने के मार्गो का निरोध करने से, पानी को उलीचने से तथा सूर्य के ताप से क्रमशः सुखाया जाता है–(आगे की गाथा से सम्बन्ध करके अर्थ करना चाहिए)।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे कर्मो का क्षय करने के मार्ग को दृष्टान्त द्वारा प्रस्तावित किया गया है। जैसे किसी बडे भारी तालाब का पानी सुखाने के लिए प्रथम उसमे जल के आने के मार्गो को रोका जाता है, फिर उसमे रहे हुए जल को उलीचकर बाहर फेका जाता है और शेष जल को सूर्य के ताप से सुखाया जाता है–[इसका आगे की गाथा से सम्बन्ध है]।

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥ ६ ॥

एवं तु संयतस्यापि, पापकर्मनिरास्रवे।
भवकोटिसञ्चित कर्म, तपसा निर्जीर्यते ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–**एव**–उसी प्रकार, **संजयस्सावि**–सयत के भी, **पावकम्मनिरासवे**–पाप-कर्म के निरास्रव-विषय में, **भवकोडी**–करोड़ भवो का, **संचियं**–संचित किया हुआ, **कम्मं**–पापकर्म, **तवसा**–तप से, **निज्जरिज्जइ**–निर्जीर्ण किया जाता है।

मूलार्थ–उसी प्रकार संयमी पुरुष के नवीन पाप कर्म भी [व्रत आदि के द्वारा] निरास्रव अर्थात् निरुद्ध कर दिए जाते हैं और करोड़ो भवों अर्थात् जन्मों के संचित किए हुए पाप-कर्म तप के द्वारा निर्जीर्ण किए जाते है।

टीका–उसी प्रकार संयम शील साधक के भी नए पाप-कर्मो के आने के मार्गो का व्रत आदि के द्वारा निरोध किया जाता है। फिर उसमे अनेक जन्मो के संचित किए हुए पापकर्मो को तप द्वारा नष्ट किया जाता है। यहां पर तालाब के समान भिक्षु और तालाब मे भरे हुए जल के समान करोडो जन्मो के सचित किए हुए पाप कर्म, तथा जल के आने के मार्ग आस्रव है। जिस प्रकार तालाब में भरे हुए जल को यंत्रादि के द्वारा उलीच कर बाहर निकाल दिया जाता है, अथवा सूर्य के आतप से सुखा दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे संचित हुए अनेक जन्मो के पाप-कर्मो का तपश्चर्या के द्वारा क्षय कर

दिया जाता है। यहां पर आया हुआ 'कोटि' शब्द बहुत्व का बोधक और अनेक जन्मो का सूचक है।

अब तप और उसके भेदों का वर्णन करते हैं –

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥ ७ ॥

तत्तपो द्विविधमुक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
बाह्यं षड्विधमुक्तं, एवमाभ्यन्तरं तपः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः–**सो**–वह, **तवो**–तप, **दुविहो**–दो प्रकार का, **वुत्तो**–कहा है, **बाहिर**–बाह्य तप, **तहा**–तथा, **अब्भंतरो**–आभ्यन्तर तप, **बाहिरो**–बाह्य तप, **छव्विहो**–छ. प्रकार का, **वुत्तो**–कहा है, **एवं**–इसी प्रकार, **अब्भंतरो तवो**–आभ्यन्तर तप भी छ· प्रकार का है।

मूलार्थ–वह तप बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का कहा है। उसमें बाह्य तप छः प्रकार का है और उसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छः प्रकार का है।

टीका–तप के बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद है। उनमे बाह्य तथा आभ्यन्तर तप भी छः-छ प्रकार का है। बाह्य तप द्रव्य की अपेक्षा रखता है और आभ्यन्तर तप मे भाव की प्रधानता रहती है। बाह्य तप की लोक मे विशेष प्रसिद्धि होती है। अन्य मतों मे भी इसका अनेक प्रकार से अनुष्ठान किया जाता है, अत: लोक के प्राय: सभी मतों मे प्रसिद्ध होने से यह तप बाह्य कहा जाता है। इसके अतिरिक्त बाह्य तप का मुख्य प्रयोजन इस जीव को अप्रमत्त रखना है, क्योंकि अप्रमादी जीव ही संयमशील बन सकता है अन्यथा प्रमादयुक्त होने से उसकी प्रवृत्ति पाप की ओर झुकती रहती है जो कि किसी भी प्रकार से इष्ट नही है। आभ्यन्तर तप की प्रसिद्धि प्राय· कुशल जनो में ही होती है, क्योकि इस तप मे अन्त:करण का व्यापार ही मुख्य होता है, इसलिए यह तप भाव-प्रधान है।

अब प्रथम बाह्य तप के विषय में कहते हैं –

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ ॥ ८ ॥

अनशनमूनोदरिका, भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः
कायक्लेशः संलीनता च, बाह्यं तपो भवति ॥ ८ ॥

पदार्थान्वय·–**अणसणं**–अनशन, **ऊणोयरिया**–ऊनोदरी–प्रमाण से न्यून आहार करना, **भिक्खायरिया**–भिक्षाचर्या, **य**–और, **रसपरिच्चाओ**–रस का परित्याग, **कायकिलेसो**–काय-क्लेश, **संलीणया**–सलीनता, **बज्झो**–बाह्य, **तवो**–तप, **होइ**–होता है।

मूलार्थ–अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता, ये बाह्य तप के छ. भेद हैं।

टीका–इस गाथा में बाह्य तप के भेदो का उल्लेख किया गया है तथा इन भेदो में से प्रत्येक का वर्णन आगे की गाथाओं मे भली-भाति किया जाएगा, प्रस्तुत गाथा में तो इनका केवल नाम मात्र दिया गया है जो कि वर्णन-शैली के सर्वथा अनुरूप ही है।

अब क्रम-प्राप्त प्रथम अनशन-व्रत का वर्णन करते हैं –

इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे।
इत्तरिय सावकंखा, निरवकंखा उ बिइज्जिया ॥ ९ ॥

इत्वरिकं मरणकालं च, अनशन द्विविधं भवेत्।
इत्वरिक सावकाङ्क्षं, निरवकाङ्क्ष तु द्वितीयम् ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–**इत्तरिय**–थोड़े समय तक, **य**–और, **मरणकाला**–मरण-काल-पर्यन्त, **अणसणा**–अनशन, **दुविहा**–दो प्रकार का, **भवे**–होता है, **इत्तरिया**–थोड़े समय का, **सावकंखा**–आकाक्षा-सहित है, **बिइज्जिया**–द्वितीय, **निरवकंखा**–आकांक्षा से रहित होता है, **उ**–भिन्न क्रम में है।

मूलार्थ–अनशन दो प्रकार का है–(१) इत्वरिक अर्थात् थोड़े समय का और (२) मरण-कालपर्यन्त। इनमे प्रथम आकांक्षा सहित अर्थात् अवधि-सहित और दूसरा निराकांक्ष अर्थात् अवधि से रहित होता है।

टीका–अनशन तप के दो भेद है–एक थोड़े समय का, दूसरा मरणपर्यन्त का। इनमें इत्वरिक अर्थात् थोडे समय का जो अनशन है वह सावधिक है, अर्थात् अमुक मर्यादा या नियत काल तक होता है। नियत काल के पश्चात् उसमें भोजन करने की आकाक्षा बनी रहती है, इसलिए वह सावकाक्ष कहलाता है।

मृत्युपर्यन्त जो अनशन अर्थात् निराहार उपवास है, वह निरवकाक्ष है, क्योकि उसमे जीवन-पर्यन्त आहार की आकांक्षा नही होती। इत्वरकालिक अनशन तप की अवधि दो घडी से लेकर छ· मास तक मानी गई है। दूसरे की कोई अवधि नही होती है। इसलिए पहले मे भोजन की आकाक्षा विद्यमान है और दूसरे मे उसका अभाव है।

'मरणकाला अणसण' यहां पर स्त्रीलिग का निर्देश प्राकृत के कारण से किया गया है।

अब उद्देश्यनिर्देशन्याय से अर्थात् उद्देश्य के अनुसार ही निर्देश किया जाता है, इस न्याय का आश्रयण करके प्रथम इत्वरिक-तप के भेदों का वर्णन करते हैं। यथा –

जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गो य ॥ १० ॥

तत्तो य वग्गवग्गो, पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो ।
मणइच्छियचित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥ ११ ॥

यत्तदित्वरिकं तपः, तत्समासेन षड्विधम् ।
श्रेणितपः प्रतरतपः, घनश्च तथा भवति वर्गश्च ॥ १० ॥

ततश्च वर्गवर्गः, पञ्चमं षष्ठकं प्रकीर्णतपः ।
मनईप्सितं चित्रार्थ, ज्ञातव्यं भवतीत्वरिकम् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–**जो**–जो, **सो**–वह, **इत्तरिय**–इत्वरिक, **तवो**–तप है, **सो**–वह, **समासेण**–सक्षेप से, **छव्विहो**–छः प्रकार का है, **सेढितवो**–श्रेणी-तप, **पयरतवो**–प्रतर-तप, **य**–तथा, **घणो**–घन-तप, **तह**–उसी प्रकार, **वग्गो**–वर्ग-तप, **होइ**–होता है, **य**–समुच्चयार्थक है, **तत्तो**–तदनन्तर, **वग्गवग्गो**–वर्गवर्ग-तप, **य**–पुनः, **पंचमो**–पांचवां है, **य**–और, **पइण्णतवो**–प्रकीर्ण-तप, **छट्ठओ**–छठा है, **मणइच्छिय**–मनोवाञ्छित, **चित्तथो**–विचित्र स्वर्ग-अपवर्ग फल को देने वाला, **नायव्वो**–जानना चाहिए, **इत्तरिओ**–इत्वरिक, **होइ**–होता है।

मूलार्थ–जो इत्वरिक तप है वह संक्षेप से छः प्रकार का है। यथा–१. श्रेणि-तप, २ प्रतर-तप, ३. घन-तप, ४. वर्ग-तप, ५. वर्ग वर्ग-तप और ६ प्रकीर्ण-तप। इस प्रकार नाना प्रकार के मनोवांछित स्वर्गापवर्गादि फलों को देने वाला यह इत्वरिक सावधिक तप है।

टीका–काल मर्यादा को लिए हुए जो पहला इत्वरिकनामक तप है उसके श्रेणि-तप आदि ऊपर बताए गए छः भेद है।

(१) **श्रेणितप**–एक उपवास से लेकर छः मासपर्यन्त जो तप (उपवास) किया जाता है उसे श्रेणि-तप कहते है।

(२) **प्रतर-तप**–श्रेणि से गुणाकार किए हुए श्रेणि-तप को प्रतर तप कहा जाता है। यथा–एक उपवास और दो, तीन, चार उपवास। इस प्रकार इसमें श्रेणियो की स्थापना की जाती है। इस श्रेणि को चार से गुणा करने पर षोडशपदात्मक प्रतर होता है, वही प्रतर-तप है। इसकी स्थापना निम्नलिखित यत्र द्वारा जान लेनी चाहिए।

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

(३) **घन-तप**–इस षोडशपदात्मक प्रतर को श्रेणि से गुणाकार करने पर घन-तप होता है जिसके ६४ कोष्ठक बनते है। यंत्र की स्थापना पहले जैसी जाननी चाहिए।

(४) **वर्ग-तप**–घन-तप को घन से गुणा करने पर अर्थात् ६४ को ६४ से गुणा देने पर ४०९६

कोष्ठक बनते। यही वर्ग-तप है।

(५) **वर्गवर्ग-तप**—वर्ग को वर्ग से गुणाकार करने पर वर्गवर्ग-तप होता है। तात्पर्य यह है कि ४०९६ को इतने ही अंकों से गुणने पर १६७७७२१६ कोष्ठक होते हैं। इसी का नाम वर्गवर्ग-तप है। इस तप की श्रेणी भी पदचतुष्ट्यरूप पहले जैसी ही जाननी चाहिए।

(६) **प्रकीर्ण-तप**—यह तप श्रेणिबद्ध नहीं होता, किंतु अपनी शक्ति के अनुसार किया जाता है। इसके अनेक भेद हैं। यथा—नमस्कारादिसहित, पूर्वपुरुष-आचरित, यवमध्य, वज्रमध्य और चन्द्रप्रतिमा आदि अनेक प्रकार के तपों का इसमे समावेश है। यह इत्वरिक-तप अनेक प्रकार के स्वर्ग, अपवर्ग और तेजो-लेश्या आदि मनोवांछित फलो का देने वाला कहा गया है।

यहां पर इतना स्मरण रहे कि तप-कर्म के अनुष्ठान का जो शास्त्र मे विधान है, वह अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार करने का विधान है, न कि किसी हठ या रोष आदि से करने का आदेश है। कारण यह है कि अपनी इच्छा अर्थात् आत्म-शुद्धि को लक्ष्य में रखकर अपनी शक्ति के अनुसार जो तप किया जाता है, वही तप उत्तम और अभीष्ट फल को देने वाला होता है। इससे विपरीत जो तप किया जाता है वह निष्फल होने के अतिरिक्त अनिष्ट फलप्रद भी होता है।

अब यावत्कालिक अनशन के विषय में कहते हैं –

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया ।
सवियारमवियारा, कायचिट्ठं पई भवे ॥ १२ ॥

यत्तदनशनं मरणे, द्विविधं तद्व्याख्यातम् ।
सविचारमविचारं, कायचेष्टां प्रति भवेत् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—**जा**—जो, **सा**—वह, **मरणे**—मरण-विषयक, **अणसणा**—अनशन है, **सा**—वह, **दुविहा**-दो प्रकार का, **वियाहिया**—प्रतिपादन किया गया है, **सवियारं**—चेष्टा-रूप-विचार-सहित, **अवियारा**—चेष्टारूप-विचार-रहित, **कायचिट्ठं**—काय की चेष्टा के, **पई**—प्रति—आश्रय से, **भवे**-होता है।

मूलार्थ—मरण-काल-पर्यन्त के अनशन-तप के भी कायचेष्टा को लेकर सविचार और अविचार ये दो भेद वर्णन किए गए हैं।

टीका—दूसरा अनशन-तप यावत्कालिक अर्थात् आयु-पर्यन्त का होता है। उसके भी सविचार और अविचार, ये दो भेद है।

१ **सविचार**—शरीर की चेष्टा के साथ जो अनशन किया जाता है, उसको सविचार कहते है।

२. **अविचार**—जो शरीर की चेष्टा के बिना अनशन किया जाता है, वह अविचार कहलाता है। ये दोनों भेद शरीर की चेष्टा को दृष्टि मे रखकर ही किए गए है। कारण कि भक्तप्रत्याख्यान और इंगिनीमरण, इन दोनों प्रकार के अनशन-तपों मे काया की उद्वर्तन और परिवर्तनादि चेष्टाओं का परित्याग

नहीं होता।

भक्तप्रत्याख्यान-तप—की प्रक्रिया इस प्रकार है—जब आयु का परिज्ञान हो जाए, तब गुरु के समीप जाकर अपने किए हुए नियमों की आलोचना करके और सबसे क्षमापनादि क्रिया करके जीवन-पर्यन्त तीन अथवा चार आहारो के परित्याग की प्रतिज्ञा करे। तात्पर्य यह है कि इस व्रत में आयु की अवधि को जानकर गुरुजनों के समक्ष विधि-पूर्वक जीवन भर के लिए तीन या चार आहारों का परित्याग किया जाता है, परन्तु शरीर की चेष्टाओं का परित्याग नही किया जाता, अर्थात् उठना, बैठना आदि क्रियाओं को वह अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है।

इंगिनीमरण—इस तप की अन्य सब विधि तो भक्तप्रत्याख्यान-तप की भाति ही हैं, परन्तु इतना विशेष है कि इसमे भूमि का परिमाण करना पड़ता है अर्थात् मै इतने स्थान मे ही जाऊं-आऊगा, इससे बाहर नही तथा शरीर की चेष्टाए भी उस परिमित भूमि में ही की जा सकती हैं उससे बाहर नही।

ये दोनों तप सविचार अनशन हैं, क्योंकि इनमें काया की चेष्टा बनी रहती है, अर्थात् शरीर को हिलाने-डुलाने का त्याग नही है।

पादोपगमन—इसके अतिरिक्त पादोपगमन यह अविचार-सज्ञक अनशन-तप है। इसमे शरीर की कोई भी चेष्टा नही की जा सकती। जिस प्रकार वृक्ष से कटकर भूमि पर गिरी हुई वृक्ष-शाखा स्वयं किसी प्रकार की भी चेष्टा नही करती, उसी प्रकार पादोपगमन-अनशन-तप में भी शरीर की कोई चेष्टा नहीं की जाती, अत· कायचेष्टा से रहित होने के कारण इसकी अविचार संज्ञा है।

इसके अतिरिक्त इसके सकारणक और अकारणक ये दो भेद और भी है, अर्थात् कारण होने पर अनशन करना तथा बिना कारण (आयु का अन्त निकट जानकर) अनशन करना। इस प्रकार यावत्कालिक अनशन के अनेक भेद-उपभेद माने गए है।

अब प्रकारान्तर से उक्त तप के भेदों का वर्णन करते हैं –

अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया ।
नीहारिमनीहारी, आहारच्छेओ दोसु वि ॥ १३ ॥

अथवा सपरिकर्म, अपरिकर्म चाख्यातम् ।
निर्हारि अनिर्हारि, आहारच्छेदो द्वयोरपि ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**अहवा**—अथवा, **सपरिकम्मा**—परिकर्मसहित, **य**—और, **अपरिकम्मा**—परिकर्मरहित, **आहिया**—कथन किया है, **नीहारी**—नगरादि से बाहर, **अनीहारी**—नगरादि के भीतर, **आहारच्छेओ**—आहार का व्यवच्छेद, **दोसु वि**—दोनों मे ही माना गया है।

मूलार्थ—अथवा सपरिकर्म और अपरिकर्म तथा नीहारी और अनिहारी, इस प्रकार यावत्कालिक अनशन-तप के दो भेद हैं। आहार का सर्वथा त्याग इन दोनों में ही होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे यावत्कालिक अनशन-तप के प्रकारान्तर से भी भेद बताए गए हैं। पहला

सपरिकर्म—दूसरों से सेवा कराना, दूसरा **अपरिकर्म** है। इनके निहारी और अनिहारी ये अन्य भी दो भेद हैं। भक्तप्रत्याख्यान और इंगिनीमरण ये दोनों सपरिकर्म है, क्योंकि इनमे स्थान-निषद्या और त्वक्परिवर्तन आदि क्रियाएं की जा सकती हैं। भक्तप्रत्याख्यान मे साधक स्वयं अथवा और किसी से शरीर सम्बन्धी वैयावृत्य अर्थात् सेवा भी करवा सकता है, परन्तु इंगिनीमरण मे तो केवल आप ही उठने-बैठने की क्रिया कर सकता है, किसी दूसरे से नही करा सकता।

जो पादोपगमन-अनशन-तप है, वह अपरिकर्म कहलाता है, क्योंकि उसमें साधक किसी दूसरे से अथवा स्वयं भी किसी प्रकार की चेष्टा अथवा सेवा नहीं करा सकता, इसलिए यह अपरिकर्म तप कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि जिस सलेखना मे परिकर्म अर्थात् सेवा आदि है, वह सपरिकर्म और जिसमे सेवा आदि का सर्वथा परित्याग हो वह अपरिकर्म है। इसी प्रकार सकारण और अकारण के विषय मे भी समझ लेना चाहिए। भूकम्प या गिरिपतनादि से जो अनशन होता है उसे सकारण कहते हैं और आयु के परिमित समय पर किया गया अनशन अकारण कहलाता है। निहारी और अनिहारी, ये दो भेद भी इसी के है। किसी पर्वत आदि की गुफा मे किया हुआ अनशन-मरण नीहारी कहलाता है और ग्राम-नगरादि मे किया हुआ अनिहारी है, परन्तु आहार का प्रत्याख्यान तो सभी प्रकार के अनशनो मे विहित है।

तात्पर्य यह है कि आहार-त्याग की दृष्टि से तो ये सब एक ही है और कायचेष्टा आदि की विभिन्नता से इनका पारस्परिक भेद है।

अब ऊनोदरी-तप के विषय में कहते हैं –

ओमोयरणं पंचहा, समासेण विहाहियं ।
दव्वओ खेत्त-कालेणं, भावेण पज्जवेहि य ॥ १४ ॥

अवमौदर्यं पञ्चधा, समासेन व्याख्यातम्।
द्रव्येण क्षेत्र-कालेन, भावेन पर्यवैश्च ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**ओमोयरण**—ऊनोदर-तप, **समासेण**—सक्षेप से, **पंचहा**—पाच प्रकार का, **वियाहियं**—कथन किया है, **दव्वओ**—द्रव्य से, **खेत्त-कालेण**—क्षेत्र और काल से, **भावेणं**—भाव से, **य**—और, **पज्जवेहि**—पर्यायो से।

मूलार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की दृष्टि से ऊनोदरी-तप के संक्षेप से पांच भेद कहे गए हैं।

टीका—अवम का अर्थ है न्यून, जिसका उदर न्यून अर्थात् ऊना हो, उसको अवमोदर कहते है, उसका भाव अर्थात् उदर की न्यूनता—ऊनता—प्रमाण से कम भरना—अवमौदर्य है। तात्पर्य यह है कि प्रमाण से कम आहार करना, अर्थात् उदर को कुछ खाली रखना रूप जो तप है वही ऊनोदरी-तप है। इसके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याया से पाच भेद माने गए है।

यह ऊनोदरी तप, कर्म निर्जरा का हेतु होने के अतिरिक्त लौकिक दृष्टि से भी बड़े महत्व का है। कम आहार करने से उदर-सम्बन्धी अनेक प्रकार के रोगों की शांति होती है, चित्त भी प्रसन्न रहता है, आलस्य का भी आक्रमण नही होता, इसलिए मानसिक वृत्ति मे भी विकास और निर्मलता का संचार होता है।

अब प्रथम द्रव्य-सम्बन्धी भेद का वर्णन करते हैं –

जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे ।
जहन्नेणेगसित्थाई, एवं दव्वेण उ भवे ॥ १५ ॥
यो यस्य त्वाहारः, ततोऽवमं तु यः कुर्यात् ।
जघन्येनैकसिक्थकम्, एवं द्रव्येण तु भवेत् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः–जो–जो–जितना, **जस्स**–जिसका, **आहारो**–आहार है, **तत्तो**–उससे, **ओमं**–न्यून, **करे**–करे, **जहन्नेण**–जघन्य से–न्यून से न्यून, **एगसित्थाई**–एक सिक्थिक–एक कवल, **एवं**–इस प्रकार, **दव्वेण**–द्रव्य से (ऊनोदरी-तप), **भवे**–होता है **(उ, तु)** पदपूर्ति में आया हुआ है।

मूलार्थ–जिसका जितना आहार है, उसमें कम से कम एक कवल न्यून करना–कम खाना, द्रव्य-ऊनोदरी-तप कहलाता है।

टीका–शास्त्रो मे पुरुष का ३२ कवल-प्रमाण और स्त्री का २८ कवल–(ग्रास) प्रमाण आहार कहा गया है तथा २४ कवल-प्रमाण आहार नपुंसक का माना गया है। इस प्रमाण से कम खाना ऊनोदर-तप है।

इसके अतिरिक्त आगमो मे लिखा है कि जो साधक एक ग्रास से लेकर आठ ग्रास-पर्यन्त आहार करे वह **अल्पाहारी** कहा जाता है। नौ से लेकर बारह ग्रास तक आहार करने वाला अपार्द्ध कहलाता है। एव जो १६ तक करे उसको दो भाग ऊनोदर-तप करने वाला कहते है तथा २४ कवल तक आहार करना **पादोन-ऊनोदरी-तप** है और ३१ कवल तक आहार करना किंचित्मात्र ऊनोदरी-तप है। तात्पर्य यह है कि जो ३२ ग्रास मे से एक ग्रास कम लेता है उसको प्रमाण से अधिक आहार वाला नही कहा जाता, किन्तु वह न्यूनतम ऊनोदर-तप का आचरण करने वाला माना जाता है। यदि संक्षेप से कहे तो प्रमाण से कम आहार करना ऊनोदरी-तप है।

अब क्षेत्र-सम्बन्धी ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं, यथा –

गामे नगरे तह रायहाणि-, निगमे य आगरे पल्ली ।
खेडे कब्बड-दोणमुह-, पट्टण-मडंब-संबाहे ॥ १६ ॥
आसमपए विहारे, संनिवेसे समाय-घोसे ।
थलि-सेणा-खंधारे, सत्थे संवट्ट-कोट्टे य ॥ १७ ॥
वाडेसु व रत्थासु व, घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं ।

कप्पइ उ एवमाई, एवं खेत्तेण उ भवे ॥ १८ ॥

ग्रामे नगरे तथा राजधान्यां, निगमे चाकरे पल्याम् ।
खेटे कर्बटे द्रोणमुखे, पत्तन-मडंब-सम्बाधे ॥ १६ ॥

आश्रमपदे विहारे, सन्निवेशे समाजघोषे च ।
स्थली सेना स्कन्धावारे, सार्थे संवर्त-कोटे च ॥ १७ ॥

वाटेषु वा रथ्यासु वा, गृहेषु वैवमेतावत् क्षेत्रम् ।
कल्पते त्वेवमादि, एवं क्षेत्रेण तु भवेत् ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**गामे**—ग्राम में, **नगरे**—नगर में, **तह**—तथा, **रायहाणि**—राजधानी मे, **निगमे**—निगम मे, **य**—और, **आगरे**—आकर में, **पल्ली**—पल्ली में, **खेडे**—खेड़े में, **कब्बडे**—कर्बट में, **दोणमुहे**—द्रोणमुख में, **पट्टणे**—पत्तन में, **मडंबे**—मडब मे, **संबाहे**—संबाध में, **आसमपए**—आश्रमपद में, **विहारे**—विहार में, **संनिवेसे**—सन्निवेश में, **समाय**—समाज मे, **घोसे**—घोष मे, **य**—और, **थलि**—स्थल, **सेणा**—सेना में, **खंधारे**—स्कन्धावार में, **सत्थे**—सार्थ में, **संवट्ट**—संवर्त में, **य**—तथा, **कोट्टे**—कोट मे, **वाडेसु**—घरों के समूह मे, **य**—और, **रत्थासु**—गलियो में, **घरेसु**—घरों मे, **वा**—अथवा, **एवं**—इस प्रकार, **इत्तियं**—एतावन्मात्र, **खेत्तं**—क्षेत्र अर्थात् भिक्षाचारी के वास्ते, **कप्पइ**—कल्पता है, **आई**—आदि शब्द से गृहशाला आदि, **एवं**—इस प्रकार, **खेत्तेण**—क्षेत्र से, **भवे**—ऊनोदर-तप होता है, **उ**—पूर्णार्थक है।

मूलार्थ—ग्राम, नगर, राजधानी और निगम में, आकर, पल्ली, खेटक और कर्बट द्रोणमुख, पत्तन और संबाध में, आश्रमपद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थल, सेना, स्कन्धावार, सार्थ, संवर्त और कोट में तथा घरों के समूह, रथ्या और गृहों में, एतावन्मात्र क्षेत्र में भिक्षाचरण कल्पता है। आदि शब्द से अन्य गृहशाला आदि जानना चाहिए। इस प्रकार से यह क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप कहा है।

टीका—ऊपर जितने स्थानो का नाम बताया है उनमें से, आज 'मै इतने स्थानों में से भिक्षा ग्रहण करूंगा' इस प्रकार का अभिग्रह अर्थात् नियम—मर्यादा करना **क्षेत्र-ऊनोदरी-तप** है।

जो गुणो को ग्रसता है और अष्टादश करो से युक्त है वह **ग्राम** है। जो कर से रहित है वह—न-कर—**नगर** है।

राजा ने जिसको धारण किया है अर्थात् राजा के रहने का जो स्थान है वह **राजधानी** है।

जहां पर अनेक वणिक् लोग बसते हो और नाना प्रकार के पण्य जहा से निकलते हो वह **निगम स्थान** है।

हिरण्यादि की उत्पत्ति का स्थान **आकर** कहलाता है।

अटवी के मध्यगत प्रदेश को अथवा जहां दुष्ट जनो का पालन हो उसे **पल्ली** कहते हैं।

मिट्टी के प्राकार से मंडित स्थान **खेटक** होता है।

कर्बट छोटे गांव को कहते है।

जहां पर जल व स्थल दोनो के प्रवेश का स्थान हो वह **द्रोणमुख** है।

जहा पर सर्व दिशाओं से लोग आते हैं और व्यापार करते हैं वह **पत्तन** कहलाता है।

इसी प्रकार जलपत्तन और स्थलपत्तन भी जान लेने चाहिएं। तात्पर्य यह है कि जलमध्यवर्ती जलपत्तन और स्थलमध्यवर्ती स्थलपत्तन है। चारों दिशाओ मे जिसके अढ़ाई-अढाई कोस तक कोई ग्राम न हो, उसे **मडंब** अर्थात् **मंडप** कहते है।

जहां पर चारों वर्ण विशेषता से निवास करते हो, वह **संबाध** कहलाता है, अथवा जो ग्राम और पर्वत के बीच में बसा हो उसे संबाध कहते है।

जहा पर तपस्वी लोग रहते हों, वह **आश्रम**, भिक्षुओं के रहने का स्थान **विहार**, (देवस्थान भी विहार कहलाता है) तथा यात्रादि के समय पर जहा लोग एकत्रित हों, वह **सन्निवेश**, एवं पथिक लोगो के एकत्रित होने का स्थान **समाज** कहलाता है।

गोकुलस्थान का नाम **घोष** है। ऊंची भूमि के भाग को **स्थल** कहते है। **सेना**—छावणी। **स्कन्धावार**—चतुरगिणी सेना के ठहरने का स्थान।

सार्थ—जहा पर पशुओ के व्यापारी लोग आकर ठहरते हो, अर्थात् जहा पर पशुओ की मडी हो।

संवर्त—जहा पर भय-सत्रस्त लोग आकर आश्रय ले, ऐसा प्रदेश।

कोट—नगर की रक्षा के लिए प्राकार वाला प्रदेश।

वृत्ति—अर्थात् वाड आदि से व्याप्त गृहों के समूह को **वाड़** कहते है।

रथ्या—अर्थात् गली-कूचा आदि।

घर—सामान्य गृह आदि शब्द से अन्य गृहशाला आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

इन पूर्वोक्त स्थानो मे साधु यदि गोचरी के लिए जाए तो अभिग्रह-पूर्वक ही जाए, अर्थात्—आज 'मैं इतने स्थानों से भिक्षा ग्रहण करूंगा या इतने स्थानो मे भिक्षा के लिए जाऊंगा', इस प्रकार का नियम करे। यदि उन नियत किए हुए क्षेत्रों से भिक्षा न मिले तो उपवास कर लेवे, अथवा कम मिले तो उतने मात्र से निर्वाह कर लेवे, किन्तु अन्य क्षेत्रो मे न जाए यह **क्षेत्रसंबंधी ऊनोदरी-तप** है।

इसके अतिरिक्त दूर के क्षेत्रों में भिक्षा के निमित्त जाने से अप्रतिबद्धता और क्षेत्रस्पर्शना भी सहज मे ही हो जाती है। अपि च—अभिग्रह-पूर्वक गमन करने तथा सामान्य गमन करने पर लोगो के हृदय में क्षेत्र-परिज्ञान और साधुवृत्ति की प्रथा अंकित हुए बिना नहीं रहती।

अब अन्य प्रकार से क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं –

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्ति पयंगवीहिया चेव ।
संबुक्कावट्टाऽऽययगंतुं, पच्चागया छट्ठा ॥ १९ ॥

पेटा चार्धपेटा, गोमूत्रिका पतङ्गवीथिका चैव ।
शम्बूकावर्ता आयतं गत्वा, पश्चादागता षष्ठी ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः–**पेडा**–पेटिकावत् गृहो की पंक्ति, **य**–और, **अद्धपेडा**–अर्द्धपेटिकासदृश गृहपंक्ति, **गोमुत्ति**–गोमूत्रिकासदृश, **पयंगवीहिया**–पतगवीथिका के सदृश, **च**–पुनः, **एव**–अवधारणा अर्थ मे है, **संबुक्कावट्टा**–शम्बूकावर्त–शंखावर्त–के तुल्य, **आययगंतुं**–दीर्घ-लम्बा जाकर पीछे आना, **पच्चागया**–प्रत्यागतनामक, **छट्ठा**–छठी विधि है।

मूलार्थ–१. पेटिका अर्थात् सन्दूक के आकार मे, २. अर्द्धपेटिका के आकार मे, ३. गोमूत्रिका-टेढ़े-मेढ़े आकार में, ४. पतगवीथिका के आकार में, ५. शंखावर्त आकार में और ६. लम्बा गमन करके फिर लौटते हुए भिक्षाचरी करना, यह छः प्रकार का क्षेत्र-सम्बन्धी ऊनोदरी-तप है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है। जो मोहल्ला चतुष्कोण पेटिका के आकार के सदृश हो उसमे अभिग्रह-पूर्वक गोचरी करना अर्थात् आज पेटिका के समान चतुष्कोण घरो की पंक्ति में ही गोचरी के लिए जाऊंगा, इस प्रकार नियम-पूर्वक आहार को जाना, यह क्षेत्रसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का प्रथम भेद है।

इसी प्रकार **अर्द्धपेटिकाकार** गृहो में भिक्षा के लिए जाने की प्रतिज्ञा करना, दूसरा भेद है।

गोमूत्रिका–वक्र अर्थात् टेढे-मेढे आकार के घरों में जाने का नियम करना तीसरा भेद है।

पतग का अर्थ है शलभ, जैसे पतग उड़ता है तद्वत आहार लेना, अर्थात् प्रथम एक घर से आहार लेकर, फिर उसके समीपवर्ती पाच-छः घरो को छोडकर सातवे घर से आहार जा लेना, उसे **पतंगवीथिका** कहते है।

शखावर्त के समान घूम-घूमकर आहार लेने की प्रतिज्ञा करना, यह पाचवा भेद है। शखावर्त के भी दो प्रकार हैं–एक आभ्यन्तर अर्थात् गली के अन्दर और दूसरा बाह्य अर्थात् गली के बाहर।

इनके अतिरिक्त छठा भेद वह है जो कि प्रथम गली के आरम्भ से अन्त तक सीधे चले जाना और फिर वहां से लौटते हुए घरो से आहार लेना। यह छः प्रकार का क्षेत्र-सम्बन्धी ऊनोदरी या **अवमोदरण** तप कहा है।

यद्यपि यह अभिग्रह-सम्बन्धी कथन भिक्षाचारी मे किया गया है तथापि निमित्तभेद से इसका उक्त तपश्चर्या मे भी ग्रहण अभीष्ट है। यथा एक ही देवदत्त के पिता-पुत्रादि के सम्बन्ध को लेकर अनेक प्रकार से बुलाया जाता है, उसी प्रकार दृष्टिभेद से तप का भी अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है।

अब काल-सम्बन्धी ऊनोदर-तप के विषय में कहते हैं –

दिवसस्स पोरुसीणं, चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वं ॥ २० ॥

दिवसस्य पौरुषीणां, चतसृणामपि तु यावान् भवेत् कालः ।
एवं चरन् खलु, कालावमत्वं ज्ञातव्यम् ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः–दिवसस्स–दिन की, **चउण्हं पि**–चार ही, **पोरुसीणं**–पोरुषियो का, **जत्तिओ**–यावन्मात्र, **कालो**–अभिग्रह काल, **भवे**–होवे, **एवं**–इस प्रकार, **चरमाणो**–विचरते हुए, **खलु**–निश्चय में, **कालोमाणं**–कालावमौदर्य, **मुणेयव्वं**–जानना चाहिए।

मूलार्थ–दिन के चार पहरों में से यावन्मात्र अभिग्रह-काल हो उसमें आहार के लिए जाना कालसम्बन्धी-अवमौदर्य-ऊनोदरी-तप है।

टीका–दिन के चार प्रहर होते है। प्रत्येक का नाम पौरुषी है। इन चार प्रहरो में इस बात का अभिग्रह (प्रतिज्ञा) करना कि आज मैं अमुक प्रहर में भिक्षा के लिए जाऊगा, उसके अतिरिक्त अन्य प्रहरों में भिक्षा लेने का मै त्याग करता हू। यदि नियत किए हुए समय पर भिक्षा मिल जाए तो वह आहार कर सकता है अन्यथा उपवास करना होगा, बस इसी का नाम काल-सम्बन्धी-ऊनोदरी-तप है। क्योंकि प्रतिज्ञात समय से अतिरिक्त समय मे जाने का वह त्याग कर चुका है। 'चरमाणो' यहा पर 'सुप्' का व्यत्यय किया हुआ है और 'पौरुषी' शब्द प्रहर के अर्थ में है।

अब प्रकारान्तर से उक्त विषय का वर्णन करते हैं –

अहवा तइयाए पोरिसीए, ऊणाए घासमेसंतो ।
चउभागूणाए वा, एवं कालेण ऊ भवे ॥ २१ ॥

अथवा तृतीयाया पौरुष्याम्, ऊनायां ग्रासमेषयन् ।
चतुर्भागोनायां वा, एवं कालेन तु भवेत् ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः–अहवा–अथवा, **तइयाए**–तीसरी, **पोरिसीए**–पौरुषी मे, **ऊणाए**–ऊनी मे, **घासं**–ग्रास की, **एसंतो**–अन्वेषणा करता हुआ, **चउभागूणाए**–चतुर्थभाग न्यून तृतीय पौरुषी में, **वा**–अथवा पाचवे भाग से न्यून, **एवं**–इस प्रकार, **कालेण**–काल से, **भवे**–होता है–ऊनोदरी तप, **ऊ**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–अथवा कुछ न्यून तीसरी पौरुषी में या चतुर्थ में और पंचम भाग न्यून पौरुषी में भिक्षा लाने की प्रतिज्ञा करना भी काल-सम्बन्धी ऊनोदरी-तप है।

टीका–तृतीय पौरुषी में आहार लाने की आज्ञा है, परन्तु तृतीय पौरुषी के भी दो-दो घड़ी-प्रमाण चार भाग होते हैं। उन चार भागो मे भी किसी एक भाग मे ही भिक्षार्थ जाना और यदि उतने समय में भिक्षा उपलब्ध न हो तो वैसे ही सन्तुष्ट रहने का जो अभिग्रह अर्थात् नियम है, उसको काल-ऊनोदरी-तप कहा है। तात्पर्य यह है कि एक पौरुषी के चार भाग कल्पना करके उनमे से ग्रहण किए गए भाग मे ही भिक्षा के लिए जाना अन्य मे नहीं। इसीलिए उक्त गाथा में 'पोरिसीए ऊणाए' अर्थात् पौरुषी के न्यून भाग में–वा चतुर्थ भाग न्यून मे ऐसा उल्लेख किया है, परन्तु यह उत्सर्गसूत्र है। अपवादसूत्र में तो **कालें कालं समायरे**' अर्थात् जिस क्षेत्र मे जो समय भिक्षा का होवे, उस समय के अनुसार अपने-अपने धार्मिक क्रियानुष्ठान में तथा नियमादि में व्यवस्था कर लेवे।

अब भाव-सम्बन्धी-ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं –

इत्थी वा पुरिसो वा, अलंकिओ वाऽनलंकिओ वावि ।
अन्नयरवयत्थो वा, अन्नयरेणं व वत्थेणं ॥ २२ ॥
अन्नेण विसेसेणं, वण्णेणं भावमणुमुयंते उ ।
एवं चरमाणो खलु, भावोमाणं मुणेयव्वं ॥ २३ ॥

स्त्री वा पुरुषो वा, अलकृतो वाऽनलकृतो वाऽपि ।
अन्यतरवयःस्थो वा, अन्यतरेण व वस्त्रेण ॥ २२ ॥
अन्येन विशेषेण, वर्णेन भावमनुन्मुञ्चन् तु ।
एवं चरन् खलु, भावावमत्वं ज्ञातव्यम् ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः–**इत्थी**–स्त्री, **वा**–अथवा, **पुरिसो**–पुरुष, **वा**–अथवा, **अलंकिओ**–अलकृत, **वा**–अथवा, **अनलंकिओ**–अनलंकृत, **वा**–अथवा, **अवि**–संभावना मे, **अन्नयर**–अन्यतर, **वयत्थो**–अवस्था वाला, **वा**–अथवा, **अन्नयरेणं**–अन्यतर, **वत्थेणं**–वस्त्र से युक्त, **व**–समुच्चय मे है, **अन्नेण**–अन्य, **विसेसेणं**–विशेष से, **वण्णेणं**–वर्ण से, **भावं**–भाव को, **अणुमुयंते**–न छोडता हुआ, उ–अवधारणार्थक है, **एवं**–इस प्रकार, **चरमाणो**–आचरण करता हुआ, **खलु**–निश्चय मे है, **भावोमाणं**–भाव-अवमौदर्य, **मुणेयव्वं**–जानना चाहिए।

मूलार्थ–स्त्री अथवा पुरुष, अलंकार से युक्त व अलकार-रहित तथा किसी वय वाला और किसी अमुक वस्त्र से युक्त हो, अथवा किसी विशेष वर्ण या भाव से युक्त हो, इस प्रकार आचरण करता हुआ अर्थात् उक्त प्रकार के दाताओ से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करने वाला साधु भाव-ऊनोदरी-तप वाला होता है।

टीका–प्रस्तुत गाथाओ मे भाव-ऊनोदरी-तप का वर्णन किया गया है। जैसे–भिक्षा-ग्रहण के लिए साधु इस प्रकार का अभिग्रह करे कि यदि अमुक स्त्री अथवा पुरुष अलकार से युक्त हो वा रहित, बाल हो या युवा या वृद्ध, अमुक प्रकार के वस्त्रो से युक्त हो या अमुक रंग के वस्त्रो से विभूषित हो, हसता हो या रोता हो, कोपयुक्त हो तथा कृष्णवर्ण हो या गौरवर्ण, इत्यादि निर्दिष्ट चिन्हो वाले दाताओ के हाथ से ही यदि भिक्षा मिलेगी तभी मै ग्रहण करूगा अन्यथा नही–इस प्रकार के अभिग्रह अर्थात् सकल्प को धारण कर भिक्षा के लिए जाना भाव-ऊनोदरी-तप कहलाता है।

यहां पर इतना ध्यान रहे कि अभिग्रह करने का तात्पर्य यह है कि जितने समय के लिए अभिग्रह किया है, उतने समय तक यदि वह फलीभूत नहीं होता तो अभिग्रही का उतना समय विशिष्ट तपश्चर्या में व्यतीत होना चाहिए।

प्रथम गाथा में आया हुआ 'वयत्थो–वयःस्थ' भी विचित्र भाव का सूचक है अर्थात् बाल, युवा और वृद्ध सभी प्रकार के जीवों को दान देने का अधिकार है और सभी की रुचि दान देने मे बनी रहनी चाहिए। दूसरी गाथा में जो 'विशेष' शब्द का उल्लेख किया है उसका अभिप्रायः यह है कि अभिग्रह

के लिए रुचि ही विशेष कारण है, अतः जैसी इच्छा हो वैसा ही, अभिग्रह धारण किया जा सकता है।

अब पर्यायसम्बन्धी ऊनोदरी-तप का वर्णन करते हैं –

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य आहिया उ जे भावा ।
एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥ २४ ॥

द्रव्ये क्षेत्रे काले, भावे चाख्यातास्तु ये भावाः ।
एतैरवमचरकः, पर्यवचरको भवेद् भिक्षुः ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः–**दव्वे**–द्रव्य मे, **खेत्ते**–क्षेत्र में, **काले**–काल में, **य**–और, **भावम्मि**–भाव मे, **जे**–जो, **भावा**–भाव, **आहिया**–कथन किए हैं, **एएहिं**–इन भावों से, **ओमचरओ**–अवमचरक मुनि, **पज्जवचरओ**–पर्यवचरक, **भिक्खू**–भिक्षु, **भवे**–होता है।

मूलार्थ–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो भाव वर्णन किए गए हैं, उन भावों से अवम चरने वाले भिक्षु को पर्यवचरक भिक्षु कहा जाता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में पर्यव-अवमौदर्य का वर्णन किया गया है। यथा–अशनादि द्रव्य में, ग्रामादि क्षेत्रों मे, पौरुष्यादि काल मे और स्त्री-पुरुषादि भाव मे जो एक सिक्थ अर्थात् एक ग्रास न्यूनादि भाव वर्णन किए गए है उन सर्व भावों से युक्त होकर जो विचरता है उसे पर्यवचरक भिक्षु अर्थात् पर्याय-ऊनोदरी-तप करने वाला कहते हैं। साराश यह है कि जो भिक्षु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से उक्त चारों अभिग्रहों से युक्त होकर विचरता है उसको पर्यवचर-ऊनोदरी-तप वाला कहते हैं और इस प्रकार के तप का नाम ऊनोदरी-पर्यव-तप है।

यदि कोई यह शका करे कि कम से कम एक ग्रास की न्यूनता रखने से द्रव्य ऊनोदरी तप तो हो सकता है परन्तु क्षेत्र–ग्रामादि, काल–पौरुषी आदि और भाव–स्त्री आदि, इनका अवमौदर्य किस प्रकार हो सकता है। इसका समाधान यह है कि, विशिष्ट अभिग्रह आदि के धारण करने से इनके द्वारा भी अवमौदर्य किया जा सकता है। जिसकी प्रधानता होगी, उसकी अपेक्षा से ही अवमौदर्य का प्रतिपादन किया जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि जहां पर द्रव्य से अवमौदर्य नही, वहां पर क्षेत्रादि से किया जा सकता है।

अब भिक्षाचरी के विषय में कहते हैं –

अट्ठविहगोयरग्गं तु, तहा सत्तेव एसणा ।
अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ॥ २५ ॥

अष्टविधगोचराग्रं तु, तथा सप्तैवैषणाः ।
अभिग्रहाश्च येऽन्ये, भिक्षाचर्यायामाख्याताः ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः–**अट्ठविह**–अष्टविध, **गोयरग्गं**–गोचराग्र–प्रधान गोचरी, **तु**–उत्तर-भेद की अपेक्षा से समुच्चय अर्थ में है, **तहा**–उसी प्रकार, **सत्तेव**–सात ही, **एसणा**–एषणाए, **य**–और, **जे**–जो,

अन्ने–अन्य, **अभिग्गहा**–अभिग्रह हैं-ये सब, **भिक्खायरियं**–भिक्षाचर्या, **आहिया**–कही गई है।

मूलार्थ–आठ प्रकार की गोचरी तथा सात प्रकार की एषणाएं और जो अन्य अभिग्रह हैं, ये सब भिक्षाचरी में कहे गए हैं, अर्थात् इन सबको भिक्षाचरी-तप कहते हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में भिक्षाचरी-तप का वर्णन किया गया है। भिक्षाचरी का दूसरा नाम ''गोचरी'' भी है। गोचरी अर्थात् गौ की तरह आचरण करना। तात्पर्य यह है कि जैसे गौ तृण आदि का भक्षण करती हुई उसको जड़ से नहीं उखाड़ती, ठीक उसी प्रकार मुनि भी गृहस्थों के घरों मे गया हुआ इस प्रकार आहार की गवेषणा करे जिससे कि उनको फिर से कोई नया आरम्भ न करना पड़े।

इस गोचरी या भिक्षाचरी के आठ भेद है। उनमे छः तो पेटिका, अर्द्धपेटिका आदि के नाम से पूर्व में आ चुके हैं तथा ऋजुगति और वक्रगति ये दो भेद और है। आधा-कर्मादिदोष से रहित भिक्षाचरी के आठ भेद हैं। तथा १ संसृष्ट, २ असंसृष्ट, ३ उद्धृत, ४. अल्पलेपिका, ५ उद्गृहीता, ६. प्रगृहीता और ७. उज्झितधर्मा, ये सात प्रकार एषणा के है। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अभिग्रह के भेद होते है। यथा द्रव्य से–यदि कुन्तादि के अग्रभाग में स्थित मंडक वा खंडक आदि मिलेगा तो लूंगा। क्षेत्र से–यदि आहार देने वाले को दोनो जघाओ के मध्य में देहली अर्थात् दहलीज हो तो आहार लूंगा। काल से–जब सारे भिक्षु भिक्षा ला चुकेगे, तब आहार को जाऊगा। भाव से दाता हसता हो या रोता हो अथवा किसी के द्वारा बंधा हुआ हो, उसके हाथ से आहार मिलेगा तो लूंगा, इत्यादि प्रकार से भिक्षाचरी के भेद समझने चाहिएं।

अब रस-परित्याग के विषय में कहते हैं –

खीर-दहि-सप्पिमाई, पणीयं पाण-भोयणं ।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥ २६ ॥

क्षीरदधिसर्पिरादि, प्रणीतं पान-भोजनम् ।
परिवर्जन रसानां तु, भणितं रसविवर्जनम् ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः–खीर–क्षीर, **दहि**–दधि, **सप्पिं**–सर्पि-घृत, **आई**–आदि पक्वान्न वगैरह, **पणीयं**–प्रणीत, **पाणभोयणं**–पानी और भोजन, **रसाणं**–रसो का, **परिवज्जणं**–परिवर्जन–त्याग, **भणियं**–कहा गया है, **रसविवज्जणं**–रसवर्जन-तप, तु–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ–दूध, दही, घृत और पक्वान्नादि पदार्थो तथा रसयुक्त अन्न-पानादि पदार्थों का जो परित्याग है उसको रसवर्जन-तप कहते हैं।

टीका–इस तप में रसयुक्त पदार्थो के परित्याग का विधान है, इसलिए इसको रसपरित्याग-तप कहते हैं। दूध, दधि, घृत तथा रसयुक्त अन्न-पान भोजन अर्थात् बलवर्द्धक अन्य पदार्थ, अथवा मधुराम्लादि रसों में मर्यादा करना रसत्याग-तप है। जैसे–आज मैं दुग्ध, दधि, घृत अथवा अन्य कोई पौष्टिक पदार्थ नहीं खाऊगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना। प्रणीत शब्द का अर्थ है–बलवर्द्धक, बल को बढ़ाने वाला पदार्थ (प्रणीतम्–अतिबृहकम्) तात्पर्य यह है कि उक्त रसयुक्त और बलवर्द्धक पदार्थों

के परित्याग से इन्द्रियों का निग्रह और काम सम्बन्धी उत्तेजना शान्त रहती है। उसके शान्त होने से आत्मा की बहिर्मुखता दूर होती है।

अब कायक्लेशनामक तप के विषय में कहते हैं –

ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा ।
उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेसं तमाहियं ॥ २७ ॥

स्थानानि वीरासनादीनि, जीवस्य तु सुखावहानि ।
उग्राणि यथा धार्यन्ते, कायक्लेशस्तमाख्यातः ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः–**ठाणा**–स्थान-कायस्थिति के भेद, **वीरासणाईया**–वीर-आसन आदि, **जीवस्स**–जीव को, **सुहावहा**–सुख को देने वाले, उ–अवधारणार्थक है, **उग्गा**–उग्र–उत्कट, **जहा**–जैसे, **धरिज्जंति**–धारण किए जाते है, **कायकिलेसं**–कायक्लेश, **तं**–वह, **आहियं**–कहा गया है।

मूलार्थ–जीव को सुख देने वाले, उग्र अर्थात् उत्कट जो वीरासनादि तथा स्थान अर्थात् कायस्थिति के भेद हैं, उनको धारण करना काय-क्लेश है।

टीका–इस तप मे काया को अप्रमत्त रखने के लिए वीरादि आसनो का प्रयोग किया जाता है। जब तक वीरादि आसन्ो के द्वारा समाधि लगाकर काया को क्लेशित न किया जाए अर्थात् कसा न जाए, तब तक काया का निग्रह अर्थात् अप्रमत्त होना कठिन होता है। इसलिए साधक पुरुष को चाहिए कि वह उक्त आसनादि के द्वारा अपने शरीर को सयत करने का अभ्यास करे।

वीरासन–कोई पुरुष अपने दोनों पैर भूमि पर रखकर किसी चौकी आदि पर बैठे और फिर उसके नीचे से वह पीठ उठा लिया जाए, उसके उठा लेने पर भी वह उसी प्रकार ध्यानारूढ़ होकर बैठा रहे तो उसको वीरासन कहते हैं। आदि शब्द से गोदुह-आसन, पद्मासन और उत्कट आदि आसनों को जानना चाहिए।

उपलक्षण से केशलुञ्चन आदि क्रियाए भी इसी तप के अन्तर्गत समझी जाती है। शुभ कर्मो के बन्ध का हेतु होने और कर्मो की निर्जरा का कारण होने से इनको सुखप्रद कहा है, एवं यह तप आत्मा के लिए जितना सुखप्रद है उतना ही इसका अनुष्ठान कठिन है। अतएव इनका उपयोग दृढ़-निश्चयी आत्मार्थी मुनि ही कर सकते है। अन्य दर्शनो मे इस तप का हठयोग मे समावेश किया गया है।

'ठाणा', 'उग्गा' इन दोनों में 'सुप्' का व्यत्यय किया गया है।

अब प्रतिसंलीनता के विषय में कहते हैं –

एगंतमणावाए, इत्थी-पसुविवज्जिए ।
सयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं ॥ २८ ॥

एकान्तेऽनापाते, स्त्री-पशुविवर्जिते ।
शयनासनसेवनया, विविक्तशयनासनम् ॥ २८ ॥

पदार्थान्वयः–**एगंतं**–एकान्त में, **अणावाए**–अनापात में, **इत्थी**–स्त्री, **पसु**–पशु, **विवज्जिए**–विवर्जित स्थान में, **सयणासण**–शयनाशन का, **सेवणया**–सेवन करना, **विवित्तसयणासणं**–विविक्त-शयनासन-तप है।

मूलार्थ–एकान्त और जहां पर कोई न आता-जाता हो ऐसे स्त्री, पशु और (उपलक्षण से) नपुंसकरहित स्थान में शयन और आसन करने को विविक्तशयनासन अर्थात् प्रतिसंलीनता-तप कहते हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में प्रतिसंलीनता-तप का स्वरूप बताया गया है। इसी का दूसरा नाम विविक्तशय्या वा विविक्तशयनासन भी है। संयमशील मुनि के लिए उचित है कि वह इस प्रकार के स्थान अर्थात् वसती एवं उपाश्रय आदि मे निवास करने का विचार रखे कि जो एकान्त अर्थात् जनता से आकीर्ण न हो तथा जिस स्थान पर स्त्री आदि की दृष्टि न पड़े और वह स्थान स्त्री, पशु और नपुसक आदि से रहित हो। इस प्रकार के स्थान मे रहना और सोना प्रतिसंलीनता है।

उक्त प्रकार के स्थान में रहने से समाधि और ध्यान में विशेष कठिनाई नही आ पाती।

शास्त्रो मे इस तप के अन्तर्गत इन्द्रिय-कषाय और योगो के अशुभ व्यापार का निरोध भी प्रतिपादन किया गया है। यदि दूसरे शब्दो में व्यक्तरूप से कहें तो पांचो इन्द्रियो, चारों कषायो और तीनों योगो का प्रमाण से अधिक धारण न करना प्रतिसलीनता-तप है।

यहां जिस बाह्य तप का सक्षेप से निरूपण किया गया है उसका विशेष विस्तार औपपातिक-सूत्र से जानना चाहिए।

अब उक्त प्रकरण का उपसंहार और उत्तर प्रकरण का उपक्रम करते हुए शास्त्रकार कहते है –

एसो बाहिरगं तवो, समासेण वियाहिओ ।
अब्भितरं तवं एत्तो, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥ २९ ॥

एतद् बाह्यं तपः, समासेन व्याख्यातम् ।
आभ्यन्तरं तप इतः, वक्ष्येऽनुपूर्वश ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः–**एसो**–यह, **बाहिरगं**–बाह्य, **तवो**–तप, **समासेण**–सक्षेप से, **वियाहिओ**–वर्णन किया है, **अब्भितरं**–आभ्यन्तर, **तवं**–तप, **एत्तो**–इसके आगे, **वुच्छामि**–कहूगा, **अणुपुव्वसो**–अनुक्रम से।

मूलार्थ–यह बाह्य तप संक्षेप से वर्णन किया गया। अब इसके आगे अनुक्रम से मैं आभ्यन्तर तप को कहूंगा।

टीका–प्रस्तुत गाथा में बाह्य तप का उपसहार और आभ्यन्तर तप का उपक्रम अर्थात् वर्णन करने की सूचना दी गई है। सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू । यह बाह्य तप का सक्षेप से मैंने वर्णन कर दिया है, अब मै अनुक्रम से आभ्यन्तर-तप के विषय में कहता हू। जिस

विषय का वर्णन करना अभिप्रेत हो उसके नाम का प्रथम निर्देश कर देने से श्रोताओं को उसके समझने मे विशेष सुगमता रहती है। इस आशय से ही शास्त्रकार ने यहां पर विनय का निर्देश किया है।

इसके अतिरिक्त बाह्य तप के अनुष्ठान से निस्संगता, शरीर की लाघवता, इन्द्रियो पर विजय, सयम की रक्षा, शुभध्यान की प्राप्ति और योगो की निर्मलता होने से पुण्यबन्ध के अतिरिक्त कर्मो की निर्जरा भी होती है और अंतरंग गुणों का भी विकास होता है।

'वुच्छामि' यह 'वक्ष्यामि' के स्थान पर प्राकृत आदेश है।

अब अंतरंग तप के भेदों का वर्णन करते हैं, यथा –

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ॥ ३० ॥

प्रायश्चित्तं विनयः, वैयावृत्त्यं तथैव स्वाध्यायः ।
ध्यानं च व्युत्सर्गः, एतदाभ्यन्तरं तपः ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः–पायच्छित्तं–प्रायश्चित्त, **विणओ**–विनय, **वैयावच्चं**–वैयावृत्त्य, **तहेव**–उसी प्रकार, **सज्झाओ**–स्वाध्याय, **झाणं**–ध्यान, **च**–और, **विउस्सग्गो**–व्युत्सर्ग, **एसो**–यह, **अब्भिंतरो**–आभ्यन्तर, **तवो**–तप है।

मूलार्थ–१. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्त्य, ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान और, ६. कायोत्सर्ग, ये आभ्यन्तर तप के छः भेद है।

टीका–बाह्य तप की भांति अन्तरग तप भी छ· प्रकार का है। १ दोषो के लग जाने पर प्रायश्चित्त का ग्रहण करना, २. बडों की विनय करना, ३. स्थविर आदि की वैयावृत्त्य अर्थात् सेवा करना, ४. कर्मो की निर्जरा के लिए स्वाध्याय करना, ५. आत्मशुद्धि के लिए ध्यान करना और ६. काय का व्युत्सर्ग कर देना, ये छः भेद आभ्यन्तर तप के है।

यद्यपि अन्तरग तप का बाह्य प्रभाव बहुत न्यून होता है, परन्तु अन्तरग तप कर्म-शत्रुओ के विदारण मे वज्र के समान प्रभावशाली है। मोक्षप्राप्ति के साधनो में इसका असाधारण स्थान है। इनमे भी ध्यान, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग तो मुमुक्षु के लिए विशेषरूप से उपादेय है, क्योंकि इनके द्वारा कर्मो का क्षय बहुत ही शीघ्र होता है।

अब प्रथम क्रमप्राप्त प्रायश्चित्त का वर्णन करते हैं –

आलोयणारिहाईयं, पायच्छित्तं तु दसविहं ।
जं भिक्खू वहई सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं ॥ ३१ ॥

आलोचनार्हादिकं, प्रायश्चित्तं तु दशविधम् ।
यद् भिक्षुर्वहति सम्यक्, प्रायश्चित्तं तदाख्यातम् ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः–आलोयणारिहाईयं–आलोचना के योग्य, **पायच्छित्तं**–प्रायश्चित्त, **दसविहं**–दस प्रकार से वर्णन किया है, **जं**–जिसको, **भिक्खू**–भिक्षु, **सम्म**–भली प्रकार, **वहई**–आचरण करता है,

तं—उसको, **पायच्छित्तं**—प्रायश्चित्त-तप, **आहियं**—कहा जाता है।

मूलार्थ—आलोचना के योग्य दस प्रकार से प्रायश्चित्त का वर्णन किया गया है, जिसका भिक्षु सम्यक् प्रकार से सेवन करता है, वही प्रायश्चित्त-तप कहलाता है।

टीका—इस सूत्र में प्रायश्चित्त तप का वर्णन किया गया है। पाप के लिए पश्चात्ताप करना प्रायश्चित्त कहलाता है। लगे हुए दोष को गुरु आदि के समक्ष प्रकट करने और आलोचना के द्वारा उसे शुद्ध करने को आलोचनार्ह कहते है। आदि शब्द से प्रतिक्रमणादि का ग्रहण करना चाहिए।

उक्त सारे कथन का अभिप्राय यह है कि आत्मशुद्धि के लिए शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त का विधान किया है, उसके सक्षेप से दस भेद है। यथा—१ आलोचनार्ह, २ प्रतिक्रमण, ३. तदुभय, ४. विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तपकर्म, ७ छेद, ८ मूल, ९ अनवस्थापन और १०. पाराञ्चिक। इनका विस्तृत वर्णन औपपातिक सूत्र मे किया गया है, जिज्ञासु जन वहीं से देखें।

जिस प्रकार सन्निपात आदि रोगों की निवृत्ति के लिए रसायन औषधियो की उपादेयता है उसी प्रकार आत्म-विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त-तप की विशेष आवश्यकता है—(**चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः**) तथा प्रायश्चित्त के जितने भेद ऊपर बतलाए गए हैं, उनमें अर्ह शब्द का सम्बन्ध सर्वत्र कर लेना चाहिए। यथा—आलोचनार्ह, प्रतिक्रमणार्ह इत्यादि।

अब विनय-तप के विषय में कहते हैं —

अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं ।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥ ३२ ॥

अभ्युत्थानमञ्जलिकरणं, तथैवासनदानम् ।
गुरुभक्तिभावशुश्रूषा, विनय एष व्याख्यातः ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः—**अब्भुट्ठाणं**—अभ्युत्थान देना, **अंजलिकरणं**—हाथ जोडना, **तहा**—तथा, **एव**—पूर्ण अर्थ मे है, **आसण**—आसन, **दायणं**—देना, **गुरुभत्ति**—गुरु की भक्ति करना, **भावसुस्सूसा**—भाव-शुश्रूषा करना, **विणओ**—विनय, **एस**—यह, **वियाहिओ**—प्रतिपादन किया गया है।

मूलार्थ—गुरु आदि को अभ्युत्थान देना, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरु की भक्ति करना और अन्तःकरण से उनकी सेवा करना, यह विनय-तप कहा गया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विनय-तप के भेदों का उल्लेख किया है। यथा—१ गुरु, स्थविर और रत्नाधिक को आते देखकर सत्कार के लिए उनके सामने जाना तथा उठकर खड़े होना, २. उनके आगे हाथ जोडना, ३. उनको आसन देना, ४ गुरु की अनन्य भक्ति करना और ५ उनकी आज्ञा को श्रद्धापूर्वक पालन करना अथवा भावपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, ये पाच भेद विनय-तप के है।

तात्पर्य यह है कि यह पाच प्रकार का विनय-तप कहा है। इसके अनिरिक्त विनय-धर्म का आराधन करने वाले साधु को उचित है कि यदि कोई छोटा साधु भी उसके पास आए तो उसके साथ

भी वह प्रेम-पूर्वक सभ्यता से मृदु भाषण आदि का व्यवहार करता हुआ उसका समुचित आदर करे, क्योंकि विनय के आचरण से आत्मा की शुद्धि, अहंकार का नाश और गुणो की प्राप्ति होती है।

अब वैयावृत्त्य के विषय में कहते हैं –

आयरियमाईए, वेयावच्चम्मि दसविहे ।
आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं ॥ ३३ ॥

आचार्यादिके, वैयावृत्त्ये दशविधे ।
आसेवनं यथास्थामं, वैयावृत्त्यं तदाख्यातम् ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः–आयरियमाईए–आचार्यादि विषयक, **दसविहे**–दश प्रकार के, **वेयावच्चम्मि**–वैयावृत्त्य मे, **आसेवणं**–सेवा करना, **जहाथामं**–यथाशक्ति, **वेयावच्चं**–वैयावृत्त्य तप, **तं**–वह, **आहियं**–कहा गया है।

मूलार्थ–वैयावृत्त्य के योग्य आचार्यादि दश स्थानों की यथाशक्ति सेवा-भक्ति करना वैयावृत्त्य-तप कहलाता है।

टीका–आचार्यादि की उचित आहारादि के द्वारा जो सेवा-भक्ति की जाती है उसको वैयावृत्त्य तप कहते है। १. आचार्य, २ उपाध्याय, ३ स्थविर, ४. तपस्वी, ५. ग्लान, ६. शिष्य, ७. साधर्मिक, ८ कुल, ९ गण और १० संघ, ये आचार्यादि दश स्थान कहे जाते है। इनकी यथा-शक्ति सेवा-शुश्रूषा करना अर्थात् अन्न-पानादि से, ज्ञानदानादि से तथा अन्य नाना रूपों से उचित सत्कार करना वैयावृत्त्य-तप है।

एक गुरु के शिष्यसमुदाय का नाम कुल है और बहुत से कुलों के समूह को गण कहते है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, इनके समुदाय का नाम सघ है।

अब स्वाध्याय-तप के विषय में कहते हैं –

वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा ।
अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पञ्चहा भवे ॥ ३४ ॥

वाचना प्रच्छना चैव, तथैव परिवर्तना ।
अनुप्रेक्षा धर्मकथा, स्वाध्यायः पञ्चधा भवेत् ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः–वायणा–वाचना, **पुच्छणा**–प्रश्न करना, **च**–पुनः, **एव**–प्राग्वत्, **तहेव**–उसी प्रकार, **परियट्टणा**–परिवर्तन करना, **अणुप्पेहा**–अनुप्रेक्षा–और, **धम्मकहा**–धर्मकथा, **सज्झाओ**–स्वाध्याय, **पंचहा**–पाच प्रकार से, **भवे**–होता है।

मूलार्थ–१. शास्त्र की वाचना अर्थात् पढ़ना, २. प्रश्नोत्तर करना, ३. पढ़े हुए की आवृत्ति करना, ४. अर्थ की अनुप्रेक्षा करना–अर्थ पर गम्भीरता से विचार करना, और ५. धर्मोपदेश देना, यह पांच प्रकार का स्वाध्याय-तप है।

टीका–स्वाध्याय-तप के पांच भेद हैं जिनका ऊपर निदर्शन किया गया है। शास्त्र के पढ़ने को वाचना कहते हैं। उसमें किसी प्रकार की शंका उत्पन्न होने पर उसके विषय में प्रश्नोत्तर करना, प्रच्छना है। पढा हुआ भूल न जाए तदर्थ उसकी बार-बार आवृत्ति करना परिवर्तना है। पढ़े हुए पाठ के अर्थो का गम्भीरता-पूर्वक मनन और चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। स्वकृत कर्मों की निर्जरा के निमित्त तथा संसार में रहने वाले भव्य जीवों को धर्म का लाभ हो इस आशय से धर्म का उपदेश देना धर्मकथा है। इस तप का विशेष वर्णन गत २९वें अध्ययन मे किया जा चुका है।

अब ध्यान के विषय में कहते हैं –

अट्ट-रुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए ।
धम्म-सुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए ॥ ३५ ॥

आर्त-रौद्राणि वर्जयित्वा, ध्यायेत् सुसमाहितः ।
धर्म-शुक्ले ध्याने, ध्यानं तत्तु बुधा वदेयुः ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः–अट्ट–आर्त, **रुद्दाणि**–रौद्र को, **वज्जित्ता**–वर्जकर, **झाएज्जा**–ध्यान करे, **सुसमाहिए**–समाधि से युक्त, **धम्मसुक्काइं**–धर्म और शुक्ल, **झाणाइं**–ध्यानों का, **तं**–उसको, **तु**–पादपूर्ति में, **झाणं**–ध्यान-तप, **बुहा**–बुध लोग, **वए**–कहते है।

मूलार्थ–समाधियुक्त मुनि आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तन करे। इसी को विद्वान् लोग ध्यान-तप कहते हैं।

टीका–इस गाथा मे ध्यान-तप का वर्णन करते हुए आर्त तथा रौद्र ध्यान के त्याग एव धर्म और शुक्ल ध्यान के चिन्तन को ध्यान तप का स्वरूप बताया है। ऋत शब्द दुःख का पर्यायवाचक है, अतः जो ऋत अर्थात् दुःख में होने वाला हो, उसे आर्तध्यान कहते है। रुद्र अर्थात् जीव को रुलाने वाला जो ध्यान है उसको रौद्र कहते हैं। ये दोनों ही ध्यान त्याज्य हैं।

धर्मध्यान उसको कहते हैं कि जिसमे क्षमा आदि दशविध यति-धर्मों का सम्यक्तया आराधन हो एव आत्मगत सर्व प्रकार के मिथ्यात्वादि मल को दूर करने अथवा दुःख के कारणभूत आठ प्रकार के कर्मावरणो का क्षय करने मे समर्थ ध्यान को शुक्लध्यान कहा जाता है। शुक् अर्थात् दुःख, उसको क्लामना देने वाला ध्यान ही शुक्लध्यान है। यह उसकी सामान्य व्युत्पत्ति है। ये दोनो अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान सदा उपादेय हैं।

साराश यह है कि समाधिशील मुनि को आर्त और रौद्र ध्यान को त्याग कर धर्म और शुक्ल ध्यान का अवलम्बन करना ध्यान-तप कहलाता है। इस विषय की पूर्ण व्याख्या औपपातिक और स्थानांग सूत्र से जान लेनी चाहिए। यहा पर द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयुक्त होना प्राकृत के नियम के अनुसार है, क्योंकि उसमें द्विवचन का अभाव है।

अब कायोत्सर्ग के विषय में कहते हैं –

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे ।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥ ३६ ॥

शयनासनस्थाने वा, यस्तु भिक्षुर्न व्याप्रियते ।
कायस्स व्युत्सर्गः, षष्ठः स परिकीर्तितः ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः–सयणासणठाणे वा–शयन, आसन और स्थान में, **जे**–जो, **भिक्खू**–भिक्षु, **न वावरे**–स्थित हुआ चलनात्मक क्रिया न करे, **कायस्स**–काया की चेष्टा का जो, **विउस्सग्गो**–त्याग है, **सो**–वही, **छट्ठो**–छठा–व्युत्सर्गनामक तप, **परिकित्तिओ**–परिकीर्तित अर्थात् कथन किया है।

मूलार्थ–सोते, बैठते अथवा खड़े होते समय जो भिक्षु काया के अन्य सब व्यापारों को त्याग देता है अर्थात् शरीर को हिलाता डुलाता नहीं उसे कायोत्सर्गनामक तप कहा गया है।

टीका–छठा कायोत्सर्गनामक तप है। काया का व्युत्सर्ग त्याग अर्थात् काया की समस्त प्रवृत्तियो का निरोध जिसमें किया जाए, तथा उसके शरीर की सर्व प्रकार की चेष्टाए रुक जाएं, तब उसके ध्यान को कायव्युत्सर्ग-तप कहा जाता है।

अन्य सूत्रों के अनुसार व्युत्सर्ग भी द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। द्रव्यव्युत्सर्ग–गण, देह, उपधि और भक्त-पान आदि का त्याग करना। भावव्युत्सर्ग–जिसमे क्रोधादि कषायों का परित्याग हो। परन्तु यहा पर तो केवल शरीरव्युत्सर्ग का ही मुख्यतया प्रतिपादन करना इष्ट है। अन्य भेद तो इसी में गर्भित हो जात है। इस तप के अनुष्ठान से देह ममत्व का त्याग होता है और आत्म-शक्तियो के विकास मे अधिक सहायता मिलती है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए इसकी फलश्रुति के विषय मे कहते हैं –

एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी ।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥ ३७ ॥
त्ति बेमि ।
इति तवमग्गं समत्तं ॥ ३० ॥

एवं तपस्तु द्विविध, यत्सम्यगाचरेन्मुनिः ।
स क्षिप्रं सर्वसंसाराद्, विप्रमुच्यते पण्डितः ॥ ३७ ॥
इति ब्रवीमि ।
इति तपोमार्ग समाप्तम् ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः–एवं –इस तरह से, **तवं**–तप, **दुविहं**–दो प्रकार का, **जे**–जो, **सम्मं**–सम्यक् प्रकार से, **आयरे**–आचरण करे, **मुणी**–साधु, **सो**–वह, **पंडिए**–पंडित, **खिप्पं**–शीघ्र, **सव्वसंसारा**–सर्व ससार से, **विप्पमुच्चइ**–छूट जाता है, **त्ति बेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूं। यह तपोमार्ग-अध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ–इन दोनों प्रकार के तपों को भली-भांति समझकर जो मुनि आचरण करता है, वह पंडित पुरुष संसार के समस्त बन्धनों से शीघ्र छूट जाता है।

टीका–बाह्य और आभ्यन्तर तप का फल बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि इस द्विविध तप का

जो भिक्षु सम्यक्तया अनुष्ठान करता है, वह चतुर्गतिरूप इस संसारचक्र से बहुत ही शीघ्र छूट जाता है। जो स्वबुद्धि से सत् और असत् का विचार करने वाला हो, उसे पंडित कहते हैं। इस प्रकार का विज्ञ पुरुष संसार के यथार्थ स्वरूप को और उसमें उपलब्ध होने वाले विनश्वर सुखो को जानकर पूर्वोक्त तपश्चर्या में प्रवृत्त होता हुआ कर्मों की शीघ्र की निर्जरा कर देता है जिससे संसार के बंधनों को तोड़कर कैवल्य को प्राप्त करना उसके लिए सुकर हो जाता है।

इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले की भांति ही जान लेना, अर्थात् श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू ! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान श्री वर्धमान स्वामी से श्रवण किया है, उसी प्रकार मैने तुम्हारे प्रति कह दिया है। इसमें मेरी स्वतत्र कल्पना कुछ भी नहीं है। इस प्रकार यह तपोमार्गनामक तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

त्रिंशत्तममध्ययनं सम्पूर्णम्

अह चरणविही णाम एगतीसइमं अज्झयणं

अथ चरणविधिनामैकत्रिंशत्तममध्ययनम्

गत तीसवें अध्ययन में तपोमार्ग का वर्णन किया गया है परन्तु तपश्चर्या के लिए वही आत्मा उपयुक्त हो सकता है जो कि चारित्रसम्पन्न हो, अतः इस इकत्तीसवें अध्ययन मे चारित्र का वर्णन किया जाता है। यथा –

चरणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं ।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ॥ १ ॥

चरणविधिं प्रवक्ष्यामि, जीवस्य तु सुखावहम् ॥
यं चरित्वा बहवो जीवाः, तीर्णा. संसारसागरम् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–चरणविहिं–चारित्रविधि का, **पवक्खामि**–कथन करता हूं, **जीवस्स**–जीव को, **सुहावहं**–सुख देने वाली, **जं**–जिसको, **चरित्ता**–आचरण करके, **बहू जीवा**–बहुत से जीव, **तिण्णा**–तर गए, **संसारसागरं**–संसारसागर को, **उ**–अवधारणार्थक है।

मूलार्थ–अब मैं चारित्रविधि को कहता हूं जो कि जीव को सुख देने वाली है और जिसका आराधन करके बहुत से जीव संसारसागर से पार हो गए।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे प्रतिपाद्य विषय और उसका फल इन दोनों बातों का निर्देश कर दिया गया है। प्रतिपाद्य विषय तो चारित्रविधि है और उसका फल ससारसमुद्र को पार करना अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति है। यथा–आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य। अब मैं जीव को शुभ फल देने वाली चरणविधि का वर्णन करता हू, इससे विषय का निर्देश किया और जिस चारित्रविधि के अनुष्ठान से अनेक भव्य जीव दुस्तर संसारसागर को तर गए, यह फलश्रुति बताई गई है। इन दोनों के प्रथम निर्देश से, श्रोताओं को उसके

तत्त्व को समझने मे सुगमता का होना तो सुनिश्चित ही है।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार प्रस्तावित विषय का वर्णन करते हैं, यथा –

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं ।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥ २ ॥

एकतो विरतिं कुर्यात्, एकतश्च प्रवर्तनम् ।
असंयमान्निवृत्तिं च, संयमे च प्रवर्तनम् ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः–**एगओ**–एक स्थान से, **विरइं**–विरति, **कुज्जा**–करे, **य**–और, **एगओ**–एक स्थान में, **पवत्तणं**–प्रवृत्ति करे, **असंजमे**–असयम से, **नियत्तिं**–निवृत्ति करे, **च**–और, **संजमे**–संयम मे, **पवत्तणं**–प्रवृत्ति करे।

मूलार्थ–एक स्थान से निवृत्ति और एक स्थान में प्रवृत्ति करे। जैसे–असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे चरणविधि का स्वरूप बताया गया है। यथा–एक ओर से निवृत्त होना और दूसरी ओर प्रवृत्त होना, चरणविधि है। इसी बात को गाथा के उत्तरार्द्ध मे व्यक्त कर दिया गया है अर्थात् असंयम से निवृत्ति–हिंसादि आस्त्रवद्वारों का निरोध और संयम मे प्रवृत्ति–अहिंसादि पाच महाव्रतों का अनुष्ठान करना चाहिए। यह चरणविधि का सामान्य लक्षण है।

प्रस्तुत गाथा के द्वितीय पाद मे 'एगओ' यह 'तस्-प्रत्ययान्त' का रूप सप्तमी विभक्ति के अर्थ मे विहित हुआ है और तृतीय पाद मे 'असजमे' यह पचमी के अर्थ मे सप्तमी का रूप है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं –

रागे दोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे ।
जे भिक्खू रुंभई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ३ ॥

रागद्वेषौ च द्वौ पापौ, पापकर्मप्रवर्तकौ ।
यो भिक्षुः निरुणद्धि नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–**रागे**–राग, **य**–और, **दोसे**–द्वेष, **दो पावे**–दो पाप है, **पावकम्मपवत्तणे**–पाप कर्म के प्रवर्तक है, **जे**–जो, **भिक्खू**–भिक्षु, **निच्चं**–नित्य–सदैव, **रुंभई**–इनका विरोध करता है, **से**–वह, **मंडले**–ससार मे, **न अच्छइ**–नही ठहरता।

मूलार्थ–पाप कर्म के प्रवर्तक राग और द्वेष हैं, जो भिक्षु इनका सतत निरोध करता है वह ससार में नहीं ठहरता, अर्थात् उसका ससारभ्रमण छूट जाता है।

टीका–राग-द्वेष के वशीभूत हुआ जीव पाप-कर्मो में प्रवृत्ति करता है और पाप कर्मो में प्रवृत्त

हुआ जीव ही ससार में परिभ्रमण करने वाला होता है। इसलिए जो भिक्षु राग और द्वेष का त्याग कर देता है, वह इस मडल अर्थात् संसार मे परिभ्रमण नहीं करता। तात्पर्य यह है कि उसका जन्म-मरण छूट जाता है।

'मंडल' शब्द की व्याख्या वृद्धपरम्परा से 'संसार' ही चली आती है। मडल-ग्रहणात् चतुरन्त: ससार: परिगृह्यते' अर्थात् मंडल से चतुर्गतिरूप संसार का ग्रहण किया जाता है।

किसी-किसी प्रति में 'से न गच्छइ मंडले-स न गच्छति मण्डले' ऐसा पाठ भी देखने में आता है।

अब फिर कहते हैं –

दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं ।
जे भिक्खू चयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ४ ॥

दण्डानां गौरवाणां च, शल्यानां च त्रिकं त्रिकम् ।
यो भिक्षुस्त्यजति नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–**दंडाणं**–दडो के, **च**–और, **गारवाणं**–गौरवो के, तथा, **सल्लाण**–शल्यों के, **तियं तिय**–जो तीन-तीन है उनको, **जे**–जो, **भिक्खू**–साधु, **चयइ**–छोड़ता है, **निच्चं**–सदैव, **से**–वह, **मंडले**–संसार मे, **न अच्छइ**–नही ठहरता।

मूलार्थ–तीन दडों, तीन गर्वो और तीन शल्यों का जो भिक्षु सदैव के लिए त्याग कर देता है वह संसार में नहीं ठहरता।

टीका–जिसके द्वारा चारित्र असार किया जाए और आत्मा दण्डनीय हो जाए, उसको दड कहते है। तात्पर्य यह है कि मन, वाणी और शरीर के अशुभ व्यापार का नाम दड है। (क) तीन दण्ड–मनदड, वचनदड और काय दड। (ख) तीन गर्व–ऋद्धिगर्व, रसगर्व और सातागर्व। (ग) तीन शल्य–मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य। इस प्रकार दंड, गर्व और शल्यों का सर्वदा परित्याग करने वाला साधु इस ससार मे परिभ्रमण नही करता, अर्थात् जन्म-मरण से रहित हो जाता है।

उक्त विषय में ही अब फिर कहते हैं –

दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छ-माणुसे ।
जे भिक्खू सहइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ५ ॥

दिव्यांश्च यानुपसर्गान्, तथा तैरश्च-मानुषान् ।
यो भिक्षुः सहते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–**दिव्वे**–देवता सम्बन्धी, **जे**–जो, **उवसग्गे**–उपसर्ग हैं, **तहा**–तथा, **तेरिच्छ–माणुसे**–तिर्यक् और मनुष्यों के, **जे**–जो, **भिक्खू**–भिक्षु, **सहइ**–सहन करता है, **निच्चं**–नित्य-प्रति, **से**–वह, **न अच्छइ**–नहीं ठहरता, **मंडले**–संसार में।

मूलार्थ–जो भिक्षु देवता सम्बन्धी तथा पशु और मनुष्य सम्बन्धी उपसर्गों को नित्य सहन करता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका–देव-सम्बन्धी उपसर्ग, यथा–हास्य, प्रद्वेष, विमर्श, पृथक्‌विमात्रा आदि। पशु-सम्बन्धी उपसर्ग, यथा–भय, प्रद्वेष, आहारहेतु और आपत्य, संरक्षणरूप। मनुष्य सम्बन्धी जैसे–हास्य, प्रद्वेष, विमर्श और कुशील-प्रतिसेवनरूप। उपलक्षण से आत्म-सम्बन्धी उपसर्ग भी जान लेने चाहिएं। जैसे कि–घट्टन, प्रपतन, स्तम्भन और श्लेषण इत्यादि। सारांश यह है कि जो साधु देवता, मनुष्य, पशु और आत्मा-सम्बन्धी आकस्मिक उपसर्गों को समता-पूर्वक सहन करता है, अर्थात् उनके प्राप्त होने पर भी धैर्य-पूर्वक स्थिर रहता है, किसी प्रकार की व्याकुलता को प्राप्त नहीं होता, किन्तु शान्ति और गम्भीरता से उनका स्वागत करता है, वह इस ससार के जन्ममरणरूप चक्र से छूट जाता है।

तथा –

विगहा-कसाय-सन्नाणं, झाणाणं च दुयं तहा ।
जे भिक्खू वज्जइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ६ ॥

विकथा कषाय-संज्ञानां, ध्यानानां च द्विकं तथा ।
यो भिक्षुर्वर्जयति नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–**विगहा**–विकथा, **कसाय**–कषाय और, **सन्नाणं**–संज्ञाओ को, **तहा**–तथा, **झाणाणं**–ध्यानों का, **दुय**–द्विक, **जे**–जो, **भिक्खू**–भिक्षु, **वज्जइ**–वर्जता है, **निच्चं**–सदैव, **से**–वह, **मंडले**–संसार मे, **न अच्छइ**–नही ठहरता।

मूलार्थ–चार विकथा, चार कषाय, चार संज्ञा तथा दो ध्यान, इनको जो भिक्षु सदा के लिए त्याग देता है, वह इस संसार में परिभ्रमण नही करता।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे चारित्र विधि का अंकों पर निरूपण किया गया है। विरुद्ध या विपरीत कथा को विकथा कहते है। स्त्रीकथा, भक्तकथा, जनपद-देश-कथा और राजकथा, इन चारो की विकथा संज्ञा है। क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों की कषाय सज्ञा है। आहारसज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसज्ञा और परिग्रहसज्ञा, ये चारो सज्ञा कहलाती है। सज्ञा का अर्थ आशाविशेष एवं त्यागने योग्य आर्त और रौद्र ये दो ध्यान है। सारांश यह है कि जो भिक्षु विकथा, कषाय, सज्ञा और आर्त तथा रौद्र ध्यान का सदैव काल के लिए परित्याग कर देता है उसका संसार भ्रमण छूट जाता है। कारण यह है कि ये विकथादि चारो ससारवृद्धि के हेतु है। इनका परित्याग कर देने पर ही ससार का परिभ्रमण मिट सकता है।

अब पुनः कहते हैं –

वएसु इंदियत्थेसु, समिईसु किरियासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ७ ॥

व्रतेष्विन्द्रियार्थेषु, समितिषु क्रियासु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**वएसु**—व्रतो में, **इंदियत्थेसु**—इन्द्रियों के अर्थों मे, **समिईसु**—समितियों में, **य**—और, **किरियासु**—क्रियाओं में, **जे**—जो, **भिक्खू**—भिक्षु, **निच्चं**—सदैव, **जयई**—यत्न करता है, **से**—वह, **मंडले**—संसार में, **न अच्छइ**—नहीं ठहरता है।

मूलार्थ—पांच व्रतों में और पांच समितियों के पालन में, तथा पांच इन्द्रियों के विषय और पांच अशुभ-क्रियाओं के परित्याग में, जो भिक्षु निरन्तर परिश्रम करता है, वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता, अर्थात् मुक्त हो जाता है।

टीका—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पांच व्रत हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, ये पांच इन्द्रियार्थ अर्थात् विषय हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और परिष्ठापना, ये पांच समितियां हैं। इसी प्रकार—कायिकी, अधिकरणकी, प्राद्वेषिकी, परितापनिकी और प्राणातिपातकी ये पांचों अशुभ-क्रियाएं हैं। जो साधु उक्त पाच व्रतों और पांच समितियों के सतत सेवन मे तथा शब्दादि पाच विषयो और कायिकी आदि पांच अशुभ-क्रियाओ के परित्याग के लिए यतनापूर्वक सावधान रहता है, अर्थात् इनके सेवन और त्याग के लिए सदा प्रस्तुत रहता है—सावधान रहता है, उसका यह संसार परिभ्रमण मिट जाता है।

यहा पर गाथा में 'जयई' क्रिया से निष्पन्न यत्न शब्द का अर्थतः उल्लेख किया है उससे यतना रखना, विवेक रखना, परिश्रम करना और उपयोग रखना आदि अनेक अर्थ ग्रहण किए जाते है। जो अर्थ जहा पर उपयुक्त हो, वैसा ही अर्थ वहा पर कर लेना चाहिए तथा जिसके साथ जैसा सम्बन्ध उचित और अभीष्ट हो वैसा भी कर लेना चाहिए।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं –

लेसासु छसु काएसु, छक्के आहारकारणे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ८ ॥

लेश्यासु षट्सु कायेषु, षट्के आहारकारणे ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—**लेसासु**—लेश्याओं में, **छसु काएसु**—छः कायों में, **छक्के**—छः प्रकार के, **आहारकारणे**—आहार के कारणों में, **जे**—जो, **भिक्खू**—भिक्षु, **निच्च**—सदैव, **जयई**—यत्न करता है, **से**—वह, **मंडले**—संसार में, **न अच्छइ**—नही ठहरता।

मूलार्थ—छः लेश्या, छः काय और षट् प्रकार के आहार-कारणों में जो साधु सदैव यत्न-उपयोग रखता है, वह इस संसार में नहीं ठहरता।

टीका—जीव के अध्यवसायरूप परिणामविशेष को लेश्या कहते हैं। वे लेश्याए कृष्ण, नील आदि

भेद से छः प्रकार की कही गई है। यथा–१ कृष्णलेश्या, २ नीललेश्या, ३. कापोतलेश्या, ४ तेजोलेश्या, ५ पद्मलेश्या और ६ शुक्ललेश्या। इनमें प्रथम की तीन लेश्याएं त्याज्य हैं और उत्तर की तीन धारण करने के योग्य हैं। पृथिवी आदि छः प्रकार के काय की रक्षा मे प्रयत्नशील रहना चाहिए। १. पृथ्वीकाय, २ जलकाय, ३. तेज–काय, ४. वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय और ६ त्रसकाय, से षट्–काय के नाम से प्रसिद्ध हैं।

प्रस्तुत सूत्र के २६वें अध्ययन में जो आहार के ६ कारण बताए गए हैं अर्थात् अमुक ६ कारणों से आहार लेना और अमुक ६ कारणो के उपस्थित होने पर आहार न लेना इत्यादि जो आहार के ६ कारण है, उनमे यत्न अर्थात् विवेक रखना आवश्यक है।

तात्पर्य यह है कि कृष्णादि लेश्याओं, पृथ्वी आदि कायो और आहार के कारणो मे हेयोपादेय का विचार करके जो साधु सयम का आराधन करता है, वह संसार के आवागमन से छूट जाता है। जिस समय इस जीव में उत्तर की तीनों लेश्याए वर्तेगी, उस समय षट्काय का संरक्षण भी भली–भांति हो सकेगा और शुभलेश्या तथा कायरक्षा से इस जीव को आहार के ग्रहण और त्याग का बोध भी यथार्थरूप से हो जाएगा, इसलिए उक्त विषय मे भिक्षु को यत्न–पूर्वक ही व्यवहार करना चाहिए।

अब फिर कहते हैं –

पिंडोग्गहपडिमासु, भयट्ठाणेसु सत्तसु ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ९ ॥

पिण्डावग्रहप्रतिमासु, भयस्थानेषु सप्तसु ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–**पिडोग्गह**–आहार के अवग्रह–ग्रहण करने के, **पडिमासु**–प्रतिमाओ मे, **सत्तसु**–सात, **भयट्ठाणेसु**–भयस्थानो मे, **जे**–जो, **भिक्खू**–भिक्षु **निच्चं**–सदैव, **जयई**–यत्न रखता है, **से**–वह, **मडले**–ससार मे, **न अच्छइ**–नहीं ठहरता।

मूलार्थ–सात पिडावग्रह-प्रतिमाओं के पालन में और सात भयस्थानों को दूर करने में जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है, वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका–इस गाथा मे सात अको से चारित्रविधि का वर्णन किया गया है। पिड का अर्थ है आहार। उसके ग्रहण करने की सात प्रतिमाए अर्थात् प्रतिज्ञाएं है। यथा–१. ससृष्ट, २. अससृष्ट, ३. उद्धृत, ४ अल्पलेय, ५ विकाररहित, ६ उपगृहीत–प्रगृहीत और ७. उज्झित। तात्पर्य यह है कि इन प्रतिज्ञाओं के अनुसार जो आहार की गवेषणा करता है तथा भय के सात स्थानों को दूर करने में जो सावधान रहता है, वह साधु जन्म–मरण के चक्र से छूट जाता है।

सात भय निम्नलिखित है–१ इहलोकभय, २. परलोकभय, ३. धननाशभय, ४. अकस्मात्भय, ५ आजीविकाभय, ६. अपयशभय और ७. मृत्युभय, ये सात भयस्थान कहे जाते है। तथा, स्वजाति का भय

अर्थात् मनुष्य से मनुष्य को भय, पशु से पशु को भय इत्यादि इहलोक भय है। परलोकभय–भिन्न जाति से भिन्न जाति को भय, जैसे कि मनुष्य को पशु का और पशु को मनुष्य से भय होना।

इसका तात्पर्य यह है कि संयमशील भिक्षु को सर्वथा निर्भय होना चाहिए अर्थात् वह न तो किसी से भय खाए और न किसी को भय दे इत्यादि।

अब फिर कहते हैं –

मएसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मंमि दसविहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १० ॥

मदेषु ब्रह्मचर्यगुप्तिषु, भिक्षुधर्मे दशविधे ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–**मएसु**–मदस्थानों में, **बंभगुत्तीसु**–ब्रह्मचर्य की गुप्तियो में, **दसविहे**–दश प्रकार के, **भिक्खुधम्मंमि**–यतिधर्म में, **जे भिक्खू**–जो भिक्षु, **निच्चं**–सदैव, **जयई**–यत्न करता है, **से न अच्छइ मंडले**–वह संसार में नही ठहरता।

मूलार्थ–आठ मद के स्थानों के त्याग में, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों के पालन में तथा दस प्रकार के यतिधर्म के आराधन में, जो भिक्षु सदैव यत्नशील रहता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका–प्रस्तुत गाथा में ८, ९ और १० अंको से चारित्रविधि की रचना की गई है। (क) आठ मदस्थान–१. जातिमद, २. कुलमद, ३ रूपमद, ४. बलमद, ५. लाभमद, ६. श्रुतमद, ७ ऐश्वर्यमद और ८. तपोमद, ये आठ मद के स्थान कहे जाते हैं।

(ख) नव ब्रह्मचर्यगुप्ति–ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाले नियमविशेष को गुप्ति कहा जाता है। उसके नौ भेद है–१ स्त्री, पशु और नपुंसक रहित स्थान मे निवास करना, २ स्त्रियो की कथा न करना, ३. स्त्री के साथ न बैठना, अथवा जिस स्थान पर स्त्री बैठी हुई थी कुछ समय तक उस स्थान में न बैठना, ४ स्त्री की इन्द्रियों को न देखना, ५ भित्ति आदि के अन्तर से स्त्री के शब्दो को सुनने का प्रयत्न न करना, ६ पूर्वानुभूत विषयों को स्मृति में न लाना, ७ स्निग्ध आहार न करना, ८. प्रमाण से अधिक न खाना और ९ शरीर को विभूषित न करना, ये नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियां अर्थात् ब्रह्मचर्यरूप खेती को सुरक्षित रखने के लिए बाड के समान हैं।

(ग) दश प्रकार का यतिधर्म–१ क्षमा, २. मुक्ति, ३ आर्जव, ४ मार्दव, ५. लाघव, ६ सत्य, ७ सयम, ८. तपकर्म, ९. त्याग–दान और १० ब्रह्मचर्य, ये दस भेद भिक्षुधर्म के हैं।

सारांश यह है कि आठ प्रकार के मदस्थानों के त्याग, ब्रह्मचर्यसम्बन्धी नव गुप्तियों के पालन तथा दस प्रकार के यतिधर्म के अनुष्ठान मे जो भिक्षु सदा तत्पर रहता है, वह इस ससार से मुक्त हो जाता है, अर्थात् कर्मबन्धनों को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

अब फिर कहते हैं –

उवासगाणं पडिमासु, भिक्खूणं पडिमासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ११ ॥

उपासकानां प्रतिमासु, भिक्षूणां प्रतिमासु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**उवासगाणं**—उपासकों की, **पडिमासु**—प्रतिमाओ मे, **य**—फिर, **भिक्खूणं**—भिक्षुओ की, **पडिमासु**—प्रतिमाओं मे, **जे भिक्खू**—जो भिक्षु, **जयई**—यत्न करता है, **से न अच्छइ मंडले**—वह ससार में नही ठहरता।

मूलार्थ—श्रावकों की ग्यारह और भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं के विषय में जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है, वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे चारित्र के विशोधक श्रावक की ११ प्रतिमाओं तथा भिक्षु की १२ प्रतिमाओ का उल्लेख किया गया है। प्रतिमा का अर्थ है प्रतिज्ञाविशेष। मुनियो की सेवा करने वालों को उपासक कहते हैं। उपासक की ११ प्रतिमाएं इस प्रकार है—१ सम्यक्त्व का पालन करना, २ व्रतो का धारण करना, ३ काल मे प्रतिक्रमणादि क्रियाएं करना, ४ विशेष तिथियों मे पौषध करना, ५. रात्रि मे कायोत्सर्ग करना तथा स्नान आदि का परित्याग करना और धोती आदि की लाग न बाधना, ६. ब्रह्मचर्य का धारण करना, ७. सचित्ताहार का त्याग करना, ८ स्वय आरम्भ न करना, ९ दूसरों से आरम्भ न कराना, १०. उद्दिष्ट आहार का त्याग करना और ११ श्रमणवत् आचरण करना[१]। इन सब प्रतिमाओ-प्रतिज्ञाओ का सविस्तार वर्णन दशाश्रुतस्कन्ध मे किया गया है[२]।

भिक्षु की १२ प्रतिमाएं इस प्रकार से हैं—एक मास से लेकर सात मास तक सात प्रतिमाए होती है। एक मास की एक प्रतिमा, ऐसे सात मास पर्यन्त सात प्रतिमाएं हुईं तथा आठवी, नवमी और दसवीं ये तीन प्रतिमाए सात-सात अहोरात्र की हैं। ग्यारहवी प्रतिमा एक अहोरात्र की और बारहवीं केवल एक रात्रि की होती है। तथा —

मासादयः सप्तान्ताः, प्रथमा द्वितीया तृतीया सप्तरात्रिदिना ।
अहोरात्रिकी एकरात्रिकी, एवं भिक्षुप्रतिमानां द्वादशकम् ॥

इनकी विस्तृत व्याख्या दशाश्रुतस्कधसूत्र की सातवी दशा मे की गई है। अधिक जानने की इच्छा रखने वाले वहा पर देखे।

अब फिर कहते हैं —

किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १२ ॥

---

१ दर्शन व्रतानि सामायिक पौषध प्रतिमा अब्रह्मचर्यसचित्तमारम्भ. प्रेष्यः उद्दिष्टवर्जकः श्रमणभूतश्चेति।

२ देखो उक्त सूत्र की छठी और सातवीं दशा।

क्रियासु भूतग्रामेषु, परमाधार्मिकेषु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–**किरियासु**–क्रियाओ मे, **भूयगामेसु**–भूतग्रामो में, **य**–और, **परमाहम्मिएसु**–परमाधार्मिको में, **जे**–जो, **भिक्खू**–साधु, **निच्चं**–सदैव, **जयई**–यत्न करता है, **से न अच्छइ मंडले**–वह संसार में नहीं ठहरता।

मूलार्थ–तेरह प्रकार की क्रियास्थानों में, चौदह प्रकार के भूतसमुदायों में और पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक देवों में जो भिक्षु सदैव यत्न अर्थात् विवेक रखता है, वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका–१. अर्थदण्ड, २. अनर्थदण्ड, ३ हिंसादण्ड, ४. अकस्मात्-दण्ड, ५. दृष्टिविपर्यास, ६. मृषावाद, ७ अदत्तादान, ८. अध्यात्मवर्तिकी, ९ मान, १०. मित्रद्वेषप्रत्ययिकी, ११ माया, १२ लोभ और १३. ईर्यापथिकी, ये १३ क्रियास्थान कहलाते है। इनके द्वारा कर्मो का बन्ध होता है, परन्तु प्रथम और बारहवे क्रियास्थान से ससार की वृद्धि होती है तथा तेरहवें क्रियास्थान के सेवन से केवल-ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

जो प्रथम थे, अब हैं और आगे को होंगे, उनको भूत कहते हैं। उनका समुदाय भूतग्राम कहलाता है। उसके १४ भेद हैं। यथा–१. सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त, २. सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-पर्याप्त, ३ बादर-एकेन्द्रिय-अपर्याप्त, ४. बादर-एकेन्द्रिय-पर्याप्त, ५ द्वीन्द्रिय-अपर्याप्त, ६. द्वीन्द्रिय-पर्याप्त, ७. त्रीन्द्रिय-अपर्याप्त, ८. त्रीन्द्रिय-पर्याप्त, ९. चतुरिन्द्रिय-अपर्याप्त, १० चतुरिन्द्रिय-पर्याप्त, ११ असंज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-अपर्याप्त, १२ असज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त, १३ संज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-अपर्याप्त और १४ सज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त। इन सब प्रकार के प्राणियों की रक्षा करने में यत्न करना चाहिए।

इसी प्रकार नरक के अधिवासी परमाधार्मिक देव हैं। उनके १५ भेद इस प्रकार है–१ आम्र, २ आम्ररस, ३. शाम, ४. सबल, ५ रौद्र, ६ वैरौद्र, ७ काल, ८ महाकाल, ९ असिपत्र, १० धनुष, ११ कुम्भ, १२. बालुक, १३. वैतरणी, १४. खरस्वर और १५. महाघोष–ये १५ प्रकार के असुरकुमार देव विशेष हैं जो कि नारकी जीवों को नाना प्रकार के कष्टों से पीड़ित करते हैं। इनके विषय में जो भिक्षु सदा सचेत रहता है तथा पूर्वोक्त क्रियाओं और भूतसमुदाय के सम्बन्ध में जो पूर्ण विवेक रखता है, उसका संसारभ्रमण दूर हो जाता है। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं –

गाहासोलसएहिं, तहा असंजमम्मि य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १३ ॥

गाथाषोडशकेषु, तथाऽसंयमे च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—**गाहा**—गाथानामक, **सोलसएहिं**—सोलहवे अध्ययन मे, **तहा**—उसी प्रकार, **असंजमम्मि**—असंयम में, **जे भिक्खू**—जो भिक्षु, **निच्चं**—सदैव, **जयई**—यत्न रखता है, **से न अच्छइ**—वह नहीं ठहरता, **मंडले**—संसार में।

मूलार्थ—गाथानामक सोलहवें अध्ययन में तथा असंयम में जो भिक्षु यत्न रखता है, वह इस संसार में नहीं ठहरता अर्थात् उसका संसारभ्रमण मिट जाता है।

टीका—जो गाई जाए तथा जिसमें स्व और पर समय के स्वरूप को शब्दों के द्वारा गाया जाए, उसको गाथा कहते है। सूयगड़ाग-सूत्र के प्रथम श्रुत स्कन्ध के सोलहवे अध्ययन को भी गाथा-अध्ययन कहते हैं तथा भीमसेनन्याय से गाथा-अध्ययन को गाथा भी कहा जाता है। उपचार से १६ अध्ययनों की ही गाथा सज्ञा प्रसिद्ध हो गई है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१ स्वसमय-परसमय, २. वैदारिक, ३. उपसर्ग-परिज्ञा, ४ स्त्री-परिज्ञा, ५. नरक-विभक्ति, ६ वीरस्तुति, ७ कुशील-परिभाषा, ८. वीर्याध्ययन, ९. धर्मध्यान, १०. समाधि, ११. मोक्षमार्ग, १२. समवसरण, १३ याथातथ्य, १४ ग्रन्थ, १५ यमदीयं और १६ गाथा।

संयम के १७ भेद है, उसके विपरीत असंयम भी १७ प्रकार का है। संयम के १७ भेद इस प्रकार है—१. पृथ्वीकाय सयम, २. अप्काय-सयम, ३ वायुकाय-संयम, ४ तेजस्काय-संयम, ५ वनस्पतिकाय-संयम, ६. द्वीन्द्रिय-सयम, ७ त्रीन्द्रिय-संयम, ८. चतुरिन्द्रिय-संयम, ९ पंचेन्द्रिय-सयम, १० अजीवकाय-सयम, ११ प्रेक्षा-संयम, १२. उत्प्रेक्षा-सयम, १३ अपहृत-संयम, १४ प्रमार्जना-संयम, १५ मन-संयम, १६ वचन-सयम और १७. काय-संयम।

इनके विरुद्ध पृथ्वीकाय असंयम, अप्काय-असंयम इत्यादि प्रकार से असयम के १७ भेद है।

तात्पर्य यह है कि सूयगडाग सूत्र के १६ अध्ययनों के निरन्तर अभ्यास करने में और १७ प्रकार के असयमों अर्थात् असयमस्थानों से निवृत्त होने मे जो साधु सदा उपयोग रखता है उसका इस ससार में आवागमन मिट जाता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं —

बंभम्मि नायज्झयणेसु, ठाणेसु असमाहिए ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १४ ॥

ब्रह्मणि ज्ञाताध्ययनेषु, स्थानेषु असमाधेः ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**बंभम्मि**—ब्रह्मचर्य के १८ भेदो मे, **नायज्झयणेसु**—ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययनो में, **असमाहिए**—असमाधि के, **ठाणेसु**—२० स्थानो में, **जे भिक्खू**—जो भिक्षु, **निच्चं**—सदैव, **जयई**—यतना रखता है, **से**—वह, **न अच्छइ**—नहीं ठहरता, **मंडले**—ससार में।

मूलार्थ—जो भिक्षु अठारह ब्रह्मचर्य के भेदों में, उन्नीस ज्ञाता-अध्ययनों में और बीस

असमाधि-स्थानों में सदैव यत्न रखता है, वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका—अब्रह्म अर्थात् मैथुन से निवृत्त होना ब्रह्मचर्य है। उसके अठारह भेद इस प्रकार है। यथा—नौ प्रकार का औदारिकशरीरसम्बन्धी मैथुनत्याग और नौ प्रकार का देव-शरीर सम्बन्धी-मैथुन का त्याग, इस प्रकार मिलकर दोनों के १८ भेद होते हैं।

औदारिकसम्बन्धी नौ भेद इस रीति से होते हैं—तीन मन के, तीन वचन के और तीन काया के, ये नौ भेद हुए। मन से यथा—१. मैथुन का सेवन करूंगा नहीं, २. किसी से कराऊगा नहीं और ३. सेवन करने वालों की अनुमोदना नही करूगा।

इसी प्रकार वचन और काया के विषय में जान लेना चाहिए।

इसी तरह नौ भेद देवसम्बन्धिवैक्रियमैथुन के है।

ज्ञाता-सूत्र के १९ अध्ययनों के नाम निम्नलिखित है—१ मेघकुमार, २ संघाटक, ३ मयूरीअण्डक, ४ कूर्म, ५ शैलर्षि, ६ तुम्बक, ७. रोहिणी, ८ मल्ली, ९. माकन्दीपुत्र, १०. चन्द्रमा, ११. दावद्रक, १२. उदकशुद्धि, १३ मंडुक, १४ तेतली-अमात्य, १५. नन्दीफल, १६. अमरकंका, १७. आकीर्ण, १८ सुसमादारिका और १९ पुण्डरीक-कुण्डरीक।

आत्मा को असमाहित करने वाले २० असमाधि-स्थान इस भांति है—१ शीघ्र चलना, २ बिना प्रमार्जन के लिए चलना, ३. दुष्प्रमार्जन करके चलना, ४. प्रमाण से अधिक शयनासन रखना, ५. रत्नाधिक के सन्मुख बोलना, ६ स्थविरों के घात के भाव उत्पन्न करना, ७ जीवो के घात करने के भाव उत्पन्न करना, ८. प्रतिक्षण क्रोध करना, ९ दीर्घकालिक क्रोध करना, १० पिशुनता करना, ११ पुन. पुन: निश्चयात्मक वाणी बोलनी, १२. नूतन क्लेश उत्पन्न करना, १३ शान्त हुए क्लेश को फिर से जगा देना, १४ सचित्त रज से हाथ-पैर भरे होने पर भी शय्यादि पर यत्न से न बैठना, १५. अकाल मे स्वाध्याय करना, १६. शब्द करना, १७ क्लेश करना, १८. झझा शब्द करना, १९ सूर्यास्त तक भोजन करते रहना और २०. एषणासमिति से असमित रहना।

सारांश यह है कि १८ प्रकार के ब्रह्मचर्य को धारण करना तथा ज्ञातासूत्र के १९ अध्ययनों का पाठ करना और बीस प्रकार के असमाधि-स्थानों के टालने में जो भिक्षु यत्न करता है वह संसारचक्र से पार हो जाता है।

अब फिर कहते हैं –

एगवीसाए सबले, बावीसाए परीसहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १५ ॥

एकविंशतिसबलेषु, द्वाविंशतिपरीषहेषु ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**एगवीसाए**—इक्कीस, **सबले**—शबलों—दोषों में, **बावीसाए**—बाईस, **परीसहे**—परीषहो

मे, **जे**–जो, **भिक्खू**–भिक्षु, **निच्चं**–निरन्तर, **जयई**–यत्न करता है, **से न अच्छइ मंडले**–वह संसार मे नही ठहरता।

मूलार्थ–इक्कीस प्रकार के शबलों अर्थात् दोषों में और बाईस प्रकार के परीषहों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, अर्थात् दोषो के त्यागने और परीषहों के सहन करने में सदैव उद्यत रहता है, वह इस संसार में भ्रमण नहीं करता।

टीका–शास्त्रकार ने २१ शबल-दोष प्रतिपादन किए हैं। अतिचारों के द्वारा चारित्र को कर्बुर करने वाले दोषो को 'शबल' कहते हैं। वे सब क्रियाविशेष ही हैं। तथा प्राकृत में तालव्य के स्थान पर दंती सकार हो जाता है और यहां पर दंती सकार मानकर 'सबल' का बलवान् अर्थ भी हो जाता है अर्थात् २१ प्रकार के बलवान् दोषो के साथ जो क्रियास्थान वर्णन किए गए हैं, उनको सदा के लिए त्याग देना चाहिए। वे २१ दोष निम्नलिखित है। यथा–१. हस्तकर्म करना, २. मैथुन का सेवन करना, ३. रात्रि में भोजन करना, ४ आधाकर्मी आहार करना, ५ राजपिड लेना, ६ मोल लिया हुआ आहार करना, ७ उधार लिया हुआ आहार लेना, ८ उपाश्रय मे लाया हुआ आहार लेना, ९ निर्बल से छीना हुआ आहार लेना, १०. प्रत्याख्यान करके पुनः पुनः तोड़ देना, ११ छः मास के अन्दर गण से गण संक्रमण करना, १२ मास के अभ्यन्तर तीन पानी के लेप और तीन माया के स्थान का सेवन करना, १३. जानबूझ कर हिसा करना, १४. जानबूझ कर असत्य बोलना, १५ जानकर अदत्तादान का सेवन करना, १६ जानकर सचित्त मृत्तिकादि पर बैठना, १७. जानकर सचित्त रज वा शिला पर तथा घुण वाले काष्ठ पर बैठना, १८ जानबूझकर बीज, कीडी आदि के अण्डों और जाला लगे हुए स्थान पर बैठना, १९. जानबूझ कर कंद, मूल, फल, पुष्प, बीज और हरी आदि का भोजन करना, २०. एक वर्ष के भीतर दस पानी के लेप और दस माया के स्थानों का सेवन करना और २१ शीत जल से हाथ गीले करना अथवा सचित्त जल से गीले भाजन तथा दर्वी आदि से भोजन लेना। भिक्षु को इन २१ प्रकार के शबल दोषो का त्याग कर देना चाहिए। कारण यह है कि इनसे चारित्र में मलिनता आ जाती है। जिनका वर्णन प्रस्तुत सूत्र के दूसरे अध्ययन मे आ चुका है।

ऐसे ही २२ प्रकार के परीषहो को भी शाति-पूर्वक सहन करना चाहिए।

साराश यह है कि जो साधु उक्त २१ प्रकार के शबल दोषो को दूर करने और २२ प्रकार के परीषहो को सहन करने के लिए सदैव तत्पर रहता है, वह इस संसार मे परिभ्रमण नही करता, अर्थात् संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

अब फिर इसी विषय मे कहते है –

तेवीसइसूयगडेसु, रूवाहिएसु सुरेसु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १६ ॥

त्रयोविंशतिसूत्रकृतेषु, रूपाधिकेषु सुरेषु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः–तेवीसइसूयगडेसु–२३ सूत्रकृत सूत्र के अध्ययनो में, **रूवाहिएसु**–रूपाधिक, **सुरेसु**–सुरों में, **य**–और, **जे**–जो, **भिक्खू**–साधु, **निच्चं**–सदैव, **जयई**–यत्न करता है, **से न अच्छइ मंडले**–वह इस संसार में नहीं ठहरता।

मूलार्थ–सूत्रकृतांगसूत्र के २३ अध्ययनों के स्वाध्याय में और २४ प्रकार के देवों के विषय में जो भिक्षु सदा यत्न रखता है, वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका–सूत्रकृतांग के १६ अध्ययनों का नाम तो पीछे कथन कर दिया गया है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे आए हुए अवशिष्ट सात अध्ययनों का नामनिर्देश इस प्रकार है–यथा–१. पुंडरीक, २ क्रियास्थान, ३. आहारपरिज्ञा, ४. प्रत्याख्यान, ५. अनगार, ६. आर्द्रकुमार और ७. नालदीय, ये कुल मिलाकर २३ होते हैं।

२४ प्रकार के देव इस प्रकार हैं–दस जाति के भवनपति, आठ जाति के व्यन्तर, पांच जाति के ज्योतिषी और एक जाति के वैमानिक अथवा २४ रूपाधिकदेव अर्थात् ऋषभादि २४ देवाधिदेव–तीर्थंकर है।

तात्पर्य यह है कि जो भिक्षु सूत्रकृताग के २३ अध्ययनों का स्वाध्याय करता है और २४ रूपाधिक देवो अर्थात् तीर्थंकरों की सम्यक्तया आराधना करता है वह इस ससार में परिभ्रमण नही करता।

अब पुनः इसी विषय में कहते हैं –

पणवीसभावणासु, उद्देसेसु दसाइणं ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १७ ॥

पञ्चविंशतिभावनासु, उद्देशेषु दशादीनाम् ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–पणवीस–पच्चीस, **भावणासु**–भावनाओं में, **दसाइणं**–दशादि के, **उद्देसेसु**–उद्देशो में, **जे**–जो, **भिक्खू**–साधु, **निच्चं**–सदैव, **जयई**–यत्न करता है, **से**–वह, **न अच्छइ**–नहीं ठहरता, **मंडले**–ससार मे।

मूलार्थ–जो भिक्षु पच्चीस प्रकार की भावनाओं में तथा दशाश्रुत, व्यवहार और बृहत्कल्प के २६ उद्देशों में यत्न रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका–शास्त्रकारों ने पांच महाव्रतो की २५ भावनाएं कही हैं। ये ससाररूप समुद्र से पार होने के लिए बेड़ियो (किशतियों) के समान है। एक-एक महाव्रत की पांच-पांच भावनाएं है, जो इस प्रकार हैं –

प्रथम महाव्रत–१. ईर्यासमिति-भावना, २. मनःसमिति-भावना, ३. वचनसमिति-भावना, ४. कायसमिति-भावना और ५ एषणासमिति-भावना।

द्वितीय महाव्रत–१. बिना विचारे नहीं बोलना, २. क्रोध से नही बोलना, ३. लोभ से नहीं बोलना, ४ मान से नहीं बोलना और ५. हास्य से नहीं बोलना।

तृतीय महाव्रत–१. निर्दोष वसती का सेवन करना, २. तृणादि के ग्रहण करने की आज्ञा लेना, ३. स्त्री के अंगोपांगों को न देखना, ४. सम-विभाग करना और ५. तपस्वी आदि की सेवा करना।

चतुर्थ महाव्रत–१ स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित स्थान का सेवन करना, २. स्त्री कथा न करना, ३. स्त्री के अंगोपांगों को न देखना, ४ विषयों का स्मरण न करना और ५ प्रणीत आहार का सेवन न करना।

पंचम महाव्रत–१ शब्द, २. स्पर्श, ३. रूप, ४ रस और ५. गन्ध, इन पाचों में आसक्त न होना। इस प्रकार से पाच महाव्रतो की ये २५ भावनाएं है।

दशाश्रुतस्कन्धसूत्र के १० और व्यवहारसूत्र के भी १० उद्देशक है, किन्तु बृहत्कल्पसूत्र के ६ उद्देशक हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर सब २६ हो जाते है।

तात्पर्य यह है कि जो साधु उक्त २५ भावनाओं की भावना मे और उक्त सूत्रों के २६ उद्देशों के स्वाध्याय करने में निरन्तर यत्न रखता है वह इस ससारचक्र से छूट जाता है। उक्त उद्देशो मे उत्सर्ग, अपवाद और विधिवाद का बहुत ही विस्तृत वर्णन किया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं –

अणगारगुणेहिं च, पगप्पंमि तहेव य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १८ ॥

अनगारगुणेषु च, प्रकल्पे तथैव च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–अणगारगुणेहिं–अनगार के गुणो मे, **च**–और, **तहेव**–उसी प्रकार, **पगप्पंमि**–आचार-प्रकल्प मे, **जे**–जो, **भिक्खू**–साधु, **निच्चं**–सदैव, **जयई**–यत्न करता है, **से न अच्छइ मंडले**–वह संसार में नही ठहरता।

मूलार्थ–साधु के गुणों में और आचार के प्रकल्पों में जो साधु निरन्तर उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका–अनगार-साधु के २७ गुण कहे जाते हैं और आचार-प्रकल्प के २८ भेद हैं। जो साधु इनके विषय में सदा सावधान रहता है उसका संसारभ्रमण छूट जाता है अर्थात् वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। साधु के २७ गुण निम्नलिखित है–१-५ पांच महाव्रतों का पालन करना, ६-१० पाच इन्द्रियों का निग्रह करना, ११-१४. चार कषायो को जीतना, १५ भावसत्य, १६. करणसत्य, १७ योगसत्य, १८ क्षमा, १९. वैराग्यभाव, २० मनःसमाधि, २१ वचनसमाधि, २२. कायसमाधि, २३. ज्ञान, २४. दर्शन, २५. चारित्र, २६. वेदना-सहिष्णुता और २७ मारणांतिक कष्ट सहन करना।

प्रकल्प का अर्थ है कि प्रायश्चित प्रकल्प अर्थात् प्रकृष्ट कल्प–यतिव्यवहार का जिसमे प्रतिपादन किया हो, वह शास्त्र आचार-प्रकल्प के नाम से प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि २८ अध्ययनरूप आचारांगसूत्र को प्राकृत में आचार-प्रकल्प कहा है। उसके २८ अध्ययनों का नामनिर्देश इस प्रकार हैं। यथा–१. शस्त्रपरिज्ञा, २. लोकविजय, ३ शीतोष्णीय, ४ सम्यक्त्व, ५. आर्वति, ६. ध्रुव, ७ विमोह, ८ उपधानश्रुत, ९. महापरिज्ञा, १०. पिंडैषणा, ११ शय्या, १२. ईर्या, १३. भाषा, १४. वस्त्रेषणा, १५. पात्रेषणा, १६. अवग्रहप्रतिमा, १६+७=२३ सप्तशतिका, २४. भावना, २५ विमुक्ति, २६ उपघात, २७ अनुपघात, २८. आरोपणा, यह २८ प्रकार का आचार-प्रकल्प कहा गया है।

इसके अतिरिक्त समवायांगसूत्र मे २८ प्रकार का आचार-प्रकल्प इस प्रकार से वर्णन किया है। यथा–१. एक मास का प्रायश्चित, २ एक मास पांच दिन का प्रायश्चित, ३. एक मास दस दिन का प्रायश्चित। इसी प्रकार पांच-पाच दिन बढ़ाते हुए पांच मास तक कहना चाहिए। इस प्रकार २५ हुए। २७ उपघातक-अनुपघातक, २७ आरोपण और २८ कृत्स्न–सम्पूर्ण, अकृत्सन–असम्पूर्ण। इस विषय का सम्पूर्ण वर्णन निशीथसूत्र के बीसवें उद्देशक से जानना चाहिए।

अब फिर कहते हैं –

पावसुयपसंगेसु, मोहठाणेसु चेव य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १९ ॥

पापश्रुतप्रसंगेषु, मोहस्थानेषु चैव च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्य, स न तिष्ठति मण्डले ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः–**पावसुयपसंगेसु**–पापश्रुत के प्रसग मे, **य**–और, **मोहठाणेसु**–मोह के स्थानों में, **एवं**–निश्चय ही, **च**–पुन·, **जे भिक्खू जयई निच्चं**–जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है, **से न अच्छइ मडले**–वह नही ठहरता संसार में।

मूलार्थ–जो भिक्षु पापश्रुत के प्रसंगों में और मोह के स्थानों में सदा उपयोग रखता है अर्थात् इनको दूर करने का सदैव यत्न करता है, वह इस संसार में परिभ्रमण नही करता।

टीका–शास्त्रकारों ने २९ प्रकार का पाप-श्रुत बताया है। जिसके अभ्यास से जीव की पाप-कर्म में रुचि उत्पन्न हो जाए, उसे पाप-श्रुत कहते है। यथा–१. भूकम्पशास्त्र, २ उत्पातशास्त्र, ३. स्वप्नशास्त्र, ४. अन्तरिक्षशास्त्र, ५ अगस्फुरणशास्त्र, ६ स्वरशास्त्र, ७. व्यंजन, तिल, मसा आदि चिन्ह-शास्त्र, ८ लक्षणशास्त्र, ये सब आठ ही सूत्ररूप, आठ ही वृत्तिरूप और आठ ही वार्तिकरूप, इस प्रकार २४ होते हैं। २५. विकथानुयोग, २६. विद्यानुयोग, २७ मंत्रानुयोग, २८. योगानुयोग और २९ अन्य-तीर्थप्रवृत्ति-अनुयोग।

मोह-कर्म के तीस स्थान इस प्रकार से हैं। यथा–१. त्रस जीव को पानी में डुबोकर मारना, २ हस्त आदि से मुख बांधकर मारना, ३. सिर पर चर्म आदि बांधकर मारना, ४ शस्त्रादि से मस्तक का

छेदन करना, ५. जो पुरुष द्वीप के समान सब का रक्षक है उसको मारना, ६ साधारण अन्न-पानी से रोगी की सेवा न करना, ७ किसी को धर्म से भ्रष्ट करना, ८. न्याययुक्त मार्ग का नाश करना, ९. जिनेन्द्र, आचार्य और उपाध्याय आदि की अवमानना करना, १०. अनन्त ज्ञानियों की उपासना का त्याग करना, ११. पुनः पुनः क्लेश उत्पन्न करना, १२ तीर्थ का भेद करना, १३. अधर्म में पुनः पुनः प्रवृत्ति करना, १४. विषय-विकारो का त्याग करके फिर उनकी इच्छा करना अर्थात् इहलोक तथा परलोक के कामभोगों की इच्छा करना, १५. अपने आपको बहुश्रुत मानना, १६. तपस्वी न होने पर अपने आपको तपस्वी सिद्ध करना, १७. अग्नि के धूम से जीवो को मारना, १८ स्वयं पाप करके उसको दूसरे के सिर लगाना, १९ छल आदि क्रियाएं विशेष रूप से करना, २०. सर्व प्रकार से असत्य बोलना, २१ सदा क्लेश करते रहना, २२. मार्ग में लोगों को लूटना, २३. विश्वास देकर दूसरे की स्त्री से कुकर्म करना, २४ आबाल ब्रह्मचारी न होने पर आबाल ब्रह्मचारी कहलाना, २५. अब्रह्मचारी होने पर ब्रह्मचारी कहलाना, २६. अपने को अनाथ से सनाथ बनाने वाले स्वामी के ही धन का नाश करना, २७ स्वामी के प्रभाव मे अन्तराय डालना, २८. सेनापति, शासक, राष्ट्रपति और ग्रामनायक आदि का विनाश करना, २९ देवता के पास न आने पर भी ऐसा कहना कि मेरे पास देवता आता है, ३० देवता का अवर्णवाद बोलना इत्यादि मोहनीय के स्थान है। इनके द्वारा यह जीव अनेक प्रकार के विकट कर्मो का बन्ध करता है।

साराश यह है कि जो भिक्षु उक्त २९ प्रकार के पापश्रुत-प्रसग मे और तीस प्रकार के मोहस्थान मे पूर्णतया विवेक से काम लेता है, अर्थात् इनके परिहार में सदा उद्यत रहता है उसका इस ससार मे परिभ्रमण नहीं होता। पापश्रुत के द्वारा पापकर्म के उपार्जन करने की अधिक सम्भावना रहती है और मोहनीय कर्म के प्रभाव से निर्दयता और कृतघ्नता आदि अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिए इनके त्याग में उद्यत रहना चाहिए।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं –

सिद्धाइगुणजोगेसु, तेत्तीसासायणासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ २० ॥

सिद्धादिगुणयोगेषु, त्रयस्त्रिंशदाशातनासु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं, स न तिष्ठति मण्डले ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः–**सिद्धाइ**–सिद्ध के आदि समय मे जो, **गुण**–गुण है तथा सिद्धों के अतिशय-रूप गुण, वा, **जोगेसु**–योगसग्रहों मे, **य**–और, **तेत्तीस**–तेतीस, **आसायणासु**–आशातनाओं में, **जे भिक्खू**–जो साधु, **निच्चं**–सदैव, **जयई**–यत्न करता है, **से**–वह, **न अच्छइ मंडले**–नही ठहरता ससार मे।

मूलार्थ–सिद्धों के अतिशयरूप गुणो में, योगसंग्रहों में तथा ३३ प्रकार की आशातनाओ मे, जो भिक्षु सदैव यत्न रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका-प्रस्तुत गाथा में सिद्धो के अतिशय गुणों, योगसंग्रहों और आशातनाओं के विषय का दिग्दर्शन कराया गया है। जिस समय इस आत्मा को सिद्धपद की प्राप्ति होती है, उस समय प्रथम समय में ही उनके ३१ गुण प्रकट होते हैं जो कि सिद्धों के अतिशय गुण कहे जाते हैं। वे ३१ गुण इस प्रकार हैं। यथा–१. ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय की पाच प्रकृतिया, २. दर्शनावरणीय कर्म के क्षय की नौ प्रकृतियां, ३. वेदनीय कर्म के क्षय की दो प्रकृतिया, ४ दो प्रकृतिया मोहनीय कर्म के क्षय की, ५. आयुष्य कर्म के क्षय की चार प्रकृतियां, ६. दो प्रकृतिया नामकर्म के क्षय की, ७. दो प्रकृतियां गोत्रकर्म के क्षय की और ८ पांच प्रकृतिया अन्तरायकर्म की। इस प्रकार आठों कर्मों की प्रकृतियों का क्षय करने से प्रकट होने वाले व्यवहारपक्ष में ३१ गुण सिद्धो के कहे जाते हैं। इनके मनन करने में उद्योग करना चाहिए और उसी प्रकार से उक्त कर्म-प्रकृतियों का क्षय करके सिद्धों के गुणो को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा शुभ मन, वचन और काय के व्यापाररूप जो योग हैं, उनके सग्रह करने में यत्न रखना चाहिए।

योगसग्रह के निम्नलिखित रीति से ३२ भेद है। यथा–१ आलोचना करना, २ आलोचना का प्रकाश न करना, ३ आपत्ति के समय धर्म मे दृढता रखना, ४. आशारहित तप करना, ५. शिक्षा ग्रहण करना, ६ शरीर के श्रृंगार का परित्याग करना, ७ अज्ञात कुल की गोचरी करना, ८ लोभ न करना, ९ तितिक्षा धारण करना, १० आर्जव भाव रखना, ११. शुचि रहना–व्रतों मे दोष न लगाना, १२. सम्यग्दृष्टि बनना, १३ समाधियुक्त होना, १४ आचार का संग्रह करना, १५ विनययुक्त होना, १६. धृतियुक्त होना, १७. सवेग धारण करना, १८. प्रणिधिवान् होना, १९ सुन्दर अनुष्ठान का पालन करना, २० आस्रव का निरोध करना, २१ आत्मा के दोषो का परिहार करना, २२ सर्व प्रकार के काम-भोगों से विरक्त होना, २३. प्रत्याख्यान करना, २४ कायोत्सर्ग करना, २५. प्रमाद न करना, २६. नियत समय पर क्रियानुष्ठान करना, २७. ध्यान करना, २८. संवर मे योगों को लगाना, २९. मारणान्तिक कष्ट सहन करना, ३० स्वजनादि के संग का परित्याग करना, ३१ दोष लगने पर प्रायश्चित का ग्रहण करना और ३२ अन्त समय मे आराधक होने का सकल्प धारण करना।

तात्पर्य यह है कि इन पूर्वोक्त योगसग्रहो के संचित करने मे प्रयत्नशील होना चाहिए। तथा प्रतिक्रमणसूत्र और समवायांगसूत्र में ३३ प्रकार की आशातनाओ का वर्णन किया गया है, उनके परित्याग के लिए उद्यत रहने का प्रयत्न करना चाहिए। कारण यह है कि आशातना करने से आत्मगुणो का विनाश होता है। वे ३३ प्रकार की आशातनाए इस प्रकार हैं –

१. गुरु के आगे चलना, २. गुरु के बराबर चलना, ३. गुरु के पीछे अविनय से चलना, ४. इसी प्रकार तीन आशातनाए खडे होने और तीन बैठने में है। ये कुल ९ आशातनाए हुई। १०. यदि एक पात्र में जल लेकर गुरु और शिष्य कहीं बाहर गए हुए हों तो गुरु से प्रथम उस जल में से जल लेकर आचमन करना, ११. बाहर से आकर गुरु से पहले ध्यान करना, १२ गुरु के साथ कोई बात करने को आए तो गुरु से पहले उससे स्वय बात करने लग जाना, १३ रात्रि में गुरु के बुलाने पर न बोलना, १४ अन्न-पानी लाकर पहले छोटो के आगे आलोचना करना, १५. अन्न-पानी लाकर पहले छोटों को

दिखाना, १६. अन्न-पानी की निमंत्रणा पहले छोटों को करना, १७. गुरु से बिना पूछे किसी को सरस भोजन देना, १८. गुरु के साथ भोजन करते समय स्वयं शीघ्र-शीघ्र, अच्छा-अच्छा भोजन कर लेना, १९. गुरु के बुलाने पर न बोलना, २०. गुरु के बुलाने पर आसन पर बैठे हुए उत्तर देना, २१. आसन पर बैठे हुए ही यह कहना कि क्या कहते हो, २२. गुरु को तूं कहना, २३. यदि गुरु कहे कि तुम यह काम करो, इससे कर्मों की निर्जरा होती है, इसके उत्तर में यह कहना कि तुम ही कर लो, २४. गुरु की कथा को प्रसन्नता-पूर्वक न सुनना, २५. गुरु की कथा मे भेद उत्पन्न करना, २६. कथा में छेद उत्पन्न करना, २७. उसी सभा में गुरु की बुद्धि को न्यून दिखाने के लिए उसी प्रकरण की विस्तृत व्याख्या करना, २८ गुरु के शय्या-संस्तारक आदि को पैर का स्पर्श हो जाने पर बिना क्षमायाचना के चले जाना, २९ गुरु के आसन पर उनकी आज्ञा के बिना बैठना, ३० गुरु के आसन पर बिना आज्ञा के शयन करना, ३१ गुरु से ऊंचे आसन पर बैठना, ३२. बड़ों की शय्या पर खडे रहना और बैठना, ३३ गुरु के सम आसन करना। ये ३३ आशातनाए हैं जिनका टालना साधु के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

साराश यह है कि ३१ प्रकार के सिद्धो के गुणो में, उक्त ३२ प्रकार के योगसंग्रहों मे तथा उक्त ३३ प्रकार की आशातनाओं में, जो भिक्षु निरन्तर उपयोग रखता है अर्थात् गुणों के सम्पादन में, योगसंग्रहो के सचय में और आशातनाओ के टालने मे यत्न करता है, वह इस ससारचक्र से छूट जाता है।

अब अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहते हैं –

इय एएसु ठाणेसु, जे भिक्खू जयई सया ।
खिप्पं से सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥ २१ ॥

त्ति बेमि ।

इति चरणविही समत्ता ॥ ३१ ॥

इत्येतेषु स्थानेषु, यो भिक्षुर्यतते सदा ।
क्षिप्रं स सर्वसंसाराद्, विप्रमुच्यते पण्डितः ॥ २१ ॥

इति ब्रवीमि ।

इति चरणविधिः समाप्तः ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः–**इय**–इस प्रकार, **एएसु**–इन, **ठाणेसु**–स्थानो में, **जे**–जो, **भिक्खू**–भिक्षु, **सया**–सदैव, **जयई**–यत्न करता है, **खिप्पं**–शीघ्र ही, **से**–वह, **सव्वसंसारा**–सर्व ससार से, **विप्पमुच्चइ**–छूट जाता है, **पंडिए**–पंडित–विचारशील, **त्ति बेमि**–इस प्रकार मै कहता हू। **इति चरणविही समत्ता**–यह चरणविधि समाप्त हुई।

मूलार्थ–उक्त प्रकार से इन पूर्वोक्त स्थानों में जो भिक्षु निरन्तर उपयोग रखता है वह पंडित इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टीका–प्रस्तुत अध्ययन की पूर्वोक्त बीस गाथाओं मे चारित्रशुद्धि के प्रकारो का वर्णन किया गया है। जो भिक्षु उक्त चारित्रविधि का अनुसरण करता है, वह पडित अर्थात् सत्-असत् वस्तु का विचार करने वाला इस संसार से शीघ्र ही छूट जाता है, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अत: मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को उचित है कि वे उक्त चारित्रविधि के अनुष्ठान द्वारा इस आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त कराने का अवश्य प्रयत्न करें।

इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्ववत् ही जान लेना चाहिए। यह चरणविधिनामक ३१वा अध्ययन समाप्त हुआ।

एकत्रिंशत्तमध्ययनं संपूर्णम्

नोट–प्रथम अक से लेकर ३३ अंक पर्यन्त जिन विधानों का उल्लेख किया है, उनका पूर्ण विवरण समवायागसूत्र से जान लेना।

अह पमायट्ठाणं बत्तीसइमं अज्झयणं

अथ प्रमादस्थानं द्वात्रिंशत्तममध्ययनम्

पूर्व अध्ययन मे अनेक प्रकार से चरण-विधि का निरूपण किया गया है, परन्तु चारित्रविधि का यथावत् पालन करने के लिए प्रमाद के त्याग की आवश्यकता है, अतः इस बत्तीसवे अध्ययन मे प्रमाद के त्याग का उपदेश दिया गया है। प्रमाद द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। मदिरा आदि पदार्थो का सेवन द्रव्य-प्रमाद है और निद्रा, विकथा और कषाय-विषयादि भावप्रमाद है। प्रस्तुत अध्ययन मे द्रव्य प्रमाद का त्याग करने के अनन्तर भाव से प्रमाद के त्याग का वर्णन किया गया ह। जैसे श्री ऋषभदेव और वर्द्धमान स्वामी ने प्रमाद का त्याग किया उसी प्रकार सर्व प्राणियों को प्रमाद का त्याग करना चाहिए। यद्यपि अप्रमत्त-गुणस्थान की स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, तथापि अन्तःकरण के सकल्पो से अप्रमत्तभाव की अनेक बार प्राप्ति हो सकती है। प्रमाद के कारण यह प्राणी अनन्त ससार-चक्र मे निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है, इसलिए प्रमाद सर्वथा त्याज्य है। अब शास्त्रकार निम्नलिखित गाथाओं के द्वारा इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते है कि –

अच्चंतकालस्स समूलगस्स, सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो ।
तं भासओ मे पडिपुण्णचित्ता, सुणेह एगंतहियं हियत्थं ॥ १ ॥

अत्यन्तकालस्य समूलकस्य, सर्वस्य दुःखस्य तु यः प्रमोक्षः ।
तं भाषमाणस्य मम प्रतिपूर्णचित्ताः, श्रृणुतैकान्तहितं हितार्थम् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–**अच्चत**–अत्यंत, **कालस्स**–काल, **समूलगस्स**–मिथ्यात्वादि से संयुक्त, **सव्वस्स**–सर्व, **दुक्खस्स**–दुःख के, **जो**–जो, **पमोक्खो**–प्रमोक्ष का हेतु, **तं**–उसको, **भासओ**–भाषण करते हुए, **मे**–मुझ से, **एगंत**–एकान्त, **हियं**–हितकर, **हियत्थं**–मोक्ष के अर्थ को, **सुणेह**–सुनो, **पडिपुण्णचित्ता**–प्रतिपूर्ण चित्त होकर, **उ**–निश्चय अर्थ मे है।

मूलार्थ–हे भव्य जीवो ! अत्यन्त अर्थात् अनादि काल से मूलसहित रहे हुए सर्व दुःखों से मोक्ष देने वाला, एकान्त हित और कल्याणकारी जो उपाय है उसे मैं तुम्हें कहता हूं, तुम एकाग्रचित्त होकर उसे सुनो।

टीका–प्रस्तुत गाथा में प्रतिपाद्य विषय का निर्देश किया गया है। अत्यन्त का अर्थ है अनादि। भगवान् कहते हैं कि यह जीव अनादि काल से मिथ्यात्व, अविरति और विषय-कषायो के साथ वर्त रहा है। ये मिथ्यात्वादि ही सर्व प्रकार के दुःखों के कारण और संसार परिभ्रमण के हेतु हैं। अत: सर्व प्रकार के दु:खों से मुक्त होने और संसार-चक्र से छूटने का जो एकान्त हितकारी तथा परम कल्याणकारी उपाय अर्थात् साधन है उसको मैं आप लोगों के प्रति कहता हू, आप उसे एकाग्रचित्त से श्रवण करे। यहां पर एकान्तहित विशेषण से साधन की विशिष्ट उपादेयता का सूचन किया गया है। जिस प्रकार खान से निकला हुआ मल-सहित स्वर्ण अग्नि आदि के सयोग से शुद्धि को प्राप्त होता हुआ अपने असली स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व-कषायादि से युक्त हुआ जीव विशिष्ट साधनों के द्वारा कषायरहित होता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करके इस जन्म-मरण रूप ससारचक्र से छूट जाता है।

अब उन साधनों का वर्णन करते हैं जिनके द्वारा यह जीव कर्म-बन्धनों को तोड़कर दु:खों से सर्वथा रहित हो जाता है, तथाहि –

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥ २ ॥

ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया, अज्ञानमोहस्य विवर्जनया ।
रागस्य द्वेषस्य च संक्षयेण, एकान्तसौख्यं समुपैति मोक्षम् ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः–**सव्वस्स**–सर्व, **नाणस्स**–ज्ञान के, **पगासणाए**–प्रकाशित होने से, **अन्नाण-मोहस्स**–अज्ञान और मोह को, **विवज्जणाए**–वर्जने से, अर्थात् त्याग करने से, **रागस्स**–राग, और **दोसस्स**–द्वेष का, **संखएणं**–क्षय करने से, **एगंतसोक्खं**–एकान्त सुखरूप, **मोक्खं**–मोक्ष को, (यह जीव) **समुवेइ**–प्राप्त करता है।

मूलार्थ–सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के सम्पूर्ण त्याग से तथा राग और द्वेष के सम्पूर्ण क्षय से, एकान्त सुखरूप मोक्ष को यह जीव प्राप्त कर लेता है।

टीका–शास्त्रों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र, इन तीनों को मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है, अत: प्रस्तुत गाथा में भी इन्हीं तीनों का उल्लेख किया है। 'सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश होने से' इस वाक्य के द्वारा ज्ञान का उल्लेख किया तथा 'अज्ञान और मोह के सम्पूर्ण त्याग से' इस वाक्य के द्वारा दर्शन का वर्णन किया और 'राग-द्वेष के सम्यक् क्षय से' इस वाक्य के द्वारा चारित्र का बोध कराया गया है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के सम्यक् प्रकाश से, मति-अज्ञान और दर्शन-मोहनीय अर्थात् मिथ्याश्रुत के श्रवण और कुदृष्टिसंग के त्याग से तथा राग-द्वेष के सम्यक् क्षय होने से, एकान्त सुखरूप जो मोक्षपद

है उसको यह जीव प्राप्त कर लेता है। ज्ञान से अज्ञान का विनाश होता है और दर्शन से मोह दूर होता है। एवं राग-द्वेष के त्याग से अर्थात् सर्वथा क्षय कर देने से आत्मा में लगा हुआ कर्ममल धुल जाता है। इस प्रकार परम विशुद्धि को प्राप्त हुआ यह जीव एकान्त सुख जिसमें विद्यमान है ऐसे मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। यहां 'एकान्त सुखरूप' यह मोक्ष का विशेषण इसलिए दिया गया है कि बहुत से दार्शनिक लोग मोक्ष में सुख और दुःख दोनो का ही अभाव मानते हैं तथा मोक्ष को दुःख का अभावरूप स्वीकार करते है, परन्तु उनका यह कथन युक्ति और प्रमाण से शून्य होने से अग्राह्य है। इसी के लिए उक्त विशेषण दिया गया अर्थात् मोक्ष दुःख का अभाव रूप नही किन्तु सुखरूप है।

मोक्षमार्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के जो उपाय हैं, अब शास्त्रकार उनके विषय में कहते हैं, यथा-

तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झायएगंतनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचिंतणया धिई य ॥ ३ ॥

तस्यैष मार्गो गुरुवृद्धसेवा, विवर्जना बालजनस्य दूरात् ।
स्वाध्यायैकान्तनिषेवणा च, सूत्रार्थसञ्चिन्तनया धृतिश्च ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः-तस्स-उस मोक्ष का, **एस**-यह, **मग्गो**-मार्ग है, **गुरुविद्धसेवा**-गुरु और वृद्धो की सेवा, **बालजणस्स**-बाल जन का, **दूरा**-दूर से, **विवज्जणा**-परित्याग, **य**-फिर, **सज्झाय**- स्वाध्याय का, **एगंतनिसेवणा**-एकान्त सेवन, **य**-और, **सुत्तत्थसंचिंतणया**-सूत्रार्थ का सम्यक् चिन्तन करना, **य**-तथा, **धिई**-धैर्य-पूर्वक।

मूलार्थ-गुरु और वृद्ध जनों की सेवा करना, बाल जीवों के संग को दूर से छोड़ना और धैर्य-पूर्वक एकान्त में स्वाध्याय तथा सूत्रार्थ का भली प्रकार चिन्तन करना, यह मोक्ष का मार्ग अर्थात् उपाय है।

टीका-जिससे शास्त्र पढा जाता है अथवा जिसने चारित्र का उपदेश किया है, उसको गुरु कहा जाता है तथा जो श्रुत अथवा चारित्र पर्याय में बड़ा हो, उसे वृद्ध कहते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के लिए गुरु और वृद्धों की सेवा करनी चाहिए। इसी को दूसरे शब्दो मे गुरुकुलवास कहा गया है। कारण यह है कि गुरुकुल मे वास करने से ज्ञानादि सद्गुणो की प्राप्ति शीघ्र होती है। अज्ञानी और पार्श्वस्थादि को बाल-जन कहते हैं। इनके संसर्ग से सदा दूर रहना चाहिए। कारण यह है कि इनका संसर्ग अनेक प्रकार के दोषों को उत्पन्न करने वाला है। इसी आशय से उक्त गाथा में 'दूरा-दूरात्' शब्द का उल्लेख किया गया है अर्थात् इनका सग कभी नही करना चाहिए। केवल सूत्रपाठ से ही अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए एकान्त में बैठकर सूत्र और उसके अर्थ का भली-भांति चिन्तन करना चाहिए। एव अनुप्रेक्षा करते समय अर्थात् सूत्रार्थ चिन्तन के समय मन में किसी प्रकार का उद्वेग न होना चाहिए। इसी के वास्ते गाथा मे 'धिई-धृति' शब्द का उल्लेख किया गया है।

उक्त गाथा में ज्ञानप्राप्ति के साधनों का उल्लेख है। अब इस निम्नलिखित गाथा में

ज्ञानप्राप्ति की इच्छा रखने वाले के अन्य कृत्यों का वर्णन करते हैं, यथा –

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ ४ ॥

आहारमिच्छेन्मितमेषणीयं, साहाय्यमिच्छेन्निपुणार्थबुद्धिम् ।
निकेतमिच्छेत् विवेकयोग्यं, समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–**मियं**–प्रमाणपूर्वक और, **एसणिज्जं**–एषणीय, **आहारं**–आहार की, **इच्छे**–इच्छा करे तथा, **निउणत्थबुद्धिं**–निपुणार्थबुद्धि, **सहायं**–सहायक की, **इच्छे**–इच्छा करे, **विवेगजोग्गं**–स्त्री, पशु और नपुसक आदि से रहित, **निकेयं**–स्थान की, **इच्छेज्ज**–इच्छा करे, **समाहिकामे**–समाधि की इच्छा वाला, **तवस्सी**–तपस्वी, **समणे**–श्रमण-साधु।

मूलार्थ–समाधि की इच्छा रखने वाला तपस्वी साधु मित–प्रमाण-युक्त और एषणीय आहार की इच्छा करे तथा निपुणार्थ बुद्धि वाले साथी की इच्छा करे और स्त्री, पशु तथा नपुंसक आदि से रहित एकान्त स्थान की इच्छा करे।

टीका–जो भिक्षु परिमित और निर्दोष आहार की इच्छा करता है वही गुरु और वृद्ध पुरुषो की सेवा तथा ज्ञानादि की आराधना में समर्थ हो सकता है, कारण यह है कि जिसका भोजनविधि मे विवेक नही, वह सेवा और ज्ञानादि की प्राप्ति मे सफल–मनोरथ नहीं हो सकता। सहचर अर्थात् साथी भी उसको बनाना चाहिए जो कि तत्त्व के ग्रहण और विवेचन मे निपुण हो। कारण यह है कि यदि स्वेच्छाचारी और मूर्ख को मित्र बना लिया गया तो, न तो वह वृद्धो की सेवा करने देगा और न ज्ञानादि की प्राप्ति ही होने देगा। वसती अर्थात् उपाश्रय इस प्रकार का स्वीकार करे कि जिस मे स्त्री, पशु और नपुसक तथा मन मे विकृति उत्पन्न करने वाले अन्य किसी पदार्थ का ससर्ग न हो। यदि निवासस्थान में उक्त प्रकार के पदार्थों का सयोग होगा तो साधु गुरु और वृद्ध पुरुषों की सेवा से वंचित रह जाता है। कारण यह है कि उन पदार्थों मे आसक्त हो जाने पर अन्यत्र दृष्टि नहीं जाती, इसलिए समाधि की इच्छा रखने वाले तपस्वी साधु को इन पूर्वोक्त बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए, तभी समाधि की सम्यक् प्राप्ति हो सकती है तथा द्रव्यसमाधि तो क्षीर, शर्करा आदि पदार्थों के परस्पर अविरोध भाव से मिलने पर होती है और भाव-समाधि ज्ञानादि की प्राप्ति से हो सकती है। प्रस्तुत प्रकरण मे भावसमाधि का ही कथन किया गया है।

यदि दैववशात् पूर्वोक्त सहायक आदि साधन न मिलें तो उस समय साधु का जो कर्त्तव्य है, अब उसका वर्णन करते हैं–

न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एगो वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ ५ ॥

न वा लभेत निपुणं सहायं, गुणाधिकं वा गुणतः समं वा ।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्, विहरेत् कामेष्वसजन् ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–वा–यदि, **निउणं**–निपुण, **सहायं**–सहचर, **न लभेज्जा**–प्राप्त न होवे, **गुणाहियं**–गुणों से अधिक, **वा**–अथवा, **गुणओ**–गुणों से, **समं**–समान, **वा**–विकल्प अर्थ में है, **एगो वि**–अकेला ही, **पावाइं**–पापानुष्ठान का, **विवज्जयंतो**–त्याग करता हुआ, **कामेसु**–काम-भोगों में, **असज्जमाणो**–आसक्त न होता हुआ, **विहरेज्ज**–विचरण करे।

मूलार्थ–यदि गुणों से अधिक अथवा समान निपुण सहायक न मिले तो अकेला ही पापानुष्ठान का परित्याग करता हुआ और काम-भोगादि में आसक्त न होता हुआ विचरण करे।

टीका–यदि निपुणबुद्धि मित्र न मिले तो काम-भोगों मे आसक्ति न रखता हुआ और पापानुष्ठान का त्याग करके अकेला ही विचरण करे। कारण यह है कि यदि साधक मूर्ख अथवा अगीतार्थ को मित्र बना लेगा तो अपने ज्ञानादि गुणो का नाश कर लेगा तथा उनके वश में पड़ा दुःखी होकर ज्ञानादि के मार्ग से पराङ्मुख हो जाएगा।

इस सूत्र से यह शिक्षा मिलती है कि जो अपने से गुणो में अधिक अथवा समान हो उसे ही मित्र बनाना चाहिए, परन्तु यह कथन गीतार्थविषयक है। वर्तमान समय में एकाकी विहार करने का आगम मे निषेध है, इसलिए यह अपवादसूत्र समझना चाहिए। जैसे मध्य का ग्रहण करने से आदि और अन्त दोनो का ग्रहण हो जाता है, उसी प्रकार आहार और वसती के विषय में भी कथंचित् कारण की अपेक्षा से अपवाद जान लेना चाहिए। सारांश यह है कि गुणी पुरुषों का सग करता हुआ साधक मूर्खजनों का सग छोडता हुआ संयममार्ग में गमन करे।

अब दुःख के परस्पर कारणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि –

जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥ ६ ॥

यथा चाण्डप्रभवा बलाका, अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च ।
एवमेव मोहायतनां खलु तृष्णां, मोह च तृष्णायतनं वदन्ति ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–**जहा**–जैसे, **बलागा**–बलाका, **अंडप्पभवा**–अडे से उत्पन्न होती है, **य**–और, **जहा**–जैसे, **अंडं**–अंडा, **बलागप्पभवं**–बलाका से उत्पन्न होता है, **एमेव**–इसी प्रकार, **खु**–निश्चय ही, **तण्हा**–तृष्णा, **मोहाययणं**–मोह की उत्पत्ति का स्थान है, **च**–और, **मोहं**–मोह को, **तण्हाययण**–तृष्णा की उत्पत्ति का स्थान, **वयंति**–कहते हैं।

मूलार्थ–जैसे बलाका की उत्पत्ति अंडे से और अंडे की उत्पत्ति बलाका से होती है, उसी प्रकार मोह की उत्पत्ति तृष्णा से और तृष्णा की उत्पत्ति का स्थान मोह होता है।

टीका–जिस प्रकार अंडे से बलाका अर्थात् बगुला पक्षी उत्पन्न होता है और बलाका से अंडे की उत्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार मोह तृष्णा को उत्पन्न करता है और तृष्णा से मोह की उत्पत्ति होती है। जिसके प्रभाव से आत्मा मूढता को प्राप्त हो आए, उसका नाम मोह है। मिथ्यात्व से युक्त दुष्ट ज्ञान

का नाम ही मोह है। उसी के द्वारा फिर तृष्णा की उत्पत्ति हो जाती है। जब मोह न रहा, तब तृष्णा का क्षय भी साथ ही हो जाता है। इसी प्रकार तृष्णा के द्वारा मोह की उत्पत्ति हो जाती है। अतएव इनका परस्पर में हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध सिद्ध हो गया। इसलिए एक-एक का क्षय होने से दूसरे का क्षय साथ ही माना जाता है। जैसे—देवदत्त पढ़ेगा तो पण्डित बन जाएगा और जब पठन क्रिया का अभाव हुआ तो पंडितपद का अभाव भी साथ ही मानना पड़ेगा। तद्वत् मोह और तृष्णा का परस्पर सम्बन्ध कथन किया गया है। यहां पर तृष्णा शब्द से राग और द्वेष दोनों का ग्रहण अभीष्ट है।

अब इनकी दुःखहेतुता का वर्णन करते हैं, यथा—

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई-मरणं वयंति ॥ ७ ॥

रागश्च द्वेषोऽपि च कर्मबीजं, कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति ।
कर्म च जातिमरणस्य मूलम्, दुःखं च जातिमरणं वदन्ति ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—**रागो**—राग, **य**—और, **दोसो**—द्वेष, **वि**—अपि-समुच्चयार्थक है, **य**—पुनः, **कम्म**—कर्म, **बीयं**—बीज है, **च**—फिर, **कम्मं**—कर्म, **मोहप्पभवं**—मोह से उत्पन्न हुआ, **वयंति**—कहते है, **च**—फिर, **कम्मं**—कर्म, **जाई**—जाति-जन्म, **मरणस्स**—मृत्यु का, **मूलं**—मूल है, **च**—पुनः, **जाई**—जन्म, **मरण**—मृत्यु, **दुक्ख**—दुःख का हेतु, **वयंति**—कहते है।

मूलार्थ—राग और द्वेष दोनों कर्म के बीज हैं, कर्म मोह से उत्पन्न होता है, कर्म जन्म और मरण का मूल है तथा जन्म और मृत्यु दुःख के हेतु कहे गए हैं।

टीका—माया और लोभ रूप राग, क्रोध और मान रूप द्वेष, ये दोनो कर्म के बीज हैं अर्थात् कर्मोपार्जन में ये दोनों ही कारणभूत माने जाते है। अपि च—मोह से कर्म की उत्पत्ति होती है और कर्म को जन्म तथा मृत्यु का कारण कहा है। तात्पर्य यह है कि जन्म और मृत्यु का मूल कर्म है। जन्म और मरण ये दुःख के कारण प्रसिद्ध ही है। तथा च—जन्म-मरण का अभाव होने से दुःख का अभाव हो जाता है और जन्म-मरण का अभाव कर्म के नाश पर निर्भर है। कर्म का नाश मोह के अन्त से होता है तथा मोह का अन्त राग-द्वेष के अन्त की अपेक्षा रखता है। इसलिए प्रथम राग और द्वेष का अन्त करना चाहिए जिससे कि मोह और तज्जन्य कर्म तथा कर्मजन्य जन्म-मरण का अन्त हो सके। किसी-किसी स्थान पर दुःख शब्द कर्म और संसार का वाची भी ग्रहण किया गया है, परन्तु यहा पर तो दुःख शब्द केवल असातावेदनीय कर्म से उत्पन्न होने वाली असुखरूप अवस्था का ही बोधक है जिसका प्रतिकूलता से वेदन किया जाता है।

अब दुःख के कारणभूत मोहादि के त्याग के विषय में वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥ ८ ॥

दुःखं हतं यस्य न भवति मोहः, मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा ।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः, लोभो हतो यस्य न किंचन ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः–दुक्खं–दुःख का, **हयं**–नाश कर दिया, **जस्स**–जिसको, **मोहो**–मोह, **न होइ**–नही होता, **मोहो**–मोह का–उसने, **हओ**–नाश कर दिया, **जस्स**–जिसको, **तण्हा**–तृष्णा, **न होइ**–नहीं है, **तण्हा**–तृष्णा का उसने, **हया**–नाश कर दिया, **जस्स**–जिसको, **न होइ**–नही है, **लोहो**–लोभ, उसने, **लोहो हओ**–लोभ का नाश कर दिया, **जस्स**–जिसकी, **न किंचणाइं**–अकिंचनवृत्ति है।

मूलार्थ–जिसको मोह नहीं, उसने दुःख का नाश कर दिया, जिसको तृष्णा नहीं, उसने मोह का अन्त कर दिया, जिसने लोभ का परित्याग कर दिया, उसने तृष्णा का क्षय कर डाला और जो अकिंचन है, उसने लोभ का विनाश कर दिया।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे दुःखों से छूटने के मार्ग का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा–जिस व्यक्ति ने मोह का परित्याग कर दिया, उसने दुःखों का भी अन्त कर दिया। कारण यह है कि मोह से ही दुःखों की उत्पत्ति होती है जैसे कि पूर्व की गाथा में बताया गया है। जब मोह का नाश हुआ, तब तृष्णा भी गई, क्योकि तृष्णा की उत्पत्ति का कारण मोह है और जब तृष्णा का क्षय हुआ तो लोभ भी साथ ही जाता रहा, क्योंकि तृष्णा ही लोभ की जननी है। एव जब लोभ न रहा तब अकिंचनता आ गई। साराश यह है कि एक अज्ञानता के नष्ट होने से सारे दु.ख नष्ट हो जाते है। अंत मे जो लोभ शब्द का ग्रहण किया है, उसका तात्पर्य राग की प्रधानता दिखाना मात्र है। कारण यह है कि माया और लोभ ये दोनों ही राग के अन्तर्गत हैं।

अब मोहादि के उन्मूलन का उपाय बताने की प्रतिज्ञा करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि–

रागं च दोसं च तहेव मोहं, उद्धत्तुकामेण समूलजालं ।
जे-जे उवाया पडिवज्जियव्वा, ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥ ९ ॥

रागं च द्वेषं च तथैव मोहम्, उद्धर्तुकामेन समूलजालम् ।
ये-ये उपाया. प्रतिपत्तव्याः, तान् कीर्तयिष्यामि यथानुपूर्व्या ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–रागं–राग, **च**–और, **दोसं**–द्वेष, **च**–तथा, **तहेव**–उसी प्रकार, **मोहं**–मोह को, **समूलजालं**–मूलसहित, **उद्धत्तुकामेण**–उखाडने की इच्छा वाले को, **जे-जे**–जो-जो, **उवाया**–उपाय, **पडिवज्जियव्वा**–ग्रहण करने चाहिएं, **ते**–उन उपायों को, **अहाणुपुव्विं**–क्रमपूर्वक मैं, **कित्तइस्सामि**–कथन करूंगा–करता हू।

मूलार्थ–राग-द्वेष और मोह के जाल को मूलसहित उखाड़कर फेंकने की इच्छा वाले साधु को जिन-जिन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए, उनको मैं क्रमपूर्वक यहां पर कहूगा–या कहता हूं।

टीका–गुरु, शिष्य के प्रति कहते हैं कि हे शिष्य ! राग-द्वेष और मोह को दूर करने की कामना वाले जीव के लिए जो-जो उपाय हैं, उनको मै अनुक्रम से तुम्हारे प्रति कहता हूं। तात्पर्य यह है कि जैसे कोई वैद्य किसी औषधि को मूल से उखाड़ डालता है, ठीक उसी प्रकार तीव्र कषायोदय के साथ जो मोह की प्रकृतियों का समूह है, उसका समूल-घात करने के लिए जो-जो उपाय शास्त्रकारो ने बताए है, उनको मैं तुम्हारे प्रति क्रमपूर्वक कहता हूं।

अब उपायों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार कहते हैं–

रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥ १० ॥

रसाः प्रकामं न निषेवितव्याः, प्रायः रसा दीप्तिकरा नराणाम् ।
दीप्तं च कामाः समभिद्रवन्ति, द्रुमं यथा स्वादुफलमिव पक्षिणः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–**पगामं**–अति, **रसा**–रसों का, **न निसेवियव्वा**–सेवन नहीं करना चाहिए, **पायं**–प्रायः, **रसा**–रस, **दित्तिकरा**–दीप्त करने वाले हैं, **नराणं**–नरों को, **च**–फिर, **दित्तं**–दीप्त को, **कामा**–कामादि, **समभिद्दवंति**–पराभव करते हैं, दुःख देते हैं, **जहा**–जैसे, **साउफलं**–स्वादु फल वाले, **दुमं**–द्रुम-वृक्ष को, **पक्खी**–पक्षी पराभव करते है, **व**–तद्वत्।

मूलार्थ–रसों का अत्यन्त सेवन नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि रस प्रायः मनुष्यों को दीप्त करते हैं और दीप्त जीवों को कामादि विषय दुःख देते हैं। जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षीगण दुःखी करते हैं–कष्ट देते हैं तद्वत्।

टीका–प्रस्तुत गाथा में मोह को दूर करने के उपायो का वर्णन किया है। उनमें प्रथम रससेवन के विषय मे कहते हैं अर्थात् क्षीर प्रभृति रसों का अत्यन्त सेवन नही करना चाहिए। कारण यह है कि रसयुक्त पदार्थो का अत्यन्त सेवन करने से इन्द्रियां प्रदीप्त होती है। तात्पर्य यह है कि रसों के सेवन से धातु आदि की पुष्टि होने पर कामाग्नि प्रचड हो उठती है। प्रचण्ड हुई कामाग्नि जीवों का विषयो के द्वारा पराभव कराती है–इसलिए कामवर्द्धक रसादि पदार्थों का त्याग करना ही कल्याणप्रद है। इस विषय को समझाने के लिए वृक्ष और पक्षी का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे स्वादु फल वाले वृक्ष पर पक्षी आकर बैठते हैं और अनेक प्रकार से उसको कष्ट पहुंचाते हैं, उसी प्रकार रससेवी पुरुष को कामादि विषय भी अत्यन्त दुःखी करते हैं, यहां पर द्रुम के समान तो मनुष्य है और पक्षीगण के समान कामादि विषय है तथा स्वादु फल के समान दीप्त भाव हैं। गाथा में 'प्रायः' शब्द इसलिए दिया गया है कि किसी-किसी महान् सत्त्व वाले जीव को ये रसादि पदार्थ दीप्त नहीं भी कर सकते। इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रहे कि यह उत्सर्ग सूत्र है। अपवाद में तो किसी वातादिदोषविशेष के शमनार्थ रसादि पदार्थों का सेवन भी करना अनावश्यक नहीं है, तब सिद्धान्त यह निकला कि अल्प सत्त्व वाले जीवो को बिना कारण क्षीरादि विकृतियों का सेवन नहीं करना चाहिए इत्यादि।

अब सामान्यरूप से प्रकाम भोजन के दोष बताते हैं, तथा–

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥ ११ ॥

यथा दवाग्नि प्रचुरेन्धने वने, समारुतो नोपशममुपैति ।
एवमिन्द्रियाग्निरपि प्रकामभोजिनः, न ब्रह्मचारिणो हिताय कस्यचित् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–**जहा**–जैसे, **दवग्गी**–दावाग्नि, **पउरिंधणे**–प्रचुर ईंधन से युक्त, **वणे**–वन में, **समारुओ**–वायु के साथ, **नोवसमं**–उपशम को नहीं, **उवेइ**–प्राप्त होती है, **एविंदियग्गी**–उसी प्रकार इन्द्रियरूप अग्नि, **पगामभोइणो**–अति भोजन करने वाले को, **कस्सई**–किसी भी, **बंभयारिस्स**–ब्रह्मचारी को, **न हियाय**–हित के लिए नही होती।

मूलार्थ–जैसे प्रचुर-ईधनयुक्त वन में वायुसहित उत्पन्न हुई दावाग्नि उपशम को प्राप्त नहीं होती अर्थात् बुझती नहीं, उसी प्रकार प्रकामभोजी अर्थात् विविध प्रकार के रसयुक्त पदार्थो को भोगने वाले किसी भी ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूप अग्नि शान्त नहीं होती।

टीका–प्रमाण से अधिक रस वाले आहार के करने से साधु का क्या अहित होता है, प्रस्तुत गाथा मे दृष्टान्त के द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया गया है। जैसे ईधन-सूखे हुए वृक्षो से भरे हुए वन में वायु के द्वारा प्रेरित को गई दावाग्नि शान्त नहीं होती, उसी प्रकार सरम पदार्थो का अति भोजन करने वाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूप अग्नि भी शान्ति को प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जैसे वायु के साथ मिलने से वन मे लगी हुई अग्नि शीघ्र शान्त नही होती, उसी तरह इन्द्रियों के द्वारा विषय-वासना की पूर्ति के लिए जो राग उत्पन्न होता है, वह प्रमाण से अधिक सरस आहार करने वाले ब्रह्मचारी के लिए हितकर नही होता। जिस प्रकार दावानल वन का दाह कर देता है, उसी प्रकार यह इन्द्रियजन्य राग, धर्मरूप आराम को भस्मसात् कर देता है। एवं जैसे प्रचुर ईंधन और वायु की सहायता से वह दावानल प्रचड हो जाता है, उसी प्रकार स्निग्ध और अति आहार भी ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि को प्रचण्ड कर देता है। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मचारी को अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए प्रणीत और अति मात्रा मे आहार करना उचित नहीं।

अब राग के त्याग करने वाले व्यक्ति के अन्य कर्त्तव्य का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि–

विवित्तसेज्जासणजंतियाणं, ओमासणाणं दमिइंदियाणं ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥ १२ ॥

विविक्तशय्यासनयन्त्रितानाम्, अवमाशनानां दमितेन्द्रियाणाम् ।
न रागशत्रुर्धर्षयति चित्तं, पराजितो व्याधिरिवौषधैः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–***विवित्त***–*स्त्री, पशु आदि से रहित,* ***सेज्जासण***–*शय्या और आसन से,* **जंतियाण**–नियंत्रित, **ओमासणाणं**–अल्पाहारी–अवमौदर्य-तप करने वालों और, **दमिइंदियाणं**–इन्द्रियों

का दमन करने वालों के, **रागसत्तू**–रागरूप शत्रु, **चित्तं**–चित्त को, **न धरिसेइ**–धर्षित नहीं करता, **ओसहेहिं**–औषधियो से, **वाहि**–व्याधि, **इव**–जैसे, **पराइओ**–पराजित हुई।

मूलार्थ–जैसे उत्तम औषधियों से पराजित हुई व्याधि पुनः आक्रमण नहीं करती, उसी प्रकार एकान्त और शुद्ध वसती में रहने वाले, अल्पाहारी और इन्द्रियों का दमन करने वाले पुरुषों के चित्त को यह रागरूप शत्रु धर्षित नहीं कर सकता।

टीका–रागरूप शत्रु का किन पुरुषों पर आक्रमण नहीं होता, प्रस्तुत गाथा में दृष्टान्त के द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया है। जिन महापुरुषों ने स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित निर्दोष स्थान का सेवन किया है, जो सदा अल्प आहार करने वाले हैं और जिन्होने अपनी इन्द्रियो पर काबू पा लिया है, ऐसे महात्मा जनो पर इस रागरूप शत्रु का आक्रमण नहीं होता अर्थात् ऐसे पुरुषों का यह पराभव नहीं कर सकता। इस विषय को दृष्टान्त के द्वारा और भी स्पष्ट कर दिया गया है। अर्थात् जैसे उत्तम औषधियो के उपयोग से पराजित हुआ रोग फिर से आक्रमण नहीं करता, इसी प्रकार उक्त रीति से संयमरूप औषधि के सेवन से रागरूप शत्रु भी पराजित होता हुआ फिर से आक्रमण करने की शक्ति नही रखता। साराश यह है कि एकान्त शयन, एकान्त आसन, स्वल्पाहार और इन्द्रियो के दमन से पराजित हुए ये रागादि दोष इस आत्मा को कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकते। यहा पर गाथा मे अर्थरूप से दिया गया 'नियंत्रित' शब्द साधु को नियमबद्ध रहने की सूचना करता है।

जो साधु इन पूर्वोक्त नियमों का यथाविधि पालन नहीं करते, उनको क्या दोष होता है, अब इस विषय मे कहते हैं–

जहा बिरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे, न बंभयारिस्स खमो निवासो ॥ १३ ॥

यथा बिडालावसथस्य मूले, न मूषकाणां वसतिः प्रशस्ता ।
एवमेव स्त्रीनिलयस्य मध्ये, न ब्रह्मचारिणः क्षमो निवासः ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः–**जहा**–जैसे, **बिरालावसहस्स**–बिडाल-बस्ती के, **मूले**–समीप मे, **मूसगाणं**–मूषको की, **वसही**–वसती, **न पसत्था**–प्रशस्त नही है, **एमेव**–इसी प्रकार, **इत्थीनिलयस्स**–स्त्री के निवास के, **मज्झे**–मध्य में, **बंभयारिस्स**–ब्रह्मचारी का, **निवासो**–निवास, **न खमो**–युक्त नहीं।

मूलार्थ–जैसे बिल्लियों के स्थान के पास मूषकों (चूहों) का रहना प्रशस्त–योग्य नहीं, उसी प्रकार स्त्रियों के स्थान के समीप ब्रह्मचारी को निवास करना उचित नहीं है।

टीका–जैसे बिडाल–बिल्ला–मार्जार के समीप रहने से मूषकों को हानि पहुंचने की सभावना होती है, उसी प्रकार स्त्रियों की वसती मे रहने से ब्रह्मचारी को भी हानि पहुंचने की सभावना रहती है, इसलिए उसका वहां पर रहना ठीक नहीं। स्त्रियों के साथ परस्पर के संभाषण और मिलाप मे उसके ब्रह्मचर्य में दोष लगने की हर समय शंका बनी रहती है तथा अल्पसत्त्व वाले जीव के पतित होने की अधिक सभावना रहती है, अतः ब्रह्मचर्य की रक्षा मे सावधान रहने वाला साधु इनके ससर्ग में आने

का कभी साहस न करे। यहां पर 'आवसह'–आवसथ–शब्द आश्रय वा वसती का वाचक है। जिस प्रकार बिल्ली के समीप चूहों का रहना हितकर नहीं, उसी प्रकार स्त्री आदि के समीप बसना ब्रह्मचारी के लिए भी अनेक प्रकार के दोषो को उत्पन्न करने वाला है, यह भाव प्रशस्त शब्द से व्यक्त होता है।

विविक्त स्थान में रहते हुए साधु की दृष्टि यदि स्त्री पर पड़ जाए, तो उस समय भी उसको मन से देखने की इच्छा न करनी चाहिए।

अब इसी विषय का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं–

न रूव-लावण्णविलासहासं, न जंपियं इंगियपेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥ १४ ॥

न रूपलावण्यविलासहास्यं, न जल्पितमिंगितं प्रेक्षितं वा ।
स्त्रीणां चित्ते निवेश्य, द्रष्टुं व्यवस्येच्छ्रमणस्तपस्वी ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः–**न**–न तो, **रूवलावण्णविलासहासं**–रूप, लावण्य, विलास और हास्य को, **न**–नाहि, **जंपियं**–प्रिय बोलना आदि, **इंगियं**–इंगित, **वा**–अथवा, **पेहियं**–कटाक्षपूर्वक देखने को, **इत्थीण**–स्त्रियो के, **चित्तंसि**–चित्त मे, **निवेसइत्ता**–स्थापना करके, **दट्ठुं**–देखने को, **ववस्से**–अध्यवसाय करे, **तवस्सी**–तपस्वी, **समणे**–श्रमण।

मूलार्थ–तपस्वी साधु स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, प्रिय भाषण, इगित और कटाक्ष-पूर्वक अवलोकन इत्यादि बातों को चित्त में स्थापित करके, अहो ! यह कैसी सुन्दरी है ! इस प्रकार के अध्यवसाय अर्थात् विचार को धारण न करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा में स्त्री के सग मात्र का त्याग करने के अतिरिक्त उनके हाव-भाव आदि को देखने का भी यति को निषेध किया गया है। यथा–स्त्रियों के सुन्दर अगो, नेत्रो और मन को प्रसन्न करने वाले विशिष्ट प्रकार के वस्त्रो और आभूषणो तथा सुन्दर कोमल, मनोहर भाषणो और विविध प्रकार की शारीरिक चेष्टाओ और कटाक्षपूर्वक-अवलोकन करने आदि के हाव-भावयुक्त दृश्यों को देखकर और उनको अपने चित्त में स्थापित करके यह कहना कि "अहो ! यह स्त्री कैसी सुन्दर है, इसके शरीर की रचना कितनी मनोहर है तथा इसका विलास भी कितना प्रिय है ।" इस प्रकार के विचारो को तपस्वी साधु कभी मन मे न लाए। कारण यह है कि इस प्रकार के विचारों से मन मे कामविकारो की विशेष उत्पत्ति होती है, और उनका निवारण करना अतीव कठिन हो जाता है। इसलिए साधु प्रथम तो स्त्री को देखे ही नहीं और यदि दैवयोग से उस पर दृष्टि पड़ भी जाए तो उसके रूप-लावण्यादि को मन से देखने की चेष्टा न करे, अर्थात् उसमे किसी प्रकार से आसक्त होने की चेष्टा न करे।

यद्यपि नेत्रों का देखना एक प्रकार का स्वभाव है, तथापि साधारणरूप से किसी पदार्थ का दृष्टिगोचर होना और आसक्ति-पूर्वक देखने का प्रयत्न करना, इसमें रात-दिन का अन्तर है। प्रथम प्रकार

के देखने में तो किसी प्रकार के कर्मबन्ध की संभावना नहीं होती और द्वितीय प्रकार के अर्थात् राग-पूर्वक देखने से कर्मों का बन्ध अवश्य होता है, अतः शास्त्रकारों ने ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-रूप को देखने का जो निषेध किया है वह राग-पूर्वक देखने का निषेध है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं, यथा—

अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं, हियं सया बंभवए रयाणं ॥ १५ ॥

अदर्शनं चैवाप्रार्थनं च, अचिन्तनं चैवाकीर्तनं च ।
स्त्रीजनस्यार्यध्यानयोग्यं, हितं सदा ब्रह्मव्रते रतानाम् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—अदंसणं—न देखना, **अपत्थणं**—प्रार्थना न करना, **च**—तथा, **अचिंतणं**—चिन्तन न करना, **च**—फिर, **अकित्तणं**—कीर्तन न करना, **इत्थीजणस्स**—स्त्री जन का, **आरियझाण**—आर्य-ध्यान में, **जुग्गं**—योग-जोड़ना, **हियं**—हितरूप, **सया**—सदा है, **बंभवए**—ब्रह्मचर्य-व्रत में, **रयाणं**—रतो को, **च**—समुच्चय में, **एव**—अवधारण में।

मूलार्थ—ब्रह्मचर्य-व्रत में सदा अनुरक्त रहने वालों का आर्य-ध्यानयोग्य परम हित इसी में है कि वे स्त्री-जनों का अवलोकन, उनसे किसी प्रकार की प्रार्थना, उनका चिन्तन और कीर्तन न करें।

टीका—प्रस्तुत गाथा में स्त्रियो के राग-पूर्वक अवलोकन, उनमें विषय आदि की प्रार्थना, उनके रूप-लावण्य का चिन्तन और उनके सौन्दर्य आदि के वर्णन का निषेध किया गया है। स्त्रियों के दर्शन, मिलन, चिन्तन और कीर्तन से हृदय मे कामविकार का उत्पन्न होना एक स्वाभाविक-सी बात है तथा कामविकार से ब्रह्मचर्य का व्याघात होना भी अस्वाभाविक नहीं, इसलिए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने वाले साधक को इन सब विघ्नो को जीतकर आर्य-ध्यान, अर्थात् धर्म-ध्यान मे अपने मन को लगाना ही सर्व प्रकार से हितकर है, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

किसी-किसी प्रति मे '**बंभचेरे-ब्रह्मचर्ये**' ऐसा पाठ भी देखने में आता है परन्तु वह पाठ होने पर भी अर्थ में अन्तर नहीं हो पाता।

अब संयम में सदा दृढ़ रहने वाले समर्थ साधु को भी विविक्त स्थान में ही रहने की शास्त्रकार आज्ञा देते हुए कहते हैं, यथा—

कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं, न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ।
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥ १६ ॥

कामं तु देवीभिर्विभूषिताभिः, न शंकितः क्षोभयितुं त्रिगुप्ताः ।
तथाप्येकान्तहितमिति ज्ञात्वा, विविक्तवासो मुनीनां प्रशस्तः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः–**कामं**–अति वा अनुमत, **देवीहि**–देवियां, **विभूसियाहिं**–वेष-भूषा से युक्त, **न चाइया**–समर्थ नहीं हो सकी, **खोभइउं**–क्षुब्ध करने को–संयम से गिराने को, **तिगुत्ता**–मन, वचन और शरीर से गुप्त हैं, **तहा वि**–तो भी, **एगंतहियं**–एकान्त हित, **ति**–इस प्रकार, **नच्चा**–जानकर, **विवित्तवासो**–एकान्त-वास ही, **मुणिण**–मुनियो के लिए, **पसत्थो**–प्रशस्त है।

मूलार्थ–मन, वचन और काया से गुप्त रहने वाले जिस परम सयमी साधु को वेष-भूषा से युक्त देवांगनाएं भी क्षुब्ध नहीं कर सकतीं, अर्थात् संयम से गिरा नहीं सकतीं, ऐसे साधु के लिए भी एकान्तवास ही परम हितकारी है, ऐसा जानकर साधु को एकान्त स्थान अर्थात् स्त्री आदि से रहित स्थान में ही निवास करना श्रेष्ठ है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में परम सयमी अर्थात् सुमेरु की भांति संयम में स्थिर रहने वाले मुनियों को भी एकान्तवास ही करने का जो उपदेश दिया गया है, उसका तात्पर्य साधारण सयम रखने वाले मुनियों को सयम मे स्थिर करने और लोक-मर्यादा को सुरक्षित रखने मे है, क्योकि क्षुद्र जीवो का मन निकृष्ट कार्यो में शीघ्र ही प्रवृत्त हो जाता है, और उनकी मानसिक प्रवृत्तियों में अन्तर आते भी कुछ देर नही लगती, अतः परम सयमी को भी शास्त्रविहित एकान्तवास रूप मर्यादा का पालन करना आवश्यक है, यह भी इससे ध्वनित किया गया है। अपि शब्द से मानुषी स्त्रियो से रहित स्थान का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि जिस मुनि को मानवियो का तो कहना ही क्या है, देवागनाए भी मोहित नही कर सकतीं, अर्थात् सयम से चलायमान नही कर सकतीं–ऐसे परम योगी मुनि को भी स्त्री, पशु आदि से रहित एकान्त स्थान में ही निवास करने की तीर्थंकर और गणधर देवो ने आज्ञा दी है। जब ऐसे मुनि का हित भी एकान्त निवास मे ही है तो सामान्य साधुओ को तो विविक्त स्थान के सेवन का ध्यान अवश्य ही रखना चाहिए, अर्थात् उनको तो कभी भी इस आज्ञा की अवहेलना नही करनी चाहिए। वास्तव में मुनियों का निवास प्रायः निर्जन प्रदेशों मे ही होना चाहिए, इसी मे उनका कल्याण है।

अब स्त्री-त्याग की दुष्करता के विषय में कहते हैं–

मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स, संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥ १७ ॥

मोक्षाभिकांक्षिणस्तु मानवस्य, संसारभीरोः स्थितस्य धर्मे ।
नैतादृशं दुस्तरमस्ति लोके, यथा स्त्रियो बालमनोहराः ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–**मोक्खाभिकंखिस्स**–मोक्ष के अभिलाषी, **माणवस्स**–मनुष्य को, **संसारभीरुस्स**–ससार से डरने वाले को, **धम्मे**–धर्म मे, **ठियस्स**–स्थित को, **एयारिसं**–इसके समान, **दुत्तरं**–दुस्तर कार्य, **लोए**–लोक मे, **न**–नहीं, **अत्थि**–है, जह–जैसे, **इत्थिओ**–स्त्रिया है, **बालमणोहराओ**–बाल जीवों के मन को हरने वाली, **उ**–वितर्क में।

मूलार्थ–मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले संसार-भीरु और धर्म में स्थित रहने वाले पुरुषों के लिए भी इस लोक में इतना कठिन और कोई काम नहीं जितना कि बालजीवों के मन को हरने वाली स्त्रियों का त्याग करना कठिन है।[1]

टीका–इस गाथा में अल्प सत्त्व वाले साधको के लिए स्त्रियों का त्याग करना अत्यन्त कठिन है, इस विषय की चर्चा की गई है। जो आत्माए मुक्ति की इच्छा रखने वाली हैं, चार गतिरूप संसार-भ्रमण से छूटने की अभिलाषा रखने वाली हैं और श्रुतादि धर्मो में सदा स्थिति करने वाली हैं, उनके लिए भी स्त्री-त्याग के समान जगत में कोई दुस्तर कार्य नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य पदार्थ सुख पूर्वक त्यागे जा सकते हैं वैसे बाल-जीवो के मन को हरने वाली स्त्रियों का त्याग करना सुकर नहीं, किन्तु अत्यन्त कठिन है। बाल-जीवों अर्थात् निर्विवेकी जनो के मन को हर लेने की शक्ति रखने के कारण स्त्रियों को बालमनोहरा कहा गया है।

स्त्री-संग के त्याग से किस गुण की प्राप्ति होती है, अब इस विषय में कहते हैं–

एए य संगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा ॥ १८ ॥

एतांश्च सङ्गान् समतिक्रम्य, सुखोत्तराश्चैव भवन्ति शेषाः ।
यथा महासागरमुत्तीर्य, नदी भवेदपि गगासमाना ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–**एए**–यह पूर्वोक्त, **य**–स्त्री आदि के, **संगे**–सग को, **समइक्कमित्ता**–समतिक्रम करके, **सेसा**–शेष पदार्थ, **सुहुत्तरा**–सुखात्तर, **भवंति**–हो जाते है, **च-एव**–प्राग्वत्, **जहा**–जैसे, **महासागरं**–महासागर को, **उत्तरित्ता**–तैरकर, **नई**–नदी सुखोत्तर, **भवे**–हो जाती है, **अवि**–सभावना मे है, **गंगासमाणा**–गगा के समान।

मूलार्थ–इस पूर्वोक्त स्त्री-प्रसग का उल्लंघन करके शेष पदार्थ ऐसे सुखोत्तर हो जाते हैं, जैसे महासागर को तैर कर गंगा समान नदियां सुखोत्तर अर्थात् सुख से पार करने योग्य हो जाती हैं।

टीका–इस गाथा में इस बात का वर्णन किया गया है कि जैसे स्वयंभू-रमण समुद्र का तैरना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार स्त्रियो के संग का परित्याग करना भी नितान्त कठिन है। अतः जिन महात्माओं ने स्त्रियो के संग को छोड दिया है उनके लिए अन्य द्रव्यादिक पदार्थो को छोडना कोई दुस्तर कार्य नहीं रह जाता। कारण यह है कि स्त्रियां अत्यन्त राग का कारणभूत मानी गई हैं, जब इन्हीं का परित्याग कर दिया तब अन्य पदार्थो का परित्याग तो सुकर ही हो जाता है। जिस आत्मा ने अपनी

---

१. इसी भाव से मिलती-जुलती एक गाथा सूत्रकृतागसूत्र म भी आती ह। यथा-
जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह समया।
एव लोगंसि नारीओ दुत्तरा अमईमया ॥ [अध्या० ३ उद्दे० ३ गा १६]

भुजाओं से स्वयंभू-रमण समुद्र को पार कर लिया उसके लिए गंगा-समान क्षुद्र नदियों का पार करना कोई कठिन काम नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि स्त्री-सग का अन्तःकरण से परित्याग करना मानो भुजाओं द्वारा समुद्र का पार करना है, अर्थात् अत्यन्त कठिन कार्य है। सारांश यह है कि विषय-राग के परित्याग से अन्य स्नेहादि रागो का सुख-पूर्वक त्याग किया जा सकता है, इसलिए संयमशील साधु को सबसे प्रथम विषयराग का ही त्याग करना चाहिए। इसी हेतु से पिछली तीन गाथाओ में काम-राग का प्रबलता से निषेध किया गया है।

अब काम-राग को दुःख का एक मात्र कारण बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि-

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥ १९ ॥

कामानुगृद्धि-प्रभवं खलु दुःखं, सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य ।
यत्कायिकं मानसिकं च किंचित्, तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः-कामाणुगिद्धिप्पभवं-काम की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है, **खु**-निश्चयार्थक है, **दुक्खं**-दुःख, **सव्वस्स**-सर्व, **लोगस्स**-लोक को, **सदेवगस्स**-देवो के साथ, **जं**-जो, **काइयं**-काया के रोग, **च**-और, **माणसियं**-मानसिक पीडा, **किंचि**-किंचित् मात्र भी है, **तस्संतगं**-उसके अन्त को, **गच्छइ**-प्राप्त करता है, **वीयरागो**-वीतराग पुरुष।

मूलार्थ-काम की निरन्तर अभिलाषा से दुःख की उत्पत्ति होती है तथा देवों सहित सर्व लोक में जितने भी शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वीतराग पुरुष उनका भी अन्त कर देता है।

टीका-लोक में यावन्मात्र कायिक और मानसिक दुःख हैं वे सब काम-भोगों मे मूर्छित होने वाले व्यक्तियो को ही प्राप्त होते है। कारण यह है कि सर्व प्रकार के दुःखों का मूल कारण कामभोग ही है। इस काम-भोगादि से देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि जितने भी जगत् के जीव है वे सब दुःखी हो रहे हैं, अतः जिस आत्मा ने इन काम-भोगादि को सर्वथा छोड़ दिया है ऐसा वीतराग पुरुष ही ससार के समस्त दुःखो का अन्त कर सकता है, अर्थात् उसको किसी प्रकार का भी शारीरिक वा मानसिक दुःख नहीं होता।

जब कि काम-भोगादि का सुख से उपभोग किया जाता है और वे भोग के समय सुखरूप प्रतीत होते हैं, तो फिर ये दुःख का कारण अथवा दुःखरूप क्यों कहे गए हैं? इस प्रकार की शंका का समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि-

जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे ॥ २० ॥

यथा च किम्पाकफलानि मनोरमाणि, रसेन वर्णेन च भुज्यमानानि ।
तानि क्षोदयन्ति जीवितं पच्यमानानि, एतदुपमाः कामगुणा विपाके ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—**जहा**—जैसे, **किंपागफला**—किंपाकफल, **मणोरमा**—मन को आनन्द देने वाले, **रसेण**—रस से, **वण्णेण**—वर्ण से, **य**—और गन्धादि से, **भुज्जमाणा**—खाए हुए—परन्तु, **ते**—वे, **खुड्डए**—विनाश कर देते हैं, **जीविय**—जीवन का, **पच्चमाणा**—परिणत होते हुए, **एओवमा**—यही उपमा, **विवागे**—विपाक में अर्थात् परिणाम में, **कामगुणा**—कामगुणों की है।

मूलार्थ—जैसे किंपाक-वृक्ष के रस और वर्णादि से युक्त सुन्दर फल खाने के अनन्तर जीवन का विनाश कर देते हैं, इसी प्रकार विपाक में काम-भोगादि को भी जानना चाहिए।

टीका—जैसे किंपाक-वृक्ष के फल देखने मे सुन्दर और रस में मधुर तथा खाने मे स्वादु और सुगन्धियुक्त होते हैं, परन्तु भक्षण करने के अनन्तर वे प्राणों का हरण कर लेते हैं, इसी प्रकार कामभोगादि विषय भोगकाल में तो सुखप्रद होते हैं, परन्तु परिणाम में वे दुःखप्रद हुआ करते है, अर्थात् नरकादि गतियों में ले जाकर महान् कष्ट के देने वाले होते हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे किंपाकफल देखने में सुन्दर और खाने में मधुर होता हुआ भी प्राणो का सहारक होता है, उसी भाति काम-भोगादि विषय भी आरम्भ में सुख देने वाले प्रतीत होते है, किन्तु परिणाम में ये अत्यन्त कष्ट देने वाले हैं, अतः ये सुख के साधन अथवा सुखरूप नही हो सकते।

इस प्रकार राग के विषय में हेयोपादेय का विचार करने के अनन्तर अब राग और द्वेष दोनो के विषय में कहते हैं, यथा—

जे इंदियाणं विसया मणुन्ना, न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।
न यामणुन्नेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ २१ ॥

ये इन्द्रियाणां विषया मनोज्ञाः, न तेषु भावं निसृजेत् कदापि ।
न चामनोज्ञेषु मनोऽपि कुर्यात्, समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो, **इंदियाणं**—इन्द्रियों के, **विसया**—विषय, **मणुन्ना**—मनोज्ञ हैं, **तेसु**—उनमें, **भावं**—रागभाव, **कयाइ**—कदाचित्, **न निसिरे**—न करे, **य**—और, **अमणुन्नेसु**—अमनोज्ञ विषयो में, **मणं पि**—मन से भी द्वेष, **न कुज्जा**—न करे, **समाहिकामे**—समाधि की इच्छा रखने वाला, **समणे**—श्रमण, **तवस्सी**—तपस्वी।

मूलार्थ—समाधि की इच्छा रखने वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं उनमें रागभाव कदापि न करे और जो अमनोज्ञ विषय हैं उनमें मन से भी द्वेष न करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पांचों इन्द्रियों के शब्दादि मनोहर विषयों में राग और अमनोहर विषयो में द्वेष, इन दोनों का ही त्याग करना बताया गया है। कारण यह है कि इनके त्याग के बिना तपस्वी साधु

को समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार जब इन्द्रिय-जन्य विषयो में राग का त्याग कर दिया तो फिर उनमें प्रवृत्ति नहीं होती तथा अप्रिय विषय में द्वेष के त्याग से कषायों की निवृत्ति हो जाती है एव जब राग और द्वेष की निवृत्ति हो गई तब चित्त की एकाग्रतारूप समाधि की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि मन की आकुलता के कारण राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं, उनके निवृत्त होने से मन मे निराकुलता और स्वस्थता आ जाती है। वही समाधि है, इसीलिए समाधि की इच्छा रखने वाला तपस्वीश्रमण अपने मन मे प्रिय और अप्रिय विषयो में राग-द्वेष के भावो को कदाचित् भी न आने दे।

अब इसी विषय को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि–

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ २२ ॥

चक्षुषो रूपं ग्रहणं वदन्ति, तद् रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः ।
तद् (रूपं) द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः, समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः–**चक्खुस्स**–चक्षु को, **रूवं**–रूप का, **गहणं**–ग्रहण करने वाला, **वयंति**–कहते है, **तं**–वह, **रागहेउं**–राग का हेतु, **तु**–तो, **मणुन्नं**–मनोज्ञ, **आहु**–कहा है, **तं**–वह, **अमणुन्नं**–अमनोज्ञ रूप, **दोसहेउ**–द्वेष का हेतु, **आहु**–कहा है, **य**–तथा, **जो**–जो, **तेसु**–इन दोनों में, **समो**–समभाव रखता है, **स**–वह, **वीयरागो**–वीतराग है।

मूलार्थ–चक्षु रूप का ग्रहण करता है, रूप यदि सुन्दर है तो वह राग का हेतु हो जाता है और असुन्दर होने पर द्वेष का कारण बन जाता है। जो इन दोनों प्रकार के रूपों मे समभाव रखता है वही वीतराग है।

टीका–इस गाथा में चक्षु के द्वारा ग्रहण किए गए रूप की सुन्दरता और असुन्दरता को राग-द्वेष का कारण बताते हुए उसमें सम-भाव रखने का उपदेश दिया गया है। सूत्रकार का तात्पर्य यह है कि चक्षु द्वारा जो रूप ग्रहण किया जाता है उसकी मनोहरता राग के उत्पादन का कारण है। रूप की विकृति से द्वेष की उत्पत्ति होती है, परन्तु जो महात्मा इन दोनो प्रकार के अर्थात् सुन्दर और असुन्दर दोनो प्रकार के रूपों को आंखों से देखता हुआ भी अपने अन्तःकरण में किसी प्रकार के राग अथवा द्वेष के भाव को नहीं आने देता, अपितु दोनों मे सम भाव रखता है वही वीतराग है। कारण यह है कि जब उसने दोनो मे समान भाव धारण कर लिया तब उसकी आत्मा में किसी प्रकार के हर्ष अथवा शोक का आविर्भाव नही होता, अर्थात् वह इनसे विमुक्त हो जाता है। जिस आत्मा में राग और द्वेष की परिणति विद्यमान है उसको प्रिय पदार्थ से राग और अप्रिय के संयोग से द्वेष का होना स्वाभाविक है, इसलिए चक्षुगृहीत रूप की प्रियता और अप्रियता में सम भाव रखने वाला ही निराकुल अथवा सुखी रहता है जिसको कि दूसरे शब्दों में वीतराग कहते हैं।

अब उक्त विषय को फिर से और स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि–

रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति, चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ २३ ॥

रूपस्य चक्षुर्ग्राहकं वदन्ति, चक्षुषो रूपं ग्राह्यं वदन्ति ।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः–**रूवस्स**–रूप का, **चक्खुं**–चक्षु को, **गहणं**–ग्रहण करने वाला, **वयंति**–कहते है, **चक्खुस्स**–चक्षु के लिए, **रूवं**–रूप को, **गहणं**–ग्राह्य, **वयंति**–कहा जाता है, **रागस्स हेउं**–राग का हेतु, **समणुन्नं**–मनोज्ञ, **आहु**–कहा है, **दोसस्स हेउं**–द्वेष का हेतु, **अमणुन्नं**–अमनोज्ञ को, **आहु**–कहा है।

मूलार्थ–रूप को चक्षु ग्रहण करता है और चक्षु के लिए रूप ग्रहण करने योग्य होता है, अर्थात् चक्षु रूप का ग्रहण करने वाला और रूप चक्षु का ग्राह्य है। प्रिय रूप राग का हेतु होता है और अप्रिय रूप द्वेष का कारण हुआ करता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे रूप और चक्षु का ग्राह्य-ग्राहकभाव सम्बन्ध बताया गया है। कारण यह है कि न तो ग्राह्य के बिना ग्राहकभाव हो सकता है और न ही ग्राहक के बिना ग्राह्यभाव रह सकता है, इसलिए इन दोनो का आपस मे उपकार्य-उपकारक-भाव सम्बन्ध है। इससे सिद्ध हुआ कि जैसे चक्षु-ग्राह्य रूप राग-द्वेष का कारण है, उसी प्रकार रूपग्राहक चक्षु भी राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण है, अतः जब चक्षु प्रिय रूप के साथ सम्बन्ध करता है तब राग को उत्पन्न करने वाला होता है और जब उसका सम्बन्ध अप्रिय रूप से होता है तब वह द्वेष का उत्पादक बन जाता है। इस प्रकार रूप और चक्षु दोनो ही राग-द्वेष के उत्पादक बतलाए गए है। इस रीति से प्रस्तुत गाथा में राग और द्वेष का परित्याग करके समभाव में स्थिर रहकर समाधि और वीतरागता की प्राप्ति के लिए चक्षु-इन्द्रिय और रूप दोनो पर नियन्त्रण रखने का उपदेश दिया गया है।

अब शास्त्रकार राग-द्वेष का त्याग करने अर्थात् उनमें अत्यन्त आसक्त होने से इस जीव की जो दशा होती है उसका वर्णन करते हुए कहते है–

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पयंगे, आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥ २४ ॥

रूपेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरः स यथा वा पतङ्गः, आलोकलोलः समुपैति मृत्युम् ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः–**रूवेसु**–रूपों मे, **जो**–जो, **गिद्धि**–राग, **तिव्वं**–तीव्र, **उवेइ**–प्राप्त करता है **अकालियं**–अकाल में, **से**–वह, **विणासं**–विनाश को, **पावइ**–पाता है, **रागाउरे**–राग मे आतुर हुआ **से**–वह, **जह**–यथा–जैसे, **पयंगे**–पतंग–शलभ, **आलोयलोले**–प्रकाश मे आसक्त, **मच्चुं**–मृत्यु को, **समुवेइ**–प्राप्त करता है, **वा**–एवार्थक है।

मूलार्थ–आलोक-लम्पट प्रकाश में आसक्त पतंग रूप के राग में आतुर होकर जैसे मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही रूप मे अत्यन्त आसक्ति रखने वाला जीव अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में रूपादि विषयक अत्यन्त आसक्ति होने से जो परिणाम निकलता है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। शास्त्रकार कहते है कि जो व्यक्ति रूपादि के विषय में अत्यन्त गृद्धि रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् राग की तीव्रता के कारण उसका बहुत शीघ्र विनाश हो जाता है। यद्यपि आयु-कर्म अपने नियत समय पर ही पूर्ण होता है, तथापि सोपक्रम और व्यवहारनय की दृष्टि से यह कथन किया गया है। तात्पर्य यह है कि उपक्रम की अपेक्षा से और व्यवहार की दृष्टि से अकाल-मृत्यु का होना सभव माना गया है। उक्त विषय पर दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे रूपविषयक उत्कट राग रखने वाला पतंगा अग्नि-शिखा मे जल मरता है अर्थात् रूप में अत्यन्त मूर्छित होने के कारण दीप्त शिखा को पकडने जाता हुआ स्वय उसमे भस्म हो जाता है, इसी प्रकार रूपादि में मूर्छित होने वाला जीव भी अकाल में ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है। जो व्यक्ति रूपादि विषयों मे सामान्य अर्थात् मद राग भी रखने वाले हैं वे नाना प्रकार के क्लेशों और कष्टों का सामना करते हैं। इसलिए रूपादिविषयक राग का सर्वथा त्याग कर देना ही मुमुक्षु जनों के लिए अत्यन्त लाभ का हेतु है।

अब द्वेष के विषय मे कहते है—

जे यावि दोसं समुवेइ निच्चं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥ २५ ॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति नित्यम्, तस्मिन्क्षणे स तु समुपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तु·, न किंचिद्रूपमपराध्यति तस्य ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो, **य**—पुनः, **अवि**—सभावना में, **दोसं**—द्वेष को, **समुवेइ**—उत्पन्न करता है, **निच्चं**—सदैव, **तंसि क्खणे**—उसी क्षण में, **दुक्खं**—दुःख को, **से**—वह, **उवेइ**—प्राप्त करता है, उ—पादपूर्ति में है, **दुद्दंतदोसेण**—दुर्दान्त दोष से, **सएण**—स्वकृत से, **जंतू**—जीव, **से**—उसको, **किंचि**—किंचिन्मात्र भी, **रूवं**—कुरूप—कुत्सितरूप, **न अवरज्झई**—अपराध नही करता—दुःख नही देता।

मूलार्थ—जो जीव अमनोज्ञ रूप के विषय में सदैव द्वेष करता है वह उसी क्षण में दुःख को प्राप्त हो जाता है और वह जीव अपने ही दोष से दु.खी होता है। उसमें रूप का कोई भी दोष नहीं है।

टीका—यदि कोई जीव अपने तीव्र भावों से अमनोज्ञ रूप को देख कर द्वेष को प्राप्त होता है तो वह उसी समय दुःख को भी उत्पन्न कर लेता है। तात्पर्य यह है कि "हा ! मैंने इस अनिष्ट रूप को क्यो देखा।" इस प्रकार के भावो से उसका मन व्याकुल हो उठता है और मन के व्याकुल होने मे वाणी और शरीर भी दुःख से पीडित होने लगते है। साराश यह है कि जो जीव अपनी चक्षुइन्द्रिय का दमन नही करता वह अपने दोष से युक्त हुआ अवश्य दुःख पाता है। परन्तु इतना स्मरण रहे कि अमनोज्ञ रूप ने उस-आत्मा को-दुःखी नही किया, किन्तु वह अपने ही राग-द्वेषयुक्त भावों से दुःखित होती है। कारण यह है कि रूप का आंखों में प्रविष्ट होने का और चक्षु का उसे ग्रहण करने का स्वभाव ही

है, इसलिए दोनों ही दुःख के मूलोत्पादक नहीं हैं। दुःख का उत्पादक तो आत्मा मे उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष के भावविशेष ही है। इसी अभिप्राय से यह कहा गया है कि 'रूप का इसमें कोई अपराध नहीं है।' किसी-किसी प्रति मे '**निच्चं**' के स्थान पर '**तिव्वं**'-तीव्र-ऐसा पाठ उपलब्ध होता है।

अब फिर इसी विषय में अर्थात् राग-द्वेषमूलक अनर्थ और उसके त्याग के विषय में कहते हैं, यथा-

एगंतरत्ते रुइरंसि रूवे, अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥ २६ ॥

एकान्तरक्तो रुचिरे रूपे, अतादृशे स करोति प्रद्वेषम् ।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः, न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः-**एगंतरत्ते**-एकान्त रक्त, **रुइरंसि**-रुचिर अर्थात् सुन्दर, **रूवे**-रूप मे, **अतालिसे**-असुन्दर रूप में, **से**-वह, **पओसं**-प्रद्वेष, **कुणई**-करता है, **दुक्खस्स**-दुःख के, **संपीलं**-समूह को, **बाले**-बाल जीव, **उवेइ**-प्राप्त करता है, अपरच, **विरागो**-विरागी, **मुणी**-मुनि, **तेण**-उससे-राग के द्वारा उत्पन्न हुए दुःख से, **न लिप्पइ**-लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ-जो एकान्त मनोहर रूप के विषय में अनुरक्त होता है तथा असुन्दर रूप में प्रद्वेष करता है, वह बाल अज्ञानी जीव दुःख-समूह को प्राप्त करता है, परन्तु वीतराग मुनि उस दुःख से लिप्त नहीं होता, अर्थात् वीतराग मुनि को वह दुःख प्राप्त नहीं होता।

टीका-राग-द्वेष को दुःख का कारण बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि एकान्त सुन्दर रूप में अनुरक्त होने वाला और कुत्सित रूप से द्वेष करने वाला पुरुष दुःख के समुदाय को एकत्रित कर लेता है, परन्तु जो वीतराग मुनि है उसको किसी प्रकार के दुःख का सम्पर्क नहीं होता। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष के कारण से ही दुःख की उत्पत्ति होती है और राग-द्वेष के अन्तःकरण से मिट जाने पर तज्जन्य दुःख की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए जिस आत्मा में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते उसको दुःख का सम्पर्क नही होता, अर्थात् वह आत्मा इष्ट-वियोग और अनिष्ट संयोग के होने पर भी दुःखी नहीं होती किन्तु पद्मपत्र की तरह सदा अलिप्त रहती है।

राग ही एक मात्र दुःखों का मूल स्रोत है, उसी से हिंसादि अनेक प्रकार के आस्रवों की उत्पत्ति होती है।

अब शास्त्रकार इसी विषय का स्पष्टरूप से वर्णन करते हैं, यथा-

रूवाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ २७ ॥

रूपानुगाशानुगतश्च जीवान्, चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान् ।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥ २७ ॥

पदार्थान्वयः–**रूवाणुगासा**–रूप की आशा के, **अणुगए**–अनुगत हुआ, **जीवे**–जीव, **चराचरे**–चर और अचर प्राणियों की, **हिंसइ**–हिंसा करता है, **अणेगरूवे**–अनेक प्रकार के, **ते**–उन जीवों को, **चित्तेहि**–नाना प्रकार के, **बाले**–अज्ञानी जीव, **परितावेइ**–परिताप देता है, **पीलेइ**–पीड़ा देता है, **अत्तट्ठ**–आत्मा का अर्थ, **गुरू**–गुरु है जिसका, **किलिट्ठे**–राग से पीड़ित हुआ।

मूलार्थ–रूप की आशा के वश हुआ अज्ञानी जीव जंगम और स्थावर प्राणियों की नाना प्रकार से हिंसा करता है, उनको परिताप देता है तथा अपना ही प्रयोजन सिद्ध करने वाला रागी जीव नाना प्रकार से उन जीवों को पीड़ा पहुंचाता है।

टीका–राग की अनर्थमूलकता का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि रूप की आशा के अनुगत हुआ जीव जंगम और स्थावर प्राणियो की अनेक प्रकार से हिसा करने लग जाता है। तात्पर्य यह है कि जब उसकी आत्मा मनोज्ञ रूप की आशा में लग जाती है तब उसकी प्राप्ति के लिए वह चराचर प्राणियों की हिंसा करने मे कोई विवेक नहीं करता तथा अनेक प्रकार से उनको परिताप देता है, कष्ट पहुचाता है और अनेक प्रकार की बाधाओ का स्थान बनाता है, क्योंकि वह स्वार्थी है, उसको केवल अपना ही प्रयोजन सिद्ध करना इष्ट है, इसलिए वह अज्ञानी जीव है। कारण यह है कि उसकी आत्मा उत्कट राग से अत्यन्त व्याकुल हो रही होती है। यद्यपि परिताप और पीडा ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, तथापि परिताप से सर्व देश और पीडा से एक देश का ग्रहण करना यहा पर अभिप्रेत है।

सारांश यह है कि सर्व देश मे कष्ट पहुचाना परिताप और एक देश मे कष्ट देना पीडा है।

गाथा मे दिया गया **'अनेकरूप'** पद जातिभेद से जीवों की विभिन्नता का परिचायक है, अर्थात् जातिभेद मे भिन्न-भिन्न जीव अनेक प्रकार के कहे गए है।

अब फिर इसी विषय में कहते हे–

रूवाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥ २८ ॥

रूपानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथ सुख तस्य, सम्भोगकाले चातृप्तलाभः ॥ २८ ॥

पदार्थान्वय.–**रूवाणुवाएण**–रूपानुपातक राग होने से, **परिग्गहेण**–मूर्च्छाभाव से, **उप्पायणे**–उत्पादन मे, **रक्खणे**–रक्षण में **संनिओगे**–संनियोग मे, **वए**–उसके विनाश होने पर, **य**–और, **विओगे**–वियोग के समय, **से**–उसी रागी पुरुष को, **कहं**–कहा, **सुहं**–सुख है, **संभोगकाले**–संभोगकाल मे, **य**–फिर, **अतित्तलाभे**–अतृप्त-लाभ ही रहता है।

मूलार्थ–रूपविषयक मूर्च्छाभाव होने से, फिर उसके उत्पादन और रक्षण के संनियोग में तथा विनाश और वियोग मे उस रागी जीव को कहां सुख है? तथा संभोगकाल में वह अतृप्तलाभ ही रहता है।

टीका--जो जीव मनोज्ञ रूप में अत्यन्त आसक्त है उसको किसी प्रकार से भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रथम तो उसके उत्पादन और यत्न से रक्षण करने मे कष्ट होता है तथा विनाश अथवा वियोग होने में भी अत्यन्त क्लेश का अनुभव करना पड़ता है। इतना ही नही, किन्तु आगामी काल मे वह सभोग के समय अतृप्त ही रहता है। अथवा यों कहें कि जिसको रूप देखन का व्यसन पड़ जाता है, वह कभी भी तृप्ति का लाभ नही कर सकता अर्थात् तृप्त नहीं हो सकता। इस कथन का तात्पर्य इतना ही मात्र है कि स्त्री-पुरुष और हाथी-घोडे आदि जितने भी रूपवान पदार्थ हैं उनमे आसक्त होने वाला पुरुष उत्तरोत्तर दु:ख का ही उपार्जन करता है तथा रूपासक्त पुरुष को बार-बार देखने पर भी तृप्ति नहीं हो सकती। इससे सिद्ध होता है कि रूपविषयक मूर्छा रखने वाले पुरुष किसी दशा में भी सुख का अनुभव नहीं कर सकते।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं-

रूवे अतित्ते य परिग्गहंमि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥ २९ ॥

रूपेऽतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दु:खी परस्य, लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥ २९ ॥

पदार्थान्वयः-**रूवे**-रूप में, **अतित्ते**-अतृप्त, **य**--और, **परिग्गहंमि**-परिग्रह मे, **सत्तोवसत्तो**-सक्त और उपसक्त, **न उवेइ**-नहीं प्राप्त होता, **तुट्ठिं**-तुष्टि को-सन्तोष को, **अतुट्ठिदोसेण**-अतुष्टिदोष से, **दुही**-दु:खी हुआ, **परस्स**-दूसरे की रूप वाली वस्तु के विषय मे, **लोभाविले**-लोभ से व्याप्त हुआ, **अदत्तं**--अदत्त को, **आययई**-ग्रहण करता है।

मूलार्थ-रूप के विषय में अतृप्त और परिग्रह-मूर्छा में अत्यन्त आसक्त रहने वाला पुरुष कभी सन्तोष को प्राप्त नहीं होता। फिर असन्तोष के दोष से दु:खी होता हुआ वह परपदार्थ का लोभी बनकर अदत्त का भी ग्रहण करने लगता है।

टीका-प्रस्तुत गाथा में राग से उत्पन्न होने वाले अन्य दोषो का वर्णन किया गया है। रूप के विषय मे अतृप्त तथा उस मनोहर रूप के विष में सामान्य और विशेष रूप से मूर्छित होने वाले पुरुष को सन्तोष की प्राप्ति नही हो सकती। उस असन्तोष से दु:ख को प्राप्त हुआ वह अन्य जीवों के पास उपलब्ध होने वाले रूपवान् मनोज्ञ पदार्थो को लेने की इच्छा करता है और लोभ के वशीभूत होने से दूसरों के न देने पर भी परपदार्थों को-प्राप्त करने का यत्न करता है। तात्पर्य यह है कि रूपादि-पदार्थ-विषयक अत्यन्त राग होने से इस जीव में लोभ की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। उस बढे हुए लोभ से आकर्षित होकर वह अन्य की वस्तु को चुरा लेने मे प्रवृत्त हो जाता है अर्थात् परसम्बन्धी रूपवान् पदार्थो की चोरी करता है। यद्यपि परिग्रह शब्द प्राय: धन का वाची ही प्रसिद्ध है, तथापि इस स्थान पर उसका मूर्छा अर्थ ही अभिप्रेत है। सारांश यह है कि रूपविषयक आसक्ति रखने वाला पुरुष जहा हिसा में प्रवृत्त होता है, वहां चोरी मे भी उसकी प्रवृत्ति अनिवार्य-सी हो जाती है। यह राग से उत्पन्न होने वाला दूसरा

दोष है।

अब राग से उत्पन्न होने वाले अन्य दोष का वर्णन करते हैं–

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ३० ॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः, रूपेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया-मृषा वर्द्धते लोभदोषात्, तत्रापि दुखान्न विमुच्यते सः ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः–**तण्हाभिभूयस्स**–तृष्णा से पराजित हुआ, **अदत्तहारिणो**–चोरी को करने वाला, **रूवे**–रूप के विषय मे, **अतित्तस्स**–अतृप्त, **य**–तथा, **परग्गहे**–परिग्रह में अतृप्त, **लोभ-दोसा**–लोभरूप दोष से, **मायामुसं**–माया और मृषावाद की, **वड्ढइ**–वृद्धि करता है, **तत्थावि**–फिर भी, **से**–वह, **दुक्खा**–दुःख से, **न विमुच्चई**–नही छूटता।

मूलार्थ–तृष्णा के वशीभूत हुआ, चोरी करने वाला तथा रूप-परिग्रह में अतृप्त पुरुष माया और मृषावाद की वृद्धि करता है, परन्तु फिर भी वह दुःख से छुटकारा नही पाता।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे राग के कारण से बढी हुई रूपासक्ति के दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है। जो पुरुष तृष्णा के वशीभूत हो रहा है और अदत्तहारी अर्थात् चौर्यकर्म मे प्रवृत्त है तथा रूप मे अत्यन्त मूर्छित हो रहा है, वह लोभ के दोष से असत्यभाषण और छल-कपट की वृद्धि करता है अर्थात् लोभ के वशीभूत होकर जो उसने परवस्तु का अपहरण किया है उसको छिपाने के लिए छल करता है तथा झूठ बोलता है। कारण यह है कि लोभी पुरुष अपने किए हुए दुष्ट कर्म को छिपाने के लिए अनेक प्रकार से छल-कपट और मिथ्याभाषण आदि का व्यवहार करते हुए प्रायः देखे जाते है, परन्तु ऐसा करने पर भी वे दुःख से मुक्त नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि दुष्ट कर्म, दुष्ट कर्म के द्वारा शान्त नहीं हो सकता। जैसे पुरीष–विष्ठा को पुरीष से आच्छादित कर देने पर भी उसकी दुर्गन्ध नही मिटती, उसी प्रकार अनिष्टाचरण की शुद्धि भी दूसरे अनिष्टाचरण से नही हो सकती। इसलिए रूप-लोलुप पुरुष अपने स्तेयकर्म को असत्यभाषणादि के द्वारा छिपाने का प्रयत्न करता हुआ भी उसे पूर्णतया छिपा नही सकता, किन्तु अन्त मे दुःखो का ही भाजन बनता है।

अब पूर्वोक्त विषय को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ३१ ॥

मृषावाक्यस्य पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः, रूपेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥ ३१ ॥

पदार्थान्वयः–**मोसस्स**–मृषा-झूठ बोलने के, **पच्छा**–पश्चात्, **य**–तथा, **पुरत्थओ**–पहले, **य**–वा, **पओगकाले**–बोलने के समय, **दुही**–दुःखी होता हुआ, **दुरंते**–दुरन्त जीव, **य**–पुनः, **एवं**–इसी प्रकार,

अदत्ताणि–अदत्तादान, **समाययंतो**–ग्रहण करता हुआ, **रूवे**–रूप के विषय में, **अतित्तो**–अतृप्त, **दुहिओ**–दु:खित होता है, **अणिस्सो**–अनाश्रित।

मूलार्थ–जीव झूठ बोलने के पीछे अथवा पहले तथा बोलते समय दु:खी होता है तथा अदत्त का ग्रहण करता हुआ और रूपविषयक अतृप्ति को प्राप्त होता हुआ दु:खी तथा अनीश्वर होता है।

टीका–असत्य भाषण करने वाला जीव किसी समय भी समाधि-निराकुलता को प्राप्त नही होता, यह इस गाथा का भाव है। जैसे कि असत्य बोलने के पीछे उसे पश्चात्ताप करना पडता है और असत्य बोलने से पहले भी उसको भय-कपादि अवश्य उत्पन्न होते हैं तथा असत्य भाषण के समय पर भी वह निश्चिन्त नही होता। कारण यह है कि उसको यह भय लगा रहता है कि कहीं उसका यह असत्य-भाषण व्यक्त न हो जाए, इसलिए मृषावादी जीव कभी सुख को प्राप्त नहीं होता। जिनसे जन्म और मरण का अन्त नही आता इस प्रकार के कर्मो का आचरण करने वाला जीव 'दुरन्त' सज्ञा वाला होता है। इसी प्रकार अदत्त का ग्रहण करने वाला रूपलोलुप जीव भी कभी सुखी नहीं हो सकता। उपलक्षण से मैथुन आदि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार से दु:ख का विचार कर लेना। एवं असत्यभाषी और चोर्यकर्म मे प्रवृत्ति रखने वाला रूपलोलुप जीव अनीश्वर अर्थात् साहाय्य-रहित हो जाता है–उसका कोई सहायक नही बनता।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि–

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥ ३२ ॥

रूपाणुरक्तस्य नरस्यैव, कुतः सुखं भवेत्कदापि किञ्चित् ?
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदु खं, निर्वर्तयति यस्य कृते दु:खम् ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः–**एवं**–इस प्रकार, **रूवाणुरत्तस्स**–रूप में अनुरक्त, **नरस्स**–नर को, **कत्तो**–कहां से, **सुहं**–सुख, **होज्ज**–होवे, **कयाइ**–कदाचित्, **किंचि**–किंचिन्मात्र, **तत्थ**–वहां पर, **उवभोगे वि**–भोगने के समय पर भी, **किलेस**–क्लेश और, **दुक्ख**–दु:ख को, **निव्वत्तई**–उत्पन्न करता है, **जस्स**–जिसके, **कए**–लिए, **दुक्खं**–दु:ख को, **ण**–वाक्यालंकार मे है।

मूलार्थ–रूप के विषय में अनुरक्त पुरुष को सुख कहां से हो ? उसको तो कदाचित् और किंचिन्मात्र भी सुख नहीं हो सकता। उस रूप के विषय में अनुरक्त होने वाले जीव को उपभोग के समय पर भी क्लेश और दु:ख का ही सम्पादन करना पड़ता है तथा उपभोग के सम्पन्न होने पर भी तृप्ति के न होने से दु:ख ही उपलब्ध होता है।

टीका–रूपादि के लोलुप जीव को कभी और किंचिन्मात्र भी सुख की उपलब्धि नही होती। तृप्ति न होने से सुख के बदले दु:ख ही प्राप्त होता है। तथा जब रूप के उपभोग का समय आता है तब भी पर्याप्त सामग्री के न मिलने से क्लेश और दु:ख ही उत्पन्न होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि

रूपासक्त जीव किसी प्रकार से भी सुख का सम्पादन नहीं कर सकता। इसलिए सुख की इच्छा रखने वाली मुमुक्षु आत्मा को इस अशुभ आसक्ति का परित्याग ही कर देना चाहिए।

रागविषयक वर्णन करने के अनन्तर अब द्वेष के विषय में कहते हैं, यथा–

एमेव रूवम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ३३ ॥

एवमेव रूपे गतः प्रद्वेषम्, उपैति दुःखौघपरम्परा. ।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य पुनर्भवति दु.खं विपाके ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वय –**एमेव**–इसी प्रकार, **रूवम्मि**- रूप मे, **पओसं**–प्रद्वेष को, **गओ**–प्राप्त हुआ, **उवेइ**–पाता है, **दुक्खोहपरंपराओ**–दु.खसमूह की परम्परा को, **य**–फिर, **पदुट्ठचित्तो**–प्रदुष्टचित्त हुआ, **कम्मं**–कर्म को, **चिणाइ**–उपार्जन करता है, **पुणो**--फिर वह कर्म, **जं**–जो, **से**- उसको, **विवागे**–विपाककाल मे, **दुहं**–दुःखरूप, **होइ**--हो जाता है।

मूलार्थ–इसी प्रकार रूप के विषय में प्रद्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख के समूह की परम्परा को प्राप्त हो जाता है तथा दुष्ट चित्त से कर्म का उपार्जन करता है। फिर वही कर्म उसके लिए विपाककाल में दुःखरूप हो जाता है।

टीका-जिस प्रकार रूप के विषय मे अत्यन्त मूर्छित हुआ पुरुष दु.ख का भागी बनता है, ठीक उसी प्रकार जो जीव कुत्सित रूप के देखने स प्रद्वेष को प्राप्त होता है, वह भी दुःख-परम्परा को प्राप्त होता है। वह दुष्ट चित्त से जिन कर्मो को एकत्रित करता है, विपाककाल मे वे ही कर्म उसके लिए दुःखरूप हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि रूपविषयक प्रद्वेष होने से अशुभ कर्म की प्रकृतियों का बन्ध होता है और जब वे उदय मे आती हैं तब उनका फल अशुभ अर्थात् दुःखरूप होता है। इन्ही के कारण यह जीव इस लोक तथा परलोक में अनेकविध दुःखो का अनुभव करता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को राग की भांति द्वेष का भी परित्याग कर देना चाहिए।

राग-द्वेष के परित्याग से जिस गुण की प्राप्ति होती है, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं, यथा–

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ३४ ॥

रूपे विरक्तो मनुजो विशोक·, एतया दुखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वय.–**रूवे**–रूप मे, **विरत्तो**–विरक्त, **मणुओ**--मनुष्य, **विसोगो**–शोकरहित होता है, **एएण**–इस, **दुक्खोहपरपरेण** दुःखसमूह की परम्परा मे **भवमज्झे वि**–ससार के मध्य मे भी, **संतो**–रहता हुआ, **न लिप्पई**–लिप्त नही होता, **जलेण वा**–जल मे जैसे, **पोक्खरिणीपलासं**–पद्मिनी

का पत्र।

मूलार्थ—रूप के विषय में विरक्त मनुष्य शोक से रहित होता हुआ दुःखसमूह की परम्परा से, संसार में रहता हुआ भी दुःखों से लिप्त नहीं होता। जैसे जल में रहता हुआ भी कमलिनी का पत्र जल से लिप्यमान नहीं होता।

टीका—रूपादि के विषय मे अनुराग का परित्याग कर देने वाला शोक का अनुभव नहीं करता तथा दुःख परम्परा के सम्पर्क से भी रहित होता है अर्थात् उसको दुःख-समूह नही सताता। एव विरक्त पुरुष की इस संसार में वही स्थिति होती है जो कि जल मे रहने वाले कमलिनीदल की है अर्थात् जैसे जल मे रहता हुआ भी कमलिनीदल जल के सम्पर्क से अलग रहता है, उसी प्रकार संसार मे रहता हुआ भी विरक्त पुरुष संसार के दुःखो से लिप्त नहीं होता। कारण यह है कि दुःख के हेतु राग और द्वेष है, उनके परित्याग से तन्मूलक दुःख का भी अभाव हो जाता है। इसलिए रूपविषयक विरक्त मनुष्य विगतशोक होता हुआ सांसारिक दुःखो से भी सर्वथा अलिप्त रहता है। यहा पर वा शब्द 'इव' के अर्थ मे आया हुआ है।

इस प्रकार चक्षु के विषय में वर्णन करने के अनन्तर अब सूत्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में कहते हैं, यथा—

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ३५ ॥

श्रोत्रस्य शब्दं ग्रहणं वदन्ति, तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः ।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहु., समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः—**सोयस्स**—श्रोत्र का, **सद्दं**—शब्द को, **गहणं**—ग्राह्य, **वयंति**—कहते हैं, **तं**—वह, **मणुन्नं**—मनोज्ञ, **रागहेउं**—राग का हेतु, **आहु**—कहा है, **त**—वह, **अमणुन्नं**—अमनोज्ञ, **दोसहेउं**—द्वेष का हेतु, **आहु**—कहा है, **य**—और, **जो**—जो, **तेसु**—उनमें, **समो**—समभाव रखता है, **स**—वह, **वीयरागो**—वीतराग है, **तु**—प्राग्वत्।

मूलार्थ—श्रोत्र का ग्राह्य विषय शब्द है। मनोज्ञ शब्द तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ द्वेष का कारण है, परन्तु जो इन दोनों तरह के शब्दों में सम भाव रखता है वह वीतराग है।

टीका—चक्षु-विषयक वर्णन करने के अनन्तर अब श्रोत्र के विषय मे कहते हैं। श्रोत्र-इन्द्रिय शब्द का ग्राहक और शब्द श्रोत्र का ग्राह्य विषय है। तात्पर्य यह है कि जिस समय शब्द के परमाणु श्रोत्र में प्रविष्ट होते है तब श्रोत्र उनको ग्रहण करता है, इसलिए शब्द को श्रोत्र का विषय कहा गया है। इनमें जो प्रिय शब्द है, वह तो राग का हेतु है और जो कटु अर्थात् अप्रिय शब्द है उसको द्वेष का कारण बताया गया है, परन्तु जो पुरुष इन दोनों प्रकार के शब्दों को सुनकर भी समभाव मे रहता है अर्थात् प्रिय शब्द को सुनकर उसमे अनुरक्त नहीं होता और कटु शब्द के प्रति द्वेष प्रकट नही करता वह

समभावभावित होने से वीतराग कहा जाता है। उक्त कथन का साराश यह है कि शब्द का ग्राहक क्षेत्र ही है, यही उसका लक्षण है तथा शब्द यह श्रोत्र का विषय होने से उसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, परन्तु शब्द का ग्रहण होने के अनन्तर उसका अच्छा या बुरा प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, जहा पर कि राग-द्वेष की परिणति होती है। इस विचार को लेकर ही प्रिय और अप्रिय शब्द को क्रमशः राग और द्वेष का हेतु बताया गया है, परन्तु जिस आत्मा में भावो की सम परिणति होती है, उस पर शब्द की प्रियता और अप्रियता का कोई प्रभाव नही पडता अर्थात् वह प्रिय शब्द को सुनकर उसमें अनुरक्त नहीं होता और अप्रिय शब्द से उसमें द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती। इस हेतु से उसको वीतराग कहा गया है इत्यादि।

अब इसी विषय को पल्लवित करते हुए फिर कहते हैं–

सद्दस्स सोयं गहणं वयंति, सोयस्स सद्दं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ ३६ ॥

शब्दस्य श्रोत्रं ग्राहकं वदन्ति, श्रोत्रस्य शब्दं ग्राह्यं वदन्ति ।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः–**सद्दस्स**–शब्द का, **सोय**–श्रोत्र को, **गहणं**–ग्राहक, **वयंति**–कहते हैं–और, **सोयस्स**–श्रोत्र का, **सद्दं**–शब्द को, **गहणं**–ग्राह्य, **वयंति**–कहते हैं, **रागस्स**–राग का, **हेउं**–हेतु, **समणुन्नं**–मनोज्ञ को, **आहु**–कहा है, **दोसस्स**–द्वेष का, **हेउं**–हेतु, **अमणुन्नं**–अमनोज्ञ को, **आहु**–कहा गया है।

मूलार्थ–श्रोत्र-इन्द्रिय को शब्द का ग्राहक और शब्द को श्रोत्र का ग्राह्य कहते हैं। जो मनोज्ञ शब्द है वह राग का हेतु है और अमनोज्ञ शब्द को द्वेष का कारण बताया गया है।

टीका–तीर्थकर ने शब्द और श्रोत्र-इन्द्रिय का परस्पर ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध प्रतिपादन किया है, अर्थात् श्रोत्र-इन्द्रिय शब्द का ग्रहण करती है और शब्द उसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, परन्तु इनमे जो प्रिय शब्द है, वह राग का उत्पादक है जो कटु शब्द है उससे द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस विषय की उपयोगी अधिक व्याख्या पूर्व गाथाओं मे–चक्षु-इन्द्रिय के प्रकरण मे कर दी गई है, इसलिए यहां पर नहीं की गई।

प्रिय शब्द में आसक्त होने से जो हानि होती है, अब उसका वर्णन करते हुए कहते हैं –

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे, सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥ ३७ ॥

शब्देषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरो हरिणमृग इव मुग्धः, शब्देऽतृप्तः समुपैति मृत्युम् ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः–**सद्देसु**–शब्दों में, **जो**–जो, **तिव्वं**–तीव्र, **गिद्धिं**–गृद्धि-मूर्च्छा-को, **उवेइ**–प्राप्त होता है, **से**–वह, **अकालियं**–अकाल में ही, **विणासं**–विनाश को, **पावइ**–प्राप्त होता है, **रागाउरे**–राग में आसक्त हुआ, **हरिणमिगे**–हरिण-मृग, **व**–की तरह, **मुद्धे**–मुग्ध, **सद्दे**–शब्द से, **अतित्ते**–अतृप्त हुआ, **मच्चुं**–मृत्यु को, **समुवेइ**–प्राप्त होता है।

मूलार्थ–शब्दों के विषय में अत्यन्त मूर्छित होने वाला जीव अकाल में ही विनाश अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, जैसे राग में आसक्त हुआ हरिण-मृग मुग्ध होकर शब्द के श्रवण में सन्तोष को न प्राप्त होता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में शब्दविषयक बढ़े हुए राग से उत्पन्न होने वाली हानि का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे राग में मस्त हुआ हरिण-मृग (कस्तूरी मृग) अपने प्राणों को दे देता है, अर्थात् नाद-माधुर्य के लोभ मे वह अपने प्राणो को खो बैठता है[१], ठीक उसी प्रकार से शब्दों के श्रवण में अत्यन्त मूर्च्छित आसक्त होने वाला जीव अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि मृग शब्द हरिण के अर्थ में भी प्रसिद्ध है, तथापि हरिण शब्द का पृथक् प्रयोग होने से वह यहां पर कस्तूरी मृग का वाचक बन जाता है।

अब द्वेष के विषय में कहते हैं–

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि सद्दं अवरज्झई से ॥ ३८ ॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं, तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः, न किञ्चिच्छब्दोऽपराध्यति तस्य ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वय.–**जे**–जो कोई–अमनोज्ञ शब्द में, **तिव्वं**–तीव्र, **दोसं**–द्वेष, **समुवेइ**–करता है, **से**–वह, **तंसि क्खणे**–उसी क्षण मे, **दुक्ख**–दुःख को, **उवेइ**–प्राप्त हो जाता है, **सएण**–स्वकृत, **दुद्दंतेण**–दुर्दान्त, **दोसेण**–दोष से, **जंतू**–जीव, परच, **से**–उसका, **सद्दं**–शब्द, **किंचि**–किंचिन्मात्र भी, **न अवरज्झई**–अपराध नही करता।

मूलार्थ–जो कोई जीव अप्रिय शब्द में तीव्र द्वेष करता है, वह स्वकृत दुर्दान्त दोष से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त हो जाता है, परन्तु वह अप्रिय शब्द उस जीव का कुछ भी अपराध नहीं करता, अर्थात् वह शब्द उसको दुःख देने वाला नहीं होता।

टीका–प्रस्तुत गाथा में शब्द-विषयक द्वेष करने का फल बताते हुए शास्त्रकार कहते है कि शब्दविषयक द्वेष करने से अर्थात् अप्रिय शब्द को सुनकर मन में द्वेष उत्पन्न करने से यह जीव उसी क्षण मे दुःख का अनुभव करने लग जाता है, परन्तु इस दुःख का कारण उसका अपना दोष है न कि

१ किसी भाषा के कवि ने इस विषय मे क्या ही अच्छा कहा है –
नाद के लोभ दहे मृग प्राणन,
बीन सुने अहि आप बधावे।

अप्रिय शब्द का इसमें कोई अपराध है। कारण यह है कि दुःख का हेतु अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाला द्वेषमूलक निकृष्ट अध्यवसाय है। उसी के कारण यह जीव दुःख का संवेदन करता है। इसलिए श्रोत्र-इन्द्रिय का दमन करना ही मुमुक्षु पुरुष का सबसे पहला कर्त्तव्य है।

अब राग और द्वेष को अनर्थ का कारण बताते हुए फिर कहते हैं –

एगंतरत्ते रुइरंसि सद्दे, अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥ ३९ ॥

एकान्तरक्तो रुचिरे शब्दे, अतादृशे सः कुरुते प्रद्वेषम् ।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बाल., न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वयः–**एगंतरत्ते**–एकान्त रक्त, **रुइरंसि**–मनोहर, **सद्दे**–शब्द में, **अतालिसे**–अमनोहर शब्द में, **पओसं**–प्रद्वेष, **कुणई**–करता है, **बाले**–अज्ञानी, **दुक्खस्स**–दुःख की, **संपीलं**–पीडा को, **उवेइ**–प्राप्त होता है, **तेण**–उस पीडा से, **विरागो**–वैराग्ययुक्त, **मुणी**–मुनि, **न**–नही, **लिप्पई**–लिप्त होता।

मूलार्थ–जो जीव एकान्त मनोहर शब्द में तो अनुरक्त होता है और अमनोहर शब्द में द्वेष करता है वह अज्ञानी जीव दुःख की पीड़ा को प्राप्त होता है, परन्तु जो विरक्त मुनि है वह उससे लिप्त नहीं होता।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे राग-द्वेष की परिणति और उसके त्याग का फल बताते हुए शास्त्रकार कहते है कि जो जीव प्रिय शब्द मे राग और अप्रिय मे द्वेष करता है, वह दु.ख-सम्बन्धी वेदना का अवश्य अनुभव करता है, अतएव वह बाल अर्थात् अज्ञानी जीव है, परन्तु जो मुनि विरक्त है अर्थात् जिसकी आत्मा में प्रिय और अप्रिय शब्द को सुनकर राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नही होते उसको दुःख का सम्पर्क नहीं होता, अर्थात् वह सुखी है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि दुःख रूप व्याधि का मूल कारण राग-द्वेष की परिणतिविशेष ही है, अत· सुख की इच्छा रखन वाले को इसके परित्याग मे ही उद्यम करना चाहिए।

अब राग को हिंसादि आस्रवों का कारण बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं, कि–

सद्दाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ ४० ॥

शब्दानुगाशानुगतश्चजीव·, चराचरान् हिनस्त्यनेकारूपान् ।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः–**सद्दाणुगासा**–शब्द की आशा से, **अणुगए**–अनुगत, **जीवे**–जीव, **य**–फिर, **चराचरे**–चर और अचर, **अणेगरूवे**–अनेक प्रकार के जीवो की, **हिंसइ**–हिंसा करता है, **बाले**–अज्ञानी,

चित्तेहि—नाना प्रकार से, **ते**—उनको, **परितावेइ**—परिताप देता है, **किलिट्ठे**—रागादि से पीड़ित हुआ, **अत्तट्ठगुरू**—अपने स्वार्थ के लिए, **पीलेइ**—पीड़ा उपजाता है।

मूलार्थ—बढ़े हुए रागादि के कारण शब्द की आशा के वशीभूत हुआ यह अज्ञानी जीव अपने स्वार्थ के लिए अनेक जाति के जंगम और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, उनको परिताप देता है और अनेक प्रकार की पीड़ा उपजाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में इस भाव को व्यक्त किया गया है कि प्रिय शब्द मे अत्यन्त राग रखने वाला पुरुष किसी प्रकार से भी प्राणियों की हिंसा करने या उन्हें किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाने में प्रवृत्त होता हुआ अपनी स्वार्थपरायण-प्रवृत्ति को रोकने में समर्थ नही हो सकता, अर्थात् अपनी इस जघन्य प्रवृत्ति मे उसे उचितानुचित का भान नहीं रहता।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं, यथा—

सद्दाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥ ४१ ॥

शब्दानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य, सम्भोगकाले चातृप्तिलाभ. ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः—**सद्दाणुवाएण**—शब्द के अनुराग से, **परिग्गहेण**—परिग्रह से, **उप्पायणे**—उत्पाद मे, **रक्खणे**—रक्षण मे, **संनिओगे**—प्रबन्ध मे, **वए**—विनाश मे, **विओगे**—वियोग मे, **से**—उसको, **कहं**—कैसे-कहा से, **सुह**—सुख हो सकता है, **य**—और, **संभोगकाले**—संभोगकाल मे, **अतित्तलाभे**—तृप्ति न होने पर।

मूलार्थ—शब्द में बढ़े हुए अनुराग और ममत्व से शब्दादि द्रव्यों के उपार्जन करने में, उनके रक्षण और यथाविधि व्यवस्था करने में तथा उनके विनाश अथवा वियोग हो जाने पर और संभोगकाल में भी तृप्ति का लाभ न होने पर इस जीव को कहां सुख प्राप्त हो सकता है?

टीका—इस गाथा की व्याख्या पूर्व दी गई २८वी गाथा के समान ही जान लेना चाहिए। तात्पर्य मात्र इतना ही है कि मनोहर शब्द मे अत्यन्त लुब्ध होने वाला जीव किसी समय सुख का अनुभव नही कर सकता, किन्तु उत्तरोत्तर दु·ख का ही उसे सवेदन होता रहता है।

अब **फिर इसी के विषय में कहते हैं। यथा—**

सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥ ४२ ॥

शब्देऽतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य, लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः—**सद्दे**—शब्द के विषय मे, **अतित्ते**—अतृप्त, **य**—और, **परिग्गहम्मि**—परिग्रह में,

सत्तोवसत्तो—सक्त और उपसक्त, **तुट्ठिं**—तुष्टि सन्तोष को, **न उवेइ**—नहीं प्राप्त होता, **अतुट्ठिदोसेण**—अतुष्टि के दोष से, **दुही**—दुःखी, **परस्स**—पर के, **लोभाविले**—लोभ से व्याकुल हुआ जीव, **अदत्तं**—चोरी के कर्म को, **आययई**—अंगीकार करता है।

मूलार्थ—शब्द में अतृप्त और परिग्रह में सामान्य तथा विशेष रूप से आसक्ति रखने वाला जीव लोभ के वशीभूत होकर कभी सन्तोष प्राप्त नहीं कर पाता, किन्तु असन्तोष रूप दोष से दुःखी होकर पर के शब्दों की इच्छा करता हुआ चौर्यकर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में यही बताया गया हे कि जो पुरुष प्रिय शब्द के अधिक रसिक है और परिग्रह में आसक्त रहते हैं, वे लोभ के वशीभूत होकर पराई वस्तुओ को चुराने में प्रवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि उनको अपनी उपलब्ध सामग्री से सन्तोष नही होता।

अब फिर कहते हैं—

तण्हाऽभिभूयस्स अदत्तहारिणो, सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ४३ ॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः, शब्देऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया मृषा वर्धते लोभदोषात्, तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः—तण्हाऽभिभूयस्स—तृष्णा से पराजित, **अदत्तहारिणो**—अदत्त का ग्रहण करने वाला (चोर), **सद्दे**—शब्द के विषय में, **अतित्तस्स**—अतृप्त, **य**—और, **परिग्गहे**—परिग्रह मे आसक्त, **लोभदोसा**—लोभरूप दोष से, **माया**—छल, **मुस**—मृषावाद को, **वड्ढइ**—बढाता है, **तत्थावि**—फिर भी, **से**—वह, **दुक्खा**—दुःख से, **न विमुच्चई**—नहीं छूट पाता।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत, चौर्य-कर्म में प्रवृत्त और शब्द तथा परिग्रह के विषय में अतृप्त पुरुष लोभ के दोष से माया और मृषावाद की वृद्धि करता है, परन्तु फिर भी वह दुःखो से मुक्त नहीं हो सकता।

टीका—इस गाथा की व्याख्या भी पूर्व मे की गई ३०वी गाथा की व्याख्या के समान ही जान लेनी चाहिए। केवल रूप और शब्द, इन दो पदों मे अन्तर है।

अब पूर्वोक्त विषय को फिर स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ४४ ॥

मृषा (वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः, शब्देऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वयः—मोसस्स—मृषावाद के, **पच्छा**—पीछे, **य**—और, **पुरत्थओ**—पहले, **य**—तथा, **पओगकाले**—प्रयोगकाल में, **दुही**—दुःखी होता है, **दुरंते**—दुरत—दुष्ट कर्म करने वाला, **एवं**—इसी प्रकार,

अदत्ताणि–अदत्त को, **समाययंतो**–ग्रहण करने वाला, **सद्दे**–शब्द के विषय में, **अतित्तो**–अतृप्त, **दुहिओ**–दु:खित होता है तथा, **अणिस्सो**–असहाय होता है।

मूलार्थ–मृषावाद के पहले और पीछे अथवा मृषाभाषण करते समय यह दुरन्त अर्थात् दुष्ट कर्म करने वाली आत्मा अवश्य दु:खी होती है। उसी प्रकार चोरी में प्रवृत्त और शब्द में अतृप्त हुई आत्मा भी दु:ख को प्राप्त होती है तथा उसका कोई सहायक नहीं होता।

टीका–इस गाथा की व्याख्या भी गत ३१वी गाथा के समान ही समझनी चाहिए।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए कहते हैं कि–

सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥ ४५ ॥

शब्दानुरक्तस्य नरस्यैवं, कुतः सुखं भवेत् कदापि किञ्चित् ?
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदु:खं, निर्वर्तयति यस्य कृते दु:खम् ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः–सद्दाणुरत्तस्स–शब्दानुरक्त, **नरस्स**–पुरुष को, **एवं**–इस प्रकार, **कत्तो**–कहां से, **सुह**–सुख, **होज्ज**–होवे, **कयाइ**–कदाचित्, **किंचि**–यत्किंचित् भी, **तत्थ**–उस शब्द के, **उवभोगे वि**–उपभोग में भी, **जस्स कए**–जिसके लिए, **किलेसदुक्खं**–क्लेशों और दु:खों को, **निव्वत्तई**–संचित करता है।

मूलार्थ–शब्द के अनुरागी पुरुष को उक्त प्रकार से कैसे सुख हो सकता है, अपितु उसे किसी काल में भी थोड़ा-सा भी सुख प्राप्त नहीं होता तथा शब्द के उपभोगकाल में भी वह क्लेशों और दु:खो को ही संचित करता है।

टीका–शब्द के विषय में विशिष्ट अनुराग रखने वाला पुरुष किसी प्रकार से भी सुखी नही हो सकता, किन्तु असन्तोष की वृद्धि के कारण उसे निरन्तर दु:ख का ही अनुभव करना पड़ता है, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

अब शास्त्रकार द्वेष के विषय में वर्णन करते हैं, यथा–

एमेव सद्दम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ४६ ॥

एवमेव शब्दे गत प्रद्वेषम्, उपैति दु:खौघपरम्पराः ।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य, पुनर्भवति दु:खं विपाके ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः–एमेव–इसी प्रकार, **सद्दम्मि**–शब्द के विषय में, **पओसं**–प्रद्वेष को, **गओ**–प्राप्त हुआ, **दुक्खोह**–दु:खसमूह की, **परंपराओ**–परम्परा को, **उवेइ**–प्राप्त करता है, **पदुट्ठचित्तो**–दुष्ट है चित्त जिसका, **कम्मं**–कर्म का, **चिणाइ**–उपार्जन करता है, **जं**–जो, **से**–उस कर्म करने वाले को, **पुणो**–फिर, **विवागे**–विपाककाल में, **दुहं**–दु:ख, **होइ**–होता है, उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ–इसी प्रकार शब्द के विषय में प्रद्वेष को प्राप्त हुआ जीव दुःख-समूह की परम्परा को प्राप्त करता है तथा दूषित चित्त से वह ऐसे कर्मो का उपार्जन करता है जो कि विपाक-काल में उसे दुःख के देने वाले होते हैं।

टीका–जिस प्रकार राग दुःख का हेतु है, उसी प्रकार द्वेष को भी दुःख का कारण माना गया है और उसकी यह कारणता अनुभवसिद्ध भी है। तात्पर्य यह है कि राग की भांति शब्दादि-विषयक द्वेष करने वाला जीव भी नाना प्रकार के दुःखो का भाजन बनता है। कारण यह है कि द्वेष के प्रभाव से कलुषित हुए चित्त से वह जिन कर्माणुओ को एकत्रित करता है वे ही कर्माणु विपाक के समय उसके लिए दुःख का साधन बन जाते है, इसलिए राग और द्वेष इन दोनों को दूर करके इनके स्थान में अलौकिक सुख की प्राप्ति के साधनों को सम्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब राग-द्वेष के त्याग से प्राप्त होने वाले गुण के विषय में कहते हैं–

सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ४७ ॥

शब्दे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥ ४७ ॥

पदार्थान्वयः–**सद्दे**–शब्द में, **मणुओ**–मनुष्य, **विरत्तो**–विरक्त है, **विसोगो**–शोक से रहित है, **एएण**–इस, **दुक्खोह**–दुःखसमूह की, **परपरेण**–परम्परा से, **भवमज्झे वि संतो**–ससार में निवास करता हुआ भी, **न लिप्पई**–लिप्त नही होता, **वा**–जैसे, **जलेण**–जल से, **पोक्खरिणीपलासं**–कमलिनी का पत्र लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ–जिस प्रकार कमल-पत्र जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो मनुष्य शब्द के विषय में विरक्त अर्थात् राग-द्वेष से रहित है, वह विगतशोक होकर संसार में रहता हुआ भी इस दुःख-समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

टीका–जैसे पूर्व गाथा की व्याख्या पहले की जा चुकी है, उसी प्रकार इस गाथा की व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए।

उक्त १३ गाथाओं के द्वारा श्रोत्र-विषयक वर्णन किया गया है। अब शास्त्रकार घ्राण-इन्द्रिय के विषय में कहते हैं, यथा–

घाणस्स गंधं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
त दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ४८ ॥

घ्राणस्य गन्धं ग्रहणं वदन्ति, तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः ।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः, समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वयः—**घाणस्स**—घ्राण को, **गंधं**—गन्ध का, **गहणं**—ग्राहक, **वयंति**—कहते हैं तीर्थकरादि, **तं**—वह, **रागहेउं**—राग का हेतु, **तु**—तो, **मणुन्नं**—मनोज्ञ, **आहु**—कहा है, **तं**—वह, **अमणुन्नं**—अमनोज्ञ, **दोसहेउं**—द्वेष का हेतु, **आहु**—कहा है, **जो**—जो, **तेसु**—उनमे, **समो**—समभाव रखता है, **स**—वह, **वीयरागो**—वीतराग है।

मूलार्थ—घ्राण-इन्द्रिय अर्थात् नासिका को गन्ध का ग्राहक कहते है, उनमें से मनोज्ञ गन्ध तो राग का हेतु है और अमनोज्ञ द्वेष का कारण है, परन्तु इनमें जो समभाव रखता है, वही वीतराग है।

टीका—घ्राण-इन्द्रिय गन्ध का ग्रहण करती है, अर्थात् जब गन्ध के परमाणु घ्राण-इन्द्रिय में प्रविष्ट होते हैं, तब वह उनका अनुभव करती है। उनमे से सुन्दर गन्ध वाले परमाणु तो राग के उत्पादक होते हैं और दुर्गन्ध के परमाणु द्वेष को उत्पन्न करते है। जो पुरुष इन सुगन्ध और दुर्गन्ध के परमाणुओ के सम्पर्क से भी राग-द्वेष नही करता, अर्थात् इनमें समभाव रखता है वही वीतराग है।

अब फिर कहते हैं—

गंधस्स घाणं गहणं वयंति, घाणस्स गंधं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ ४९ ॥

गन्धस्य घ्राणं ग्राहकं वदन्ति, घ्राणस्य गन्धं ग्राह्य वदन्ति ।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥ ४९ ॥

पदार्थान्वय—**गंधस्स**—गन्ध का, **घ्राण**—घ्राण-इन्द्रिय को, **गहण**—ग्राहक, **वयंति**—कहते है, **घाणस्स**—घ्राण-इन्द्रिय का, **गंधं**—गन्ध को, **गहण**—ग्राह्य, **वयति**—कहते है, **रागस्स हेउं**—राग का हेतु, **समणुन्नं**—मनोज्ञ गन्ध को, **आहु**—कहा है, **दोसस्स हेउं**—द्वेष का हेतु, **अमणुन्नं**—अमनोज्ञ गन्ध को, **आहु**—कहा है।

मूलार्थ—गन्ध को नासिका ग्रहण करती है और नासिका का ग्राह्यविषय गन्ध को कहा गया है, इनमे सुगन्ध राग का हेतु है और दुर्गन्ध द्वेष का कारण है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या पूर्व में हो चुकी है (चक्षु और श्रोत्र के प्रकरण मे)। घ्राण-इन्द्रिय गन्ध की ग्राहक है और गन्ध को उसके द्वारा गृहीत होने से ग्राह्य कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इन दोनो का आपस में ग्राह्यग्राहकभाव सम्बन्ध माना गया है। आत्मा की राग-द्वेष-परिणति से सुन्दर गन्ध तो राग का कारण बन जाता है और कुत्सित गन्ध द्वेष का। ये सब आत्मा के अन्दर रहे हुए अध्यवसायो पर निर्भर है, कारण यह है कि राग-द्वेष के वशीभूत हुई यह आत्मा अनुकूल पदार्थो में रुचि उत्पन्न करती है और प्रतिकूल पदार्थो से घृणा करती है।

अब गन्धविषयक बढ़े हुए राग के कटु परिणाम का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार फिर कहते हैं —

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे, सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥ ५० ॥

गन्धेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुर औषधिगन्धगृद्धः, सर्पो बिलादिव निष्क्रामन् ॥ ५० ॥

पदार्थान्वयः–**जो**–जो जीव, **गंधेसु**–गन्ध के विषय मे, **तिव्वं**–अति तीव्र, **गिद्धिं**–मूर्च्छा को, **उवेइ**–प्राप्त होता है, **से**–वह, **अकालियं**–अकाल मे, **विणासं**–विनाश को, **पावइ**–प्राप्त हो जाता है, **रागाउरे**–राग से आतुर हुआ, **ओसहि**–औषधि की, **गंध**–गध में, **गिद्धे**–मूर्च्छित, **विव**–जैसे, **सप्पे**–सर्प, **बिलाओ**–बिल से, **निक्खमंते**–निकलता हुआ विनाश को पाता है।

मूलार्थ–जो पुरुष गन्ध में अत्यन्त मूर्च्छित हो जाता है, वह अकाल मे ही ऐसे विनाश को प्राप्त हो जाता है, जैसे राग से आतुर हुआ सर्प औषधि के गन्ध में मूर्च्छित होकर बिल से बाहर निकलता हुआ विनाश को प्राप्त होता है।

टीका–गन्ध के विषय में बढे हुए राग का परिणाम क्या होता है, इस बात को सर्प के दृष्टान्त से बताते हुए शास्त्रकार कहते है कि जो जीव गन्ध मे अत्यन्त आसक्ति रखता है वह शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है, जैसे कि नागदमनी आदि औषधियो के गन्ध मे अत्यन्त मूर्च्छित होने वाला सर्प उसकी गन्ध पर मुग्ध होकर बिल से बाहर निकलने पर मृत्यु को प्राप्त करता है। इससे सिद्ध हुआ कि बढा हुआ राग ही इस जीव के विनाश का एक मात्र कारण है।

अब राग की भांति द्वेष का भी फल बताते है, यथा–

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि गंधं अवरज्झई से ॥ ५१ ॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं, तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः, न किञ्चिद्गन्धोऽपराध्यति तस्य ॥ ५१ ॥

पदार्थान्वयः–**जे यावि**–जो कोई-अप्रिय गन्ध मे, **तिव्वं**–तीव्र भावों से, **दोसं**–द्वेष को, **समुवेइ**–प्राप्त होता है, **से**–वह, **तसि क्खणे**–उसी क्षण में, **दुक्ख**–दुःख को, **उवेइ**–प्राप्त हो जाता है, उ–वितर्क अर्थ मे है, **सएण**–स्वकृत, **दुद्दंतदोसेण**–दुर्दान्त दोष से, **जंतू**–जीव, **से**–उसका, **किंचि**–यत्किंचित् भी, **गंधं**–गन्ध, **न अवरज्झई**–अपराध नही करता।

मूलार्थ–कोई जीव जब भी अप्रिय गन्ध के विषय में तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण मे दुःख को प्राप्त हो जाता है, परन्तु यह जीव स्वकृत दुर्दान्त दोषों से ही दुःखों को प्राप्त होता है, इसमें गन्ध का कोई भी अपराध नहीं, अर्थात् इस जीव को अप्रिय गन्ध दुःख देने वाला नहीं है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे द्वेष के फल का वर्णन करने के साथ-साथ प्रिय और अप्रिय गन्ध मे मानी हुई दु:खजनकता का भी निषेध किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि ऊपर की गाथाओं में सुगन्ध और दुर्गन्ध को जो राग और द्वेष का कारण बताया गया है वह परम्परा है, साक्षात् नहीं। कारण यह है कि राग-द्वेष की परिणति तो मुख्यता आत्मा में होती है और सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध तो उसमें निमित्त मात्र हैं, अतएव आत्मा में सुख अथवा दु:ख का भान होता है उसका कारण भी राग-द्वेष का परिणाम विशेष ही है। यह आत्मा अपने तीव्र भावों से जिस प्रकार के कर्मो का बन्ध करती है उसी के अनुरूप इसको विपाकदशा में न्यूनाधिक फल की प्राप्ति होती है। इसलिए सुगन्ध या दुर्गन्ध को दु.ख का हेतु न मानकर राग-द्वेष को ही उसका हेतु मानना चाहिए, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

अब राग और द्वेष से उत्पन्न होने वाले अन्य दोषों का वर्णन करते हैं, यथा—

एगंतरत्ते रुइरंसि गंधे, अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥ ५२ ॥

एकान्तरक्तो रुचिरे गन्धे, अतादृशे स करोति प्रद्वेषम् ।
दु:खस्य सम्पीडामुपैति बालः, न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥ ५२ ॥

पदार्थान्वयः—**रुइरंसि**—रुचिर, अर्थात् प्रिय, **गंधे**—गन्ध मे, **एगंतरत्ते**—एकान्त अनुरक्त, **अतालिसे**—अरुचिर गन्ध में, **से**—वह, **पओसं**—प्रद्वेष, **कुणई**—करता है, **बाले**—अज्ञानी जीव, **दुक्खस्स संपीलं**—दु:खसम्बन्धी पीडा को, **उवेइ**—पाता है, **तेण**—उससे, **विरागो**—विरक्त आत्मा, **मुणी**—मुनि, **न लिप्पई**—लिप्यमान नहीं होता।

मूलार्थ—जो जीव रुचिर गन्ध में अत्यन्त आसक्त है और दुर्गन्ध में द्वेष करता है, वह अज्ञानी जीव दु:खसम्बन्धी पीड़ा को प्राप्त होता है, परन्तु जो विरक्त मुनि है वह इस पीड़ा से लिप्त नहीं होता, अर्थात् उसको यह दु:ख-बाधा नहीं सताती।

टीका—प्रस्तुत गाथा में राग-द्वेषयुक्त और राग-रहित आत्मा में जो अन्तर है उसका दिग्दर्शन कराया गया है। जो आत्मा राग-द्वेष से युक्त है वह दु:खों का भाजन बनती है और द्वेष से रहित, अर्थात् विरक्त आत्मा को दु:ख का सम्पर्क नहीं होता, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

अब राग को हिंसादि आस्रवों का कारण बताते हुए शास्त्रकार कहते है कि—

गंधाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ ५३ ॥

गन्धानुगाशानुगतश्च जीवः, चराचरान् हिनस्त्यनेकरूपान् ।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्ट. ॥ ५३ ॥

पदार्थान्वयः—**गंधाणुगासाणुगए**—सुगन्ध की आशा के पीछे भागता हुआ, **जीवे**—जीव, **चराचरे**—चर और अचर, **अणेगरूवे**—अनेक प्रकार के जीवों की, **हिंसइ**—हिंसा करता है, **चित्तेहिं**—नाना प्रकार के

शस्त्रो से, **ते**–उन जीवों को, **परितावेइ**–परिताप देता है, **बाले**–अज्ञानी जीव, **अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे**–अपने स्वार्थ में अत्यन्त आसक्त और राग से प्रेरित हुआ, **पीलेइ**–प्राणियो को पीडा देता है।

मूलार्थ–गन्ध की आशा से बंधा हुआ बाल अर्थात् विवेकहीन जीव अनेक प्रकार के चराचर जीवों को मारता है और नाना प्रकार के शस्त्रों से उनको परिताप देता है तथा राग से प्रेरित हुआ अपने स्वार्थ के लिए उनको पीड़ा पहुंचाता है।

टीका–इस गाथा की व्याख्या द्वारा जो कुछ वक्तव्य था, वह पूर्व गाथाओ की व्याख्या में कह दिया गया है, इसलिए यहां पर कुछ अधिक लिखना अनावश्यक है।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं–

गंधाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥ ५४ ॥

गन्धानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथ सुखं तस्य, संभोगकाले चातृप्तिलाभः ॥ ५४ ॥

पदार्थान्वयः–**गंधाणुवाएण**–गन्ध के अनुराग से, **परिग्गहेण**–परिग्रह से, **उप्पायणे**–उत्पादन में, **रक्खणसंनिओगे**–रक्षण और संनियोग में, **वए**–विनाश मे, **विओगे**–वियोग मे, **से**–उसको, **कह**–कैसे, **सुहं**–सुख हो सकता है, **सभोगकाले**–संभोगकाल में, **य**–और, **अतित्तलाभे**–अतृप्तिलाभ मे।

मूलार्थ–गन्धविषयक अनुराग और परिग्रह से गन्ध के उत्पादन में, रक्षा करने मे और सम्यक् व्यवहार करने में, वियोग मे तथा सभोगकाल में, सन्तोष का लाभ न होने से उस रागी जीव को कैसे सुख हो सकता है ?

टीका–इस गाथा की व्याख्या भी पूर्व गाथाओं के समान समझ लेनी चाहिए।

फिर कहते हैं–

गंधे अतित्ते व परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥ ५५ ॥

गन्धेऽतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपासक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य, लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥ ५५ ॥

पदार्थान्वयः–**गंधे**–गन्ध के विषय में, **अतित्ते**–अतृप्त, **य**–और, **परिग्गहम्मि**–परिग्रह मे, **सत्तोवसत्तो**–सामान्य और विशेष रूप से आसक्त, **तुट्ठिं**–सन्तोष को, **न उवेइ**–प्राप्त नही होता, **अतुट्ठिदोसेण**–अतुष्टिदोष से, **दुही**–दुःखी हुआ, **परस्स**–पर के पदार्थ को, **लोभाविले**–लोभ के

वशीभूत हुआ, **अदत्तं**—नहीं दिए हुए को, **आययई**—ग्रहण करता है।

मूलार्थ—गंध में अतृप्त और परिग्रह में सामान्य-विशेषरूप से आसक्त रहने वाला जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं होता और बढ़े हुए असंतोष से दु.खी होता हुआ लोभ के वशीभूत होकर पर के पदार्थों को चुराने लग जाता है।

टीका—गन्धानुरागी जीव सन्तोष को प्राप्त नही होता। इसी से वह दूसरों के सुगन्धमय पदार्थों को ग्रहण करने की लालसा से आकृष्ट हुआ चौर्य-कर्म मे प्रवृत्त हो जाता है।

अब फिर कहते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, गंधे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ५६ ॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः, गन्धेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया-मृषा वर्धते लोभदोषात्, तत्रापि दु.खान्न विमुच्यते स. ॥ ५६ ॥

पदार्थान्वयः—**तण्हाभिभूयस्स**—तृष्णा के वशीभूत, **अदत्तहारिणो**—अदत्त का लेने वाला, **गंधे**—गन्ध मे, **अतित्तस्स**—अतृप्त, **य**—और, **परिग्गहे**—परिग्रह में आसक्त, **लोभदोसा**—लोभ के दोष से, **मायामुसं**—माया और मृपावाद को, **वड्ढइ**—बढ़ाता है, **तत्थावि**—फिर भी, **से**—वह, **दुक्खा**—दु.ख से, **न विमुच्चई**—मुक्त नही होता—नही छूटता है।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत हुआ, चोरी करने वाला, गन्ध में अतृप्त और परिग्रह में मूर्च्छित जीव लोभ के दोष से माया और मृषावाद की वृद्धि करता है, परन्तु फिर भी वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।

टीका—इस पर जो कुछ वक्तव्य था वह पहली गाथा मे कह दिया गया है।

अब फिर कहते हैं—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, गंधे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ५७ ॥

मृषा-(वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्त· ।
एवमदत्तानि समाददानः, गन्धेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्र· ॥ ५७ ॥

पदार्थान्वय.—**मोसस्स**—मृषावाद के, **पच्छा**—पश्चात्, **य**—और, **पुरत्थओ**—पहले, **य**—तथा, **पओगकाले**—प्रयोगकाल में, **दुरंते**—दुष्ट अन्तःकरण वाला, **दुही**—दुःखी होता है, **एवं**—इसी प्रकार, **अदत्ताणि**—अदत्त का, **समाययंतो**—ग्रहण करता हुआ, **गंधे**—गन्ध के विषय में, **अतित्तो**—अतृप्त, **दुहिओ**—दुखित होता है, **अणिस्सो**—असहाय।

मूलार्थ—मृषा-भाषण के पश्चात् या पहले तथा बोलने के समय दुरन्त—दुष्ट-अन्तःकरण वाला, अथवा नासिका को वश में न करने वाला जीव अवश्य दुःखी होता है तथा चौर्यकर्म

मे प्रवृत्त और गन्ध में अतृप्त रहने वाला जीव भी सहायशून्य होकर दुःखी होता है।

टीका--प्रस्तुत गाथा मे मिथ्या भाषण और अदत्तापहरण का दुःखरूप जो कटु परिणाम है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। इस गाथा के विशेष अभिप्राय को पूर्व गाथा में कह दिया गया है, इसलिए यहा पर नही लिखा गया।

अब उक्त विषय का निगमन करते हुए फिर कहते हैं--

गंधाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥ ५८ ॥

गन्धानुरक्तस्य नरस्यैवं, कुतः सुखं भवेत्कदापि किञ्चित् ।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं, निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥ ५८ ॥

पदार्थान्वयः--एवं--इस प्रकार, **गंधाणुरत्तस्स**--गन्ध के विषय मे अनुरक्त, **नरस्स**--पुरुष को, **कत्तो**--कहां से, **सुहं**--सुख, **होज्ज**--होवे, **कयाइ**--कदाचित्, **किंचि**--यत्किंचित् भी, **तत्थोवभोगे वि**--वहां पर उपभोग मे भी, **किलेस**--क्लेश--और, **दुक्खं**--दुःख को, **निव्वत्तई**--उत्पन्न करता है, **जस्स**--जिसके, **कएण**--लिए, **दुक्खं**--दु ख को।

मूलार्थ--गन्धविषयक अनुराग रखने वाले पुरुष को कदाचित् लेशमात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, तथा जिसके लिए वह कष्ट उठाता है उसके उपभोगकाल में भी वह क्लेश और दुःख का ही उपार्जन करता है।

टीका--इस गाथा की व्याख्या भी पूर्व गाथाओं के समान समझ लेनी चाहिए।

अब द्वेष के विषय में कहते है, यथा--

एमेव गंधम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ५९ ॥

एवमेव गन्धे गतः प्रद्वेषम्, उपैति दुःखौघपरम्पराः ।
अदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥ ५९ ॥

पदार्थान्वयः--एमेव--इसी प्रकार, **गंधम्मि**--गन्ध के विषय में, **पओसं**--प्रद्वेष को, **गओ**--प्राप्त हुआ, **दुक्खोह**--दुःखसमूह की, **परंपराओ**--परम्परा को, **उवेइ**--पाता है, **य**--फिर, **पदुट्ठचित्तो**--दुष्ट है चित्त जिसका--दूषित चित्त वाला, **कम्म**--कर्म का, **चिणाइ**--उपार्जन करता है, **जं**--जो कर्म, **से**--वही कर्म उसके लिए, **विवागे**--विपाक-समय मे, **दुहं**--दुःखरूप होता है।

मूलार्थ--इसी प्रकार गन्ध-विषयक विशिष्ट द्वेष को प्राप्त होने वाला पुरुष भी दुःख-समुदाय की परम्परा को प्राप्त होता है, फिर वह दूषित मन से जिस कर्म का उपार्जन करता है वही कर्म उसके लिए फल देने के समय दुःख-रूप हो जाता है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या भी पूर्व की भाँति ही जान लेनी चाहिए।

अब राग-द्वेष के त्याग से प्राप्त होने वाले गुण के विषय में कहते हैं—

गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ६० ॥

गन्धे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥ ६० ॥

पदार्थान्वयः—**गंधे**—गन्ध रूप विषय से, **विरत्तो**—विरक्त, **मणुओ**—मनुज, **विसोगो**—शोक-रहित हुआ, **एएण**—इस, **दुक्खोहपरंपरेण**—दुःख-समूह की परम्परा से, **न लिप्पई**—लिप्त नहीं होता, **भवमज्झे वि संतो**—संसार में रहता हुआ भी, **वा**—जैसे, **जलेण**—जल से, **पोक्खरिणीपलासं**—कमल-पत्र लिप्त नही होता।

मूलार्थ—जैसे जल में रहता हुआ भी कमल-पत्र जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार गन्धरूप विषय से विरक्त एवं शोकरहित मनुष्य संसार में रहता हुआ भी उक्त प्रकार की दुःखपरम्परा से लिप्त नहीं होता, अर्थात् राग-द्वेष से रहित होने पर उसको किसी प्रकार की भी सासारिक दुःख-बाधा नहीं पहुँचती।

टीका—विरक्त अर्थात् राग-द्वेष से रहित आत्मा ही शोक से रहित हो सकती हे तथा गन्धादि [illegible]यो में अनासक्त होने के कारण वह संसार मे रहती हुई भी पद्मपत्र की तरह उसमे अलिप्त रहती [illegible]। तात्पर्य यह है कि उसका कर्मानुष्ठान किसी प्रकार से भी बन्ध का हेतु नहीं होता। इस प्रकार इन [illegible]र्वोक्त १३ गाथाओं के द्वारा घ्राण-विषयक वर्णन किया गया है।

अब शास्त्रकार रसना के विषय में कहते हैं, यथा—

जिब्भाए रस गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ६१ ॥

जिह्वाया रसं ग्रहणं वदन्ति, तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः ।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः, समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥ ६१ ॥

पदार्थान्वयः—**जिब्भाए**—जिह्वा का, **रसं**—रस को, **गहणं**—ग्राह्य, **वयंति**—कहते है—तीर्थङ्करादि, **तं**—उस, **मणुन्नं**—मनोज्ञ को, **रागहेउं**—राग का हेतु, **आहु**—कहा है, **अमणुन्नं**—अमनोज्ञ, **तं**—उस रस को, **दोसहेउं**—द्वेष का हेतु, **आहु**—कहा है, **जो**—जो, **तेसु**—उन दोनों प्रकार के रसों में, **समो**—समभाव रखता है, **से**—वह, **वीयरागो**—वीतराग होता है।

मूलार्थ—तीर्थंकरादि ने रस को जिह्वा का ग्राह्य कहा है, वह रस यदि मनोज्ञ अर्थात् मन के लिए आकर्षक हो तो वह राग का हेतु बन जाता है और अमनोज्ञ को द्वेष का कारण

बताया गया है, परन्तु इन दोनों प्रकार के रसों में जो समान भाव रखता है, वही वीतराग अर्थात् राग-द्वेष से रहित है।

टीका—प्रस्तुत गाथा का भावार्थ पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

अब इन दोनों का अर्थात् इन्द्रिय और विषय का पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए फिर कहते हैं—

रसस्स जिब्भं गहणं वयंति, जिब्भाए रसं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं अमणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ ६२ ॥

रसस्य जिह्वां ग्राहिकां वदन्ति, जिह्वाया रसं ग्राह्यं वदन्ति ।
रागस्य हेतु समनोज्ञमाहुः, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहु. ॥ ६२ ॥

पदार्थान्वयः—**जिब्भं**—जिह्वा को, **रसस्स**—रस का, **गहणं**—ग्राहक, **वयति**—कहते है और, **रसं**—रस को, **जिब्भाए**—जिह्वा का, **गहणं**—ग्राह्य, **वयंति**—कहते है, **समणुन्नं**—मनोज्ञ रस को, **रागस्स**—राग का, **हेउं**—हेतु, **आहु**—कहा है, **अमणुन्नं**—अमनोज्ञ रस को, **दोसस्स**—द्वेष का, **हेउं**—हेतु, **आहु**—कहा है।

मूलार्थ—रस को जिह्वा ग्रहण करती है और रस जिह्वा का ग्राह्य है, वह रस यदि मनोज्ञ हो तो राग का हेतु होता है और अमनोज्ञ होने पर द्वेष का कारण बन जाता है, ऐसा तीर्थंकरादि महापुरुष कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे भी रस और रसना-इन्द्रिय के ग्राह्य-ग्राहकभाव का दिग्दर्शन कराते हुए रस की मनोज्ञता एव अमनोज्ञता को राग-द्वेष का हेतु बताया गया है। शेष भाव पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

अब रस-विषयक बढ़े हुए राग का दोष बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए, मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥ ६३ ॥

रसेषु यो गृद्धिमृपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरो बडिशविभिन्नकायः, मत्स्यो यथाऽऽमिषभोगगृद्धः ॥ ६३ ॥

पदार्थान्वयः—**जो**—जो, **रसेसु**—रसो मे, **तिव्वं**—अति उत्कट, **गिद्धिं**—मूर्छा को, **उवेइ**—प्राप्त होता है, **से**—वह, **अकालियं**—अकाल मे ही, **विणासं**—विनाश को, **पावइ**—पाता है, **रागाउरे**—रागातुर, **बडिसविभिन्नकाए**—बडिश अर्थात् लोहमय कंटक से वेधा गया है शरीर जिसका ऐसा, **मच्छे**—मत्स्य, **जहा**—जैसे, **आमिसभोगगिद्धे**—मास के भोग में मूर्च्छित होता है।

मूलार्थ—जो मनुष्य रस का अत्यन्त रागी है, अर्थात् रस में अत्यन्त आसक्त रहता है वह अकाल में ही ऐसे विनाश को प्राप्त हो जाता है, जैसे राग से आतुर हुआ मत्स्य मांस के लोभ

से ग्रस्त होने पर लोहमय कंटक से विभिन्नकाय होकर विनाश को प्राप्त होता है।

टीका—जो पुरुष रसों में अत्यन्त मूर्च्छित अर्थात् आसक्त है वह मांस के टुकड़े में आसक्त होने वाले मच्छ की भांति शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। मत्स्य के विनाश का कारण उसकी बढ़ी हुई रसासक्ति ही तो है। जैसे मत्स्य पकड़ने वाले लोहे के कांटे मे मांस का टुकड़ा लगाकर उसको जल में फैक देते हैं, उस मांस के टुकडे को खाने के लिए मत्स्य आते है, जब वह उनके मुख मे जाता है तब मास के अन्दर जो लोहे का काटा है वह उनके गले में फंस जाता है, उससे वे बाहर खिंचे चले आते हैं और बाहर आते ही मृत्यु को प्राप्त करते है।

तात्पर्य यह है कि यदि मत्स्यों के अन्दर मास की लोलुपता न होती तो वे विनाश को प्राप्त न होते। इसी प्रकार जो जीव रसों मे अत्यन्त मूर्च्छित हो जाता है वह अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव करता हुआ अकाल में ही विनष्ट हो जाता है।

इस प्रकार राग-जन्य अनर्थ का वर्णन करके अब द्वेष के विषय में कहते हैं, यथा—

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि रसं अवरज्झई से ॥ ६४ ॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं, तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः, न किञ्चिद्रसोऽपराध्यति तस्य ॥ ६४ ॥

पदार्थान्वय.—जे यावि—जो कोई, **तिव्वं**—तीव्र, **दोसं**—द्वेष को, **समुवेइ**—प्राप्त करता है, **से**—वह, **तंसि क्खणे**—उसी क्षण मे, **उ**—वितर्क अर्थ में है, **दुक्खं**—दु:ख को, **उवेइ**—पाता है, **सएण**—अपने, **दुद्दंतदोसेण**—दुर्दान्त दोष से, **जंतू**—जीव-दु:ख को प्राप्त होता है, **से**—उसका, **रसं**—रस, **किंचि**—किंचिन्मात्र भी, **न अवरज्झई**—अपराध नही करता।

मूलार्थ—जो जीव रसविषयक अत्यन्त द्वेष को प्राप्त होता है वह स्वकृत दुर्दान्त अपराध से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त हो जाता है, इसमें रस का कोई अपराध नहीं है।

टीका—उक्त गाथा का तात्पर्य यह है कि जीव के दु:खी होने का कारण उसके अन्दर रहा हुआ उत्कट द्वेष ही है, उसी के कारण वह दु:ख को प्राप्त होता है। अप्रिय रस का इसमे कोई दोष नहीं, अर्थात् वह दु ख का हेतु नहीं है।

रसों में आसक्ति और अनासक्ति रखने वाले जीव को जिस दोष और गुण की प्राप्ति होती है, अब शास्त्रकार उसके विषय में कहते हैं, यथा—

एगंतरत्ते रुइरे रसम्मि, अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥ ६५ ॥

एकान्तरक्तो रुचिरे रसे, अतादृशे सः कुरुते प्रद्वेषम् ।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः, न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥ ६५ ॥

पदार्थान्वयः—**एगंतरत्ते**—एकान्त रक्त, **रुइरे**—रुचिर, **रसम्मि**—रस में, **से**—वह, **अतालिसे**—अमनोहर रस में, **पओसं**—प्रद्वेष को, **कुणई**—करता है, **दुक्खस्स**—दुःख-सम्बन्धी, **संपीलं**—पीडा को, **उवेइ**—प्राप्त होता है, **बाले**—अज्ञानी, **तेण**—उस पीड़ा से, **विरागो**—विरक्त, **मुणी**—मुनि, **न लिप्पई**—लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जो जीव मनोहर रसों में अत्यन्त आसक्त होता है और अमनोहर रसों में अत्यन्त द्वेष रखता है, वह अज्ञानी जीव दुःखों एवं बाधाओं से अत्यन्त पीड़ित होता है, किन्तु रसों से विरक्त मुनि दुःखों बाधाओं से लिप्त नहीं होता, अर्थात् उसको दुःखों का सम्पर्क प्राप्त नहीं हो पाता।

टीका—इस गाथा के भाव को भी पूर्व गाथाओं के भाव के समान ही समझ लेना चाहिए।

अब राग से उत्पन्न होने वाले अन्य अनर्थों का वर्णन करते है, यथा—

रसाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ ६६ ॥

रसानुगाशानुगतश्च जीव·, चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान् ।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्ट ॥ ६६ ॥

पदार्थान्वय—**रसाणुगासाणुगए**—रस की आशा के पीछे भागता हुआ, **जीवे**—जीव, **अणेगरूवे**—अनेक जाति के, **चराचरे**—जगम और स्थावर प्राणियों की, **हिंसइ**—हिसा करता है तथा, **चित्तेहि**—नानाविध शस्त्रों से, **ते**—उन जीवो को, **परितावेइ**—परिताप पहुचाता है, **पीलेइ**—पीडा देता है, **बाले**—अज्ञानी जीव, **अत्तट्ठगुरू**—स्वार्थ-परायण, **किलिट्ठे**—क्लेश पाता हुआ।

मूलार्थ—राग के वशीभूत हुआ स्वार्थ-परायण अज्ञानी जीव रस की आशा के पीछे भागता हुआ और क्लेश पाता हुआ अनेक प्रकार के जंगम और स्थावर जीवों की हिसा करने मे प्रवृत्त हो जाता है तथा नाना प्रकार के शस्त्रों से उनको परिताप देता है और पीड़ा पहुंचाता है।

टीका—इस गाथा मे रसों में अत्यन्त मूर्छित हुआ अज्ञानी जीव अपना कितना अहित करता है, इस बात का दिग्दर्शन भली-भांति करा दिया गया है, वस्तुत. हिसा का कारण रस-लोलुपता ही है। रस-लोलुप लोग ही अनेक जीवो को मारकर उनके मास को खाते हैं। पेट भरने के लिए फल-अन्न आदि खाना तो जीवन के लिए अनिवार्य है, परन्तु मांसाशन केवल जीभ की आस्वाद-आसक्ति ही मानी जाती है। अन्य व्याख्या पूर्व की भाति जान लेनी चाहिए।

अब फिर कहते हैं —

रसाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥ ६७ ॥

रसानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य, संभोगकाले चातृप्तिलाभः ॥ ६७ ॥

पदार्थान्वयः—**रसाणुवाएण**—रस के अनुराग से, **परिग्गहेण**—रस मे मूर्छित होने से, **उप्पायणे**—रस के उत्पादन मे, **रक्खणसंनिओगे**—रक्षण और सन्नियोग मे, **वए**—विनाश मे, **विओगे**—वियोग में, **से**—उस रागी जीव को, **कहं**—कैसे, **सुहं**—सुख हो सकता है, **य**—फिर, **संभोगकाले**—सभोगकाल मे, **अतित्तलाभे**—अतृप्ति का लाभ होने पर वह दुःख ही पाता है।

मूलार्थ—रसविषयक अत्यन्त राग और मूर्च्छा से रस के उत्पादन, रक्षण और सन्नियोग में लगे हुए रागी पुरुष को सुख कहां प्राप्त हो सकता है, अपितु उनका विनाश एवं वियोग होने पर और संभोग-काल में भी तृप्ति का लाभ न होने पर उसको दुःख ही होता है।

टीका—रसों में मूर्च्छित होने वाला पुरुष किसी समय में भी सुखी नहीं हो सकता, रसासक्त सदैव दु ख पाता है, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

पुन. उक्त विषय में ही कहते हैं—

रसे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ॥ ६८ ॥

रसेऽतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य, लोभाविले आदत्तेऽदत्तम् ॥ ६८ ॥

पदार्थान्वयः—**रसे अतित्ते**—रस के विषय में अतृप्त, **य**—और, **परिग्गहम्मि**—परिग्रह मे, **सत्तोवसत्तो**—सामान्य एवं विशेषरूप से आसक्त, **तुट्ठिं**—तुष्टि को, **न उवेइ**—प्राप्त नहीं होता, **अतुट्ठिदोसेण**—अतुष्टि-दोष से, **दुही**—दुःखी हुआ, **परस्स**—अन्य के पदार्थ को, **लोभाविले**—लोभ के वशीभूत होकर, **अदत्तं**—अदत्त को, **आययई**—ग्रहण करने लगता है।

मूलार्थ—रस के विषय मे अतृप्त और परिग्रह में सामान्य एवं विशेषरूप से आसक्त हुआ जीव तुष्टि अर्थात् सन्तोष को प्राप्त नहीं होता तथा अतृप्ति दोष से दुःखी हुआ लोभ के वश में आकर दूसरों के पदार्थों की चोरी करने लग जाता है।

टीका—लोभ के वशीभूत हुआ असन्तोषी जीव चोरी आदि पाप के करने में प्रवृत्त हो जाता है, यही भाव इस गाथा में प्रदर्शित किया गया है।

अब लोभ-वृद्धि का फल वर्णन करते हुए फिर कहते हैं, यथा—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रसे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ६९ ॥

तृष्णाभिभूतस्यादत्तहारिणः, रसेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
मायामृषा वर्धते लोभदोषात्, तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥ ६९ ॥

पदार्थान्वयः–तण्हाभिभूयस्स–तृष्णा के वशीभूत, **अदत्तहारिणो**–अदत्त का अपहरण करने वाला, **रसे**–रसविषयक, **य**–और, **परिग्गहे**–परिग्रहविषयक, **अतित्तस्स**–अतृप्त का, **लोभदोसा**–लोभ के दोष से, **मायामुसं**–माया और मृषावाद, **वड्ढइ**–बढ़ जाता है, **तत्थावि**–तो भी अर्थात् छल-कपट और असत्य भाषण किए जाने पर भी, **से**–वह, **दुक्खा**–दुःख से, **न विमुच्चई**–मुक्त नही होता।

मूलार्थ–तृष्णा के वशीभूत, चोरी में प्रवृत्त, रस और परिग्रह में अतृप्त रहने वाला पुरुष लोभ के दोष से छल-कपट और असत्य भाषण की वृद्धि करता है, परन्तु दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।

टीका–तृष्णावृद्धि का फल माया और मृषावाद की वृद्धि होना है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष तृष्णा के वशीभूत होकर रसो के परिग्रह मे प्रवृत्ति करता है वह माया और मृषावाद को ही बढाता है।

अब फिर कहते हैं–

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ७० ॥

मृषा-(वादस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः, रसेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥ ७० ॥

पदार्थान्वयः–मोसस्स–मृषावाद के, **पच्छा**–पीछे, **य**–और, **पुरत्थओ**–पहले, **य**–तथा, **पओगकाले**–प्रयोगकाल में–बोलने के समय में, **दुरंते**–दुरन्त जीव, **दुही**–दुःखी होता है, **एवं**–इसी प्रकार, **अदत्ताणि**–अदत्त को, **समाययतो**–ग्रहण करता हुआ, **रसे**–रस में, **अतित्तो**–अतृप्त, **दुहिओ**–दुःखित होता है और, **अणिस्सो**–सहायता से रहित होता है।

मूलार्थ–दुरन्त अर्थात् दुष्ट प्रवृत्ति वाला जीव मिथ्याभाषण के पहले और पीछे तथा बोलने के समय भी दुःखी होता है। इसी प्रकार अदत्त का ग्रहण करने वाला (चोर) और रस के विषय में अतृप्त रहने वाला भी दुःखित और आश्रय से रहित होता है।

टीका–असत्यभाषी, चोरी करने वाला और रसों का लालची जीव किसी दशा मे भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता, यही इस गाथा का तात्पर्य है।

अब फिर इसी सम्बन्ध में कहते है–

रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥ ७१ ॥

रसानुरक्तस्य नरस्यैवं, कुतः सुखं स्यात् कदापि किञ्चित् ।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखं, निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥ ७१ ॥

पदार्थान्वयः–रसाणुरत्तस्स–रसों में अनुरक्त, **नरस्स**–मनुष्य को, **एवं**–उक्त प्रकार से, **कत्तो**–कहा

से, **सुहं**–सुख, **होज्ज**–हो सकता है, **कयाइ**–कदाचित् भी, **किंचि**–किंचिन्मात्र भी, **तत्थोवभोगे वि**–रसों के उपभोगकाल में भी, **किलेसदुक्खं**–क्लेश और दुःख को ही, **निव्वत्तई**–सम्पादन करता है।

मूलार्थ–रसों में आसक्त होने वाले पुरुष को कभी और किंचिन्मात्र भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता, अपितु रसों के उपभोग के समय में भी उसको क्लेश और दुःख का ही अनुभव करना पड़ता है।

टीका–भावार्थ स्पष्ट है, अतः व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।

अब द्वेष के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा–

एमेव रसम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ७२ ॥

एवमेव रसे गत. प्रद्वेषम्, उपैति दुःखौघपरम्परा· ।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥ ७२ ॥

पदार्थान्वय.–**एमेव**–इसी प्रकार, **रसम्मि**–रसो में, **पओसं**–उत्कट द्वेष को, **गओ**–प्राप्त हुआ, **दुक्खोहपरंपराओ**–दुःखसमूह की परम्परा को, **उवेइ**–प्राप्त होता है, **पदुट्ठचित्तो**–दुष्टचित्त होकर अर्थात् वह उस, **कम्मं**–कर्म को, **चिणाइ**–एकत्रित करता है, **जं**–जिस कर्म से, **से**–उसको, **पुणो**–फिर, **विवागे**–विपाककाल मे, **दुह**–दुःख, **होइ**–होता है।

मूलार्थ–इसी प्रकार रस के विषय मे उत्कट द्वेष को प्राप्त होने वाला जीव भी दुःख-समुदाय की परम्परा का अनुभव करता है तथा दूषित चित्त से वह जिस कर्म का उपार्जन करता है वही कर्म विपाककाल में उसके लिए दुःखरूप हो जाता है।

टीका–इस गाथा की टीका के लिए जो कुछ वक्तव्य था उसका उल्लेख पूर्वोक्त गाथाओ मे हो चुका है।

अब उक्त विषय में राग-द्वेष के त्याग का फल बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं–

रसे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ७३ ॥

रसे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥ ७३ ॥

पदार्थान्वयः–**रसे विरत्तो**–रसो में विरक्त, **मणुओ**–मनुष्य, **विसोगो**–शोक से रहित, **एएण**–इस, **दुक्खोहपरंपरेण**–दुःखसमूह की परम्परा से, **भवमज्झे**–संसार मे, **वि सतो**–होता हुआ भी, **न लिप्पई**–लिप्त नहीं होता, **वा**–जैसे, **जलेण**–जल से, **पोक्खरिणीपलासं**–कमलिनी का पत्र लिप्त

नहीं होता।

मूलार्थ—जो मनुष्य रसों में विरक्त और शोक से रहित है वह संसार में रहता हुआ भी इस दुःख-परपरा से अलिप्त रहता है, अर्थात् सभी प्रकार के दुःखों का उससे इस प्रकार सम्पर्क नहीं होता, जैसे जल से कमल-दल अलिप्त रहता है। तात्पर्य यह है कि जैसे जल में रहने वाला कमल-पत्र जल में रहता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार रसादिविषयक अनासक्ति रखने वाला पुरुष भी सांसारिक दुःखों से व्याप्त नहीं होता।

टीका—गाथा का भावार्थ स्पष्ट है।

अब स्पर्श-इन्द्रिय के विषय में कहते हैं, यथा—

कायस्स फासं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ७४ ॥

कायस्य स्पर्श ग्रहणं वदन्ति, तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः ।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः, समश्च यस्तेषु स वीतराग. ॥ ७४ ॥

पदार्थान्वयः—कायस्स—काया का, **फासं**—स्पर्श को, **गहणं**—ग्राह्य, **वयंति**—कहते है, **त**—उस, **मणुन्नं**—मनोज्ञ स्पर्श को, **रागहेउं**—राग का हेतु, **आहु**—कहा गया है, **तु**—वितर्क में है, **त**—उस, **अमणुन्नं**—अमनोज्ञ को, **दोसहेउं**—द्वेष का हेतु, **आहु**—कहा गया है, **जो**—जो, **तेसु**—उनमे, **समो**—सम भाव रखता है, **स**—वह, **वीयरागो**—वीतराग होता है।

मूलार्थ—काया का ग्राह्य विषय स्पर्श माना गया है। उसमें मनोज्ञ स्पर्श को राग का हेतु और अमनोज्ञ को द्वेष का कारण बताया गया है, परन्तु इन दोनों प्रकार के स्पर्शों में जो सम भाव रखने वाला है वही वीतराग है।

टीका—प्रिय स्पर्श राग का कारण और अप्रिय द्वेष का हेतु है, ऐसा तीर्थकरादि महापुरुषों का कथन है, परन्तु यह कथन राग-द्वेषयुक्त आत्मा की अपेक्षा से है। कारण यह है कि उसी में प्रियाप्रिय के स्पर्श से राग-द्वेष के उत्पन्न होने की सभावना रहती है। जो वीतराग आत्मा है उसको तो दोनों मे ही समानता प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि वह प्रिय और अप्रिय दोनों में ही सम भाव रखने वाला होता है।

अब इनके पारस्परिक सम्बन्ध आदि का वर्णन करते हैं, यथा—

फासस्स कायं गहणं वयंति, कायस्स फासं गहणं वयति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ ७५ ॥

स्पर्शस्य कायं ग्राहकं वदन्ति, कायस्य स्पर्शं ग्राह्यं वदन्ति ।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः ॥ ७५ ॥

पदार्थान्वयः–**कायं**–काया को, **फासस्स**–स्पर्श का, **गहणं**–ग्राहक, **वयंति**–कहते है और, **फासं**–स्पर्श को, **कायस्स**–काया का, **गहणं**–ग्राह्य, **वयंति**–कहते है, **समणुन्नं**–मनोज्ञ स्पर्श को, **रागस्स हेउं**–राग का हेतु, **आहु**–कहा गया है, **अमणुन्नं**–अमनोज्ञ स्पर्श को, **दोसस्स हेउ**–द्वेष का हेतु, **आहु**–कहा गया है।

मूलार्थ–काया अर्थात् त्वक् स्पर्श का ग्राहक है और स्पर्श काया का ग्राह्य है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों का आपस में ग्राह्य-ग्राहकभाव सम्बन्ध है, इनमें जो मनोज्ञ स्पर्श है वह तो राग का हेतु है और जो अमनोज्ञ है वह द्वेष का कारण होता है।

टीका–स्पर्श के शीतोष्णादिरूप से अनेक भेद है।

अब स्पर्श-विषयक बढ़े हुए राग के फल का वर्णन करते हैं, यथा–

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे सीयजलावसन्ने, गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥ ७६ ॥

स्पर्शेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुर. शीतजलावसन्नः, ग्राहगृहीतो महिष इवारण्ये ॥ ७६ ॥

पदार्थान्वय.–**जो**–जो, **फासेसु**–स्पर्शविषयक, **तिव्व**–तीव्र रूप से, **गिद्धिं**–मूर्च्छाभाव को, **उवेइ**–प्राप्त होता है, **से**–वह, **अकालियं**–अकाल मे ही, **विणासं**–विनाश को, **पावइ**–प्राप्त हो जाता है, **रागाउरे**–राग से आतुर हुआ, **सीयजलावसन्ने**–शीतल जल में निमग्न, **व**–जैसे, **अरण्णे**–वन मे, **गाहग्गहीए**–ग्राह के द्वारा पकडा हुआ, **महिसे**–महिष–भैसा–विनाश को प्राप्त हो जाता है।

मूलार्थ–जैसे वन के जलाशय मे शीतल जल के स्पर्श में अत्यन्त मूर्छित हुआ महिष ग्राह अर्थात् मगरमच्छ के द्वारा पकड़ा जाने पर विनाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार मनोज्ञ स्पर्श के विषय मे अत्यन्त आसक्त होने वाला पुरुष भी अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

टीका–यहां पर महिष के साथ जो अरण्यवर्ती जलाशय का ग्रहण किया है उसका तात्पर्य यह है कि यदि वह नगर के समीपवर्ती किसी जलाशय में होगा तो कोई न कोई उसको मृत्यु के मुख से छुड़ाने का प्रयत्न भी कर सकता है, परन्तु वन मे उसका बन्धन से मुक्त कराने वाला कोई नही है, इसलिए उसका विनाश अवश्यम्भावी है।

अब अमनोज्ञ स्पर्श के विषय में बढ़े हुए द्वेष के फल का वर्णन करते हैं, यथा–

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जन्तू, न किंचि फासं अवरज्झई से ॥ ७७ ॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं, तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः, न किञ्चित्स्पर्शोऽपराध्यति तस्य ॥ ७७ ॥

पदार्थान्वयः—**जे यावि**—जो भी साधक अप्रिय स्पर्श मे, **तिव्वं**—अत्युत्कट, **दोसं**—द्वेष, **समुवेइ**—करता है, **से**—वह, **तंसि क्खणे**—उसी क्षण में, **दुक्खं**—दुःख को, **उवेइ**—प्राप्त हो जाता है, **सएण**—स्वकृत, **दुद्दंतदोसेण**—दुर्दमनीय दोष से, **जंतू**—जीव—दुःख पाता है, **से**—उसका, **फासं**—स्पर्श, **किंचि**—यत्किंचित् भी, **न अवरज्झई**—अपराध नहीं करता।

मूलार्थ—जो साधक अप्रिय स्पर्श के विषय में तीव्र भाव से द्वेष को करता है वह स्वकृत दुर्दमनीय दोष से उसी क्षण में दुःख को प्राप्त हो जाता है, परन्तु अप्रिय स्पर्श उसका किंचिन्मात्र भी अपराध नहीं करता, तात्पर्य यह है कि इस दुःखोत्पत्ति का कारण उसका अपना अन्दर बढ़ा हुआ द्वेष है, इसमे अप्रिय स्पर्श का कोई अपराध नहीं है।

टीका—प्रस्तुत गाथा का तात्पर्य स्पष्ट है, पूर्व गाथाओं के समान होने से।

अब राग-द्वेष और उसकी निवृत्ति के फल का वर्णन करते हुए शास्त्रकार इसी विषय में फिर कहते हैं, यथा –

एगंतरत्ते रुइरंसि फासे, अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥ ७८ ॥

एकान्तरक्तो रुचिरे स्पर्शे, अतादृशे सः कुरुते प्रद्वेषम् ।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः, न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥ ७८ ॥

पदार्थान्वयः—**रुइरंसि**—रुचिर, **फासे**—स्पर्श मे जो, **एगतरत्ते**—अत्यन्त अनुरक्त है और, **अतालिसे**—अमनोहर स्पर्श में, **पओसं**—अत्यन्त द्वेष, **कुणई**—करता है, **से**—वह, **दुक्खस्स संपीलं**—दुःख सम्बन्धी पीड़ा को, **उवेइ**—प्राप्त होता है, **बाले**—अज्ञानी, **तेण**—उस पीडा से, **विरागो**—विरक्त, **मुणी**—मुनि, **न लिप्पई**—लिप्यमान नहीं होता।

मूलार्थ—जो मनुष्य प्रिय स्पर्श में अत्यन्त आसक्त है और अप्रिय स्पर्श में अत्यन्त द्वेष रखता है वह अज्ञानी जीव ही दुःखसम्बन्धी पीड़ा को प्राप्त होता है। जो विरक्त मुनि है वह इस दुःखसम्बन्धी पीड़ा से लिप्त नहीं होता।

टीका—भावार्थ स्पष्ट है।

अब बढ़े हुए राग से होने वाले हिंसादि अनर्थो का वर्णन करते हैं—

फासाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ ७९ ॥

स्पर्शानुगाशानुगतश्च जीवः, चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान् ।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥ ७९ ॥

पदार्थान्वयः—**फासाणुगासाणुगए**—सुन्दर स्पर्श की आशा के पीछे भागता हुआ, **जीवे**—जीव,

य–फिर, **चराचरे**–जगम और स्थावर, **अणेगरूवे**–अनेक जाति के जीवो की, **हिंसइ**–हिंसा करता है, **चित्तेहि**–नाना प्रकार के शस्त्रों से, **बाले**–अज्ञानी जीव, **ते**–उन, जीवों को, **परितावेइ**–परिताप देता है, **पीलेइ**–पीड़ा पहुचाता है, **अत्तट्ठगुरू**–अपने स्वार्थ के लिए, **किलिट्ठे**–राग से आकर्षित हुआ।

मूलार्थ–सुन्दर स्पर्श की आशा के पीछे भागता हुआ यह अज्ञानी जीव अनेक प्रकार के जंगम और स्थावर जीवों की हिंसा करता है तथा राग से आकर्षित हुआ स्वार्थ के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के शस्त्रादि-प्रयोगों से उन जीवों को परिताप देता है और पीड़ा पहुंचाता है।

टीका–इस गाथा की व्याख्या भी पहले की जा चुकी है।

अब फिर कहते हैं–

फासाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥ ८० ॥

स्पर्शानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य, सम्भोगकाले चातृप्तिलाभे ॥ ८० ॥

पदार्थान्वयः–**फासाणुवाएण**–स्पर्श के अनुराग से, **परिग्गहेण**–परिग्रह से, **उप्पायणे**–उत्पादन मे, **रक्खणसंनिओगे**–रक्षण और संनियोग में, **वए**–विनाश होने पर, **विओगे**–वियोग में, **से**–उस रागी पुरुष को, **कहं**–कैसे, **सुहं**–सुख हो सकता है, **संभोगकाले**–संभोगकाल मे, **अतित्तलाभे**–तृप्ति का लाभ न होने से।

मूलार्थ–सुन्दर स्पर्श के अनुराग से और परिग्रह से स्पर्श के उत्पादन में, रक्षण मे, सन्नियोग में, व्यय होने पर, विनाश होने पर और संभोगकाल में तृप्ति न होने से उस रागी जीव को सुख कहां हो सकता है, अर्थात् उसे सुख की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती।

टीका–जो व्यक्ति स्पर्शादि के विषय मे अत्यन्त मूर्च्छित है उसको किसी समय भी सुख का प्राप्त होना कठिन है। इस विषय का अधिक विवेचन पीछे अनेक बार किया गया है, उसी के अनुसार यहा पर भी समझ लेना चाहिए।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं, यथा–

फासे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥ ८१ ॥

स्पर्शेऽतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य, लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥ ८१ ॥

पदार्थान्वयः–**फासे**–स्पर्श विषयक, **अतित्ते**–अतृप्त, **य**–तथा, **परिग्गहम्मि**–परिग्रह मे,

सत्तोवसत्तो–सामान्य एवं विशेषरूप से आसक्त, **तुट्ठिं**–सन्तोष को, **न उवेइ**–प्राप्त नहीं होता, **अतुट्ठिदोसेण**–असन्तोष के दोष से, **दुही**–दुःखी हुआ, **परस्स**–पर के स्पर्श को, **लोभाविले**–लोभाकुल होकर, **अदत्तं**–अदत्त को, **आययई**–ग्रहण करने लगता है।

मूलार्थ–स्पर्श के विषय में अतृप्त और परिग्रह में सक्तोपसक्त अर्थात् विशिष्ट आसक्ति रखने वाला पुरुष कभी सन्तोष को प्राप्त नहीं होता तथा असन्तोष के दोष से दुःखी होता हुआ लोभ के वशीभूत होकर दूसरों के अदत्त को ग्रहण करने लगता है, अर्थात् चोरी के कर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

टीका–स्पर्शादिविषयक बढे हुए असन्तोष से पुरुष कहां तक अनर्थ करने में प्रवृत्त होता है इस बात का दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में कराया गया है।

पुनः कहते है–

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, फासे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ८२ ॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः, स्पर्शेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया-मृषा वर्धते लोभदोषात्, तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥ ८२ ॥

पदार्थान्वयः–**तण्हाभिभूयस्स**–तृष्णा के वशीभूत, **अदत्तहारिणो**–अदत्त का अपहरण करने वाला, **फासे**–स्पर्श में, **अतित्तस्स**–अतृप्त, **य**–और, **परिग्गहे**–परिग्रह में लीन होकर, **लोभदोसा**–लोभ के दोष से, **मायामुसं**–माया और मृषावाद की, **वड्ढइ**–वृद्धि करता है, **तत्थावि**–माया और मृषावाद की वृद्धि से भी, **से**–वह, **दुक्खा**–दुःख से, **न विमुच्चई**–मुक्त नही होता।

मूलार्थ–तृष्णा से व्याप्त, अदत्त का अपहारक, स्पर्श में अतृप्त और परिग्रह मे मूर्च्छित होने वाला पुरुष लोभ के दोष से माया और मृषावाद की वृद्धि करता है, परन्तु फिर भी वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता, अर्थात् छुटकारा नहीं पा सकता।

टीका–इस गाथा की व्याख्या भी पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ८३ ॥

मृषा (वाक्यस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः, स्पर्शेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥ ८३ ॥

पदार्थान्वयः–**मोसस्स**–मृषावाद के, **पच्छा**–पश्चात्, **य**–और, **पुरत्थओ**–पहले, **य**–तथा, **पओगकाले**–प्रयोगकाल में, **दुरंते**–दुरन्त अर्थात् स्पर्श-इन्द्रिय के पराधीन जीव, **दुही**–दुःखी होता है, **एवं**–इसी प्रकार, **अदत्ताणि**–अदत्त का, **समाययंतो**–अगीकार करने वाला, **फासे**–स्पर्शविषयक,

अतित्तो–अतृप्त, **दुहिओ**–दु:खित, **अणिस्सो**–सहायक से रहित।

मूलार्थ–मिथ्याभाषण के पीछे और पहले तथा बोलते समय स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत होने वाला पुरुष दु:खी होता है। इसी प्रकार अदत्त का ग्रहण करने वाला जीव भी स्पर्श के विषय में अतृप्त होता हुआ दु:खी और सहाय से रहित हो जाता है।

टीका–मिथ्याभाषण और चोरी करने वाला जीव न तो कभी सुख को प्राप्त होता है और न ही उसको किसी के आश्रय की प्राप्ति होती है। विपरीत इसके वह दु:खी और असहाय होता है।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए फिर कहते है–

फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं ॥ ८४ ॥

स्पर्शानुरक्तस्य नरस्यैवं, कुतः सुखं भूयात्कदापि किञ्चित् ?
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदु:खं, निर्वर्तयति यस्य कृते दु:खम् ॥ ८४ ॥

पदार्थान्वयः–**एवं**–इस प्रकार, **फासाणुरत्तस्स**–स्पर्श मे अनुरक्त, **नरस्स**–पुरुष को, **कयाइ**–किसी काल मे, **किंचि**–किंचिन्मात्र भी, **कत्तो**–कहा से, **सुहं**–सुख, **होज्ज**–होवे, **तत्थ**–वहा स्पर्श में, **उवभोगे वि**–उपभोग के होने पर भी, **किलेसदुक्खं**–क्लेश और दु:ख को ही, **निव्वत्तई**–उत्पन्न करता है, **जस्स कए**–जिसके लिए आत्मा को, **दुक्खं**–दु:ख होता है, **ण**–वाक्यालंकार मे है।

मूलार्थ–स्पर्श में अनुरक्त रहने वाले पुरुष को किसी काल में किंचिन्मात्र भी सुख की प्राप्ति कहां से हो सकती है? क्योंकि वह स्पर्श के उपभोग मे भी क्लेश और दु:ख का ही सम्पादन करता है और परिणामस्वरूप उसकी आत्मा निरन्तर दु:ख का अनुभव करती है। तात्पर्य यह है कि स्पर्श के विषय में मूर्च्छित होने वाला जीव किसी समय भी सुख प्राप्त नहीं कर पाता।

टीका–भावार्थ स्पष्ट है।

अब द्वेष के विषय में कहते हैं, यथा–

एमेव फासम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ८५ ॥

एवमेव स्पर्शे गतः प्रद्वेषम्, उपैति दु:खौघपरम्पराः ।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य पुनर्भवति दु:खं विपाके ॥ ८५ ॥

पदार्थान्वयः–**एमेव**–इसी प्रकार, **फासम्मि**–स्पर्श मे, **पओसं**–उत्कट द्वेष को, **गओ**–प्राप्त हुआ, **दुक्खोहपरंपराओ**–दु:खसमूह की परम्परा को, **उवेइ**–पाता है, **पदुट्ठचित्तो**–दूषित-चित्त, **कम्मं**–कर्म को, **चिणाइ**–एकत्रित करता है, **जं**–जो कर्म, **से**–उसके लिए वह, **पुणो**–फिर,

विवागे—विपाककाल मे, **दुहं**—दु:खरूप, **होइ**—हो जाता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार स्पर्श-विषयक प्रद्वेष को प्राप्त हुआ जीव भी दु:ख-समूह की परम्परा को प्राप्त होता है और दुष्ट चित्त से वह उस कर्म का उपार्जन करता है जो विपाककाल में उसके लिए दु:ख का हेतुभूत हो जाता है।

टीका—तात्पर्य यह है कि दूषित अध्यवसाय से उपार्जन किया हुआ कर्म ही उसके लिए दु:खरूप हो जाता है।

अब राग-द्वेष के त्याग का फल वर्णन करते हुए फिर कहते है—

फासे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ८६ ॥

स्पर्शे विरक्तो मनुजो विशोक:, एतया दु:खौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥ ८६ ॥

पदार्थान्वय:—फासे—स्पर्श में, **विरत्तो**—विरक्त, **मणुओ**—मनुष्य, **विसोगो**—शोक से रहित, **एएण**—इस, **दुक्खोहपरंपरेण**—दु:खसमूह की परम्परा से, **भवमज्झे**—ससार में, **वि संतो**—रहता हुआ भी, **न लिप्पई**—लिप्त नहीं होता, **वा**—जैसे, **जलेण**—जल से, **पोक्खरिणीपलासं**—कमलिनी का पत्र लिप्त नही होता।

मूलार्थ—स्पर्श में विरक्त और शोक-रहित पुरुष ससार में रहता हुआ भी दु.ख-परम्परा से इस प्रकार लिप्त नहीं होता, जैसे सरोवर में रहता हुआ भी कमल-पत्र जल से लिप्यमान नहीं होता।

टीका—इस प्रकार उक्त १३ गाथाओ के द्वारा स्पर्श-इन्द्रिय सम्बन्धी विषय वर्णन किया गया है और प्रत्येक इन्द्रिय के लिए १३ गाथाए कही गई हैं। इस प्रकार कुल ६५ गाथाओ मे पाचो इन्द्रियो का वर्णन हुआ है।

अब इसके आगे मन के विषय में वर्णन करते हैं, यथा—

मणस्स भावं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ८७ ॥

मनसो भावं ग्रहणं वदन्ति, तं रागहेतुं तु मनोज्ञमाहु: ।
तं द्वेषहेतुममनोज्ञमाहु:, समश्च यस्तेषु स वीतराग: ॥ ८७ ॥

पदार्थान्वय:—मणस्स—मन का, **भावं**—भाव को, **गहणं**—ग्राह्य, **वयंति**—कहते हैं, अर्थात् तीर्थंकरादि, **तं**—उस, **मणुन्नं**—मनोज्ञ भाव को, **रागहेउं**—राग का हेतु, **आहु**—कहा है, **तं**—उस, **अमणुन्नं**—अमनोज्ञ भाव को, **दोसहेउं**—द्वेष का हेतु, **आहु**—कहा है, **जो**—जो, **तेसु**—उनमें, **समो**—सम है, **स**—वह, **वीयरागो**—वीतराग है।

मूलार्थ—जिन भावों को मन ग्रहण करता है, उनमें से मनोज्ञ भाव तो राग के हेतु हैं और अमनोज्ञ भाव द्वेष के हेतु कहे गए हैं, परन्तु जो इनमें सम भाव रखता है वह वीतराग है।

टीका—भाव का अर्थ है विचार, विचारो का ग्राहक चित्त है, अर्थात् मन के द्वारा ही भावों को ग्रहण किया जाता है। वे भाव यदि मनोज्ञ हों तो राग का कारण बन जाते हैं और यदि अमनोज्ञ हो तो द्वेष को उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं। जो पुरुष इनमें समान भाव रखता है, अर्थात् इनके निमित्त से आत्मा मे राग-द्वेष को उत्पन्न नहीं होने देता अथवा जिसमे राग-द्वेष की उत्पत्ति नही होती वह वीतराग है, ऐसा तीर्थंकरादि महापुरुषो का कथन है।

अब मन और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध आदि का वर्णन करते हुए शास्त्रकार फिर कहते हैं—

भावस्स मणं गहणं वयंति, मणस्स भावं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ ८८ ॥

भावस्य मनो ग्राहकं वदन्ति, मनसो भाव ग्राह्यं वदन्ति ।
रागस्य हेतु समनोज्ञमाहुः, द्वेषस्य हेतुममनोज्ञमाहु. ॥ ८८ ॥

पदार्थान्वय.—**भावस्स**—भाव का, **मणं**—मन को, **गहण**—ग्राहक, **वयंति**—कहते हैं, **मणसो**—मन का, **भावं**—भाव को, **गहणं**—ग्राह्य, **वयंति**—कहते है, **रागस्स हेउं**—राग का हेतु, **समणुन्नं**—मनोज्ञ भाव, **आहु**—कहा है, **दोसस्स हेउं**—द्वेप का हेतु, **अमणुन्नं**—अमनोज्ञ भाव, **आहु**—कहा गया है।

मूलार्थ—मन भाव का ग्राहक है और भाव मन का ग्राह्य है, मनोज्ञ भाव राग का हेतु है और अमनोज्ञ भाव को द्वेष का हेतु कहा गया है।

टीका—मन और भाव का ग्राह्य-ग्राहकभाव सम्बन्ध है। मन के द्वारा भाव गृहीत होते हैं और मन उनको ग्रहण करता है। इस प्रकार इनकी परस्पर ग्राह्य-ग्राहकता है। इनमें शुभ भाव को तो राग की उत्पत्ति का हेतु माना गया है और अशुभ भाव से द्वेष की उत्पत्ति होती है।

अब भावविषयक बढ़े हुए राग के विषय मे कहते हैं, यथा—

भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे, करेणुमग्गावहिए व नागे ॥ ८९ ॥

भावेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरः कामगुणेषु गृद्धः, करेणुमार्गापहृत इव नागः ॥ ८९ ॥

पदार्थान्वयः—**भावेसु**—भावविषयक, **जो**—जो, **तिव्वं**—उत्कट भाव से, **गिद्धिं**—मूर्च्छा को, **उवेइ**—प्राप्त होता है, **से**—वह, **अकालियं**—अकाल मे, **विणासं**—विनाश को, **पावइ**—प्राप्त होता है, **रागाउरे**—रागातुर, **कामगुणेसु गिद्धे**—कामगुणों मे मूर्च्छित, **करेणु**—हस्तिनी के द्वारा, **मग्गावहिए**—मार्गापहत, **व**—जैसे, **नागे**—हस्ती विनाश को प्राप्त होता है।

मूलार्थ–जो मनुष्य भाव-विषयक उत्कट राग रखता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है, जैसे रागातुर और कामासक्ति में मूर्च्छित हस्ती हस्तिनी के द्वारा मार्गापहृत होकर विनाश को प्राप्त हो जाता है।

टीका–जैसे कोई मदोन्मत्त हस्ती दूर से ही जब किसी हस्तिनी को देखता है तब वह स्वमार्ग को छोडकर उसके पीछे लग पड़ता है। इस प्रकार मानसिक भाव के वशीभूत हुए उस मार्गभ्रष्ट हस्ती को विषमस्थल–गर्तादि में डालकर मनुष्य पकड़ लेते हैं अथवा मार देते है। इसी प्रकार भाव के विषय मे मूर्च्छित हुए पुरुष को भी अकाल में ही मृत्यु आकर दबोच लेती है। [**करेणुमग्गावहिए व नागे–करेण्वा–करिण्या मार्गेण–निजपथेन–अपहृत.–आकृष्टः–करेणुमार्गापहृतः नाग इव–हस्तीव**]। सारांश यह है कि हस्तिनी को देखकर उस पर मोहित हुआ मदोन्मत्त हस्ती जब उसके पीछे लग जाता है तब गर्त आदि मे गिराकर अथवा चारों ओर से उसे घेर कर शिकारी उसको पकड़ लेते है।

यहा पर यदि कोई यह शका करे कि चक्षु-इन्द्रिय के वशीभूत हुए हस्ती की इस प्रकार की दशा देखने में आती है तो फिर भाव को लेकर उक्त दृष्टान्त का देना कैसे संभव हो सकता है? इसका समाधान यह है कि यह वर्णन मन की प्रधानता को लेकर समझना चाहिए। कारण यह है कि यदि मन की उत्कट प्रवृत्ति न हो तो चक्षु के द्वारा देखे जाने पर भी हस्तिनी के पीछे लगा कर हस्ती को मार्ग से भ्रष्ट नहीं किया जा सकता और न ही हस्तिनी उसको अपना अनुगामी बना सकती है। इसीलिए जितनी भी इन्द्रियां हैं, वे सब मन के सयोग से ही अपने-अपने कार्यो मे यथावत् प्रवृत्ति कर सकती है यदि मन का उनसे पूर्ण सहयोग न हो तो आंखें देखती हुई भी नही देखतीं और कान सुनते हुए भी नही सुनते इत्यादि। अतः इन्द्रिय और विषय के सयोग मे मन को ही प्रधान माना गया है। इसी विचार से उक्त भाव को लेकर उक्त दृष्टान्त दिया गया है।

अब द्वेष की उत्कटता के विषय में कहते हैं, यथा–

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि भावं अवरज्झई से ॥ ९० ॥

यश्चापि द्वेषं समुपैति तीव्रं, तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम् ।
दुर्दान्तदोषेण स्वकेन जन्तुः, न किञ्चिद्भावोऽपराध्यति तस्य ॥ ९० ॥

पदार्थान्वयः–जे यावि–जो कोई भी–अप्रिय भाव मे, **तिव्वं**–तीव्र, **दोसं**–द्वेष को, **समुवेइ**–उत्पन्न करता है, **से**–वह, **तंसि क्खणे**–उसी क्षण मे, **दुक्खं**–दुःख को, **उवेइ**–पाता है, **सएण**–स्वकीय **दुद्दंत**–दुर्दान्त, **दोसेण**–दोष से, **जंतू**–जीव–दुःख पाता है, **से**–उसका, **भावं**–भाव, **किंचि**–किंचिन्मात्र भी, **न अवरज्झई**–अपराध नही करता, उ–वाक्यालंकार में है।

मूलार्थ–जो कोई जीव अमनोज्ञ भाव में उत्कट द्वेष करता है वह उसी समय दुःखी हो जाता है, परन्तु वह स्वकृत दुर्दमनीय दोष के कारण ही दुःखी होता है, भाव का इसमें कोई

अपराध नहीं होता।

टीका—तात्पर्य यह है कि अप्रिय भाव किसी को दुःखी नही करता, किन्तु उसके दुःखी होने का कारण उसका अपना द्वेषजन्य अध्यवसाय ही है, अर्थात् मन का वश मे न होना ही प्रिय भाव में राग और अप्रिय में द्वेष को उत्पन्न करने वाला है। इसी से राग और द्वेष की परिणति होती है, अत· भाव की प्रियता और अप्रियता का इसमे कोई अपराध नहीं है।

अब राग-द्वेष और उसके त्याग का फल वर्णन करते हुए फिर कहते हैं—

एगंतरत्ते रुइरंसि भावे, अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥ ९१ ॥

एकान्तरक्तो रुचिरे भावे, अतादृशे सः कुरुते प्रद्वेषम् ।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः, न लिप्यते तेन मुनिर्विरागी ॥ ९१ ॥

पदार्थान्वयः—एगंतरत्ते—एकान्त रक्त, **रुइरंसि**—रुचिर, **भावे**—भाव मे, **से**—वह, **अतालिसे**—अमनोहर भाव मे, **पओसं**—प्रद्वेष को, **कुणई**—करता है, **बाले**—अज्ञानी जीव, **दुक्खस्स**—दुःख की, **संपीलं**—पीडा को, **उवेइ**—प्राप्त होता है, **तेण**—उस दुःखसम्बन्धी पीड़ा से, **विरागो**—विरक्त, **मुणी**—मुनि, **न लिप्पई**—लिप्त नही होता।

मूलार्थ—जो पुरुष मनोहर भाव में एकान्त रक्त अर्थात् अत्यन्त अनुरक्त और अमनोहर भाव मे एकान्त द्वेष करने लगता है वह अज्ञानी जीव दुःख-सम्बन्धी पीड़ा से पीड़ित होता है, परन्तु जो विरक्त है वह उस दुःख-जन्य पीड़ा से लिप्त नहीं होता।

टीका—इस गाथा मे भी राग और द्वेष दोनो को ही पीड़ा का कारण बताया गया है।

अब उक्त राग को हिंसा आदि आस्रवों का कारण बताते हुए फिर कहते हैं, यथा—

भावाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ ९२ ॥

भावानुगाशानुगतश्च जीवः, चराचरान्हिनस्त्यनेकरूपान् ।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः, पीडयत्यात्मार्थगुरुः क्लिष्टः ॥ ९२ ॥

पदार्थान्वयः—भावाणुगासाणुगए—भाव की आशा के पीछे भागता हुआ, **जीवे**—जीव, **अणेगरूवे**—अनेक जाति के, **चराचरे**—जंगम और स्थावर जीवों की, **हिंसइ**—हिंसा करता है, **चित्तेहि**—नाना प्रकार के शस्त्रों से, **ते**—उन जीवो को, **बाले**—अज्ञानी जीव, **परितावेइ**—परिताप देता है, **किलिट्ठे**—राग से आकृष्ट चित्त वाला, **अत्तट्ठगुरू**—अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए, **पीलेइ**—जीवो को पीड़ा देता है।

मूलार्थ—भाव की आशा के वशीभूत हुआ जीव अनेक जाति के जंगम और स्थावर जीवों की हिंसा करता है तथा नाना प्रकार के शस्त्र-प्रयोगों से उन जीवों को परिताप देता है और

राग से आकृष्ट होकर अपने स्वार्थ के लिए उनको पीड़ा पहुंचाता है।

टीका—भावाशा के वशीभूत होने वाला जीव अनेक प्रकार के सकल्पों द्वारा हिंसा के भावों को उत्पन्न करता है। जैसे—इस औषधि से उसको वश में कर लू, इस औषधि से स्वर्णसिद्धि प्राप्त कर लूं और इस उपाय के द्वारा पुत्र उत्पन्न कर लूं इत्यादि, तथा इस प्रकार से उन जीवों को मार सकता हूं और इस प्रकार से कष्ट पहुचा सकता हूं इत्यादि। तात्पर्य यह है कि किसी जीव के लिए जघन्य संकल्प करना अथवा उसकी मृत्यु अथवा कष्ट के लिए विचार करना भाव-हिंसा है। यह हिंसा अनेक प्रकार के अनर्थो की जननी है। इसका मूल स्रोत राग है, जिसके विषय में ऊपर कहा गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

भावाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥ ९३ ॥

भावानुपातेन परिग्रहेण, उत्पादने रक्षणसन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च कथं सुखं तस्य, सम्भोगकाले चाऽतृप्तिलाभे ॥ ९३ ॥

पदार्थान्वयः—**भावाणुवाएण**—भावविषयक अनुराग से, **परिग्गहेण**—परिग्रह से, **उप्पायणे**—उत्पादन म, **रक्खणसनिओगे**—रक्षण और संनियोग मे, **वए**—व्यय होने पर, **विओगे**—वियोग होने पर, **से**—उस जीव को, **कहं सुहं**—कैसे सुख हो सकता है, **य**—तथा, **संभोगकाले**—संभोगकाल मे, **अतित्तलाभे**—तृप्ति का लाभ न होने पर।

मूलार्थ—भाव के अनुराग से और परिग्रह से भाव के उत्पादन में, रक्षण और सन्नियोग में, विनाश हो जाने पर तथा वियोग हो जाने पर, उस रागी पुरुष को कहां से सुख की प्राप्ति हो सकती है? तथा संभोगकाल में भी तृप्ति का लाभ न होने पर उसे सुख नहीं मिल सकता।

टीका—भावविषयक उत्कट राग रखने वाला जीव किसी समय भी सुख की उपलब्धि नही कर सकता, यही इस गाथा का तात्पर्य है। विषयो के अधिक चिन्तन से, भोग्य पदार्थो का अधिक संग्रह करने की लालसा से तथा यह विषयादि पदार्थ किस प्रकार से मिल सकेंगे, इस प्रकार के चिन्तन से, आरोग्य तथा वृद्धि आदि भावों की रक्षा करने से, दूसरे को सद्बुद्धि अथवा कुबुद्धि के देने से, एव निद्रा आदि के द्वारा स्मृति के हीन हो जाने पर, दूसरे को उत्तर देने में स्फूर्ति के न होने पर, अर्थात् इस प्रकार की उलझनो मे पडने से भावानुरागी जीव कभी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

अब फिर कहते हैं—

भावे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥ ९४ ॥

भावेऽतृप्तश्च परिग्रहे, सक्त उपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टिदोषेण दुःखी परस्य, लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥ ९४ ॥

पदार्थान्वयः—**भावे**—भाव में, **अतित्ते**—अतृप्त, **य**—और, **परिग्गहम्मि**—परिग्रह मे, **सत्तोवसत्तो**—विशेष रूप से आसक्त, **तुट्ठिं**—संतोष को, **न उवेइ**—प्राप्त नहीं होता, **अतुट्ठिदोसेण**—अतुष्टिरूपी दोष से, **दुही**—दुःखी हुआ, **परस्स**—पर के द्रव्य के लिए, **लोभाविले**—लोभ से आकुल होकर, **अदत्तं**—अदत्त को, **आययई**—ग्रहण करने लग जाता है।

मूलार्थ—भाव के विषय में असन्तोषी और परिग्रह में अधिक आसक्ति रखने वाला जीव सन्तोष को प्राप्त नहीं होता, किन्तु असन्तोष के दोष से दुःखी होता हुआ वह लोभ के वशीभूत होकर पर के द्रव्य को बिना दिए ग्रहण करने लगता है, अर्थात् चौर्यकर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

टीका—पूर्व गाथाओ की व्याख्या के समान व्याख्या होने से भावार्थ स्पष्ट है।

अब फिर कहते हैं—

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, भावे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ९५ ॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः, भावेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया-मृषा वर्धते लोभदोषात्, तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥ ९५ ॥

पदार्थान्वयः—**तण्हाभिभूयस्स**—तृष्णा के वशीभूत, **अदत्तहारिणो**—अदत्त का अपहरण करने वाला, **भावे**—भाव के विषय में, **अतित्तस्स**—अतृप्त, **य**—और, **परिग्गहे**—परिग्रह मे मूर्च्छित, **लोभदोसा**—लोभ के दोष से, **मायामुसं**—माया और मृषावाद की, **वड्ढइ**—वृद्धि करता है, **तत्थावि**—फिर भी, **से**—वह, **दुक्खा**—दुःख से, **न विमुच्चई**—छुटकारा नहीं पा सकता।

मूलार्थ—तृष्णा के वशीभूत हुआ, चोरी करने वाला जीव, अपनी महिमा कराने में अतृप्त और परिग्रह में मूर्च्छित पुरुष लोभ के दोष से माया और मृषावाद की वृद्धि करता है, किन्तु फिर भी वह दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता।

टीका—जो पुरुष अपनी महिमा आदि कराने में सन्तोष को प्राप्त नही होता, अर्थात् यशकीर्ति के होते हुए भी और अधिक यश-कीर्ति का इच्छुक रहता है तथा अन्य आत्माओ से असूया करता हुआ ममत्व मे ही मूर्च्छित हो रहा है एवं लोभ के वशीभूत होकर छल-कपट और असत्य भाषण में प्रवृत्ति कर रहा है और "मै ही पंडित और सर्व शास्त्रों का जानने वाला हूं" इस प्रकार के अभिमान में डूब रहा है, ऐसे पुरुष को दुःखों से कभी छुटकारा नहीं मिल सकता, यही उक्त गाथा का रहस्य है।

अब असत्य भाषणादि के परिणाम के विषय में फिर कहते हैं। यथा—

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ९६ ॥

मृषा-(वाक्यस्य) पश्चाच्च पुरस्ताच्च, प्रयोगकाले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः, भावेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—मोसस्स—मृषावाद के, **पच्छा**—पीछे, **य**—और, **पुरत्थओ**—पहिले, **य**—तथा, **पओगकाले**—प्रयोगकाल मे, **दुही**—दुःखी, **दुरंते**—दुष्ट अन्तःकरण वाला, **एवं**—इसी प्रकार, **अदत्ताणि**—अदत्त वस्तुओं को, **समाययंतो**—ग्रहण करता हुआ, **भावे**—भाव में, **अतित्तो**—अतृप्त, **दुहिओ**—दुःखित हुआ, **अणिस्सो**—असहाय।

मूलार्थ—मिथ्या-भाषण के प्रथम और पीछे तथा मिथ्या भाषण करते समय दुष्ट अन्तःकरण वाला जीव दुःखी होता है, इसी प्रकार अदत्त पदार्थो का ग्रहण करता हुआ भाव में अतृप्त रहकर और भी दुःखी तथा असहाय अर्थात् निराश्रित हो जाता है।

टीका—निरन्तर असत्य बोलने और चोरी करने वाला जीव कभी सुख को प्राप्त नही कर सकता, इसलिए संसार में उसका कोई सहायक भी नही बनता, यही उक्त गाथा का भावार्थ है।

अब इसी विषय में और कहते हैं –

भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥ १७ ॥

भावानुरक्तस्य नरस्यैव, कुतः सुखं स्यात्कदापि किञ्चित् ।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःख, निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः—भावाणुरत्तस्स—भावविषयक अनुरक्त, **नरस्स**—नर को, **एवं**—उक्त न्याय से, **कयाइ**—कदापि, **किंचि**—किंचिन्मात्र भी, **कत्तो**—कैसे, **सुहं**—सुख, **होज्ज**—होवे, **तत्थोवभोगे वि**—भाव के उपभोग में भी, **किलेसदुक्खं**—क्लेश और दुःख का, **निव्वत्तई**—सम्पादन करता है, **जस्स कए**—जिसके लिए, **दुक्खं**—कष्ट भोगा है।

मूलार्थ—भावविषयक अनुरक्त पुरुष को उक्त प्रकार से कदापि सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। संकल्प और विकल्पों के पुनः पुनः चिन्तन करने से क्लेश और दुःख ही उत्पन्न होता है, क्योंकि चिरकाल-पर्यन्त भावविषयक चिन्ता करने से कष्ट उत्पन्न हो जाया करता है।

टीका—जो पुरुष मन के सकल्पो मे निरन्तर लीन रहता है, वह किसी समय भी सुखी नही हो सकता तथा जिन संकल्पो को एकत्रित करने में उसने कष्ट उठाया है, उनके उपभोग में भी वह क्लेश और दुःख का ही अनुभव करता है। इसलिए भावानुरक्त पुरुष को सुख की उपलब्धि नही हो सकती।

अब द्वेष के विषय में कहते हैं, यथा—

एमेव भावम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ १८ ॥

एवमेव भावे गतः प्रद्वेषम्, उपैति दुःखौघपरम्पराः ।
प्रदुष्टचित्तश्च चिनोति कर्म, यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके ॥ ९८ ॥

पदार्थान्वयः—**एमेव**—इसी प्रकार, **भावम्मि**—भावविषयक, **पओसं**—उत्कट द्वेष को, **गओ**—प्राप्त हुआ, **दुक्खोहपरंपराओ**—दुःखों की परम्परा को, **उवेइ**—प्राप्त करता है, **पदुट्ठचित्तो**—द्वेषपूर्ण चित्त से उस, **कम्मं**—कर्म का, **चिणाइ**—उपार्जन करता है, **जं**—जो कर्म, **से**—उसको, **विवागे**—विपाक समय मे, **दुहं**—दुःखरूप, **होइ**—होता है।

मूलार्थ—उसी प्रकार भावविषयक द्वेष को प्राप्त हुआ जीव भी दुःख की परम्परा को प्राप्त करता है और द्वेषपूर्ण चित्त से वह जिस कर्म का संचय करता है, वही कर्म उसको विपाक समय में दुःखरूप हो जाता है।

टीका—जिस प्रकार राग से दुःखों की प्राप्ति होती है उसी प्रकार द्वेष भी दुःखो का मूल स्रोत है, इत्यादि।

अब राग-द्वेष के त्याग का फल बताते हुए फिर कहते हैं—

भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ९९ ॥

भावे विरक्तो मनुजो विशोकः, एतया दुःखौघपरम्परया ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्, जलेनेव पुष्करिणीपलाशम् ॥ ९९ ॥

पदार्थान्वयः—**भावे विरत्तो**—भाव मे विरक्त, **मणुओ**—मनुज, **विसोगो**—शोक से रहित, **एएण**—इस, **दुक्खोहपरंपरेण**—दुःखों की परपरा से, **भवमज्झे**—संसार में, **वि सतो**—रहता हुआ भी, **न**—नहीं, **लिप्पई**—लिप्त होता, **वा**—जैसे, **जलेण**—जल से, **पोक्खरिणीपलासं**—कमलिनीपत्र लिप्त नहीं होता।

मूलार्थ—जो पुरुष भाव में विरक्त और शोक से रहित है वह संसार में रहता हुआ भी उक्त प्रकार के दुःख से अलिप्त रहता है, जैसे कि जल में उत्पन्न हुआ कमलदल जल से लिप्यमान नहीं होता।

टीका—जिस आत्मा ने मानसिक विकल्पों का परित्याग कर दिया है और शोक से भी रहित हो गई है, उस आत्मा को इन सासारिक दुःखो का सम्पर्क नहीं होता। वह ससार मे रहती हुई भी जल मे रहने वाले कमलदल की भाँति सांसारिक दुःखों से अलिप्त रहती है। तात्पर्य यह है कि वीतराग आत्मा को दुःखो का लेप नहीं होता, क्योंकि वह बन्ध के हेतुभूत कर्मो का अर्जन नहीं करती। यद्यपि मन में सकल्प-विकल्प तो उत्पन्न होते ही रहते है और उनके द्वारा पदार्थों का विचार भी होता रहता है, तथापि राग-द्वेष से रहित होने के कारण पूर्वोक्त विचारो का उस आत्मा पर कुछ भी प्रभाव नही होता अर्थात् वे कर्म बन्ध के कारण नही बनते। इस प्रकार इन उक्त १३ गाथाओ के द्वारा छठे अधिकार की पूर्णता की गई है।

अब इस प्रस्तावित विषय का उपसंहार करते हुए पुनः राग-द्वेष और उसके त्याग का फल वर्णन करते हैं, यथा-

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥ १०० ॥

एवमिन्द्रियार्थाश्च मनसोऽर्थाः, दुःखस्य हेतवो मनुजस्य रागिणः ।
ते चैव स्तोकमपि कदापि दुःख, न वीतरागस्य कुर्वन्ति किञ्चित् ॥ १०० ॥

पदार्थान्वयः-**एवं**-इसी प्रकार, **इंदियत्था**-इन्द्रियों का अर्थ, **य**-और, **मणस्स**-मन का, **अत्था**-अर्थ, **दुक्खस्स**-दुःख का, **हेउं**-हेतु, **रागिणो**-रागी, **मणुयस्स**-मनुष्य को, **ते**-वे, अर्थ, **थोवं पि**-स्तोकमात्र भी, **कयाइ**-कदापि, **दुक्खं**-दुःख, **वीयरागस्स**-वीतराग को, **किंचि**-किंचिन्मात्र भी, **न करेंति**-पीडित नही करते।

मूलार्थ-इसी प्रकार मन और इन्द्रियों के विषय रागी पुरुष के दुःख के हेतु होते हैं, और वे ही विषय वीतराग को कदापि किंचिन्मात्र भी दुःख नहीं दे सकते।

टीका-इन्द्रियों के विषय रूपादि पदार्थ और मन के विपय सकल्प-विकल्पादि रागी पुरुष के लिए दुःख का कारण बनते हैं अर्थात् राग-द्वेष से युक्त पुरुष को इनके निमित्त से अवश्य ही दुःख का अनुभव करना पड़ता है, परन्तु जो पुरुष वीतराग अर्थात् राग-द्वेष से रहित है, उस पर इनका कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। तात्पर्य यह है कि जितने भी पदार्थ हैं, वे सब राग-द्वेष के कारण से ही सुख अथवा दुःख रूप होते है और वास्तव मे तो इनमे सुख अथवा दुःख रूप कोई तत्त्व नही है। इसलिए वीतराग पुरुष के समक्ष तो इनमे सुख अथवा दुःख का कारण बनने की कोई भी शक्ति नही। यदि दूसरे शब्दो मे कहे तो इनकी सुख-दुःख के रूप मे कोई स्वतत्र सत्ता नही है। इससे सिद्ध होता है कि वैषयिक सुख अथवा दुःख की मूल कारणता केवल राग और द्वेष में ही विद्यमान है। अत· मुमुक्षु पुरुष को इन्ही के त्याग का यत्न करना चाहिए।

अब इसी विषय को पल्लवित करते हुए फिर कहते हैं, यथा-

न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगइं उवेंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥ १०१ ॥

न काम-भोगाः समतामुपयन्ति, न चापि भोगा विकृतिमुपयन्ति ।
यस्तत्प्रद्वेषी च परिग्रही च, स तेषु मोहाद् विकृतिमुपैति ॥ १०१ ॥

पदार्थान्वयः-**कामभोगा**-काम-भोग, **समयं**-समता-राग-द्वेष के उपशम-को, **न उवेंति**-प्राप्त नही होते-उपशम के कारण नहीं होते, **न यावि**-न ही, **भोगा**-काम-भोग, **विगइं**-विकृति को, **उवेंति**-प्राप्त होते हैं-विकृत के हेतु है, **जे**-जो, **तेसु**-उन काम-भोगों में, **तप्पओसी**-प्रद्वेष करने वाला है, **य**-और, **परिग्गही**-परिग्रह से युक्त है, **सो**-वह जीव, **मोहा**-मोह से, **विगइं**-विकृति को,

उवेइ–प्राप्त करता है।

मूलार्थ–काम-भोगादि विषय न तो राग-द्वेष को दूर कर सकते हैं और न उनकी उत्पत्ति के कारण हैं, किन्तु जो पुरुष उनमें राग अथवा द्वेष करता है, वही राग और द्वेष के कारण विकृति को प्राप्त हो जाता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में 'समो य जो तेसु स वीयरागो–समश्च यस्तेषु स वीतरागः' इस पद का स्पष्टीकरण किया गया है। तात्पर्य यह है कि काम-भोगादि विषय न तो राग-द्वेष को उपशान्त करते हैं और न ही किसी प्रकार की विकृति के कारण है अर्थात् क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि राग-द्वेष की उपशमता और आत्मा का निज स्वभाव को त्यागकर क्रोधादिरूप कषायो के द्वारा विकृतिभाव को प्राप्त होना, यह सब काम-भोगादि के अधीन नही है किन्तु जो व्यक्ति इनमे राग अथवा द्वेष करता है वही व्यक्ति राग-द्वेष के कारण मोह के वशीभूत होकर विकृतिभाव को प्राप्त होता है। जिस आत्मा मे राग-द्वेष की परिणति नही होती उसके लिए ये काम-भोगादि विषय सर्वथा अकिचन है। इसलिए आत्मा का जो विकारयुक्त होना है, उसका कारण काम-भोगादि विषय नही किन्तु राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाला मोह है। यदि संक्षेप से कहें तो राग-द्वेष के क्षय से वीतरागता की उपलब्धि होती है।

इस प्रकार राग-द्वेष के वशीभूत हुई आत्मा में जो विकार उत्पन्न होते हैं, अब उनका दिग्दर्शन कराते हैं, यथा–

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोहं दुगुंच्छं अरइं रइं च ।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं, नपुंसवेयं विविहे य भावे ॥ १०२ ॥

क्रोधं च मानं च तथैव मायां, लोभं जुगुप्सामरतिं रतिं च ।
हास्यं भयं शोक पुंस्त्रीवेद, नपुंसकवेदं विविधांश्च भावान् ॥ १०२ ॥

पदार्थान्वयः–**कोहं**–क्रोध, **च**–और, **माणं**–मान, **च**–पुनः, **तहेव**–उसी प्रकार, **मायं**–माया, **लोह**–लोभ, **दुगुच्छं**–जुगुप्सा, **अरइं**–अरति, **च**–और, **रइं**–रति, **हासं**–हास्य, **भय**–भय, **सोगं**–शोक, **पुं**–पुरुषवेद, **इत्थिवेय**–स्त्रीवेद, **नपुंसवेयं**–नपुंसकवेद, **य**–और, **विविहे**–नाना प्रकार के, **भावे**–हर्ष-विषादादि भाव–

(आगामी गाथा के साथ संयुक्त अर्थ)

आवज्जई एवमणेगरूवे, एवंविहे कामगुणेसु सत्तो ।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे, कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से ॥ १०३ ॥

आपद्यते एवमनेकरूपान्, एवंविधान् कामगुणेषु सक्तः ।
अन्यांश्चैतत्प्रभवान् विशेषान्, कारुण्यदीनो ह्रीमान् द्वेष्यः ॥ १०३ ॥

पदार्थान्वयः–**आवज्जई**–पाता है, **एवं**–इस प्रकार से, **अणेगरूवे**–अनेक रूपो को,

एवं-विहे—पूर्वोक्त क्रोधादि भावों को, **कामगुणेसु**—कामगुणों में, **सत्तो**—आसक्त, **य**—और, **अन्ने**—अन्य, **एयप्पभवे**—इस क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले, **विसेसे**—विशेष नरकादि के दु:ख, **कारुण्ण**—करुणा के योग्य, **दीणे**—अत्यन्त दीन, **हिरिमे**—लज्जायुक्त, **वइस्से**—अप्रीति को उत्पन्न करने वाला।

मूलार्थ—कामगुणों में आसक्त जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद तथा नाना प्रकार के हर्ष-विषाद आदि भावों और इस प्रकार के नानाविध रूपों को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले अन्य नरकादि सन्तापों को भी प्राप्त होता है तथा इसी कारण से करुणायोग्य, अत्यन्त दीन लज्जालु और अप्रीति का भाजन बन जाता है। (युग्म)

टीका—प्रस्तुत गाथाद्वय में राग-द्वेष की बहुलता से उत्पन्न होने वाले विकारों का दिग्दर्शन कराया गया है। माया नाम छल का है, घृणा को जुगुप्सा कहते हैं, चित्त की विकलता का नाम अरति है, विषयासक्ति रति कहलाती है। स्त्री की इच्छा करने वाला पुरुष वेद, पुरुष के समागम की इच्छा जिससे प्राप्त हो वह स्त्रीवेद तथा जिससे दोनों के समागम की इच्छा बनी रहे उसको नपुसकवेद कहते है। इसके अतिरिक्त हर्ष, विषाद और क्रोधादि के द्वारा बाधी गई नरकादि गतियो में भोगी जाने वाली विविध यातनाए, ये सब काम-भोगादि मे अत्यन्त आसक्त होने वाली आत्मा के राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाले विकार कहलाते है। इन विकारो से युक्त हुई जीवात्मा अनेक प्रकार के उच्चावच कर्मों का बन्ध करती है और भविष्य में अनेक प्रकार के रूपो को धारण करती है। सारांश यह है कि जो जीव काम-भोगादि मे आसक्त है उसको इन पूर्वोक्त क्रोधादि भावों की प्राप्ति होती है तथा इसके अतिरिक्त नरक आदि के सन्ताप भी उसको भोगने पडते हैं। फिर वह कामी पुरुष नाना प्रकार के जघन्य कार्यो में प्रवृत्त होने से अत्यन्त दीन और दया का पात्र बनता हुआ कभी-कभी विशेष लज्जित और अप्रीति का भाजन बन जाता है। तब सिद्धान्त यह हुआ कि काम-गुणों से राग और द्वेष की उत्पत्ति होती है तथा राग-द्वेष से यह जीवात्मा उक्त प्रकार की विकृतियो को प्राप्त होती है। अत: ये त्याज्य हैं। 'कारुण्णदीणे—कारुण्यदीन., इनमे मध्यमपदलोपी समास है। यथा—'कारुण्यास्पदीभूतो दीनः=कारुण्यदीनः' और 'वइस्से' यह आर्ष वाणी होने से 'द्वेष्य' का प्रतिरूप कहा जाता है।

अब दु:ख के कारणभूत राग-द्वेष को दूर करने के उपायों को प्रकारान्तर से बताने के पूर्व इसके विपर्यय मे जो दोष है उसका वर्णन करते हैं, यथा—

कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू, पच्छाणुतावे ण तवप्पभावं ।
एवं वियारे अमियप्पयारे, आवज्जई इंदियचोरवस्से ॥ १०४ ॥

कल्पं नेच्छेत्साहाय्यलिप्सुः, पश्चादनुतापो न तपःप्रभावम् ।
एवं विकारानमितप्रकारान्, आपद्यते इन्द्रियचौरवश्यः ॥ १०४ ॥

पदार्थान्वयः—कप्पं—योग्य, **सहायलिच्छू**—सहायक—शिष्य—को अपनी सेवा के लिए, **न इच्छिज्ज**—इच्छा न करे, **पच्छाणुतावे ण**—संयम ग्रहण करने के पश्चात् पश्चात्ताप न करे, **तवप्पभावं**—तप

के प्रभाव की भी इच्छा न करे, **इंदियचोरवस्से**–इन्द्रियरूप चोरो के वशीभूत हुआ, **एवं**–इस प्रकार के, **वियारे**–विकारों को–जो, **अमियप्पयारे**–अमित प्रकार के–प्रमाणरहित हैं उनको, **आवज्जई**–प्राप्त होता है।

मूलार्थ–अपने शरीर की सेवा के लिए योग्य शिष्य की भी इच्छा न करे। दीक्षा लेकर पश्चात्ताप न करे और तप के प्रभाव की इच्छा न करे। क्योंकि इन्द्रियरूप चोरों के वशीभूत हुआ यह जीव इस प्रकार के असंख्य दोषों को प्राप्त हो जाता है।

टीका–इस गाथा में भगवान् ने तीन बातो की शिक्षा दी है। जैसे कि–१ 'मुझे एक ऐसे शिष्य की आवश्यकता है जो कि मेरी सेवा-शुश्रूषा अच्छी तरह से कर सके' इस प्रकार की इच्छा रखने वाले साधु के प्रति भगवान् कहते हैं कि साधारण तो क्या। किन्तु स्वाध्याय आदि करने के योग्य और विनयादि सर्व प्रकार के गुणों से सम्पन्न, ऐसे शिष्य की भी साधु अपनी सेवा के लिए इच्छा न करे। तात्पर्य यह है कि शरीरादि पर ममत्व लाकर, अयोग्य शिष्य की बात दूर रही, योग्य शिष्य की भी लालसा मन मे न रखे।

२. सयम ग्रहण करने के अनन्तर पश्चात्ताप न करे। जैसे कि–'हा । मैने दीक्षा क्यो ली, हा ! इस काय-क्लेश को मैंने क्यो अगीकार किया' इत्यादि।

३ इस लोक में यश-कीर्ति के लिए और परलोक मे चक्रवर्ती सम्राट् और इन्द्रादि की पदवी प्राप्त करने के लिए सभूत यति की तरह तप के प्रभाव की भी इच्छा न करे अर्थात् किसी निदान को लेकर तपश्चर्या न करे।

अब इसमे हेतु बताते हुए कहते हैं कि यदि इस प्रकार के आचरण न करेगा तो इन्द्रियरूप चोरों के हाथों में पडकर इस प्रकार के अनेकानेक विकारों को प्राप्त हो जाएगा इत्यादि। यद्यपि यह कथन जिन-कल्पी की अपेक्षा से ही किया गया है, तथापि स्थविर-कल्पी साधुओ को भी अयोग्य शिष्यों के संग्रह से तो सदा दूर ही रहना चाहिए और योग्य शिष्यों को भी अनुग्रह-बुद्धि से तथा धर्मोन्नति के लिए दीक्षित करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि उपकार-बुद्धि को छोडकर केवल अपने ही स्वार्थ के लिए इन उक्त कार्यो को करेगा तो वह इन्द्रियरूप चोरो के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के दोषों को प्राप्त हो जाएगा।

अब फिर इसी विषय मे कहते हैं, यथा–

तओ से जायंति पओयणाइं, निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि ।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा, तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ॥ १०५ ॥

ततस्तस्य जायन्ते प्रयोजनानि, निमज्जयितुं मोहमहार्णवे ।
सुखैषिणो दुःखविनोदनार्थं, तत्प्रत्ययमुद्यच्छति च रागी ॥ १०५ ॥

पदार्थान्वयः–**तओ**–तदनन्तर, **से**–उसको, **जायंति**–उत्पन्न होते है, **पओयणाइं**–हिंसादि वा विषय सेवनादि प्रयोजन, **मोह**–मोहरूप, **महण्णवम्मि**–महार्णव में, **निमज्जिउं**–डूबने के लिए, **सुहेसिणो**–सुख की इच्छा करने वाले, **दुक्खविणोयणट्ठा**–दुःखों को दूर करने के लिए, **तप्पच्चयं**–तत्प्रत्ययिक, **रागी**–राग करने वाला, **उज्जमए**–उद्यम करता है।

मूलार्थ–तदनन्तर उसको विषयादि-सेवन के प्रयोजन उत्पन्न होते हैं। फिर वह रागी पुरुष मोहरूप सागर में डूब जाता है, तथा सुख की इच्छा करने वाला वह दुःखों को दूर करने के लिए विषयादि-संयोगों में ही उद्योग करता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे रागी पुरुष के लक्षण बताए गए है। जब राग-द्वेषयुक्त आत्मा अनेकविध विकारों को प्राप्त होती है, तब उसको विषय-सेवनादि अनेक प्रकार के प्रयोजन उपस्थित होते है, जिनके कारण यह मोहरूप सागर में डूबने को तैयार हो जाती है। इसके अतिरिक्त सुख की अभिलाषा और दुःख के विनोदनार्थ वह विषयादि के लिए ही उद्योग करती है। तात्पर्य यह है कि उसके अन्तःकरण मे यही विचार दृढ़ हो जाता है कि मैं विषयसेवनादि-क्रियाओं से ही दुःख से छूट सकती हू और सुख को प्राप्त हो सकती हू। परन्तु इस प्रकार के विचारों से वह दुःखो से मुक्त होने के स्थान मे मोहरूप सागर में ही डूबती हुई दिखाई देती है। इसलिए मुमुक्षु पुरुषो को चाहिए कि वे विषय-वासना के वशीभूत होकर मोहरूप महासमुद्र मे डूबने वाले प्राणी की तरह विषयसेवनादि मे ही सुख को न माने, किन्तु इनको मधुमिश्रित विष के तुल्य समझकर इनका त्याग करने में ही उद्यम करें।

अब विरक्त आत्मा के विषय में कहते हैं, यथा–

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा ।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा, निव्वत्तयंती अमणुन्नयं वा ॥ १०६ ॥

विरज्यमानस्य चेन्द्रियार्थाः, शब्दाद्यास्तावत्प्रकाराः ।
न तस्य सर्वेऽपि मनोज्ञतां वा, निर्वर्तयन्ति अमनोज्ञतां वा ॥ १०६ ॥

पदार्थान्वयः–**विरज्जमाणस्स**–विरक्त आत्मा को, **य**–पुनः, **इंदियत्था**–इन्द्रियो के अर्थ–विषय, **सद्दाइया**–शब्दादिक, **तावइयप्पगारा**–सब प्रकार के, **तस्स**–उस जीव को, **सव्वे वि**–सर्व ही, **मणुन्नयं**–मनोज्ञता, **वा**–अथवा, **अमणुन्नयं**–अमनोज्ञता को, **वा**–परस्पर समुच्चय में है, **न निव्वत्तयंती**–उत्पन्न नही करते।

मूलार्थ–इन्द्रियों के यावन्मात्र शब्दादि जो विषय हैं, वे सर्व ही विरक्त आत्मा के लिए मनोज्ञता का सम्पादन नहीं करते अर्थात् शब्दादि विषयों की प्रियता या अप्रियता का विरक्त–राग-द्वेष रहित–आत्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता।

टीका–प्रस्तुत गाथा में विरक्त आत्मा के समक्ष शब्दादि विषयों की अकिंचनता का वर्णन किया

गया है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियो के जितने भी विषय हैं, उनका प्रभाव राग-द्वेष से युक्त जो आत्मा है उसी पर पडता है अर्थात् राग-द्वेष विशिष्ट आत्मा ही उसे आकर्षित होती है, किन्तु जिस आत्मा मे राग-द्वेष का अभाव है, उसके समक्ष ये सब अकिंचित्कर हैं।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि–

एवं स-संकप्पविकप्पणासुं, संजायई समयमुवट्ठियस्स ।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥ १०७ ॥

एवं स्वसङ्कल्पविकल्पनासु, संजायते समतोपस्थितस्य ।
अर्थाश्च सङ्कल्पयतस्ततस्तस्य, प्रहीयते कामगुणेषु तृष्णा ॥ १०७ ॥

पदार्थान्वयः–**एवं**–उक्त प्रकार से, **ससंकप्पविकप्पणासुं**–स्वसंकल्प की विकल्पना में–ये सब राग-द्वेष और मोह जन्य विषयजाल केवल दोषरूप ही हैं, इस प्रकार की भावना में, **उवट्ठियस्स**–उद्यत हुए को, **समयं**–समता–मध्यस्थ भाव, **संजायई**–उत्पन्न हो जाता है, **य**–और, **अत्थे**–इन्द्रियों के रूपादि अर्थो को, **संकप्पयओ**–शुभ ध्यान से विचार करने वाला, **तओ**–तदनन्तर, **से**–उसकी, **कामगुणेसु**–कामगुणो में, **तण्हा**–तृष्णा, **पहीयए**–नष्ट हो जाती है।

मूलार्थ–उक्त प्रकार से, 'राग-द्वेष और मोहरूप जो अध्यवसाय हैं, वे सब अनर्थ के कारण हैं' इस प्रकार की भावना में उद्यत हुए जीव को समता अर्थात् मध्यस्थभाव की प्राप्ति हो जाती है, तथा अर्थों के विषय में सद्विचार करने के अनन्तर उस आत्मा की कामगुणों में बढ़ी हुई तृष्णा सर्व प्रकार से नष्ट हो जाती है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे कामभोगादि के विषय मे बढी हुई तृष्णा के क्षय करने का प्रकार बताया गया है। राग-द्वेष और मोहादि के विषय मे दोषो का उद्भावन करने से अर्थात् इन राग-द्वेषादिजन्य कामभोगादि विषयों में नाना प्रकार के दोषों को देखने से विचारशील आत्मा में समतागुण की प्राप्ति होती है अर्थात् वह इनसे विरक्त होती हुई इनमे किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखती। इसके अतिरिक्त मध्यस्थभाव को प्राप्त हुई वह आत्मा शब्दादि विषयों के सम्बन्ध में यह भी विचार करती है कि जितने भी शब्दादि विषय हैं, वे सब निरपराध हैं, व्यक्तिरूप से इनका कोई दोष नही, दोष तो आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग और द्वेष का है, उसी से कर्मों का बन्ध होता है, ये काम-भोगादि विषय तो केवल निमित्तमात्र है। इस प्रकार की सद्विचारणा से उस आत्मा की काम-भोगादि में बढी हुई तृष्णा भी क्षीण हो जाती है अर्थात् काम-भोगादिजन्य अनर्थों का विचार करती हुई वह इनके विषय में विरक्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो काम-भोगादिविषयक तृष्णा के क्षय हो जाने से इस जीवात्मा को बादर-संपराय नामक गुणस्थान की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि शुभध्यानविषयक अध्यवसाय उत्पन्न होने के अनन्तर ही उस जीव को मध्यस्थभाव की प्राप्ति हो जाती है, फिर उत्तरोत्तर गुणस्थानो की प्राप्ति से लोभ के पर्याय भी क्षीण होते चले जाते हैं तथा यदि उक्त प्रकार से एक काल में ही

रागादि को दूर करने के भाव उसमें उत्पन्न हो गए अथवा एक काल में ही सिद्धान्तविषयक प्रीति के भाव जागृत हो गए, तब उस आत्मा के राग-द्वेषरूप जो सकल्प है उन सब का उसी समय कल्प अर्थात् उच्छेद हो जाता है[1]।

इस प्रकार राग-द्वेष आदि के क्षय से तृष्णा के क्षय हो जाने के अनन्तर इस आत्मा को किस गुण की उपलिब्ध होती है, अर्थात् वह क्या हो जाती है, आगामी गाथा में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है।

अब वही समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, यथा-

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं ।
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चंतरायं पकरेइ कम्मं ॥ १०८ ॥

स वीतरागः कृतसर्वकृत्यः, क्षपयति ज्ञानावरणं क्षणेन ।
तथैव यत् दर्शनमावृणोति, यदन्तराय प्रकरोति कर्म ॥ १०८ ॥

पदार्थान्वयः-**स**-वह, **वीयरागो**-वीतराग, **कयसव्वकिच्चो**-जिसने सभी कर्त्तव्यो का पालन कर लिया है, **नाणावरण**-ज्ञानावरणीय कर्म, **खणेण**-क्षण भर में, **खवेइ**-क्षय कर देता है, **तहेव**-उसी प्रकार, **जं**-जो, **दसणं**-दर्शन को, **आवरेइ**-आवरण करता है, **जं**-जो, **च**-पुन., **अंतरायं**-अन्तराय-विघ्न को, **पकरेइ**-करता है, **कम्मं**-कर्म अर्थात् अन्तराय-कर्म।

मूलार्थ-जिसने सभी कर्त्तव्यों का पालन कर लिया है, ऐसी वीतराग आत्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय-इन तीनों कर्मों का एक ही समय में क्षय कर देती है।

टीका-जिस आत्मा ने तृष्णा का नाश कर दिया है वह वीतराग आत्मा क्षीणकषाय-गुण-स्थानवर्ती होकर करणीय कार्यों के यथावत् सम्पादित हो जाने पर कृतकृत्य होती हुई ज्ञान के आच्छादक, दर्शन के आच्छादक और दानादिविषयक विघ्न उपस्थित करने वाले कर्मों का एक ही समय मे समूल घात कर देती है। तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने के अनन्तर उक्त ज्ञानावरणादि तीनों घाती कर्मों का यह आत्मा एक ही समय मे क्षय कर देती है, क्योंकि ये तीनो कर्म मोहनीय कर्म के आश्रित है और जब मोहनीय कर्म को क्षय कर दिया गया, तब इन ज्ञानावरणीयादि कर्मो का क्षय करना अतीव सुकर हो जाता है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है, यथा-मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर आत्मा अन्तर्मुहूर्त विश्राम लेकर उस अन्तर्मुहूर्त के चरम दो समय मे निद्रा, प्रचला और देवगत्यादि नाम-कर्म की प्रकृतियो का क्षय करती है तथा चरम समय में ज्ञानावरणीयादि तीनों कर्मो का क्षय कर देती है।

---

१ कल्प शब्द का छेदन अर्थ भी देखा जाता है-
'सामर्थ्ये वर्णनायाञ्च छेदने करणे तथा।
औपमे अधिवासे च कल्पशब्द विदुर्बुधा.'।।
तब 'स्वसंकल्पविकल्पना' का राग-द्वेषजन्य स्वसंकल्पो के विनाश की भावना यह अर्थ हो जाता है।

सारांश यह है कि क्षीण मोहगुण-स्थानवर्ती जीवात्मा ज्ञानावरणीयादि तीनों कर्मों का एक ही समय में क्षय कर डालती है।

इस प्रकार उक्त कर्मों के क्षय करने के अनन्तर जिस गुण की प्राप्ति होती है, अब सूत्रकार उसका दिग्दर्शन कराते हैं, यथा–

सव्वं तओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरंतराए ।
अणासवे झाण-समाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥ १०९ ॥

सर्व ततो जानाति पश्यति च, अमोहनो भवति निरन्तरायः ।
अनास्रवो ध्यानसमाधियुक्तः, आयुःक्षये मोक्षमुपैति शुद्धः ॥ १०९ ॥

पदार्थान्वयः–**तओ**–तदनन्तर, (आत्मा) **सव्व**–सर्व को, **जाणइ**–जानती है, **य**–और, **पासए**–सर्व को देखती है, **अमोहणे**–मोह-रहित, **निरतराए**–अन्तरायरहित, **होइ**–होती है, **अणासवे**–आस्रवो से रहित, **झाणसमाहिजुत्ते**–शुक्लध्यान और समाधि से युक्त होती है, **आउक्खए**–आयुकर्म के क्षय होने पर, **सुद्धे**–शुद्ध होकर, **मोक्खं**–मोक्षपद को, **उवेइ**–प्राप्त हो जाती है।

मूलार्थ–तदनन्तर यह आत्मा सब कुछ जानती है, सब कुछ देखती है तथा मोह और अन्तराय से सर्वथा रहित हो जाती है। फिर आस्रवों से रहित, ध्यान और समाधि से युक्त होकर परम विशुद्ध दशा को प्राप्त होती हुई आयु तथा नाम-कर्म के समाप्त होने पर मोक्ष-पद को प्राप्त हो जाती है।

टीका–मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर जिस समय यह आत्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीनों ही कर्मो का क्षय कर देती है, उस समय वह सर्वज्ञ ओर सर्वदर्शी बन जाती है। इसके अतिरिक्त मोहनीय और अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले क्षायिक-सम्यक्त्व के साथ-साथ उसमे रही हुई अनन्तानन्त शक्तिया भी आविर्भूत हो जाती हैं। फिर सर्व प्रकार के आस्रवों से रहित होकर शुक्लध्यानरूप समाधि से युक्त होती हुई आयुकर्म उपलक्षण से–वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म के क्षय हो जाने पर परम विशुद्ध दशा को प्राप्त करती हुई वह परम कल्याणस्वरूप मोक्षपद को प्राप्त हो जाती है।

यहा पर इतना स्मरण रहे कि केवली में ज्ञान-दर्शन दोनों का उपयोग एक ही समय मे नहीं होता, किन्तु भिन्न-भिन्न समयो में होता है, ऐसा आगमों का और आगमानुसारी वृत्तिकार का मत है। यह बात गाथा में आए हुए 'चकार' से भी ध्वनित की गई है।

इसके अतिरिक्त केवली के ज्ञान और दर्शन के पौर्वापर्य के विषय मे पूर्वाचार्यो के भिन्न-भिन्न मत है। कुछ आचार्य तो दर्शन को पहले और ज्ञान को पीछे मानते हैं, तथा कुछ आचार्यों के मत मे ज्ञानापयोग को प्रथम और दर्शन को उसके अनन्तर स्वीकार किया गया है। इस विषय की अधिक चर्चा कही अन्यत्र की जाएगी[1]।

मोक्ष-प्राप्ति के अनन्तर उस आत्मा की जो अवस्था होती है, अब सूत्रकार उसके विषय

में कहते हैं, यथा–

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, जं बाहई सययं जंतुमेयं ।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ॥ ११० ॥

स तस्मात् सर्वस्माद् दुःखाद् मुक्तः, यद् बाधते सततं जन्तुमेनम् ।
दीर्घामयविप्रमुक्तः प्रशस्तः, ततो भवत्यत्यन्तसुखी कृतार्थः ॥ ११० ॥

पदार्थान्वयः–**सो**–वह, **तस्स**–उस, **सव्वस्स**–सर्व, **दुहस्स**–दुःखो से, **मुक्को**–मुक्त हुआ, **ज**–जो, **बाहई**–पीड़ा देता है, **सययं**–निरतर, **एवं**–इस, **जंतुं**–जीव को, **दीहामयं विप्पमुक्को**–दीर्घ रोग से विप्रमुक्त, **पसत्थो**–प्रशस्त, **तो**–तदनन्तर, **अच्चंत**–अत्यन्त, **सुही**–सुखी, **कयत्थो**–कृतार्थ, **होइ**–हो जाता है।

मूलार्थ–वह मुक्त आत्मा उन सर्व प्रकार के दुःखों से सर्वथा छूट जाती है जो इस जीव को निरन्तर दु.ख देते हैं फिर उस दीर्घ रोग से सर्वथा छूटकर वह प्रशंसनीय और कृतकृत्य होती हुई सदा के लिए अत्यन्त सुखी हो जाती है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में मुक्तात्मा की निराकुल अर्थात् अत्यन्त सुखमयी अवस्था का दिग्दर्शन कराया गया है। जिस समय सर्व प्रकार के कर्म-मल से सर्वथा पृथक् होकर यह आत्मा मोक्षपद को प्राप्त करता है, उस समय वह जन्म, जरा और मृत्यु आदि उन सर्व प्रकार के दुःखों से रहित हो जाती है। जो कर्मजन्य दुःख इन ससारी जीवो को निरन्तर पीडा दे रहे हैं उनका इस मोक्षगामी जीवात्मा को बिलकुल स्पर्श नहीं होता। इसीलिए अनादि काल से चला आया यह कर्मजन्य आधि-व्याधिरूप जो दीर्घ रोग है, उससे वह सदा के लिए छुटकारा पा जाती है और जिस सुख मे दुःख का कभी लेशमात्र भी नहीं, ऐसे निराबाध सुख को वह प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा मे मोक्ष के सुख को दु.ख से सर्वथा भिन्न, निरतिशय और नित्य भी बताया गया है जो कि सर्वथा समुचित और युक्तियुक्त ही है।

'**तस्स सव्वस्स दुहस्स**' इन तीनो पदो मे पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग किया गया है।

अब प्रस्तावित विषय का निगमन करते हुए कहते हैं कि–

अणाइकालप्पभवस्स एसो, सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो ।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता, कमेण अच्चंतसुही भवंति ॥ १११ ॥

त्ति बेमि

इति पमायट्ठाणं समत्तं ॥ ३२ ॥

अनादिकालप्रभवस्यैषः, सर्व-दुःखस्य प्रमोक्षमार्गः ।
व्याख्यातः यं समुपेत्य सत्त्वाः, क्रमेणाऽत्यन्तसुखिनो भवन्ति ॥ १११ ॥

इति ब्रवीमि

इति प्रमादस्थानं समाप्तम् ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः—**अणाइकालप्पभवस्स**—अनादिकाल से उत्पन्न हुए, **सव्वस्स**—सर्व, **दुक्खस्स**—दुःख के, **पमोक्ख**—छूटने का, **मग्गो**—मार्ग, **एसो**—यह, **वियाहिओ**—कथन किया है, जं—जिसको, **समुविच्च**—अंगीकार करके, **सत्ता**—जीव, **कमेण**—क्रम से, **अच्चंत**—अत्यंत, **सुही**—सुखी, **भवंति**—होते है, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—अनादि काल से उत्पन्न हुए सर्व प्रकार के दुःखों से छूटने का यह मार्ग कथन किया गया है, जिस मार्ग को सम्यक्रूप से अंगीकार करके जीव अत्यन्त सुखी होते हैं।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि अनादिकालीन दु:ख-परम्परा से सर्वथा छुटकारा पाने का यही मार्ग है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। जो जीव इस मार्ग का सम्यक्तया अनुसरण करते हैं, वे सदा के लिए सर्व प्रकार के दु:खो से रहित, परम-आनन्दरूप मोक्षपद को प्राप्त हो जाते हैं तथा पाचो इन्द्रियो और छठे मन का निग्रह करना प्रमाद रहित होकर पाचों महाव्रतो का पालन करना तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सम्यक्तया आराधना करना, यह मोक्षमार्ग का संक्षिप्त क्रम है जिसका अनुसरण करना प्रत्येक भव्य जीव के लिए परम आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' की व्याख्या पूर्व की भाँति ही जान लेनी चाहिए।

द्वात्रिंशत्तममध्ययनं सम्पूर्णम्

अह कम्मप्पयडी तेत्तीसइमं अज्झयणं

अथ कर्मप्रकृति त्रयस्त्रिंशत्तममध्ययनम्

पूर्व के बत्तीसवे अध्ययन में उन प्रमादस्थानों का वर्णन किया गया है जो कि कर्मबन्ध के स्थान कहे जाते है। इन्ही मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगो के द्वारा यह जीव कर्मों को बाधता और उन्ही से स्वयं बध जाता है। परन्तु यह जीव जिन कर्मो को बाधता व जिनसे बाधा जाता है उनका स्वरूप क्या है, तथा उनके भेदोपभेद कितने है, इत्यादि बातो का जानना अत्यन्त आवश्यक है। बस इसी उद्देश्य से इस तैतीसवें अध्ययन का आरम्भ किया जा रहा है जिसकी आदि गाथा इस प्रकार है। यथा–

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परियट्टई ॥ १ ॥

अष्ट कर्माणि वक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम् ।
यैर्बद्धोऽय जीवः, संसारे परिवर्तते ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–**अट्ठ**–आठ, **कम्माइं**–कर्मों को, **वोच्छामि**–कहूंगा, **आणुपुव्विं**–आनुपूर्वी से, **जहक्कमं**–क्रमपूर्वक, **जेहिं**–जिन कर्मो से, **बद्धो**–बधा हुआ, **अयं**–यह, **जीवो**–जीव, **संसारे**–संसार मे, **परियट्टई**–परिभ्रमण करता है।

मूलार्थ–मैं आठ प्रकार के उन कर्मो को आनुपूर्वी और यथाक्रम से कहूंगा, जिन कर्मो से बंधा हुआ यह जीव इस संसार में परिभ्रमण करता है।

टीका–श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है कि हे शिष्य! मैं तुम्हारे प्रति आठ प्रकार के कर्मों का प्रतिपादन करूगा। इससे प्रतिपाद्य विषय और उसकी सख्या का निर्देश किया

गया है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगो के द्वारा ये कर्म बांधे जाते हैं। इनके द्वारा बंधा हुआ जीव इस संसार मे नाना प्रकार के स्वरूपों को धारण करता है। इस कथन से प्रतिपाद्य विषय के फल का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में आनुपूर्वी और यथाक्रम, इन दो शब्दो का उल्लेख हुआ है। यद्यपि ये दोनों शब्द प्राय: एक ही अर्थ के बोधक प्रतीत होते हैं, तथापि यथाक्रम शब्द के पृथक् उल्लेख करने से यहां पर आनुपूर्वी का उससे भिन्न अर्थ ही सूत्रकार को अभिप्रेत है, ऐसा प्रतीत होता है। यथा–आनुपूर्वी का तीन प्रकार से वर्णन किया गया है (१) आनुपूर्वी (२) पश्चानुपूर्वी और (३) अनानुपूर्वी। यहां पर जो कर्मों का वर्णन किया जाएगा वह आनुपूर्वी से किया जाएगा और वह यथाक्रम होगा।

अब प्रस्तावित कर्मों के नाम निर्देश करते हैं, यथा–

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥ २ ॥

नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥ ३ ॥

ज्ञानस्यावरणीयं, दर्शनावरणं तथा ।
वेदनीयं तथा मोहं, आयुःकर्म तथैव च ॥ २ ॥

नामकर्म च गोत्रं च, अन्तरायं तथैव च ।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टैव तु समासतः ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–नाणस्सावरणिज्जं–ज्ञान का आवरण करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म, **दंसणावरणं**–दर्शनावरणीय, **तहा**–तथा, **वेयणिज्जं**–वेदनीय कर्म, **तहा**–तथा, **मोहं**–मोहनीय कर्म, **य**–और, **तहेव**–उसी प्रकार, **आउकम्मं**–आयुकर्म, **च**–और, **नामकम्मं**–नामकर्म, **च**–तथा, **गोयं**–गोत्रकर्म, **य**–पुनः, **तहेव**–उसी प्रकार, **अतरायं**–अन्तरायकर्म, **एवं**–इस प्रकार, **एयाइं**–ये, **अट्ठेव**–आठ ही, **कम्माइ**–कर्म, **समासओ**–सक्षेप से कहे हैं, **उ**–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ ही कर्म संक्षेप से कहे गए हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में कर्मों की आठ मूल प्रकृतियों का नामनिर्देशपूर्वक सक्षेप से उल्लेख किया गया है।

१. ज्ञानावरणीय–जिसके द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जाए उसका नाम ज्ञान है और जो कर्म ज्ञान का आच्छादन करने वाला हो उसको ज्ञानावरणीय कहते है। जैसे सूर्य को बादल आच्छादित कर लेता है, अथवा जैसे नेत्रों की दर्शन-शक्ति को कपडा आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार जिन

कर्माणुओं के द्वारा इस जीवात्मा का ज्ञान आवृत हो रहा है, उन कर्माणुओं या कर्म-वर्गणाओं का नाम ज्ञानावरणीय कर्म है।

२. **दर्शनावरणीय**—पदार्थों के सामान्य बोध का नाम दर्शन है और जिस कर्म के द्वारा इस जीवात्मा का सामान्य बोध आवृत हो जाए, उसे दर्शनावरणीय कहते हैं। इस कर्म को शास्त्रों मे द्वारपाल की उपमा दी गई है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने मे रुकावट डालता है, ठीक उसी प्रकार इस कर्म के द्वारा भी आत्मा के चक्षुदर्शनादि मे रुकावट पड जाती है।

३. **वेदनीय**—जिस कर्म के द्वारा सुख-दुःख का अनुभव किया जाए उसका नाम वेदनीय कर्म है। इस कर्म को मधुलिप्त असिधारा की उपमा दी गई है। जैसे मधुलिप्त असिधारा को चाटने से सुख और दुःख दोनो ही होते है, उसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा सुख और दुःख दोनो की अनुभूति करता है।

४. **मोहनीय**—जिस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा वास्तविकता को जानती हुई भी मूढ़ता को प्राप्त हो, उसको मोहनीय कर्म के नाम से अभिहित किया जाता है। इस कर्म को शास्त्रकारो ने मदिरा के तुल्य बताया है, अर्थात् जिस प्रकार मदिरा के नशे में चूर हुआ पुरुष अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य के भान से च्युत हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रभाव से इस जीवात्मा को भी अपने हेयोपादेय का ज्ञान नही रहता।

५. **आयु**—जो अपने समय पर ही पूरा हो, अर्थात् जिस कर्म के प्रभाव मे यह जीवात्मा अपनी भवस्थिति अर्थात् आयु को पूर्ण करे उसको आयु-कर्म कहते है। इस कर्म को कारागार के सदृश बताया गया है। जैसे कारागार मे पड़ा हुआ कैदी अपने नियत समय से पहले निकल नही सकता, उसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा अपनी नियत भवस्थिति को पूरा किए बिना ससार से छूट नहीं सकती।

६. **नाम**—शरीर आदि की रचना का हेतु जो कर्म है उसको नाम-कर्म कहते हैं। इस कर्म को चित्रकार अर्थात् चितेरे की उपमा दी गई है। जैसे चित्रकार नाना प्रकार के चित्रो का निर्माण करता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा भी नाम-कर्म के प्रभाव से अनेक प्रकार की आकृतियों मे परिवर्तित होता है।

७. **गोत्र**—जिसके द्वारा यह जीवात्मा ऊंच-नीच कुल में उत्पन्न हो अर्थात् ऊंच-नीच संज्ञा से सम्बोधित किया जाए उसका नाम गोत्र-कर्म है। यह कर्म कुम्हार के सदृश माना गया है। जैसे कुलाल अर्थात् कुम्हार छोटे-बडे बर्तनों को बनाता है, उसी प्रकार गोत्र-कर्म के प्रभाव से जीवात्मा को ऊच-नीच पद की प्राप्ति होती है।

८. **अन्तराय**—जो कर्म दानादि में अन्तराय अर्थात् विघ्न उपस्थित कर दे उसकी अन्तराय संज्ञा है। तात्पर्य यह है कि देने वाले की इच्छा तो देने की हो और लेने वाले की इच्छा लेने की हो, परन्तु

ऐसी दशा में भी दाता और याचक की इच्छा पूरी न हो सकने का जो कारण है उसको जैन-परिभाषा मे अन्तराय-कर्म कहा गया है।

इस कर्म को भंडारी के तुल्य बताया गया है। जैसे राजा ने दरवाजे पर आए हुए किसी याचक को कुछ द्रव्य देने की इच्छा प्रकट की और अपने भंडारी के नाम पत्र लिखकर उस याचक को दे दिया, परन्तु वह भंडारी उसको नहीं देता, यही दशा इस कर्म की है अर्थात् इसके उदय से दानादि सामग्री के उपस्थित होते हुए भी कोई न कोई ऐसा विघ्न उपस्थित हो जाता है कि दान-कार्य मे सफलता नही मिल पाती। इस प्रकार से इन आठों कर्मो का संक्षिप्त स्वरूप जानना चाहिए।

शंका–कर्म के इस प्रस्ताव मे प्रथम ज्ञानावरणीय कर्म का उल्लेख क्यो किया गया?

समाधान–जीवात्मा का मूल स्वभाव ज्ञान और दर्शन रूप है, इसलिए आत्मा के मूल स्वभाव का प्रतिबन्धक जो कर्म अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म है, उसी का प्रथम उल्लेख करना युक्तियुक्त एव प्रमाणसंगत है। विशिष्ट बोध का कारण ज्ञान और सामान्य बोध का हेतु दर्शन दोनो के आवरक जो कर्म हैं उन्ही का प्रथम निर्देश करना समुचित है। इसी प्रकार वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म का क्रम भी समझ लेना चाहिए।

शंका–वीतरागावस्था मे तो वेदनीय कर्म अपना रस दिए बिना रह सकता है, परन्तु संसारी आत्माओ को उसके द्वारा सुख-दु.ख का अनुभव अवश्य करना पड़ता है, इसका क्या कारण है?

समाधान–संसारी जीवों में मोहनीय कर्म की सत्ता विद्यमान रहती है, इसलिए उनको वेदनीय कर्मजन्य सुख-दुःख का अनुभव करना पडता है और वीतरागावस्था मे मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है।

अब उक्त ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का वर्णन करते हैं, यथा–

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥ ४ ॥

ज्ञानावरणं पञ्चविधं, श्रुतमाभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञानं च तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–**नाणावरणं**–ज्ञानावरण, **पंचविहं**–पांच प्रकार का है, **सुयं**–श्रुत, **आभिणिबोहिय**–आभिनिबोधिक, **तइयं**–तृतीय, **ओहिनाणं**–अवधिज्ञान, **मणनाणं**–मन:पर्यवज्ञान, **च**–और, **केवलं**–केवलज्ञान।

मूलार्थ–ज्ञानावरणीय कर्म पांच प्रकार का है। यथा–१. श्रुतज्ञानावरण, २. आभिनिबोधिकज्ञानावरण, ३. अवधिज्ञानावरण, ४. मन:पर्यवज्ञानावरण और ५. केवलज्ञानावरण।

टीका–इस गाथा में ज्ञानावरणीय कर्म की पाच उत्तर-प्रकृतियो अर्थात् भेदों का वर्णन किया गया है। ज्ञान के पांच भेद हैं, अत: उसके आवरक कर्म भी पांच प्रकार के ही कहे गए हैं। ज्ञान के श्रुतज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान, ये पाच भेद हैं।

१ **श्रुतज्ञानावरण**–शास्त्रों के वांचने तथा सुनने से जो अर्थ-ज्ञान होता है उसको श्रुतज्ञान कहते हैं, उसका आवरक–ढापने वाला जो कर्म है उसे श्रुतज्ञानावरण कहा गया है। अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की जिसमें पर्यालोचना हो, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। उसके आच्छादक कर्म को श्रुतज्ञानावरण कहते हैं[1]। इसके उत्तरभेद चौदह कहे गए हैं।

२. **आभिनिबोधिकज्ञानावरण**–आभिनिबोधिक ज्ञान का दूसरा नाम मतिज्ञान है। इन्द्रिय और मन के द्वारा सन्मुख आए हुए पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिक ज्ञान या मतिज्ञान कहते हैं। इसके अट्ठाईस भेद है। उनको आवृत्त करने वाला कर्म आभिनिबोधिकज्ञानावरण कहलाता है।

३. **अवधिज्ञानावरण**–इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना अवधि अर्थात् मर्यादा को लिए हुए रूपी पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। उसका आवरण करने वाले कर्म का नाम अवधिज्ञानावरण है। इसके छः उत्तर भेद हैं।

४. **मनःपर्यवज्ञानावरण**–इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना कुछ मर्यादा को लिए हुए सज्ञी जीवों के मनोगत विचारो को जान लेना मनःपर्यवज्ञान है। उस ज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों को मनःपर्यवज्ञानावरण कहते हैं। इसके दो भेद माने गए है।

५. **केवलज्ञानावरण**–विश्व के भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालीन समस्त पदार्थो को एक काल मे जान लेना केवल ज्ञान है। ऐसे ज्ञान के आवरण करने वाले कर्मो को केवलज्ञानावरण कहा है।

इस प्रकार पहले ज्ञानावरणीय कर्म के ये पांच उत्तर भेद कहे हैं। अब दूसरे दर्शनावरणीय कर्म के उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं, यथा–

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलपयला य ।
तत्तो य थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥

निद्रा तथैव प्रचला, निद्रानिद्रा च प्रचलाप्रचला च ।
ततश्च स्त्यानगृद्धिस्तु, पञ्चमी भवति ज्ञातव्या ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–**निद्दा**–निद्रा, **तहेव**–उसी प्रकार, **पयला**–प्रचला, **निद्दानिद्दा**–निद्रानिद्रा, **य**–और, **पयलपयला**–प्रचलाप्रचला, **तत्तो**–तदनन्तर, **य**–पुनः, **थीणगिद्धी**–अत्यन्त घोर निद्रा, **पंचमा**–पांचवीं, **होइ**–होती है, **नायव्वा**–इस प्रकार जानना चाहिए।

मूलार्थ–निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि, यह पांच प्रकार की निद्रा जानना चाहिए।

---

१ यद्यपि व्याख्याप्रज्ञप्ति, स्थानाग और अनुयोगद्वार तथा नन्दी एव प्रज्ञापना आदि आगमो मे पहले मतिज्ञान का (जिसका दूसरा नाम आभिनिबोधिक ज्ञान है) उल्लेख किया गया है, तथापि श्रुतज्ञान की प्रधानता दिखाने के लिए ही यहा पर इसका प्रथम उल्लेख किया गया है इसलिए विरोध की कोई आशंका नही करनी चाहिए।

टीका—दर्शनावरणीय कर्म के उत्तर भेदों का वर्णन करते हुए प्रथम पाच प्रकार की निद्राओ का वर्णन किया गया है, तात्पर्य यह है कि दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियां—नौ हैं। उनमें से निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि, इन पाच उत्तर भेदो का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया गया है।

१. **निद्रा**—जो जीव सोया हुआ थोड़ी-सी आवाज से जाग पड़ता है उसकी नींद को निद्रा कहते है, तथा जिस कर्म के प्रभाव से ऐसी निद्रा होती है, उस कर्म को भी निद्रा कहते हैं।

२. **निद्रानिद्रा**—जो जीव सोया हुआ, बड़े जोर से चिल्लाने अथवा हाथ से हिलाने पर भी बडी कठिनता से जागता है उस जीव की नींद को निद्रानिद्रा कहते है, तथा जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आए उसका नाम भी निद्रानिद्रा है।

३. **प्रचला**—जिसको खडे-खड़े या बैठे-बैठे नींद आती है उसकी नीद को प्रचला कहते हैं, ऐसी निद्रा जिस कर्म के प्रभाव से आती है उस कर्म का नाम प्रचला है।

४. **प्रचलाप्रचला**—चलते-फिरते जो नीद आती है उसको प्रचलाप्रचला कहते है। जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आए उस कर्म को प्रचलाप्रचला कहा है।

५. **स्त्यानगृद्धि**—जो जीव दिन में अथवा रात में विचारे हुए काम को निद्रा की हालत मे ही कर डालता है, उसकी नींद का नाम स्त्यानगृद्धि या स्त्यानर्द्धि है। ऐसी निद्रा का आना जिस कर्म के प्रभाव का फल है उसे भी स्त्यानगृद्धि या स्त्यानर्द्धि कहते हैं।

इस निद्रा में जीव को वासुदेव के आधे बल की प्राप्ति होती है। यह निद्रा अतीव निकृष्ट मानी गई है, क्योंकि इस निद्रा वाला जीव मरने पर अवश्य ही नरक मे जाता है। इसलिए जिस आत्मा मे राग-द्वेष के उदय की अत्यन्त बहुलता होती है उसी को इस पाचवीं निद्रा का आवेश होता है, तथा प्रथम निद्रा को अशुभ नहीं माना गया, क्योकि वह साता की भी साधक है।

अब उक्त कर्म के दूसरे भेदों का वर्णन करते हैं, यथा—

चक्खुमचक्खूओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥ ६ ॥

चक्षुरचक्षुरवधेः, दर्शने केवले चावरणे ।
एवं तु नवविकल्पं, ज्ञातव्यं दर्शनावरणम् ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः—चक्खु—चक्षु, **अचक्खू**—अचक्षु, **ओहिस्स**—अवधि के, **दंसणे**—दर्शन में, **य**—और, **केवले**—केवल ज्ञान में, **आवरणे**—आवरणरूप, **एवं**—इस प्रकार, **नवविगप्पं**—नौ विकल्प-अर्थात् भेद, **दंसणावरणं**—दर्शनावरण के, **नायव्वं**—जानने चाहिए, **तु**—पादपूर्ति में।

मूलार्थ–चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार तथा पूर्वोक्त पांच निद्रा–आदि इस प्रकार नौ भेद दर्शनावरणीय कर्म के जानने चाहिए।

टीका–दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद हैं। उनमे से पाच का उल्लेख तो ऊपर आ चुका और शेष चार भेदो का वर्णन इस गाथा मे किया गया है।

(१) चक्षुदर्शनावरण–आख के द्वारा पदार्थो के जो सामान्य धर्म का ग्रहण होता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं, उस सामान्य ग्रहण को रोकने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण कहलाता है।

(२) अचक्षुदर्शनावरण–आख को छोडकर त्वचा, कान, जिह्वा, नासिका और मन से जो पदार्थो के सामान्य धर्म का बोध होता है उसका नाम अचक्षुदर्शन है, उसके आवरक कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कहते है।

(३) अवधिदर्शनावरण–इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही इस आत्मा को रूपी पदार्थो के सामान्य धर्म का जो बोध होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं, उसको आवृत करने वाले कर्म का नाम अवधिदर्शनावरण है।

(४) केवलदर्शनावरण–ससार के सम्पूर्ण पदार्थो का जो सामान्यरूप से प्रतिभास होता है उसे केवलदर्शन कहते है, उसका आवरक कर्म केवलदर्शनावरण कहलाता है। इस प्रकार से ये नौ भेद दर्शनावरणीय कर्म के कहे जाते हैं अर्थात् पांच निद्रा आदि और चार दर्शनावरण आदि–ऐसे नौ भेद होते हैं।

अब तीसरे वेदनीय कर्म के विषय में कहते हैं, यथा–

वेयणीयं पि य दुविहं, सायमसायं च आहियं ।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव असायस्स वि ॥ ७ ॥

वेदनीयमपि च द्विविध, सातमसातं चाख्यातम् ।
सातस्य तु बहवो भेदा., एवमेवाऽसातस्यापि ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः–**वेयणीयं पि**–वेदनीय कर्म भी, **दुविहं**–दो प्रकार का, **आहियं**–कहा गया है, **सायं**–साता रूप, **च**–और, **असायं**–असाता रूप, **सायस्स**–साता के, **उ**–भी, **बहू**–बहुत से, **भेया**–भेद है, **एमेव**–इसी प्रकार, **असायस्स वि**–असाता के भी बहुत भेद हैं।

मूलार्थ–वेदनीय कर्म भी दो प्रकार का है–१. साता-वेदनीय और २. असाता-वेदनीय। साता-वेदनीय के भी अनेक भेद हैं तथा असाता-वेदनीय भी अनेक प्रकार का कहा गया है।

टीका–जिस कर्म के द्वारा सुख-दुःख का अनुभव किया जाता है, अर्थात् जो कर्म आत्मा को सुख-दुःख पहुचाने मे हेतुभूत हो उसको वेदनीय कहते है। इसी का दूसरा नाम वेद-कर्म भी है। वेदनीय कर्म के दो भेद है–१ सातावेदनीय और २. असातावेदनीय। इनमे सातावेदनीय तो मधुलिप्त असिधारा

को चाटने के समान है और खडगधारा से जीभ कटने के समान असातावेदनीय कर्म हैं। जिस कर्म के प्रभाव से इस जीवात्मा को विषयसम्बन्धी सुखों की अनुभूति होती है उसे सातावेदनीय कर्म कहते है तथा जिस कर्म के उदय से इस आत्मा को इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से दु:ख का अनुभव करना पड़ता है वह असातावेदनीय कर्म है। इसके अतिरिक्त यहां पर इतना और भी स्मरण रहे कि इस जीवात्मा को जो अपने स्वरूप के सुख की अनुभूति होती है वह किसी भी कर्म का फल नहीं है, किन्तु यह उसका निजी स्वरूप है जिसका पूर्ण विकास कर्मों के आत्यन्तिक क्षय पर अवलम्बित है। सातावेदनीय और असातावेदनीय के भी अनेक भेद है जिनका यहां पर विस्तार के भय से उल्लेख नही किया गया। हां, इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि जो आत्मा प्रत्येक प्राणधारी पर दया का भाव रखती है, वह सातावेदनीय कर्म को बाधती है और इसके विपरीत जो नाना प्रकार से उनको पीडा देने का यत्न करती है, वह असातावेदनीय का बन्ध करती है।

अब चौथे मोहनीय कर्म के विषय में कहते हैं, यथा–

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा ।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥

मोहनीयमपि द्विविधं, दर्शने चरणे तथा ।
दर्शने त्रिविधमुक्तं, चरणे द्विविधं भवेत् ॥ ८ ॥

पदार्थान्वय:–मोहणिज्जं पि–मोहनीय भी, **दुविहं**–दो प्रकार का है, **दंसणे**–दर्शन में, **तहा**–तथा, **चरणे**–चारित्र मे, **दंसणे**–दर्शन मे, **तिविहं**–तीन प्रकार का, **वुत्तं**–कहा है, **चरणे**–चरणविषयक, **दुविहं**–दो प्रकार का, **भवे**–होता है।

मूलार्थ–मोहनीय कर्म भी दो प्रकार का कहा गया है, जैसे कि दर्शन में और चारित्र में अर्थात् दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इनमें दर्शनमोहनीय के तीन भेद कहे गए हैं और चारित्रमोहनीय दो प्रकार का है।

टीका–जो कर्म आत्मा के स्व-पर विवेक में बाधा पहुचाता है, अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र-गुण का घात करता हे उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। यह कर्म भी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है। तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो भेद हैं।

दर्शनमोहनीय–तत्त्वार्थश्रद्धान अर्थात् तत्त्वाभिरुचि को दर्शन कहते हैं। यह आत्मा का निजी गुण है। इसके घात करने वाले कर्म का नाम दर्शनमोहनीय है।

चारित्रमोहनीय–जिसके द्वारा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है उसका नाम चारित्र है। यह भी आत्मा का ही गुण है। इसके घातक कर्म को चारित्रमोहनीय कहते है। इसमें भी दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं–१. सम्यक्त्वमोहनीय, २ मिश्रमोहनीय और (३) मिथ्यात्वमोहनीय। इनमे सम्यक्त्वमोहनीय के दलिक विशुद्ध, मिश्रमोहनीय के अर्द्धविशुद्ध और मिथ्यात्वमोहनीय के अशुद्ध है।

इसी प्रकार चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं–(१) कषायमोहनीय और (२) नोकषायमोहनीय।

कष का अर्थ है जन्ममरणरूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो उसे कषाय कहते है। क्रोध, मान, माया और लोभ, इनकी कषाय संज्ञा है। कषायों के साथ ही जिनका उदय हो, अथवा कषायो को जो उत्तेजित करने वाले हो उनको नोकषाय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि हास्यादि नव को नोकषाय माना गया है।[1]

अब इस प्रस्तुत विषय का वर्णन शास्त्रकार स्वयं करते हैं। इसमें भी प्रथम दर्शनमोहनीय के तीन भेदों का वर्णन करते हुए कहते हैं–

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥ ९ ॥

सम्यक्त्व चैव मिथ्यात्वं, सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च ।
एतास्तिस्त्रः प्रकृतयः, मोहनीयस्य दर्शने ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–**सम्मत्तं**–सम्यक्त्व, **मिच्छत्तं**–मिथ्यात्व, **एवं**–उसी प्रकार, **सम्मामिच्छत्तं**–सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, **य**–पुन., **एयाओ**–ये, **तिन्नि**–तीनो, **पयडीओ**–प्रकृतिया, **मोहणिज्जस्स**–मोहनीय कर्म की, **दंसणे**–दर्शन मे, **चेव**–पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ–सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्वमिथ्यात्व-मिश्रमोहनीय ये तीनों प्रकृतियां मोहनीय कर्म की दर्शनविषयक होती हैं अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म की ये तीन प्रकृतियां अर्थात् उत्तर भेद हैं।

टीका–तत्त्वार्थ-श्रद्धान को दर्शन कहते है, उसमे मोह उत्पन्न करने वाले कर्म को दर्शन-मोहनीय कहा गया है। उसके सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय–मिश्र-मोहनीय–ये तीन भेद है।

१. **सम्यक्त्वमोहनीय**–जिस कर्म के प्रभाव से इस आत्मा को जीवाजीवादि पदार्थो मे श्रद्धा उत्पन्न हो अर्थात् तत्त्वविषयिणी रुचि उत्पन्न हो उसे सम्यक्त्व-मोहनीय कहते है।

शंका–जबकि यह कर्म मोहरूप है और आत्मा के दर्शनगुण का विघातक माना गया है, तब आवरणस्वरूप इस कर्म को तत्त्वविषयक श्रद्धा का उत्पादक किस प्रकार से माना जा सकता है? तथा ''सम्यक्त्वमोहनीय'' इस वाक्य का सीधा और स्पष्ट अर्थ तो यही प्रतीत होता है कि जो सम्यक्त्व में

---

१ इस विषय का एक प्राचीन श्लोक भी देखने मे आता है। यथा–

कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि ।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषाय-कषायता ॥ १ ॥

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद, ये हास्यादिनवक हैं।

मोह अर्थात् मूढ़ता उत्पन्न करे अर्थात् दर्शन-श्रद्धान मे रुकावट पैदा करे उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते है।

समाधान—जिस प्रकार उपनेत्र (चश्मा) आंखो का आच्छादक होने पर भी देखने में प्रतिबन्धक नहीं होता, उसी प्रकार यह सम्यक्त्वमोहनीय कर्म आवरणस्वरूप आत्मा के दर्शनगुण का आच्छादक होने पर भी शुद्ध होने के कारण आत्मा के दर्शनगुण अर्थात् तत्त्वार्थाभिरुचि—तत्त्वार्थश्रद्धा का विघात नहीं करता। अब रही 'सम्यक्त्वमोहनीय' इस वाक्य के शब्दार्थ की बात। अतः इसका तात्पर्य यह है कि यहा पर सम्यक्त्व शब्द से आत्मा के स्वभावरूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व का ग्रहण अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वमोहनीय के उदय से इस आत्मा को क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति तो नहीं होती, परन्तु तत्त्वाभिरुचिरूप सम्यक्त्व में यह बाधक नही होता, किन्तु शुद्ध होने से उसमे सहायक ही होता है। इसके अतिरिक्त इस कर्म के प्रभाव से सम्यक्त्व में कुछ मलिनता अवश्य आ जाती है, जिसके कारण सूक्ष्म तत्त्वों के विचारने में अनेक प्रकार की शकाए उत्पन्न होने लगती हैं।

इस प्रकार इस सारे कथन का तात्पर्य यह हुआ कि जिस कर्म के प्रभाव से इस आत्मा को सम्यक्त्व अर्थात् क्षायिक-सम्यक्त्व की प्राप्ति न हो सके और जीवादितत्त्वों पर श्रद्धा हो, परन्तु कुछ संशय बना रहे, उसका नाम सम्यक्त्वमोहनीय है। सम्यक्त्व के क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और वेदकसम्यक्त्व आदि अनेक भेद है जिनका विस्तार-भय से यहां पर उल्लेख नहीं किया गया।

२. **मिथ्यात्वमोहनीय**—जिस कर्म के प्रभाव से इस आत्मा में पदार्थों के स्वरूप को विपरीत भाव से जानने की बुद्धि उत्पन्न होती है, अर्थात् यह जीव हित को अहित और अहित को हित रूप समझने लगता है उस कर्म का नाम मिथ्यात्वमोहनीय है।

३. **सम्यक्-मिथ्यात्वमोहनीय**—इस कर्म के उदय से आत्मा को तत्त्व की रुचि और अतत्त्व की अरुचि भी नही होती, अर्थात् उसका जिन-धर्म पर न तो राग ही होता है और न द्वेष ही होता है, किन्तु सभी धर्मो को वह एक ही जैसा देखता है। तात्पर्य यह है कि उसकी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों मे समान भावना रहती है। इसी का दूसरा नाम मिश्रमोहनीय है।

अब चारित्रमोहनीय कर्म के विषय में कहते हैं, यथा—

चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं ।
कसायमोहणिज्जं च, नोकसायं तहेव य ॥ १० ॥

चारित्रमोहन कर्म, द्विविधं तु व्याख्यातम् ।
कषायमोहनीयं च, नोकषाय तथैव च ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—चरित्तमोहणं—चारित्रमोहनीय, **कम्मं**—कर्म, **दुविहं**—दो प्रकार का, **वियाहियं**—कथन किया है, **कसायमोहणिज्जं**—कषायमोहनीय, **तहेव**—उसी प्रकार, **नोकसायं**-नोकषाय मोहनीय, **च**—समुच्चयार्थक है, **य, तु**—प्राग्वत् ।

मूलार्थ–चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का कहा गया है। यथा–कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय।

टीका–आत्मा के चरित्र-गुण के विघातक कर्म को चारित्रमोहनीय कहते है। तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के उदय से यह आत्मा चारित्र के सुन्दर फल को जानती हुई भी चारित्र का ग्रहण न कर सके, किन्तु चारित्रविषयक मूढ़ता को प्राप्त हो जाए उसका नाम चारित्रमोहनीय है। इस कर्म के दो भेद हैं, कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। जो कषायो के साथ मिलकर कार्य करता है, वह कषायमोहनीय कहा जाता है और जो हास्यादि नोकषाय के साथ कार्य करता है, वह नोकषायमोहनीय है। कषाय और नोकषाय ये दोनो ही चारित्र में विघ्न उपस्थित करते है।

अब कषाय और नोकषाय के विषय में कहते हैं, यथा–

सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं ।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं ॥ ११ ॥

षोडशविध भेदेन, कर्म तु कषायजम् ।
सप्तविध नवविध वा, कर्म नोकषायजम् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–सोलसविह–सोलह प्रकार के, **भेएण**–भेद से, **कम्मं**–कर्म, **कसायजं**–कषाय से उत्पन्न होने वाला होता है, **तु**–फिर, **कम्मं**–कर्म, **नोकसायजं**–नोकषाय के कारण से उत्पन्न होने वाला, **सत्तविहं**–सात प्रकार का, **वा**–अथवा, **नवविह**–नव प्रकार का होता है।

मूलार्थ–कषायमोहनीय कर्म सोलह प्रकार **का है और सात अथवा नव प्रकार का नोकषायमोहनीय कहा गया है।**

टीका–कषायमोहनीय के सोलह भेद है। यथा–क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार तो मूल कषाय हैं। फिर इनमे से–अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन भेद से एक-एक के चार-चार भेद होने से, सब मिलाकर सोलह भेद हो जाते हैं। जैसे कि–

(क) १ अनन्तानुबंधी क्रोध, २. अनन्तानुबधी मान, ३ अनन्तानुबंधी माया और ४. अनन्तानुबधी लोभ।

(ख) १ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, २ अप्रत्याख्यानावरण मान, ३ अप्रत्याख्यानावरण माया और ४ अप्रत्याख्यानावरण लोभ।

(ग) १. प्रत्याख्यानावरण क्रोध, २. प्रत्याख्यानावरण मान, ३ प्रत्याख्यानावरण माया और ४. प्रत्याख्यानावरण लोभ।

(घ) १. सज्वलन क्रोध, २. सज्वलन मान, ३ संज्वलन माया और ४. सज्वलन लोभ। इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह भेद हो जाते हैं।

(क) अनन्तानुबंधी–जिस कषाय के प्रभाव से यह जीवात्मा अनन्तकाल तक इस संसार में भ्रमण करती है उस कषाय को अनन्तानुबधी कहते है।

(ख) अप्रत्याख्यानावरण–जिस कपाय के उदय से देशविरतिरूप अल्पप्रत्याख्यान की प्राप्ति नहीं होती वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है।

(ग) प्रत्याख्यानावरण–जिस कपाय के प्रभाव से सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यान अर्थात् मुनिधर्म को यह जीव प्राप्त नहीं कर सकता उसे प्रत्याख्यानावरण कहते है।

(घ) संज्वलन–जो कषाय, परीपह तथा उपसर्गों के आ जाने पर मुनियों को भी थोडा-सा जलावे अर्थात् उन पर जिसका थोडा-सा असर हो जाए उसे संज्वलनकषाय कहते हैं।

यहां पर इतना ध्यान रहे कि यह सज्वलनरूप कषाय, सर्वविरति रूप साधु-धर्म में तो किसी प्रकार की बाधा नही पहुंचाता, किन्तु सब से ऊचे, यथाख्यातचारित्र और केवलज्ञान मे बाधक अवश्य होता है।

नोकषाय के सात अथवा नौ भेद हैं। यथा–हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद, ये सात भेद हैं। और यदि वेद के पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इस प्रकार तीन भेद पृथक्-पृथक् मान लिए जाए तो (६+३=९) कुल नौ भेद होते हैं। इन कषायों के उदय से इस जीवात्मा को चारित्र धर्म मे ग्लानि उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार यह मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियो का संक्षेप से वर्णन किया गया है, अब सूत्रकार आयु-कर्म के विषय में कहते हैं–

नेरइय-तिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव य ।
देवाउयं चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥ १२ ॥

नैरयिक-तिर्यगायुः, मनुष्यायुस्तथैव च ।
देवायुश्चतुर्थ तु, आयुःकर्म चतुर्विधम् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–**नेरइय**–नैरयिकायु अर्थात् नरक की आयु, **तिरिक्खाउं**–तिर्यक् की आयु, **य**–और, **तहेव**–उसी प्रकार, **मणुस्साउं**–मनुप्य की आयु, **तु**–फिर, **चउत्थं**–चतुर्थ, **देवाउयं**–देवो की आयु, **आउकम्मं**–आयुकर्म, **चउव्विहं**–चार प्रकार का है।

मूलार्थ–आयुकर्म चार प्रकार का है–नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु।

टीका–जिस कर्म के अस्तित्व से यह प्राणी जीवित रहता है और क्षय हो जाने से मर जाता है उसको आयु कहते है। आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियां चार है। यथा (१) देवायु (२) मनुष्यायु (३) तिर्यगायु और (४) नरकायु। तात्पर्य यह है कि नरक, तिर्यग्, देव और मनुष्य, इन चारो गतियों में यह जीव इस आयुकर्म के सहारे से ही स्थिति करता है, पूर्व जन्म में वह जितनी आयु बांधकर आता है

उसकी उतनी स्थिति वह इस जन्म में पूरी कर लेता है। परन्तु यह सब आयुकर्म के प्रभाव से ही होता है।

अब नाम-कर्म के विषय में कहते हैं–

नामकम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं च आहियं ।
सुहस्स उ बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥ १३ ॥

नामकर्म तु द्विविध, शुभमशुभं चाख्यातम् ।
शुभस्य तु बहवो भेदाः, एवमेवाशुभस्यापि ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः–नामकम्मं–नामकर्म, **दुविहं**–दो प्रकार का, **आहियं**–कहा है, **सुहं**–शुभ, **च**–और, **असुहं**–अशुभ, **सुहस्स उ**–शुभ नामकर्म के भी, **बहू भेया**–बहुत भेद है, **एमेव**–इसी प्रकार, **असुहस्स वि**–अशुभ के भी बहुत भेद हैं।

मूलार्थ–नामकर्म का दो प्रकार से वर्णन किया गया है–शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नामकर्म के बहुत भेद हैं तथा अशुभ नामकर्म के भी अनेक भेद हैं।

टीका–जिस कर्म के प्रभाव से यह जीवात्मा देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है उसे नामकर्म कहते है। नामकर्म के शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म ऐसे दो भेद है। यद्यपि शुभ और अशुभ इन दोनों नामकर्मो के उत्तरोत्तर अनन्त भेद हो जाते हैं, तथापि मध्यम मार्ग की विवक्षा से शुभ नामकर्म के ३७ और अशुभ नाम के ३४ उत्तर भेद कथन किए गए हैं। यथा–

शुभ नामकर्म के उत्तर भेद–१ मनुष्यगति[१], २ देवगति, ३ पञ्चेन्द्रियजाति, ४ औदारिक, ५ वैक्रिय, ६ आहारक, ७. तैजस, ८. कार्मण, पचशरीर ९ सम चतुरस्त्र-सस्थान, १०. वज्रऋषभ-नाराच-सहनन, ११ औदारिक, १२ वैक्रिय, १३ आहारक, १४ तीनो शरीरो के प्रशस्त अगोपांग, १५ गन्ध, १६. रस, १७ स्पर्श, १८. मनुष्यानुपूर्वी, १९ देवानुपूर्वी, २०. अगुरुलघु, २१. पराघात, २२. उच्छ्वास, २३ आताप, २४ उद्योत, २५ प्रशस्त विहायोगति, २६. त्रस, २७ बादर, २८. पर्याप्त, २९ प्रत्येक, ३०. स्थिर, ३१ शुभ, ३२. सुभग, ३३ सुस्वर, ३४ आदेय, ३५ यशःकीर्ति, ३६ निर्माण और ३७ तीर्थकरनाम, ये ३७ भेद शुभ नामकर्म के है।

अशुभ नामकर्म के उत्तर भेद–१ नरकगति, २. तिर्यचगति, ३. एकेन्द्रियजाति, ४ द्वीन्द्रियजाति, ५ त्रीन्द्रियजाति, ६ चतुरिन्द्रिय-जाति, ७. ऋषभ-नाराच, ८ नाराच, ९. अर्द्धनाराच, १०. कीलिका, ११. सेवार्त्त, १२. न्यग्रोधमण्डल, १३ साति, १४. वामन, १५. कुब्ज, १६. हुड, १७. अप्रशस्त वर्ण, १८. अप्रशस्त गन्ध, १९ अप्रशस्त रस, २० अप्रशस्त स्पर्श, २१. नरकानुपूर्वी, २२. तिर्यगानुपूर्वी, २३. उपघात, २४ अप्रशस्त विहायोगति, २५ स्थावर, २६. सूक्ष्म, २७ साधारण, २८. अपर्याप्त, २९

१. यहा पर नाम शब्द सब के साथ जोड लेना–जैसे–मनुष्यगति-नाम, इत्यादि।

अस्थिर, ३० अशुभ, ३१ दुर्भग, ३२. दुःस्वर, ३३ अनादेय और ३४. अयशःकीर्ति, ये ३४ भेद अशुभ नामकर्म के हैं।

यह वर्णन मध्यम-विवक्षा को लेकर किया गया है तथा बन्धन और संघातों का शरीर से पृथक् करके और वर्णादि के अवान्तर भेदो का वर्णादि से पृथक् करके उल्लेख इसलिए नही किया गया कि ऐसा करने से उक्त संख्या मे न्यूनाधिकता के आ जाने की सम्भावना हो जाती है।

अब गोत्रकर्म के विषय में कहते हैं, यथा–

गोयं कम्मं दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं ।
उच्चं अट्ठविहं होइ, एवं नीयं पि आहियं ॥ १४ ॥

गोत्रं कर्म द्विविधम्, उच्चं नीचं चाख्यातम् ।
उच्चमष्टविधं भवति, एवं नीचमप्याख्यातम् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः–गोयं कम्मं–गोत्रकर्म, **दुविहं**–दो प्रकार का, **आहिय**–कहा है, **उच्च**–उच्च गोत्र, **च**–और, **नीयं**–नीच गोत्र, **उच्चं**–उच्च गोत्र, **अट्ठविहं**–आठ प्रकार का, **होइ**–होता है, **एवं**–इसी प्रकार, **नीयं पि**–नीच गोत्र भी–आठ प्रकार का, **आहियं**–कहा है।

मूलार्थ–उच्च और नीच भेद से गोत्रकर्म दो प्रकार का कहा गया है। उच्च गोत्र के आठ भेद हैं। इसी प्रकार नीच गोत्र भी आठ प्रकार का कहा गया है।

टीका–गोत्र का अर्थ है कुल तथा जिस कर्म के प्रभाव से यह जीव उच्च तथा नीच कुलों मे उत्पन्न होता है उसे गोत्रकर्म कहते है[1]। गोत्रकर्म के दो भेद है–उच्च गोत्र और नीच गोत्र। इन दोनों मे भी प्रत्येक के आठ-आठ भेद माने गए है। यथा–जाति, कुल, बल, तप, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और रूप–ये आठ भेद उच्च गोत्र के हैं और ये ही आठ भेद नीच गोत्र के हैं। उनमे भेद सिर्फ उत्तम और अधम का है अर्थात् ये उक्त आठ वस्तुए जिस कर्म के द्वारा उत्तम प्राप्त हों उसे "उच्च गोत्र" कहा जाता है, तथा ये ही आठ वस्तुएं जिस कर्म के द्वारा अधम (नीच कोटि की) प्राप्त हो उसे 'नीच गोत्र" कहते है। दूसरे शब्दों में–जिस कर्म के उदय से इस जीव को उत्तम जाति, कुल, बल, तप, ऐश्वर्य, श्रुत,

---

१ गोत्र शब्द की व्युत्पत्ति प्रज्ञापना-सूत्र में श्री मलयगिरि जी ने इस प्रकार की है–"तथा गूयते शब्द्यते उच्चावचै शब्दैर्यत् तद् गोत्रम्, उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षण , पर्यायविशेष·। तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्र, कार्ये कारणोपचारात्। यद्वा कर्मणोपादानविवक्षा, गूयते शब्द्यते उच्चावचै. शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् तद् गोत्रम्" [पद २३ सू २८८] तथा अभयदेवसूरि जी ने स्थानागसूत्र की वृत्ति मे गोत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है–
"पूज्योऽयमित्यादिव्यपदेशरूपां गां वाच त्रायत इति गोत्रम्। स्वरूपं चास्येदम्–
"जह कुंभारो भंडाइं कुणई, पुज्जेयराइ लोयस्स ।
इय गोयं कुणइ जियं, लोए पूज्जेयरावत्थं ॥"
छा –यथा कुम्भकारो भाण्डानि, करोति पूज्येतराणि लोकस्य ।
एवं गोत्रं करोति जीव, लोके पूज्येतरावस्थम् ॥

लाभ और रूप का लाभ हो वह उच्च गोत्र है, और जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल मे जन्म ले अर्थात् उक्त जाति-कुल आदि अधम प्राप्त हो, उसको नीच गोत्र कहते हैं।

अब अन्तराय कर्म के विषय में कहते हैं, यथा–

दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा ।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं ॥ १५ ॥

दाने लाभे च भोगे च, उपभोगे वीर्ये तथा ।
पञ्चविधमन्तरायं, समासेन व्याख्यातम् ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः–**दाणे**–दान मे, **लाभे**–लाभ मे, **य**–पुनः, **भोगे**–भोग मे, **य**–तथा, **उवभोगे**–उपभोग में, **तहा**–तथा, **वीरिए**–वीर्य में, **पंचविहं**–पाच प्रकार का, **अंतरायं**–अन्तरायकर्म, **समासेण**–सक्षेप से, **वियाहियं**–कथन किया गया है।

मूलार्थ–अन्तरायकर्म संक्षेप से पांच प्रकार का कथन किया गया है। यथा–दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

टीका–जो कर्म आत्मा के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य रूप शक्तियों का घात करने वाला हो उसे अन्तराय कहते हैं। अन्तरायकर्म के पांच भेद है, जिनका नीचे विवरण दिया जा रहा है–

(१) दानान्तराय–दान की वस्तुए विद्यमान हो, योग्य पात्र भी उपस्थित हो तथा दान का फल भी ज्ञात हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नही होता उसे दानान्तराय कहते हैं।

(२) लाभान्तराय–दाता मे उदारता हो, दान की वस्तु भी पास हो, तथा याचना में कुशलता भी हो, फिर भी जिस कर्म के प्रभाव से लाभ न हो वह लाभान्तराय कहलाता है। तात्पर्य यह है कि योग्य सामग्री के रहते हुए भी अभीष्ट वस्तु का प्राप्त न होना लाभान्तराय-कर्म का फल है।

(३) भोगान्तराय– भोग के साधन मौजूद हो तथा वैराग्य भी न हो, तो भी जिस कर्म के प्रभाव से यह जीव भोग्य पदार्थों को नही भोग सकता वह भोगान्तराय-कर्म है।

(४) उपभोगान्तराय–उपभोग की सामग्री पास मे हो और त्याग से रहित हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य वस्तुओ का उपभोग न कर सके उसको उपभोगान्तराय कहते हैं। जो पदार्थ एक ही बार काम मे आ सके उनको भोग कहते है, जैसे कि–फल, पुष्पादि। और जो बार-बार भोगे जा सके उनका नाम उपभोग है, यथा–स्त्री, मकान, वस्त्र और आभूषणादि।

(५) वीर्यान्तराय–वीर्य का अर्थ है सामर्थ्य–शक्ति। जिस कर्म के प्रभाव से बलवान्, शक्तिशाली और युवा होता हुआ भी जीव एक साधारण सा काम भी नहीं कर सकता उसे वीर्यान्तराय कहते है। वीर्यान्तराय के अवान्तर भेद तीन है–(१) बालवीर्यान्तराय (२) पण्डित-वीर्यान्तराय और (३) बालपण्डितवीर्यान्तराय। इस प्रकार अन्तराय-कर्म का यहा पर संक्षेप में वर्णन किया गया है।

अब इस विषय में जानने योग्य अन्य आवश्यक बातों के वर्णन का प्रस्ताव करते हैं, यथा–

एयाओ मूलपयडीओ, उत्तराओ य आहिया ।
पएसग्गं खेत्तकाले य, भावं च उत्तरं सुण ॥ १६ ॥

एता मूलप्रकृतयः, उत्तराश्चाख्याताः ।
प्रदेशाग्रं क्षेत्रकालौ च, भावं चोत्तरं श्रृणु ॥ १६ ॥

पदार्थान्वय.–**एयाओ**–ये, **मूलपयडीओ**–मूल प्रकृतिया, **य**–और, **उत्तराओ**–उत्तर प्रकृतियां, **आहिया**–कही गई हैं, **पएसग्गं**–प्रदेशो का अग्र–प्रमाण, **खेत्त**–क्षेत्र, **य**–और, **काले**–काल, **च**–तथा, **भाव**–भाव, **उत्तरं**–इससे आगे, **सुण**–श्रवण कर।

मूलार्थ–ये पूर्वोक्त कर्मों की मूल प्रकृतियां और उत्तर प्रकृतियां कही गई हैं। हे शिष्य ! अब तू प्रदेशाग्र, क्षेत्रकाल और भाव से इनके स्वरूप को श्रवण कर।

टीका–गुरु कहते हैं कि ''हे शिष्य ! कर्मो की मूल प्रकृतिया–ज्ञानावरणीयादि और उत्तर प्रकृतिया–श्रुतावरणीयादि–का मैने संक्षेप से कथन कर दिया है। अब इसके आगे तुम प्रदेशाग्र–परमाणुओ का परिमाण, क्षेत्रकाल और भाव के द्वारा किए जाने वाले निरूपण को सुनो।

अभिप्राय यह है कि इस गाथा में एक समय में कितने कर्माणु एकत्रित किए जाते हैं, तथा वे किन दिशाओ मे एकत्रित होते है, और उनकी उत्कृष्ट स्थिति कितनी एवं उनके रस का अनुभव कैसे होता है, इत्यादि प्रश्नो के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हुए शिष्य को उनके श्रवण करने के लिए अभिमुख किया गया है।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार प्रथम प्रदेशाग्र के सम्बन्ध मे कहते हैं, यथा–

सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणंतगं ।
गंठियसत्ताईयं, अंतो सिद्धाण आहियं ॥ १७ ॥

सर्वेषां चैव कर्मणां, प्रदेशाग्रमनन्तकम् ।
ग्रन्थिकसत्त्वातीतं, अन्तः सिद्धानामाख्यातम् ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–सव्वेसिं–सभी, **कम्माणं**–कर्मो के, **पएसग्गं**–प्रदेशाग्र, **अणंतगं**–अनन्त हैं, **गंठिय**–ग्रन्थिक, **सत्ताईयं**–सत्त्वातीत, **सिद्धाण**–सिद्धो के, **अंतो**–अन्तर्वर्ती, **आहियं**–कथन किए गए हैं, **च**–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ–सभी कर्मों के परमाणु ग्रन्थिकसत्त्वातीत अभव्यात्माओं से अनन्तगुणा अधिक और सिद्धों के अन्तर्वर्ती कथन किए गए हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में क्रम-प्राप्त प्रदेशाग्र का वर्णन किया गया है। यथा–यह जीवात्मा प्रतिसमय सात व आठ कर्म-वर्गणाओं का संचय करती है और कर्मो के वे सब परमाणु केवल एक समय मे एकत्र

किए हुए ग्रन्थिकसत्त्वातीत–अभव्य जीवो से अनन्तगुणा अधिक होते हैं, तथा सिद्धों से ये कर्म-परमाणु अनन्तगुणा न्यून होते है। तात्पर्य यह है कि एक समय मे सब कर्मो के परमाणु अभव्यों से अधिक और सिद्धों से न्यून होते हैं अर्थात् सिद्ध उनसे अनन्तगुणा अधिक हैं। यद्यपि कर्म-परमाणु संख्या मे अनन्त है तथा अभव्यों से अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भाग मे परमाणु-सख्या मे होते है। यह सब कथन एक समय की अपेक्षा से किया गया है।

सूत्रकर्ता न अभव्य आत्मा के लिए जो ग्रन्थिक-सत्त्व नाम दिया है उमका कारण यह है कि उन आत्माओं की राग-द्वेष की गांठ स्वभाव से ही ऐसी कठिन पड़ी हुई होती है कि वे किसी समय मे भी उसका भेदन नही कर सकतीं। कारण यह है कि इस गांठ का बन्ध अनादि-अनन्त होता है तथा भव्य जीवो की जो कर्म-ग्रन्थि है वह अनादि-सान्त मानी गई है। इसीलिए भव्य जीव मोक्ष के साधनो मे प्रवृत्त होने पर उसकी प्राप्ति के योग्य बनते हैं और ग्रन्थि का भेदन करके कषायो से मुक्त होते हुए अन्त मे सर्व कर्मो का विनाश करके मोक्ष को प्राप्त कर लेते है। प्रदेशाग्र यह परमाणु सख्या का ही नाम-विशेष है।

अब क्षेत्र के विषय में कहते है–

सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥ १८ ॥

सर्वजीवाना कर्म तु, संग्रहे षड्दिशागतम् ।
सर्वेष्वपि प्रदेशेषु, सर्व सर्वेण बद्धकम् ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–**सव्व**–सब, **जीवाण**–जीवां के, **कम्मं**–कर्माणु, **संगहे**–संग्रहण क योग्य, **छद्दिसागय**–छहो दिशाओ मे स्थित हैं, **सव्वेसु वि**–सभी, **पएसेसु**–प्रदेशो मे, **सव्वं**–सब–ज्ञानावरणादि कर्म, **सव्वेण**–सब आत्म-प्रदेशों के द्वारा, **बद्धग**–बद्ध है, **तु**–पादपूरणार्थ है।

मूलार्थ–संग्रह करने के योग्य सब जीवों के कर्माणु सब आत्म-प्रदेशो में सब प्रकार से बद्ध है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे कर्माणुआं के सग्रह का प्रकार बताया गया है। सब जीवो के कर्माणु पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर, तथा नीचे ऊपर सभी दिशाओ मे व्याप्त है। उनका संग्रह भी सभी दिशाओं से किया जा सकता है। वे कर्माणु सव आत्म-प्रदेशों मे बद्ध होते हैं, अर्थात् उनका आत्म-प्रदेशो के साथ क्षीर-नीर की तरह सम्बन्ध हो जाता है। उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के द्रव्य-कर्माणुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने का कारण राग-द्वेष की परिणतिरूप भाव-कर्म या अध्यवसाय-विशेष है। उसी के द्वारा जितने आकाश-क्षेत्र पर आत्म-प्रदेश अवगाहित होते है, उसी क्षेत्र की अपेक्षा से सब दिशाओं मे कर्म-वर्गणाओ का सचय किया जा सकता है। जिस प्रकार प्रज्वलित हुई अग्नि अपने समीपवर्ती पदार्थो का भस्मसात् कर देती है, उसी प्रकार जितने आकाश-क्षेत्र मे आत्म-प्रदेशो की अवगाहना होती है, अर्थात् जितने आकाश-क्षेत्र मे आत्म-प्रदेश फैले हुए होते है, उतने

क्षेत्र पर से कर्माणुओ का सचय किया जा सकता है तथा सब आत्म-प्रदेशा और सब कर्माणुओ का इस प्रकार पारस्परिक बन्धन हो जाता है जैसे लोहे की सांकल की कडियों का तथा मत्स्य पकडने के जाल की ग्रन्थियो का आपस मे बन्ध होता है।

इस विषय मे इतना और ध्यान रखना चाहिए कि कदाचित् एकेन्द्रिय जीव तो तीन दिशाओ से भी कर्मो का सग्रह कर सकता है, परन्तु द्वीन्द्रियादि जीव तो निश्चय ही छहो दिशाओ में से कर्माणुओ का संचय करते है।

''**सव्वेसु वि**''–यहा पर तृतीया के स्थान में सप्तमी का प्रयोग सुप-व्यत्यय को लेकर किया गया है।

अब काल के विषय में कहते है, यथा–

उदहीसरिसनामाणं, तीसई कोडिकोडीओ ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १९ ॥

उदधिसदृङ्नाम्नां, त्रिंशत्कोटिकोटयः ।
उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः–उदहीसरिस–समुद्र के समान, **नामाणं**–नाम वाले, **तीसई**–तीस, **कोडिकोडीओ**–कोटाकोटि सागरोपम, **उक्कोसिया**–उत्कृष्ट, **ठिई**–स्थिति, **होइ**–होती है, **जहन्निया**–जघन्य अर्थात् न्यून से न्यून, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति।

मूलार्थ–ज्ञानावरणीयादि कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम और कम से कम स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

टीका–जैसे खाया हुआ ग्रास रस, रुधिर, मास, मज्जा और अस्थि आदि भावो मे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किए कर्म-वर्गणा के परमाणु भी ज्ञानावरणादि के रूप मे परिणत हो जाते है। जब उनका आत्म-प्रदेशों के साथ क्षीर-नीर की भाति सम्बन्ध हो जाता है तब वे खाई हुई औषधि की तरह नियत समय पर अपना फल दिखाते है। उन कर्मो की स्थिति अधिक से अधिक तीस कोटाकोटि सागरोपम की और न्यून से न्यून एक अन्तर्मुहूर्त्त की मानी गई है। तात्पर्य यह है कि वे अधिक से अधिक तीस कोटाकोटि सागरोपम जितने समय तक फल देते है और न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्तमात्र मे फल देकर पृथक् हो जाते हैं। मध्यस्थिति का कोई नियम नही, वे दो घडी मे भी फल दे सकते हैं और दो वर्ष में भी।

सागरोपम का प्रमाण–एक योजन प्रमाण लम्बे-चौडे कूप को बारीक केसो से भरा जाए, अर्थात् एक-एक केश के अग्र भाग के असख्यात सूक्ष्म खंड कर दिए जाए, उनसे वह कूप ठूस-ठूस कर भर दिया जाए और सौ-सौ वर्ष के बाद उसमें से एक-एक खड निकाला जाए; इस प्रकार जब वह सारा कूप खाली हो जाए तब एक पल्य होता है, जब ऐसे दश कोटाकोटि पल्य बीत जाए तब उनका एक

सागरोपम होता है। इस विषय का अर्थात् सागरोपम काल का पूर्ण स्वरूप अनुयोग-द्वार सूत्र से जान लेना चाहिए।

किस-किस कर्म की यह उक्त प्रकार की स्थिति है, अब इसके सम्बन्ध में कहते हैं, यथा—

आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य ।
अंतराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ॥ २० ॥

आवरणयोर्द्वयोरपि, वेदनीये तथैव च ।
अन्तराये च कर्मणि, स्थितिरेषा व्याख्याता ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः—आवरणिज्जाण—आवरण करने वाले, **दुण्हं पि**—दोनो ही कर्मो की, **य**—और, **तहेव**—उसी प्रकार, **वेयणिज्जे**—वेदनीय कर्म की, **य**—और, **अतराए**—अन्तराय, **कम्मम्मि**—कर्म की, **एसा**—यह, **ठिई**—स्थिति, **वियाहिया**—वर्णन की गई है।

मूलार्थ—उपर्युक्त स्थिति केवल ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मो की वर्णन की गई है।

टीका—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मो की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की कही गई है।

यद्यपि '**अपरा द्वाद्वशमुहूर्त्ता वेदनीयस्य**' [अ० ८ सू० १९] इस तत्त्वार्थसूत्र के विषय में बृहद्‌वृत्तिकार लिखते हैं कि—**द्वादशमुहूर्त्तानामेवैतामिच्छन्ति तदभिप्रायं न विद्मः**' अर्थात् कुछ आचार्य वेदनीय कर्म की द्वादश मुहूर्त्तप्रमाण स्थिति मानत हैं, परन्तु उनके अभिप्राय को हम नहीं समझ सकते। तात्पर्य यह है कि उन्होंने किस आशय से और किस प्रमाण के आधार से ऐसा माना है यह हमारी समझ मे नहीं आता, परन्तु हमारे विचार से तो तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का उक्त कथन, सातावेदनीय कर्म को लेकर कहा गया प्रतीत होता है, अर्थात् वेदनीय से उनका तात्पर्य सातावेदनीय कर्म से है। कारण यह है कि सातावेदनीय कर्म की द्वादशमुहूर्त्तप्रमाण जघन्य स्थिति का उल्लेख प्रज्ञापनासूत्र मे मिलता है। यथा—'**सातावेदणिज्जस्स....जहन्नेणं बारसमुहुत्ता**' [पद० २३, उ० २, सू० २९४]

अब मोहनीय कर्म की स्थिति के विषय में कहते हैं—

उदहीसरिसनामाणं, सत्तरिं कोडिकोडीओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ २१ ॥

उदधिसदृङ्नाम्नां, सप्ततिः कोटिकोटय. ।
मोहनीयस्योत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त जघन्यका ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः—उदहीसरिस—उदधिसदृश, **नामाण**—नाम वाले, **सत्तरिं**—सत्तर, **कोडिकोडीओ**—

कोटाकोटि सागरोपम, **मोहणिज्जस्स**—मोहनीय कर्म की, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट स्थिति है, **जहन्निया**—जघन्य स्थिति, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त की है।

मूलार्थ—मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य अर्थात् कम से कम स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण होती है।

टीका—मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का मान सत्तर कोटाकोटि सागरोपम का है, अर्थात् अधिक से अधिक वह इतने समय तक अपना फल दे सकता है और न्यून से न्यून उसका फल अन्तर्मुहूर्त्त ही हो सकता है।

अब आयुकर्म की स्थिति का वर्णन करते हैं, यथा—

तेत्तीससागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ २२ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
स्थितिस्त्वायुःकर्मणः, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः—**तेत्तीससागरोवमा**—तेंतीस सागरोपम प्रमाण, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **ठिई**—स्थिति, **वियाहिया**—कथन की गई है, **आउकम्मस्स**—आयुकर्म की, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण, **जहन्निया**—जघन्य स्थिति है, **तु**—प्राग्वत्।

मूलार्थ—आयु-कर्म की जघन्य अर्थात् कम से कम स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट तेंतीस सागरोपम की वर्णन की गई है।

टीका—आयुकर्म की भवस्थिति होती है, कायस्थिति नही होती, इसलिए उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का सम्बन्ध भव से है, काया से नहीं।

अब नाम-कर्म और गोत्र-कर्म की स्थिति का वर्णन कहते है, यथा—

उदहीसरिसनामाणं, वीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा, अट्ठमुहुत्तं जहन्निया ॥ २३ ॥

उदधिसदृङ्नाम्नां विंशतिः कोटिकोटय. ।
नामगोत्रयोरुत्कृष्टा, अष्टमुहूर्ता जघन्यका ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः—**उदही**—समुद्र, **सरिस**—सदृश, **नामाणं**—नाम वाले, **वीसई कोडिकोडीओ**—बीस कोटाकोटि सागरोपम की, **नामगोत्ताण**—नाम और गोत्र कर्म की, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट स्थिति है, **जहन्निया**—जघन्य स्थिति, **अट्ठ मुहुत्तं**—आठ मुहूर्त्त की है।

मूलार्थ—नाम-कर्म और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की प्रतिपादन की गई है।

टीका—नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है, परन्तु कई एक प्रतियों मे **'अट्ठमुहुत्तं'** के स्थान पर **'अंतमुहुत्तं'** लिखा हुआ है जिसका अर्थ है अन्तर्मुहूर्त अर्थात् नाम और गोत्र की जघन्य स्थिनि अन्तर्मुहूर्तमात्र है। परन्तु अन्यत्र शुभ नाम कर्म और उच्च गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति का उल्लेख आठ मुहूर्त ही माना गया है[1]।

इसलिए यहा पर भी **"अट्ठ मुहुत्तं"** पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इतना और स्मरण रहे कि यहां पर जो उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का वर्णन है वह केवल मूल प्रकृतियो का ही समझना चाहिए, उत्तर प्रकृतियों का नही। उत्तर प्रकृतियो के लिए प्रज्ञापनासूत्र के प्रकृतिपद को देख लेना आवश्यक है।

अब भाव के विषय में कहते है—

सिद्धाणणंतभागो य, अणुभागा भवन्ति उ ।
सव्वेसु वि पएसग्गं, सव्वजीवेसु इच्छियं ॥ २४ ॥

सिद्धानामनन्तभागश्च, अनुभागा भवन्ति तु ।
सर्वेष्वपि प्रदेशाग्रं सर्वजीवेभ्योऽतिक्रान्तम् ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**सिद्धाण**—सिद्धों के, **णतभागो**—अनन्तवे भागमात्र, **अणुभागा**—अनुभाग, रसविशेष, **हवंति**—होते है, **सव्वेसु वि**—सब अनुभागों मे, **पएसग्गं**—प्रदेशो के अग्र-परमाणु का परिमाण, **सव्वजीवेसु**—सब जीवो से, **इच्छियं**—अधिक है, **तु**—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—सिद्धों के अनन्तवे भागमात्र कर्मो का अनुभाग अर्थात् रस होता है, फिर सब अनुभागों में कर्म-परमाणु सब जीवों से अधिक हैं।

टीका—पूर्व गाथा में कहा जा चुका है कि एक समय के कर्माणु अभव्य आत्माओ से अनन्तगुणा अधिक और सिद्धो के अनन्तवें भागमात्र है, अर्थात् सिद्धो से, एक समय के कर्म-परमाणु अनन्तगुणा न्यून है अतः प्रस्तुत गाथा में उसी बात को लेकर कहते है कि जब एक समय के कर्माणु सिद्धो से अनन्तगुणा न्यून है तो उन कर्माणुओं का अनुभाग भी सिद्धो से अनन्तगुणा न्यून है, परन्तु अनुभागविषयक वे कर्माणु अभव्य आत्माओं से अनन्तगुणा अधिक हैं। कारण यह है कि अनन्त आत्माओं के आत्म-प्रदेशो पर अनन्त कर्माणुओ की वर्गणाए है, जब कि एक के साथ अनन्त कर्म-वर्गणाओं का सम्बन्ध हो रहा है तब अनन्त जीवों से कर्मो के परमाणु आप ही अनन्तगुणा अधिक हो गए।

यहा यह विशेष ज्ञातव्य है कि प्रदेशाग्र परमाणु का ही नाम है, बुद्धि-द्वारा विभाग किए जाने पर जब वह परमाणु अविभाज्य दशा में आ जाता है तब उसे ही प्रदेशाग्र कहा जाता है। वह प्रदेशाग्र

---

१ "नामगायाण जहण्णेण अट्ठमुहुत्ता" [भगवती सू श ६ उ ३, सू २३६] "जसोकित्ति नामाएण पुच्छा? गोयमा। जहण्णेण अट्ठमुहुता। उच्चागोयस्स पुच्छा ? गोयमा । जहण्णेण अट्ठमुहुत्ता" [प्रज्ञापना सू० प० २३, उ २, सू० २९४ मे]।

एक-एक समय में सब जीवों द्वारा ग्रहण किए जाने पर सब जीवों से अनन्तगुणा अधिक होते हैं।

इस प्रकार प्रकृति के दिखलाने पर प्रकृति-बन्ध, प्रदेशाग्र के कहने से प्रदेश-बन्ध, काल के कहने से स्थिति-बन्ध और अनुभाग के वर्णन से रस-बन्ध, इस तरह प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और रस, इन चारों का ही संक्षेप से वर्णन कर दिया गया है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपदेश के व्याज से उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागे वियाणिया ।
एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहो ॥ २५ ॥
त्ति बेमि ।
इति कम्मप्पयडी समत्ता ॥ ३३ ॥

तस्मादेतेषां कर्मणाम्, अनुभागान् विज्ञाय ।
एतेषां सवरे चैव, क्षपणे च यतेत् बुधः ॥ २५ ॥
इति ब्रवीमि ।
इति कर्मप्रकृतिः समाप्ता ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः—तम्हा—इसलिए, **एएसिं**—इन, **कम्माणं**—कर्मो के, **अणुभागा**—अनुभाग को, **वियाणिया**—जानकर, **एएसिं**—इनके, **संवरे**—सवर में—निरोध मे, **च**—और, **खवणे**—क्षय करने में, **बुहो**—तत्त्व को जानने वाला, **जए**—यत्न करे, **च**—समुच्चय में है, **एव**—निश्चय मे है, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मै कहता हू।

मूलार्थ—इसलिए इन कर्मों के विपाक को जानकर बुद्धिमान् जीव इनके निरोध और क्षय करने का यत्न करे।

टीका—तत्त्व के जानने वाले विचारशील मुनि को चाहिए कि वह इन कर्मो के अशुभ और कटु परिणाम को जानकर जिन मार्गों के द्वारा ये कर्माणु आ रहे है, उनका तो निरोध करे और बाधे हुए कर्मो की निर्जरा करने का यत्न करे। इस प्रकार करने से जीव के लिए कर्मरहित होकर मोक्ष की प्राप्ति अवश्यम्भावी हो जाती है।

इस प्रकार श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी से उक्त विषय का प्रतिपादन किया है। यह कर्म-प्रकृति नाम का तेतीसवा अध्ययन समाप्त हुआ।

त्रयस्त्रिंशत्तममध्ययनं संपूर्णम्

अह लेसज्झयणं णाम चोत्तीसइमं अज्झयणं

अथ लेश्याध्ययनं नाम चतुस्त्रिंशत्तममध्ययनम्

पूर्वोक्त कर्म-प्रकृति नामक अध्ययन मे कर्मो की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों का सक्षेप से वर्णन किया गया है, परन्तु कर्मो की स्थिति आदि का विशेष आधार लेश्याओ पर निर्भर है, इसलिए इस चौतीसवे अध्ययन मे लेश्याओं का वर्णन किया जाता है। यथा–

लेसज्झयणं पवक्खामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
छण्हं पि कम्मलेसाणं, अणुभावे सुणेह मे ॥ १ ॥

लेश्याध्ययनं प्रवक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम् ।
षण्णामपि कर्मलेश्यानाम्, अनुभावान् शृणुत मम ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–लेसज्झयणं–लेश्या-अध्ययन को, **पवक्खामि**–मैं कहूंगा, **आणुपुव्विं**–आनुपूर्वी और, **जहक्कमं**–यथाक्रम से, **छण्हं पि**–छओ ही, **कम्मलेसाण**–कर्म-लेश्याओं के, **अणुभावे**–अनुभावों को, **मे**–मुझ से, **सुणेह**–श्रवण करो।

मूलार्थ–मैं आनुपूर्वी और यथाक्रम से लेश्या-अध्ययन को कहूंगा। तुम छहों कर्मलेश्याओं के अनुभावों अर्थात् रसों को मुझसे श्रवण करो।

टीका–श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते है कि अब तुम मुझसे छः प्रकार की लेश्याओ के स्वरूप को सुनो! मै अनुक्रम से इस लेश्या नामक अध्ययन मे उनकी व्याख्या करूगा। यह कहकर शास्त्रकार ने प्रस्तुत गाथा मे प्रतिपाद्य विपय की प्रतिज्ञा और पूर्व विषय के साथ उत्तर विषय का सम्बन्ध बता दिया है।

अनुभाव का अर्थ यहां पर रसविशेप हे, अर्थात् कारणवशात् आत्म-प्रदेशों के साथ संबद्ध होने

वाले कर्म-पुद्गलों के रसविशेष को अनुभाव कहते है, लेश्याओ का कर्मो के साथ बडा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। कर्मो की स्थिति का कारण लेश्याए हैं [**कर्मस्थितिहेतवो लेश्या:**] जैसे दो पदार्थो को मिलाने में एक तीसरे लेसदार द्रव्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आत्मा के साथ जो कर्मो का बन्ध होता है उसमें श्लेष अर्थात् सरेश की तरह लेश्याए काम देती हैं। कर्मबन्धन मे जो रस है उसका अनुभव भी लेश्याओं के द्वारा ही किया जाता है। योगों के परिणामविशेष को लेश्या कहते हैं [**योगपरिणामो लेश्या**] सयोगी-केवली नामक तेरहवें गुण-स्थान तक इन लेश्याओ का सद्भाव रहता है और जिस समय यह आत्मा अयोगी बन जाती है, अर्थात् चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेती है उसी समय वह लेश्याओ से रहित हो जाती है। इसलिए योगो के परिणामविशेष को लेश्या कहा गया है।

पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार अब इस लेश्या नामक अध्ययन में वर्णनीय विषयों के निरूपण की सूचना देते हुए कहते हैं कि–

नामाइं वण्ण-रस-गंध-फास-परिणाम-लक्खणं ।
ठाणं ठिइं गइं चाउं, लेसाणं तु सुणेह मे ॥ २ ॥

नामानि वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श-परिणाम-लक्षणानि ।
स्थानं स्थितिं गतिं चायु., लेश्यानां तु शृणुत मे ॥ २ ॥

पदार्थान्वय:–नामाइं–नाम, **वण्ण**–वर्ण, **रस**–रस, **गंध**–गन्ध, **फास**–स्पर्श, **परिणाम**–परिणाम, **लक्खणं**–लक्षण, **ठाण**–स्थान, **ठिइं**–स्थिति, **गइं**–गति, **च**–और, **आउं**–आयु, **लेसाण**–लेश्याओ की, **मे**–मुझसे, **सुणेह**–श्रवण करो, **तु**–पादपूर्ति के लिए हैं।

मूलार्थ–हे शिष्यो ! अब तुम मुझसे लेश्याओ के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु के स्वरूप को श्रवण करो।

टीका–इस गाथा मे लेश्याओं के वर्णन-प्रस्ताव मे एकादश द्वारो का उल्लेख किया गया है। इन एकादश द्वारों से लेश्याओं का वर्णन किया जाएगा, यथा–१ नाम-द्वार, २ वर्ण-द्वार, ३ रस-द्वार, ४. गन्ध-द्वार, ५. स्पर्श-द्वार, ६ परिणाम-द्वार, ७. लक्षण-द्वार, ८. स्थान-द्वार, ९ स्थिति-द्वार, १०. गति-द्वार और ११ आयु-द्वार। यहा द्वार शब्द का अर्थ है भेद। गुरु कहते हैं कि इन ११ द्वारो अर्थात् भेदों से मै लेश्याओं का वर्णन करूंगा, उनको तुम सावधान होकर श्रवण करो।

यदि सक्षेप से कहे तो वर्ण, रस और गन्धादि के द्वारा लेश्याओ के स्वरूप का वर्णन करना इस लेश्यानामक अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।

अब उद्देशक्रम के अनुसार प्रथम नाम-द्वार का वर्णन करते हैं, अर्थात् सबसे पहले लेश्याओं के नाम का निर्देश करते हैं, यथा–

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं ॥ ३ ॥

कृष्णा नीला च कापोती च, तेजः पद्मा तथैव च ।
शुक्ललेश्या च षष्ठी च, नामानि तु यथाक्रमम् ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**किण्हा**—कृष्णलेश्या, **य**—फिर, **नीला**—नीललेश्या, **य**—तथा, **काऊ**—कापोतलेश्या, **य**—और, **तेऊ**—तेजोलेश्या, **पम्हा**—पद्मलेश्या, **तहेव**—उसी प्रकार, **छट्ठा**—छठी, **सुक्कलेसा**—शुक्ललेश्या, **जहक्कमं**—अनुक्रम से, **नामाइं**—नाम हैं, **तु**—पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—छहों लेश्याओं के नाम अनुक्रम से इस प्रकार हैं—१. कृष्णलेश्या, २. नीललेश्या, ३. कापोतलेश्या, ४. तेजोलेश्या, ५. पद्मलेश्या और ६. शुक्ललेश्या।

टीका—विषयवर्णन की सुगमता के लिए सूत्रकार ने लेश्याओं के नाम का निर्देश कर दिया है। कारण यह है कि जिस पदार्थ का निरूपण करना हो उसका यदि प्रथम नामनिर्देश कर दिया जाए तो वह सुगम हो जाता है।

अब वर्ण द्वार का निरूपण करते हैं, यथा—

जीमूयनिद्धसंकासा, गवल-रिट्ठगसंनिभा ।
खंजंजण-नयणनिभा, किण्हलेसा उ वण्णओ ॥ ४ ॥

जीमूतस्निग्धसंकाशा, गवलारिष्टकसंनिभा ।
खञ्जाञ्जननयननिभा, कृष्णलेश्या तु वर्णतः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः—**जीमूय**—मेघ, **निद्ध**—स्निग्ध, **संकासा**—समान, **गवलरिट्ठगसंनिभा**—महिषश्रृग, काक अथवा फलविशेष (रीठा) की गुठली के सदृश, **खजजण**—शकट के अंजन, काजल, **नयन**—नेत्र की कीकी के, **निभा**—समान, **किण्हलेसा**—कृष्णलेश्या, **उ**—निश्चयार्थक है, **वण्णओ**—वर्ण से।

मूलार्थ—वर्ण की दृष्टि से कृष्णलेश्या जलयुक्त मेघ, महिष के श्रृग, काक, रीठे की गुठली, शकट की कीट, काजल और नेत्रतारिका इनके समान होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे कृष्णलेश्या के वर्ण अर्थात् रूप का कथन किया गया है। कृष्णलेश्या का रूप कैसा होता है, इसके लिए सूत्रकार ने जलयुक्त मेघ, महिषश्रृग, काक और रीठे की गुठली, शकट की कीट अथवा काजल और नेत्र की कीकी का उल्लेख किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जल से भरे हुए मेघ का रग होता है उसी वर्ण की कृष्णलेश्या होती है। तथा महिष के श्रृंग के समान, अथवा काक के समान वा रीठे की गुठली के समान, अथवा च शकट—गाडी के कीट वा काजल और नेत्र की कीकी के समान कृष्णलेश्या का वर्ण होता है। यहा पर गाथा में आए हुए (नयण) शब्द का उपचार से नेत्रगत काले भाग का ग्रहण ही अभिप्रेत है और रिट्ठग से रीठे की गुठली का रग ग्राह्य है, क्योकि रीठा भूरा होता है और उसकी गुठली ही काली हुआ करती है।

अब नीललेश्या के रूप का वर्णन करते हैं, यथा–

नीलासोगसंकासा, चासपिच्छसमप्पभा ।
वेरुलियनिद्धसंकासा, नीललेसा उ वण्णओ ॥ ५ ॥

नीलाशोकसंकाशा, चाषपिच्छसमप्रभा ।
स्निग्धवैदूर्यसंकाशा, नीललेश्या तु वर्णतः ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–**नीलासोग**–नील अशोक-वृक्ष के, **संकासा**–समान, **चासपिच्छसमप्पभा**–चाष पक्षी के परों के समान प्रभा वाली, **निद्ध**–स्निग्ध, **वेरुलिय**–वैदूर्यमणि के, **संकासा**–सदृश, **वण्णओ**–वर्ण से, **नीललेसा**–नीललेश्या, **उ**–जाननी चाहिए।

मूलार्थ–नीललेश्या का वर्ण नीले अशोक वृक्ष के समान, चाष पक्षी के परों के सदृश और स्निग्ध वैदूर्यमणि के समान होता है।

टीका–अशोक के साथ नील विशेषण देने का तात्पर्य रक्त अशोक की निवृत्ति करना है। चाष नाम का कोई पक्षी विशेष है। वैदूर्यमणि को आम भाषा मे "नीलम" कहते हैं। स्निग्ध का अर्थ यहां पर प्रदीप्त और प्रिय है।

अब कापोतलेश्या के रूप का वर्णन करते है, यथा–

अयसीपुप्फसंकासा, कोइलच्छदसंनिभा ।
पारेवयगीवनिभा, काऊलेसा उ वण्णओ ॥ ६ ॥

अतसीपुष्पसंकाशा, कोकिलच्छदसंनिभा ।
पारावतग्रीवानिभा, कापोतलेश्या तु वर्णतः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–**अयसीपुप्फ**–अलसी-पुष्प के, **संकासा**–समान, **कोइलच्छदसंनिभा**–कोयल के परो क समान, **पारेवय**–पारावत अर्थात् कबूतर की, **गीव**–ग्रीवा के, **निभा**–सदृश, **वण्णओ**–वर्ण वाली, **काऊलेसा**–कापोतलेश्या, उ–होती है।

मूलार्थ–जिस रंग का अलसी का पुष्प होता है, कोयल के पर होते हैं और कबूतर की गर्दन होती है, उसी प्रकार का रंग कापोतलेश्या का होता है।

टीका–यहां पर "कोइलच्छद" का अर्थ "कोकिला अर्थात् कोयल पक्षी का पंख" यह अर्थ प्रसिद्ध ही है। अभिप्राय यह है कि किंचित् कृष्ण और किंचित् रक्त वर्ण को लिए हुए कापोतलेश्या होती है।

अब तेजोलेश्या के रूप का वर्णन करते हैं, यथा–

हिंगुलधाउसंकासा, तरुणाइच्चसंनिभा ।
सुयतुंड-पईवनिभा, तेऊलेसा उ वण्णओ ॥ ७ ॥

हिंगुलधातुसंकाशा, तरुणादित्यसंनिभा ।
शुकतुण्डप्रदीपनिभा, तेजोलेश्या तु वर्णतः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः–हिंगुल–हिगुल–शिंगरफ, **धाउ**–धातु के, **संकासा**–सदृश, **तरुणाइच्च**–तरुण सूर्य के, **संनिभा**–समान, **सुयतुड**–शुक की नासिका और, **पईव**–प्रदीप-शिखा के, **निभा**–समान, **तेऊलेसा**–तेजोलेश्या, **वण्णओ**–वर्ण वाली, **उ**–जाननी चाहिए।

मूलार्थ–हिंगुल-धातु, तरुण सूर्य, शुकनासिका और दीपशिखा के रंग के समान तेजोलेश्या का रंग होता है।

टीका–तेजोलेश्या के वर्ण मे दीप्ति और रक्तता की प्रधानता होती है, इसलिए उसके रूप-निर्णय में जितने भी उदाहरण दिए गए हैं, वे सब दीप्तिमान तथा रक्तिमापूर्ण हैं। यथा हिंगुल धातु अर्थात् शिंगरफ मे और शुकनासिका मे रक्त वर्ण का प्राधान्य होता है और उदय होते हुए सूर्य तथा दीपशिखा में भी रक्त दीप्ति की प्रधानता रहती है।

अब पद्मलेश्या के रूप का निरूपण करते हैं, यथा–

हरियालभेयसंकासा, हलिद्दाभेयसमप्पभा ।
सणासणकुसुमनिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥ ८ ॥

हरितालभेदसंकाशा, हरिद्राभेदसमप्रभा ।
शणासनकुसुमनिभा, पद्मलेश्या तु वर्णतः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः–हरियालभेय–हरिताल-खंड के, **संकासा**–सदृश, **हलिद्दाभेय**–हरिद्रा-खड के, **समप्पभा**–समान प्रभा वाली, **सण**–सण के पुष्प और, **असण**–असनपुष्प, **निभा**–तुल्य, **पम्हलेसा**–पद्मलेश्या, **वण्णओ**–वर्ण वाली, **तु**–जाननी चाहिए।

मूलार्थ–हरिताल और हलदी के टुकड़े के समान तथा सण और असन के पुष्प के समान पीला पद्मलेश्या का रंग होता है।

टीका–हरिताल और हरिद्रा का पीत वर्ण प्रसिद्ध ही है, तथा सण[1] और असन दो वनस्पतिया है इनके पुष्प भी पीले रग के ही होते हैं। पद्मलेश्या उनके वर्ण के समान पीत वर्ण वाली होती है।

अब शुक्ललेश्या के रूप के विषय में कहते हैं, यथा–

---

१ सण–इस नाम की वनस्पति पजाब मे तो प्रसिद्ध ही है, परन्तु हिन्दुस्तान के अन्य भागो मे भी पजाब की तरह ही इसकी बडी फसल होती है, इसके रस्से बनते है, सूतली आदि भी इसी की तैयार होती है, इसके पुष्प पीले रग के होते है, देखने मे बड़े सुन्दर लगते है तथा असन भी पीले फूल की वनस्पति है।

संखंक-कुंदसंकासा, खीरपूरसमप्पभा ।
रययहारसंकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥ ९ ॥

शङ्खाङ्ककुन्दसङ्काशा, क्षीरपूरसमप्रभा ।
रजतहारसङ्काशा, शुक्ललेश्या तु वर्णतः ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–**संख**–शंख, **अंक**–मणिविशेष, **कुंद**–कुन्द-पुष्प के, **संकासा**–सदृश, **खीर-पूर**–दुग्ध की धारा के, **समप्पभा**–समान प्रभा वाली, **रययहार**–रजत–चादी के हार के, **संकासा**–समान, **सुक्कलेसा**–शुक्ललेश्या, **वण्णओ**–वर्ण वाली, **तु**–जाननी चाहिए।

मूलार्थ–शुक्ललेश्या का वर्ण शंख, अंक (मणिविशेष), मुचकुन्द के पुष्प और दुग्ध-धार तथा रजत के हार के समान उज्ज्वल अर्थात् श्वेत होता है।

टीका–शुक्ललेश्या का वर्ण शंख के समान धवल, अंक नामक रत्न और कुन्द-पुष्प के समान उज्ज्वल तथा क्षीर-धारा और रजत-हार के समान श्वेत होता है। किसी-किसी प्रति मे 'खीरपूर' के स्थान पर 'खीरधार' का पाठ भी देखने में आता है। तात्पर्य यह है कि शुक्ललेश्या के परमाणु अत्यन्त उज्ज्वल और निष्कलंक होते है। यहा पर इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि लेश्याओ के रूपवर्णन मे उदाहरणरूप से जो भिन्न-भिन्न जाति के अनेक पदार्थों का निर्देश किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि जिज्ञासु को इस विषय का सुखपूर्वक बोध हो जाए, क्योंकि देशभेद से किसी-किसी वस्तु का बोध नही भी होता। एतदर्थ ही दयालु सूत्रकार ने भिन्न-भिन्न उदाहरण यहां पर दिए हैं।

अब दूसरे रस-द्वार का निरूपण करते है–

जह कडुयतुंबगरसो, निंबरसो कडुयरोहिणिरसो वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो य किण्हाए नायव्वो ॥ १० ॥

यथा कटुकतुम्बकरसः, निम्बरसः कटुकरोहिणीरसो वा ।
इतोऽप्यनन्तगुणः, रसश्च कृष्णाया ज्ञातव्यः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–**जह**–यथा, **कडुय**–कटुक, **तुंबगरसो**–तुम्बक का रस, **निंबरसो**–नीम का रस, **वा**–अथवा, **कडुयरोहिणिरसो**–कटुरोहिणी का रस होता है, **एत्तो वि**–इससे भी, **अणंतगुणो**–अनन्तगुणा कटु, **रसो**–रस, **किण्हाए**–कृष्णलेश्या का, **नायव्वो**–जानना चाहिए, **य**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–जितना कटु रस कड़वे तूंबे, निम्ब और कटुरोहिणी[1] का होता है उससे भी अनन्तगुणा अधिक कटु रस कृष्णलेश्या का होता है।

टीका–कड़वे तूंबे और नीम की कटुता प्रसिद्ध है, उसी प्रकार कटुरोहिणी (गिलोय) भी अत्यन्त

---

१ यह ज्वरनाशक औषधिविशेष है।

कडवी होती है, परन्तु कृष्णलेश्या का रस इनसे भी अनन्तगुणा कड़वा है। रस का अर्थ यहां पर 'आस्वाद विशेष' है। 'यथा' और 'कटु' इन दोनो शब्दो का प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध करना चाहिए।

अब नीललेश्या के रस का वर्णन करते हैं–

जह तिगडुयस्स य रसो, तिक्खो जह हत्थीपिप्पलीए वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ नीलाए नायव्वो ॥ ११ ॥

यथा त्रिकटुकस्य च रस·, तीक्ष्णो यथा हस्तिपिप्पल्या वा ।
इतोऽप्यनन्तगुण., रसस्तु नीलाया ज्ञातव्यः ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः–जह–यथा, **तिगडुयस्स**–त्रिकटु का, **रसो**–रस, **तिक्खो**–तीक्ष्ण होता है, **वा**–अथवा, **जह**–यथा, **हत्थीपिप्पलीए**–गजपीपली का रस होता है, **एत्तो वि**–इससे भी, **अणतगुणो**–अनन्तगुणा अधिक तीक्ष्ण, **रसो**–रस, **नीलाए**–नीललेश्या का, **नायव्वो**–जानना चाहिए, **य-उ**–प्राग्वत् ।

मूलार्थ–नीललेश्या के रस को मघ, मिर्च और सौंठ तथा गजपीपल के रस से भी अनन्तगुणा तीक्ष्ण समझना चाहिए।

टीका–हस्तिपीपल–गजपीपल, यह बडे आकार की मघा पीपल ही होती है।

अब कापोतलेश्या के रस का वर्णन करते है–

जह तरुणअंबगरसो, तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ काऊए नायव्वो ॥ १२ ॥

यथा तरुणाम्रकरस., तुवरकपित्थस्य वापि यादृश. ।
इतोऽप्यनन्तगुणः, रसस्तु कापोताया ज्ञातव्याः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–जह–जैसे, **तरुणअंबगरसो**–तरुण–अपरिपक्व–आम्रफल का रस होता है, **वा**–अथवा, **तुवरकविट्ठस्स**–तुवर और कपित्थ के फल का, **जारिसओ**–जैसा रस होता है, **एत्तो वि**–इससे भी, **अणंतगुणो**– अनन्तगुणा अधिक, **रसो**–रस, **उ**–निश्चयार्थक है, **काऊए**–कापोतलेश्या का, **नायव्वो**–जानना चाहिए, **अवि**–अपि–पादपूर्ति के लिए है।

मूलार्थ–कापोतलेश्या के रस को कच्चे आम के रस और कच्चे तुवर और कच्चे कपित्थफल के रस की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक खट्टा समझना चाहिए।

टीका–यहा पर 'तरुण' शब्द अपरिपक्व अर्थ मे ग्रहण किया गया है, अतः तरुण आम्रफल का अर्थ हुआ–कच्चा आम्रफल। इसी प्रकार तरुण शब्द का तुवर और कपित्थ के साथ भी सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

अब तेजोलेश्या के रस का निरूपण करते है, यथा–

जह परिणयंबगरसो, पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ तेऊए नायव्वो ॥ १३ ॥

यथा परिणताम्रकरसः, पक्वकपित्थस्य वापि यादृशः ।
इतोऽप्यनन्तगुणः, रसस्तु तेजोलेश्याया ज्ञातव्य. ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः–जह–यथा, **परिणयंबगरसो**–पके हुए आम के फल का रस होता है, **वा**–अथवा, **अवि**–अपि–पादपूर्ति में, **जारिसओ**–जैसा, **पक्ककविट्ठस्स**–पके हुए कपित्थफल का रस होता है, **एत्तो वि**–इससे भी, **अणंतगुणो**–अनन्तगुणा अधिक, **रसो**–रस, **तेऊए**–तेजोलेश्या का, **नायव्वो**–जानना चाहिए, **उ**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–पके हुए आम्रफल अथवा पके हुए कपित्थफल का जैसा खट्टा-मीठा रस होता है उससे भी अनन्तगुणा अधिक खट्टा-मीठा रस तेजोलेश्या का समझना चाहिए।

टीका–कच्चे आम्रफल और कपित्थफल की अपेक्षा पके हुए आम्र और कपित्थ के फल में, अर्थात् उनके रस में मधुरता अधिक आ जाती है और खटास का नाममात्र शेष रह जाता है। तात्पर्य यह है कि उनका मधुर रस अत्यन्त स्वादिष्ट हो जाता है, परन्तु तेजोलेश्या के रस में तो इनसे अनन्तगुणा अधिक माधुर्य और स्वादुता आ जाती है।

अब पद्मलेश्या के रस का वर्णन करते हैं, यथा–

वरवारुणीए व रसो, विविहाण व आसवाण जारिसओ ।
महुमेरयस्स व रसो, एत्तो पम्हाए परएणं ॥ १४ ॥

वरवारुण्या इव रसः, विविधानामिवासवानां यादृशः ।
मधुमैरेयकस्येव रस , इतः पद्माया. परकेण (भवति) ॥ १४ ॥

पदार्थान्वय·–वर–प्रधान, **वारुणीए**–मदिरा का, **व**–जैसा, **रसो**–रस होता है, **व**–अथवा, **विविहाण**–विविध प्रकार के, **आसवाण**–आसवो का, **जारिसओ**–जिस प्रकार का रस होता है, **व**–अथवा, **महु**–मधु और, **मेरयस्स**–मैरेयक का, **रसो**–रस होता है, **एत्तो**–इससे, **परएणं**–अनन्तगुणा अधिक रस, **पम्हाए**–पद्मलेश्या का होता है।

मूलार्थ–प्रधान मदिरा, नाना प्रकार के आसव, तथा मधु और मैरेयक नाम की मदिरा का जिस प्रकार का रस होता है उससे भी अनन्तगुणा अधिक रस पद्मलेश्या का है।

टीका–आसव, यह मद्य का ही एक भेद है, तथा मधु और मैरेयक भी एक प्रकार की मदिरा ही होती है और ऊंचे प्रकार की मदिरा को वारुणी कहते हैं। पद्मलेश्या का रस वारुणी, मधु और मैरेयक, इन मद्यों और नाना प्रकार के आसव तथा अरिष्टों की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक मधुर और स्वादिष्ट होता है। यहां पर रस के विषय में जो उक्त प्रकार के मद्यो और आसवो का उदाहरण दिया गया है वह उनके माधुर्य रस को लेकर दिया गया है न कि उनके उन्मत्त भाव की भी यहां पर अपेक्षा

की गई है। तथा च किंचित् अम्ल-कषाय और माधुर्य-पूर्ण रस पद्मलेश्या का जानना चाहिए।

अब शुक्ललेश्या के रस का उल्लेख करते हैं—

खज्जूर-मुद्दियरसो, खीररसो खंड-सक्कररसो वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥ १५ ॥

खर्जूरमृद्वीकारसः क्षीररस. खण्डशर्करारसो वा ।
इतोऽप्यनन्तगुणः रसस्तु शुक्ललेश्याया ज्ञातव्यः ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**खज्जूर**—खजूर और, **मुद्दिय**—मृद्वीका—दाख का, **रसो**—रस, **वा**—अथवा, **खीररसो**—क्षीर का रस, **खंडसक्कररसो**—खाड और शकरा का रस—जैसा होता है, **एत्तो वि**—इससे भी, **अणंतगुणो**—अनन्तगुणा अधिक, **रसो**—रस, **सुक्काए**—शुक्ललेश्या का, **नायव्वो**—जानना चाहिए, **उ**—प्राग्वत्।

मूलार्थ—जैसा मधुर रस खजूर, दाख, दुग्ध, खांड और शर्करा का होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक मधुरतापूर्ण रस शुक्ललेश्या का जानना चाहिए।

टीका—इस गाथा मे अन्तिम शुक्ललेश्या के रस का वर्णन किया गया है। शुक्ललेश्या के रस के लिए जितने भी पदार्थो की उपमा दी गई है वे सब के सब माधुर्य रस से परिपूर्ण हैं, परन्तु शुक्ललेश्या का मधुर रस इन खर्जूरादि के रस की अपक्षा अनन्तगुणा मधुर है। यहां पर शर्करा का अर्थ मिश्री है—[शर्करा काशादिप्रभवा]। इस प्रकार छओ लेश्याओ के रसो का सक्षिप्त वर्णन किया गया है।

अब इस तीसरे गन्ध-द्वार में इन लेश्याओं की गन्ध का वर्णन किया जाता है, यथा—

जह गोमडस्स गंधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स ।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ १६ ॥

यथा गोमृतकस्य गन्धः, शुनो मृतकस्य वा यथाऽहिमृतकस्य ।
इतोऽप्यनन्तगुणो, लेश्यानामप्रशस्तानाम् ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**जह**—यथा **गोमडस्स**—मृतक गो की, **गंधो**—गन्ध होती है, **व**—अथवा, **सुणगमडस्स**—मृतक श्वान की गन्ध होती है, **जहा**—जैसे, **अहिमडस्स**—मरे हुए सर्प की गन्ध होती है, **एत्तो वि**—इससे भी, **अणंतगुणो**—अनन्तगुणा अधिक बुरी गन्ध, **अप्पसत्थाणं**—अप्रशस्त, **लेसाणं**—लेश्याओ की होती है।

मूलार्थ—जैसी मृतक गौ की, अथवा मरे हुए कुत्ते और मरे हुए सर्प की गन्ध होती है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक दुर्गन्ध अप्रशस्त लेश्याओं की होती है।

टीका—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लश्याए अप्रशस्त अर्थात् अशुभ मानी गई हैं। इन तीनों लेश्याओ की गन्ध मरी हुई गौ, मरे हुए कुत्ते और मरे हुए सर्प की दुर्गन्ध की अपेक्षा अनतगुणा अधिक

अप्रशस्त है। तात्पर्य यह है कि जैसे गौ, श्वान और सर्प के मृतक शरीर मे अत्यन्त दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है, उससे भी कहीं अनंतगुणा अधिक दुर्गन्ध इन लेश्याओं मे होती है। इसीलिए इनको अप्रशस्त कहा गया है। कारण यह है कि इन तीनों के परमाणु अत्यन्त दुर्गन्धमय होते हैं। तथा जैसे गौ, श्वान और सर्प, इन तीनो के मृतक कलेवर में उत्पन्न होने वाली दुर्गन्ध में न्यूनाधिकता होती है, उसी प्रकार इन तीनों अप्रशस्त लेश्याओं की दुर्गन्ध में भी न्यूनाधिकता तो रहती ही है।

अब आगे की तीन लेश्याओं की गन्ध का वर्णन करते हैं, यथा–

जह सुरहिकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥ १७ ॥

यथा सुरभिकुसुमगन्धः, गन्धवासानां पिष्यमाणानाम् ।
इतोऽप्यनन्तगुणः, प्रशस्तलेश्यानां तिसृणामपि ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–**जह**–जैसे, **सुरहि**–सुगन्धि वाले, **कुसुम**–पुष्पो की, **गंधो**–गन्ध होती है, तथा **पिस्समाणाणं**–पिसे हुए, **गंधवासाण**–सुगन्धयुक्त पदार्थों की जैसी गन्ध होती है, **एत्तो वि**–उससे भी, **अणंतगुणो**–अनन्तगुणा सुगन्ध, **तिण्हं पि**–तीनों ही, **पसत्थलेसाणं**–प्रशस्त लेश्याओं की होती है।

मूलार्थ–केवड़ा आदि सुगन्धित पुष्पो अथवा सुगन्धयुक्त घिसे हुए चन्दनादि पदार्थो की जैसी प्रशस्त गंध होती है, उससे भी अनन्तगुणा प्रशस्त सुगन्ध इन तीनों ही लेश्याओं की होती है।

टीका–तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या, ये तीनो ही प्रशस्त लेश्याए है, तथा केतकी आदि वृक्षो के जितने भी महासुगन्धित पुष्प है और कोष्ठपुटपाक आदि से अथवा सुगन्धिमय चन्दनादि पदार्थो के घिसने से भी जैसी उत्तम सुगन्ध निकलती है, उसकी अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक सुगध तेज, पद्म और शुक्ल–इन तीन प्रशस्त लेश्याओ की होती है।

तात्पर्य यह है कि इन तीनो लेश्याओ के परमाणु उक्त सुगन्धिमय द्रव्यों की गन्ध से अनन्तगुणा प्रशस्त गन्ध वाले हैं। सुगन्ध के विषय मे यहां पर भी न्यूनाधिकता की कल्पना कर लेनी चाहिए।

अब स्पर्श-द्वार का वर्णन करते है तथा उसमें भी प्रथम की तीन अप्रशस्त लेश्याओं के स्पर्श का उल्लेख करते हैं, यथा–

जह करगयस्स फासो, गोजिब्भाए य सागपत्ताणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ १८ ॥

यथा क्रकचस्य स्पर्शः, गोजिह्वायाश्च शाकपत्राणाम् ।
इतोऽप्यनन्तगुणो, लेश्यानामप्रशस्तानाम् ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–**जह**–जैसे, **करगयस्स**–करपत्र अर्थात् आरी के अग्र भाग का, **फासो**–स्पर्श,

वा–अथवा, **गोजिब्भाए**–गोजिह्वा का स्पर्श, **य**–और, **सागपत्ताणं**–शाकपत्रो का स्पर्श होता है, **एत्तो वि**–उससे भी, **अणंतगुणो**–अनन्तगुणा अधिक खुरदुरा स्पर्श, **अप्पसत्थाणं**–अप्रशस्त, **लेसाणं**–लेश्याओ का होता है।

मूलार्थ–जैसा स्पर्श करपत्र, गोजिह्वा और शाकपत्रों का होता है, उनसे भी अनन्तगुणा अधिक खुरदुरा स्पर्श अप्रशस्त लेश्याओं का होता है।

टीका–कृष्ण, नील और कापोत, इन तीनों लेश्याओं का स्पर्श करपत्र अर्थात् आरी के अग्रभाग का स्पर्श, गोजिह्वा के स्पर्श और शाकपत्रों के स्पर्श से अनन्तगुणा अधिक कर्कश होता है। तथाच अप्रशस्त होने के कारण जिस प्रकार इनकी गन्ध में न्यूनाधिकता होती है, उसी प्रकार स्पर्श मे भी न्यूनाधिकता अवश्य होती है। शाक-पत्र से अभिप्राय बिच्छू बूटी आदि का हो सकता है; क्योंकि उनके स्पर्शमात्र से शरीर मे खुजली और जलन होने लगती है।

अब फिर इसी विषय में अर्थात् उत्तर की तीनों प्रशस्त लेश्याओं के स्पर्श के विषय में कहते हैं, यथा–

जह बूरस्स व फासो, नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥ १९ ॥

यथा बूरस्य वा स्पर्शः, नवनीतस्य वा शिरीषकुसुमानाम् ।
इतोऽप्यनन्तगुणः, प्रशस्तलेश्याना तिसृणामपि ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः–**जह**–जैसे, **बूरस्स**–बूर नाम की वनस्पति का, **फासो**–स्पर्श, **नवणीयस्स**–नवनीत का स्पर्श, **व**–अथवा, **सिरीसकुसुमाणं**–शिरीष के पुष्पों का स्पर्श होता है, **एत्तो वि**–उससे भी, **अणंतगुणो**–अनन्तगुणा अधिक कोमल स्पर्श, **तिण्हं पि**–इन तीनों, **पसत्थ**–प्रशस्त, **लेसाण**–लेश्याओ का होता है, **वि**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–एक विशेष कोमल वनस्पति बूर, नवनीत अर्थात् मक्खन और शिरीष के पुष्पों का जितना कोमल स्पर्श होता है, उनसे भी अनन्तगुणा अधिक कोमल स्पर्श इन तीनों प्रशस्त लेश्याओं का हुआ करता है।

टीका–तेज, पद्म और शुक्ल ये तीनों प्रशस्त लेश्याएं हैं। इनके स्पर्श की कोमलता बूर, नवनीत और सिरस के फूलो की कोमलता की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक है, परन्तु जैसे बूर, नवनीत और सिरस के पुष्पो की कोमलता और मृदुता मे कुछ न्यूनाधिकता देखने मे आती है, उसी प्रकार तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के स्पर्श की कोमलता और मृदुता में भी कुछ न्यूनाधिकता अवश्य होती है।

अब लेश्याओं के परिणाम का वर्णन करते हैं, यथा–

तिविहो व नवविहो वा, सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा ।

दुसओ तेयालो वा, लेसाणं होइ परिणामो ॥ २० ॥

त्रिविधो वा नवविधो वा, सप्तविंशतिविध एकाशीतिविधो वा ।
त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशतविधो वा, लेश्यानां भवति परिणामः ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः–तिविहो–त्रिविध, **व**–अथवा, **नवविहो**–नवविध, **वा**–अथवा, **सत्तावीसइविह**–सत्ताईस प्रकार, **वा**–अथवा, **इक्कसीओ**–इकासी प्रकार, **वा**–तथा, **दुसओ**–दो सौ, **तेयालो**–तेंतालीस प्रकार का, **लेसाणं**–लेश्याओं का, **परिणामो**–परिणाम, **होइ**–होता है।

मूलार्थ–इन छओं लेश्याओं के अनुक्रम से–तीन, नौ, सत्ताईस, इक्कासी और दो सौ तेंतालीस प्रकार के परिणाम होते हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में छओ लेश्याओ के परिणामो का वर्णन किया गया है। इन परिणामो की संख्या अनुक्रम से ३, ९, २७, ८१ और २४३ होती है। यथा–जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, इस प्रकार तीन परिणाम हुए; इन तीनो के फिर एक-एक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद करने से ९ हो जाते है; इसी प्रकार सत्ताईस को तीनगुणा करने से ८१, और ८१ को तीनगुणा करने से २४३ भेद हो जाते हैं[1]। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक को तीनगुणा करने से इन परिणाम-भेदों की सख्या २४३ हो जाती है, परन्तु इतना ध्यान रहे कि परिणामों के ये भेद केवल संख्यागत नियम को लेकर किए गए हैं। परिणामों की अपेक्षा से तो संख्या का नियमन नहीं हो सकता, कारण कि न्यूनाधिकता मे सख्या का बोध नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि वहां सख्या ही नही रहती।

परिणाम-द्वार के अनन्तर अब लक्षण द्वार का वर्णन करते हैं, यथा–

पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य ।
तिव्वारंभपरिणओ, खुद्दो साहसिओ नरो ॥ २१ ॥
निद्धंधसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ ।
एयजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे ॥ २२ ॥

पञ्चास्रवप्रवृत्तः, तिसृभिरगुप्तः षट्स्वविरतश्च ।
तीव्रारम्भपरिणतः, क्षुद्र साहसिको नरः ॥ २१ ॥
निध्वंसपरिणामः, नृशंसोऽजितेन्द्रिय. ।
एतद्योगसमायुक्तः, कृष्णलेश्यां तु परिणमेत् ॥ २२ ॥

१.प्रज्ञापनासूत्र में भी लेश्याओं के परिणामों का इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। यथा–"कण्हलेसाण भंते ! कतिविहपरिणाम परिणमति ? गोयमा ! तिविह वा, नवविह वा, सत्तावीसइविहं वा, एकासीइविह वावि, तेयालदुसयविहं वा, बहुं वा बहुविहं वा परिणाम परिणमति, एवं जाव सुक्कलेसा"।
[पद १७, उद्दे. ४, सू. २२९]

पदार्थान्वयः—**पंचासवप्पवत्तो**—पांचों आस्रवों में प्रवृत्त—प्रमादयुक्त, **तीहिं**—तीनो गुप्तियो से, **अगुत्तो**—अगुप्त, **य**—और, **छसु**—षट्काय में, **अविरओ**—अविरत, **तिव्वारंभ**—तीव्र आरम्भ मे, **परिणओ**—परिणत, **खुद्दो**—क्षुद्रबुद्धि, **साहसिओ**—साहसी-बिना विचारे काम करने वाला, **नरो**—नर, उपलक्षण से स्त्री आदि भी, **निद्धंधसपरिणामो**—निर्दयता के भावों वाला—निर्दयी, **निस्संसो**—नृशंस—हिंसादि कृत्यों में सन्देहरहित, **अजिइंदिओ**—अजितेन्द्रिय—इन्द्रियों को न जीतने वाला, **एय**—इन, **जोगसमाउत्तो**—योगों से युक्त, **किण्हलेसं**—कृष्णलेश्या को, **परिणमे**—परिणत होता है, **तु**—अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—पांचों आस्रवों में प्रवृत्त, तीनो गुप्तियो से अगुप्त, षट्काय की हिंसा में आसक्त, उत्कट भावों से हिंसा करने वाला, क्षुद्रबुद्धि, बिना विचारे काम करने वाला, निर्दयी, नृशंस अर्थात् पाप-कृत्यों में शंकारहित, अजितेन्द्रिय—इंदियों के वशीभूत—इन उक्त क्रियाओं से युक्त जो व्यक्ति है, वह कृष्णलेश्या के भावों से परिणत होता है, अर्थात् वह कृष्णलेश्या वाला होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथाद्वय में कृष्णलेश्या के लक्षणों का वर्णन किया गया है कि किस जीव मे कौन-सी लेश्या कार्य कर रही है, इस बात के यथार्थ निर्णय के लिए छओं लेश्याओं के लक्षणो को समझने की अत्यन्त आवश्यकता है। कृष्णलेश्यायुक्त जीव के क्या-क्या आचरण होते हैं और कैसे-कैसे विचार होते है, इस बात का विचार इस गाथाद्वय मे बड़ी स्पष्टता से किया गया है। जैसे कि—जो व्यक्ति पाचो प्रकार के पापमार्गो—हिसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह में आसक्त है, मन, वचन और काया को सयम मे नहीं रखता, तथा जो पृथिवीकाय आदि षट्काय की विराधना करने वाला है और हिसाजनक तीव्र भावो को अन्त·करण मे रखने वाला, क्षुद्रबुद्धि, क्रूर, अजितेन्द्रिय तथा पारलौकिक भय से शून्य और निरन्तर भोगो मे लगा हुआ है, वह कृष्णलेश्या का धारण करने वाला होता है।

अब नीललेश्या का लक्षण बताते है, यथा—

इस्सा-अमरिस-अतवो, अविज्जमाया अहीरिया ।
गेही पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए-सायगवेसए य ॥ २३ ॥
आरंभाओ अविरओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो ।
एयजोगसमाउत्तो, नीललेसं तु परिणमे ॥ २४ ॥

ईर्ष्याऽमर्षातप अविद्या - अमायाऽह्लीकता ।
गृद्धिः प्रद्वेषश्च (यस्य) शठः, प्रमत्तो रसलोलुप· सातागवेषकश्च ॥ २३ ॥
आरम्भादविरत·, क्षुद्रः साहसिको नरः ।
एतद्योगसमायुक्त·, नीललेश्यां तु परिणमेत् ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**इस्सा**—ईर्ष्यायुक्त, **अमरिस**—अमर्ष अर्थात् कदाग्रहयुक्त, **अतवो**—तपश्चर्या से रहित, **अविज्ज**—विद्या से रहित, **माया**—छल-छपट करने वाला, **अहीरिया**—लज्जा से रहित, **गेही**—गृद्धियुक्त

अर्थात् लम्पट, **य**—और, **पओसे**—प्रद्वेष करने वाला, **सढे**—शठ—असत्यभाषी, **पमत्ते**—प्रमादी, **रसलोलुए**—रसों का लोलुपी, **य**—और, **सायगवेसए**—सुख की गवेषणा करने वाला, **आरंभाओ**—आरम्भ से, **अविरओ**—अनिवृत्त, **खुद्दो**—क्षुद्र, **साहस्सिओ**—साहसी, **नरो**—व्यक्ति, **एय**—इन, **जोग**—योगों से, **समाउत्तो**—समायुक्त, **नीललेसं**—नीललेश्या के, **परिणमे**—परिणाम वाला होता है, तु—प्राग्वत्।

मूलार्थ—नीललेश्या के परिणाम वाला व्यक्ति ईर्ष्यालु, कदाग्रही, असहिष्णु, अतपस्वी, अविद्वान् अर्थात् अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, विषयी अर्थात् लम्पट, द्वेषी, रस-लोलुपी, शठ—धूर्त्त, प्रमादी, स्वार्थी, आरम्भी, क्षुद्र और साहसी होता है।

टीका—यहां पर 'इस्सा अमरिस—ईर्ष्या और अमर्ष आदि पदों में 'मतुप्' प्रत्यय का 'लुक्' किया हुआ है, इसलिए ईर्ष्या का अर्थ ईर्ष्यायुक्त—ईर्ष्यालु तथा अमर्ष का अर्थ अमर्ष वाला अर्थात् असहिष्णु है। इसी प्रकार माया आदि अन्य शब्दों का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष इन उक्त लक्षणों से युक्त है उसमे नीललेश्या की परिणति होती है, अथवा यह कहें कि नीललेश्या वाला पुरुष उक्त लक्षणों से लक्षित होता है, अर्थात् उसमें पूर्वोक्त ईर्ष्या-अमर्षादि दोष विद्यमान होते है। इसके अतिरिक्त गाथाद्वय मे आए हुए ईर्ष्यादि शब्दो का अर्थ प्रायः स्पष्ट ही है।

अब कापोतलेश्या के लक्षणों का वर्णन करते हैं, यथा—

वंके वंकसमायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए ।
पलिउंचग-ओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥ २५ ॥

उप्फालगदुट्ठवाई य, तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो, काऊलेसं तु परिणमे ॥ २६ ॥

वक्रो वक्रसमाचारः, निष्कृतिमाननृजुकः ।
परिकुञ्चक औपधिकः, मिथ्यादृष्टिरनार्यः ॥ २५ ॥

उत्प्रासकदुष्टवादी च, स्तेनश्चापि च मत्सरी ।
एतद्योगसमायुक्तः, कापोतलेश्यां तु परिणमेत् ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**वंके**—वचन से वक्र, **वंकसमायारे**—वक्र ही क्रिया करने वाला, **नियडिल्ले**—छल करने वाला, **अणुज्जुए**—सरलता से रहित, **पलिउंचग**—अपने दोषों को ढांपने वाला, **ओवहिए**—परिग्रही, **मिच्छदिट्ठी**—मिथ्यादृष्टि, **य**—और, **अणारिए**—अनार्य, **उप्फालग**—मर्मभेदक, **य**—और, **दुट्ठवाई**—दुष्ट वचन बोलने वाला, **तेणे**—चोरी करने वाला, **मच्छरी**—मत्सरी—पराई सम्पत्ति को सहन न करने वाला, **एय**—इन, **जोगसमाउत्तो**—योगों से युक्त जीव, **काऊलेसं**—कापोतलेश्या के, **परिणमे**—परिणाम वाला होता है, **अवि य**—यह पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति वक्र बोलता है, वक्र आचरण करता है, छल करने वाला है, निजी दोषों को ढांपता है, सरलता से रहित है, मिथ्यादृष्टि तथा अनार्य है, इसी प्रकार पर के मर्मों

को भेदन करने वाला, दुष्ट वचन बोलने वाला, चोरी और असूया करने वाला है, वह व्यक्ति कापोतलेश्या से युक्त होता है।

टीका—इन दोनों गाथाओं में कापोतलेश्या के लक्षणों का वर्णन किया गया है। जैसे कि—वक्र—टेढ़ा बोलना और वक्र—विपरीत ही आचरण करना, कपट का व्यवहार करना, सरलता से रहित होना, अपने दोषों को छिपाने के लिए अनेक प्रकार के उपायों को सोचना, हर एक प्रवृत्ति में छल का व्यवहार करना [व्याजत: प्रवृत्ते:], विपरीतदृष्टि और अनार्यता के भाव रखना, इसी प्रकार मर्मस्पर्शी भाषा का प्रयोग करना, अर्थात् ऐसी वाणी बोलना कि जिसके सुनने से दूसरो का हृदय विदीर्ण हो जाए तथा राग-द्वेष के वर्द्धक वचनो का प्रयोग करना, चोरी करना और मत्सरी होना, ये सब लक्षण कापोतलेश्या के कहे गए हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति में ये लक्षण विद्यमान हों, उसमें कापोतलेश्या की परिणति होती है। दूसरे की सम्पत्ति को देखकर जलने वाला पुरुष मत्सरी कहलाता है। [**परसंपदसहनं बित्तात्यागश्च वत्सरो ज्ञेय:**] अर्थात् पराई विभूति को सहन न करना तथा धन का त्याग अर्थात् दान न करना, मत्सर कहलाता है और मत्सरयुक्त व्यक्ति को मत्सरी कहते है। सारांश यह है कि इन लक्षणो से युक्त व्यक्ति कापोतलेश्या के परिणामों वाला होता है।

अब तेजोलेश्या के लक्षण का वर्णन करते हैं—

नीयावित्ती अचवलं, अमाई अकुऊहले ।
विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥ २७ ॥

पियधम्मे दढधम्मे, ऽवज्जभीरू हिएसए ।
एयजोगसमाउत्तो, तेऊलेसं तु परिणमे ॥ २८ ॥

नीचैर्वृत्तिरचपल:, अमाय्यकुतूहल: ।
विनीतविनयो दान्त:, योगवानुपधानवान् ॥ २७ ॥
प्रियधर्मा दृढधर्मा, अवद्यभीरुर्हितैषिक: ।
एतद्योगसमायुक्त:, तेजोलेश्यां तु परिणमेत् ॥ २८ ॥

पदार्थान्वय:—**नीयावित्ती**—नम्रतायुक्त, **अचवले**—चपलता-रहित, **अमाई**—माया से रहित, **अकुऊहले**—कुतूहल से रहित, **विणीयविणए**—विनययुक्त अर्थात् विनीत, **दंते**—दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला, **जोगवं**—स्वाध्यायादि करने वाला, **उवहाणव**—उपधान तप को करने वाला, **पियधम्मे**—धर्मप्रेमी, **दढधम्मे**—धर्म मे दृढ रहने वाला, **अवज्जभीरू**—पापभीरु अर्थात् पाप से डरने वाला, **हिएसए**—हितैषी—मुक्तिपथ का गवेषक, **एय**—इन, **जोगसमाउत्तो**—लक्षणो से युक्त जीव मे, **तेऊलेसं**—तेजोलेश्या का, **परिणमे**—परिणाम होता है, **तु**—प्राग्वत्।

मूलार्थ—नम्रता का बर्ताव करने वाला, चपलता से रहित, अमायी—माया अर्थात् छलकपट

से रहित, अकुतूहली—कुतूहल से पृथक् रहने वाला, परम विनयवान्, इन्द्रियों का दमन करने वाला, स्वाध्याय में रत और उपधान आदि तप को करने वाला, धर्म में प्रेम और दृढ़ता रखने वाला, पापभीरु और सब का हित चाहने वाला पुरुष तेजोलेश्या के परिणामो से युक्त होता है।

टीका—उक्त गाथाद्वय मे तेजोलेश्या के लक्षण वर्णन किए गए हैं। जो व्यक्ति तेजोलेश्या के परिणाम वाला होता है वह मन, वचन और शरीर से सदा नम्रता का बर्ताव करता है, अर्थात् किसी प्रकार का अहकार नहीं करता तथा अचपल अर्थात् चंचलता से रहित होता है। छल-कपट का त्यागी तथा कुतूहल से रहित अर्थात् किसी से मजाक (उपहास) भी नहीं करता और विनयादि गुणों से युक्त होता है। तात्पर्य यह है कि वह वृद्धों और गुरुजनों की सेवा में प्रवृत्त रहता है। इन्द्रियो का दमन करने वाला, वाचना-पृच्छना आदि पांच प्रकार के स्वाध्याय में लगा रहने वाला और श्रुत की आराधना के लिए योगो का उद्वहन करने वाला, धर्मप्रेमी अर्थात् धर्मानुष्ठान मे रुचि रखने वाला, प्रतिज्ञापालक, पापभीरु और मोक्षमार्ग की गवेषणा करने वाला होता है।

कुतूहल शब्द में इन्द्रजाल आदि कौतुकजनक लौकिक विद्याओं का भी समावेश कर लेना चाहिए। तपश्चर्यापूर्वक किया गया श्रुत का अध्ययन सर्व प्रकार की मनोकामना को पूर्ण करने वाला माना गया है। सारांश यह है कि ये उक्त लक्षण तेजोलेश्या के बोधक है, अर्थात् जिस व्यक्ति में ये उक्त लक्षण पाए जाए, वहा पर तेजोलेश्या का सहज ही में अनुमान कर लेना चाहिए।

अब पद्मलेश्या के लक्षण कहते हैं, यथा—

पयणुकोह-माणे य, मायालोभे य पयणुए ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥ २९ ॥

तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥ ३० ॥

प्रतनुक्रोधमानश्च, माया लोभश्च प्रतनुक. ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, योगवानुपधानवान् ॥ २९ ॥

तथा प्रतनुवादी च, उपशान्तो जितेन्द्रियः ।
एतद्योगसमायुक्तः, पद्मलेश्यां तु परिणमेत् ॥ ३० ॥

पदार्थान्वयः—**पयणु**—सूक्ष्म—पतला, **कोह-माणे य**—क्रोध और मान हैं जिसके, **माया**—माया, **य**—और, **लोभे**—लोभ, **पयणुए**—अत्यन्त पतले, **पसंतचित्ते**—प्रसन्नचित्त, **दंतप्पा**—आत्मा को जिसने वश किया है, **जोगवं**—योगों वाला, **उवहाणवं**—उपधान वाला, **तहा**—तथा, **पयणुवाई**—अल्प भाषण करने वाला, **य**—और, **उवसंते**—उपशान्त तथा, **जिइंदिए**—जितेन्द्रिय, **एय**—इन, **जोगसमाउत्तो**—लक्षणों से युक्त, **पम्हलेसं**—पद्मलेश्या को, **परिणमे**—परिणत होता है, तु—प्राग्वत्।

मूलार्थ–जिस जीव के क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत अल्प हैं, तथा जो प्रशान्तचित्त और मन का निग्रह करने वाला है, योग और उपधान वाला, अत्यल्पभाषी, उपशान्त और जितेन्द्रिय है, इन लक्षणों से युक्त व्यक्ति पद्मलेश्या वाला होता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा-युग्म मे पद्मलेश्या के लक्षणों का उल्लेख किया गया है। जिस आत्मा में पद्मलेश्या की परिणति होने लगती है उसमे क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषायो की मात्रा बहुत ही कम हो जाती है। कषायरूप अग्नि के शान्त होने से उसका चित्त भी शांति को प्राप्त हो जाता है तथा प्रशान्तचित्त होने से वह आत्मा मन के दमन करने मे समर्थ हो जाती है। इसी कारण वह स्वाध्याय और श्रुत की आराधना में प्रवृत्ति करती है। इसके अतिरिक्त वह जीव अत्यल्प भाषण करने वाला, शान्त रस में निमग्न और इन्द्रियो को जीतने वाला होता है।

अब शुक्ललेश्या के लक्षणों का वर्णन करते हैं, यथा–

अट्ट-रुद्दाणि वज्जित्ता, धम्म-सुक्काणि साहए ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥ ३१ ॥
सरागे वीयरागे वा, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥ ३२ ॥

आर्तरौद्रे वर्जयित्वा, धर्मशुक्ले साधयेत् ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, समितो गुप्तश्च गुप्तिभिः ॥ ३१ ॥
सरागो वीतरागो वा, उपशान्तो जितेन्द्रियः ।
एतद्योगसमायुक्तः, शुक्ललेश्या तु परिणमेत् ॥ ३२ ॥

पदार्थान्वयः–अट्टरुद्दाणि–आर्त और रौद्र को, **वज्जित्ता**–त्यागकर, **धम्मसुक्काणि**–धर्म और शुक्ल ध्यान की, **साहए**–साधना करे, **पसंतचित्ते**–प्रशान्तचित्त, **दंतप्पा**–दान्तात्मा, **समिए**–समितियो से समित, **गुत्तिसु**–गुप्तियो से, **गुत्ते**–गुप्त, **य**–प्राग्वत्, **सरागे**–रागसहित, **वा**–अथवा, **वीयरागे**–वीतराग, **उवसंते**–उपशान्त, **जिइंदिए**–जितेन्द्रिय, **एय**–इन, **जोगसमाउत्तो**–लक्षणों से युक्त जीव, **सुक्कलेसं**–शुक्ललेश्या को, **परिणमे**–परिणत होता है, **तु**–अवधारण के अर्थ मे है।

मूलार्थ–आर्त्त और रौद्र इन दो ध्यानों को त्यागकर जो व्यक्ति धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानो का चिन्तन करता है तथा प्रशान्तचित्त, दमितेन्द्रिय, पांच समितियों से समित और तीन गुप्तियों से गुप्त है, एवं अल्परागवान् अथवा वीतरागी, उपशम-निमग्न और जितेन्द्रिय है वह शुक्ललेश्या से युक्त होता है।

टीका–इस गाथायुगम में शुक्ललेश्या के लक्षणो का दिग्दर्शन कराया गया है। ध्यान के चार भेद है–आर्त्त-ध्यान, रौद्र-ध्यान, धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान। इनमे पहले दोनों ध्यान अप्रशस्त होने से हेय है और अन्त के दोनों प्रशस्त होने से मुमुक्षु के लिए उपादेय हैं।

जो जीव शुक्ललेश्यावान् होता है वह प्रथम के दोनों अप्रशस्त ध्यानो को छोड़कर अन्त के धर्म और शुक्ल इन दोनों का निरन्तर अभ्यास के द्वारा सम्पादन करने का प्रयत्न करता है तथा प्रशान्तचित्त और इन्द्रियों का दमन करने वाला, ईर्या, भाषा आदि समितियों से संयुक्त और तीन प्रकार की गुप्तियो से मन, वचन और काया के व्यापार का निरोध करने वाला होता है।

जिस आत्मा में शुक्ललेश्या के परिणाम का सद्भाव होता है, वह आत्मा सरागी अर्थात् अल्पकषाय वाली अथवा वीतराग अर्थात् कषायो से सर्वथा रहित होती है तथा उपशम-रस मे निमग्न और सब प्रकार से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाली होती है।

किसी-किसी प्रति में **'साहए अर्थात् साधयेत्'** के स्थान पर **'झायई अर्थात् ध्यायति'** ऐसा पाठान्तर भी देखने में आता है।

'गुत्तिसु' यहां तृतीया के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग किया गया है।

इसके अतिरिक्त दूसरी गाथा मे 'उपशान्त' के स्थान पर 'शुद्धयोगो वा' ऐसा पाठान्तर भी दृष्टिगोचर होता है। इस पद का अर्थ है निर्दोष व्यापार।

इस प्रकार इन छहों लेश्याओ के लक्षणो का निर्वचन किया गया है। इनमें प्रथम की तीन लेश्याए अप्रशस्त हैं और उत्तर की प्रशस्त कही गई हैं। तथा—कौन जीव किस लेश्या से युक्त है, इस बात का निर्णय करने के लिए ये पूर्वोक्त लक्षण बहुत ही उपयोगी है।

अब **लेश्याओं के स्थान-द्वार का वर्णन करते हैं—**

असंखिज्जाणोसप्पिणीण, उस्सप्पिणीण जे समया ।
संखाईया लोगा, लेसाण हवंति ठाणाइं ॥ ३३ ॥

असंख्येयानामवसर्पिणीनाम्, उत्सर्पिणीनां ये समयाः ।
संख्यातीता लोकाः, लेश्यानां भवन्ति स्थानानि ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः—असंखिज्जाण—असख्यात, **ओसप्पिणीण**—अवसर्पिणियो के—तथा, **उस्सप्पिणीण**—उत्सर्पिणियो के, **जे**—जितने भी, **समया**—समय हैं तथा, **संखाईया**—संख्यातीत, **लोगा**—लोक के यावन्मात्र प्रदेश है उतने ही, **लेसाण**—लेश्याओ के, **ठाणाइं**—स्थान, **हवंति**—होते है।

मूलार्थ—असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणियों के जितने समय हैं तथा संख्यातीत लोक में जितने आकाश-प्रदेश हैं उतने ही लेश्याओं के (शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की लेश्याओं के) स्थान होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे काल और क्षेत्र से लेश्याओं के स्थान का वर्णन किया गया है। अन्तःकरण मे उत्पन्न होने वाले शुभ एवं अशुभ अध्यवसायो को "स्थान" कहा जाता है।

इस संसार में अनादि काल से दो प्रकार के काल-चक्रों का अनुक्रम से भ्रमण होता रहता है। उसमें एक का नाम अवसर्पिणीकाल है और दूसरे को उत्सर्पिणीकाल कहते है। जिसमे पदार्थों के आयु,

मान, स्थिति और आकारादि का क्रमशः ह्रास होता जाए, उसको अवसर्पिणीकाल कहते हैं तथा जिसमें पदार्थों की आयु, स्थिति और आकारादि की वृद्धि होती जाए उसका नाम उत्सर्पिणीकाल है। इन दोनों में प्रत्येक के छह-छह आरे अर्थात् विभाग माने गए हैं तथा इन दोनों का कालमान एक जैसा है। तात्पर्य यह है कि दश कोटाकोटी सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल होता है। इतने ही कालमान का एक उत्सर्पिणी काल होता है। इस प्रकार दोनों का कालमान मिलाकर बीस कोटाकोटी सागरोपम का एक कालचक्र होता है।

अवसर्पिणीकाल में जीवों के शरीर, आयु, प्रमाण और सुखादि का क्रमशः ह्रास होता चला जाता है तथा दूसरे उत्सर्पिणीकाल मे उनकी क्रम से वृद्धि होती जाती है।

अब प्रस्तुत विषय की ओर आने पर तत्त्व यह निकला कि उक्त प्रकार के असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालचक्रो के जितने समय हो सकते हैं, उतने स्थान लेश्याओं के हैं। यह काल-विभाग से लेश्याओ के स्थान का वर्णन हुआ।

अब क्षेत्रविभाग से उनके स्थानो का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि सख्यातीत लोक अर्थात् असख्यात लोको में जितने भी आकाश-प्रदेश है, उतने ही स्थान लेश्याओं के हैं। इसमे इतना ध्यान रहे कि स्थानों की यह कल्पना शुभाशुभ दोनों प्रकार की लेश्याओ के सम्बन्ध को लेकर की गई है।

स्थानो की यह कल्पना काल से असंख्यातकालचक्रों के समयो के तुल्य है और क्षेत्र से असख्यातलोकाकाश के प्रदेशों के समान है। स्थानों का यथार्थ ज्ञान कंवली के सिवाय और किसी को नहीं हो सकता। इन स्थानो के अनुसार ही कर्म-प्रकृतियों का बन्ध, अर्थात् आत्म-प्रदेशों के साथ द्रव्य-कर्माणुओ का मेल होता है।

अब लेश्याओं की स्थिति के विषय में कहते हैं, यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना तेत्तीसा सागरा मुहुत्तहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा किण्हलेसाए ॥ ३४ ॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्त्ताधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थिति., ज्ञातव्या कृष्णलेश्यायाः ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः—**मुहुत्तद्धं**—अन्तर्मुहूर्त्त, **तु**—तो, **जहन्ना**—जघन्य और, **तेत्तीसा सागरा**—तेंतीस सागरोपम, **मुहुत्तहिया**—मुहूर्त अधिक, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट, **ठिई**—स्थिति, **होइ**—होती है, **किण्हलेसाए**—कृष्णलेश्या की, **नायव्वा**—ऐसा जानना चाहिए।

मूलार्थ—कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्तसहित तेंतीस सागरोपम-प्रमाण होती है, ऐसा जानना चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा में कृष्णलेश्या की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है। एक भव की अपेक्षा

से कृष्णलेश्या की स्थिति का जघन्य और उत्कृष्ट कितना समय है, अर्थात् वह कब तक रह सकती है, शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते है कि कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण होती है और उत्कृष्टता से उसका स्थितिमान एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ३३ सागरोपम का है, अर्थात् इतने समय तक उसका सद्भाव रह सकता है।

अर्द्धमुहूर्त्त और मुहूर्त्त से यहा पर अन्तर्मुहूर्त्त का ही ग्रहण अभीष्ट है, इसलिए इन दोनों शब्दो का अर्थ अन्तर्मुहूत्त ही समझना चाहिए । इस कथन का अभिप्राय यह है कि कहीं-कही पर समुदाय मे प्रवृत्त हुआ शब्द उसके एक देश का ग्राहक भी होता है, अर्थात् ग्राम का कोई अंश जलने पर जैसे सारे ग्राम का नाम लिया जाता है, इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त के अर्थ मे मुहूर्त्त शब्द का प्रयोग किया गया है, तथा 'सागर' शब्द से सागरोपम का ग्रहण अभीष्ट है, क्योंकि-'पद के एक देश से सम्पूर्ण पद का ग्रहण कर लिया जाता है, जैसे ''भीम से भीमसेन का ग्रहण होता है'' इसी न्याय से यहां पर भी सागर से सागरोपम का ग्रहण किया गया है।

इसके अतिरिक्त ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति में जो एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक रखा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि आगामी जन्म में जो लेश्या प्राप्त होने वाली होती है, वह मृत्यु के समय से एक मुहूर्त्त प्रथम ही आ जाती है। तात्पर्य यह है कि आगामी जन्म मे जिस जीव को कृष्णलेश्या की प्राप्ति होनी सम्भव होती है, उस जीव को मृत्यु के समय से एक मुहूर्त्त प्रथम ही कृष्णलेश्या की प्राप्ति हो जाती है, इसीलिए कृष्णलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति में एक अन्तर्मुहूर्त्त का अधिक समय जोड़ा गया है। इसी प्रकार अन्य लेश्याओ के विषय मे भी समझ लेना चाहिए।

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना दसउदही-पलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा नीललेसाए ॥ ३५ ॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, दशोदधि-पल्योपमासंख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या नीललेश्यायाः ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः-मुहुत्तद्धं-अन्तर्मुहूर्त्त, **तु**-तो, **जहन्ना**-जघन्य, **दसउदही**-दस सागरोपम, **पलियं**-पल्योपम का, **असंखभागमब्भहिया**-असख्यातवां भाग अधिक, **उक्कोसा**-उत्कृष्ट, **ठिई**-स्थिति, **होइ**-होती है, **नीललेसाए**-नीललेश्या की, **नायव्वा**-जानना चाहिए।

मूलार्थ-नीललेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित दश सागरोपम की जाननी चाहिए।

टीका-प्रस्तुत गाथा मे नीललेश्या की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है। उसकी जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति का कालमान पल्योपम के असख्यातवे भाग को साथ लिए हुए दस सागरोपम का है, परन्तु उत्कृष्ट स्थिति का यह कालमान धूम्र-प्रभा के उपरितन प्रस्तट की अपेक्षा से वर्णन किया गया है।

शंका-कृष्णलेश्या की तरह यहां पर एक मुहूर्त्त की अधिकता का उल्लेख क्यो नहीं किया गया?

जब कि आगामी जन्म में नीललेश्या को प्राप्त करने वाले जीव में मृत्यु के समय से एक मुहूर्त पहले ही नीललेश्या का प्राप्त होना अवश्यभावी है।

समाधान—पल्य के असंख्यातवें भाग में ही अन्तर्मुहूर्त्त का समावेश हो जाता है, अर्थात् पल्योपम का असंख्यातवां भाग अन्तर्मुहूर्त के अर्थ में हो पर्यवसित है, क्योंकि असंख्यात के भी असंख्यात भेद हैं और उन्हीं में अन्तर्मुहूर्त भी गृहीत हो जाता है। सारांश यह है कि यहा पर पल्य के तात्पर्यरूप से अन्तर्मुहूर्त्त ही अर्थ है, इसलिए विरोध की यहां पर कोई संभावना नही है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए।

अब कापोतलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं, यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तिण्णुदही-पलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा काउलेसाए ॥ ३६ ॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, त्र्युदधिपल्योपमासंख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या कापोतलेश्यायाः ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः—**मुहुत्तद्धं**—अन्तर्मुहूर्त, **तु**—तो, **जहन्ना**—जघन्य स्थिति, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट, **तिण्णुदही**—तीन सागरोपम, **पलियं**—पल्योपम का, **असंखभागमब्भहिया**—असख्यातवा भाग अधिक, **काउलेसाए**—कापोतलेश्या की, **ठिई**—स्थिति, **होइ**—होती है, **नायव्वा**—इस प्रकार जानना चाहिए।

मूलार्थ—कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति तो एक अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की जाननी चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा कापोतलेश्या की स्थिति के वर्णन के लिए प्रयुक्त हुई है, परन्तु कापोतलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति का यह वर्णन द्रव्यकापोतलेश्या का ही है, तथा वह नरक की अपेक्षा से किया गया है। यहा पर भी पल्य के असख्यातवें भाग का तात्पर्य अन्तर्मुहूर्त से है।

अब तेजोलेश्या की स्थिति का वर्णन करते है, यथा—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दोण्णुदही-पलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा तेउलेसाए ॥ ३७ ॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, द्व्युदधि-पल्योपमासंख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या तेजोलेश्यायाः ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः—**मुहुत्तद्धं**—अर्द्धमुहूर्त्त, **तु**—तो, **जहन्ना**—जघन्य स्थिति, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट, **दोण्णुदही**—दो सागरोपम, **पलियमसंखभागमब्भहिया**—पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक, **ठिई**—स्थिति, **होइ**—होती है, **तेउलेसाए**—तेजोलेश्या की, **नायव्वा**—जाननी चाहिए।

मूलार्थ—तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तमात्र और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित दो सागरोपम की जाननी चाहिए।

टीका–तेजोलेश्या की यह स्थिति ऐशान देवलोक की अपेक्षा से प्रतिपादित की गई है, क्योंकि उक्त देवलोक में केवल तेजोलेश्या ही होती है।

अब पद्मलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं, यथा–

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दस उदही होंति मुहुत्तमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा पम्हलेसाए ॥ ३८ ॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, दशोदधयो भवन्ति मुहूर्त्ताधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या पद्मलेश्यायाः ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः–**मुहुत्तद्धं**–अन्तर्मुहूर्त्त, **तु**–तो, **जहन्ना**–जघन्य, **दस उदही**–दस सागरोपम, **मुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त, **अब्भहिया**–अधिक, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट, **ठिई**–स्थिति, **होइ**–होती है, **पम्हलेसाए**–पद्मलेश्या की, **नायव्वा**–जाननी चाहिए।

मूलार्थ–पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस सागरोपम की जाननी चाहिए।

टीका–प्रस्तुत गाथा में पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दश सागर की कही गई है।

अब शुक्ललेश्या की स्थिति का वर्णन करते हैं, यथा–

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा सुक्कलेसाए ॥ ३९ ॥

मुहूर्त्तार्द्धं तु जघन्या, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपम-मुहूर्त्ताधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः, ज्ञातव्या शुक्ललेश्यायाः ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वयः–**मुहुत्तद्धं**–अन्तर्मुहूर्त्त, **तु**–तो, **जहन्ना**–जघन्य, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट, **ठिई**–स्थिति, **होइ**–होती है, **मुहुत्तहिया**–अन्तर्मुहूर्त्त अधिक, **तेत्तीसं**–तेंतीस, **सागरा**–सागरोपम की, **सुक्कलेसाए**–शुक्ललेश्या की, **नायव्वा**–जाननी चाहिए।

मूलार्थ–शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्तमात्र होती है और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तमुहूर्त्त अधिक तेंतीस सागरोपम की जाननी चाहिए।

टीका–प्रस्तुत गाथा में शुक्ललेश्या की स्थिति का वर्णन किया गया है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त सहित तेंतीस सागर की कही गई है, क्योंकि २६वें देवलोक मे शुक्ललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति इतनी ही प्रतिपादित है और अन्तर्मुहूर्त्त की अधिकता पूर्व जन्म की अपेक्षा से मानी गई है, यह तो ऊपर बतला ही दिया गया है, तथा मुहूर्त्त से अन्तर्मुहूर्त्त के ग्रहण करने में वृद्धसम्प्रदाय और आगमान्तरों में किया गया अन्तर्मुहूर्त्त शब्द का उल्लेख ही प्रमाण है।

अब प्रकृत विषय का उपसंहार करते हुए उत्तर ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का प्रस्ताव करते हुए कहते हैं, यथा–

एसा खलु लेसाणं, ओहेण ठिई उ वण्णिया होइ ।
चउसु वि गईसु एत्तो, लेसाण ठिइं तु वोच्छामि ॥ ४० ॥

एषा खलु लेश्यानाम्, ओघेन स्थितिस्तु वर्णिता भवति ।
चतसृष्वपि गतिष्वितो, लेश्यानां स्थितिं तु वक्ष्यामि ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः–**एसा**–यह, **खलु**–निश्चय मे, **लेसाणं**–लेश्याओं की, **ठिई**–स्थिति, **ओहेण**–सामान्यरूप से, **वण्णिया**–वर्णन की गई, **होइ**–है, **एत्तो**–इसके आगे, **चउसु वि**–चारों ही, **गईसु**–गतियों मे, **लेसाण**–लेश्याओं की, **ठिइं**–स्थिति को, **वोच्छामि**–कहूगा, उ-तु–पादपूर्ति मे हैं।

मूलार्थ–यह लेश्याओं की स्थिति का सामान्यरूप से वर्णन किया गया है, अब इसके आगे मैं चार गतियों के विषय में लेश्याओं की [जघन्य और उत्कृष्ट] स्थिति का वर्णन करूंगा।

टीका–प्रस्तुत गाथा में प्रतिपादित विषय का उपसंहार और प्रतिपाद्य विषय के उपक्रम का निर्देश किया गया है। आचार्य कहते हैं कि लेश्याओ की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का सामान्यरूप से तो वर्णन कर दिया गया है, परन्तु इससे नरकादि चारों गतियों मे लेश्याओ की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का बोध नहीं हो सकता, इसलिए अब मैं इसके अनन्तर चारो गतियो मे लेश्याओ की जो स्थिति है, उसका वर्णन करूगा, तुम सावधान होकर श्रवण करो।

अब नरक-गतिविषयक लेश्याओं की स्थिति-वर्णन के प्रस्ताव में प्रथम कापोतलेश्या की स्थिति का उल्लेख करते हैं, यथा–

दसवाससहस्साइं, काऊए ठिई जहन्निया होइ ।
तिण्णुदहीपलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ॥ ४१ ॥

दशवर्षसहस्राणि, कापोतायाः स्थितिर्जघन्यका भवति ।
त्र्युदधिपल्योपमा, असख्येयभागाधिका चोत्कृष्टा ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वय.–**दसवाससहस्साइं**–दस वर्ष सहस्र अर्थात् दस हजार वर्ष, **काऊए**–कापोतलेश्या की, **जहन्निया**–जघन्य, **ठिई**–स्थिति, **होइ**–होती है, **तिण्णुदही**–तीन सागरोपम, **च**–और, **पलिओवम**–पल्योपम का, **असंखभागं**–असख्यातवां भाग अधिक, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट स्थिति होती है।

मूलार्थ–कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित तीन सागरोपम की है।

टीका–रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक मे कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की मानी

गई है और उत्कृष्ट स्थिति पल्य के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की है। यह स्थिति, तीसरे 'बालुकाप्रभा' नामक नरकस्थान के उपरितन प्रस्तट की अपेक्षा से कथन की गई है, परन्तु प्रथम नरक के प्रथम प्रस्तट में तो न्यून से न्यून स्थिति दस हजार वर्ष की ही होती है। प्रथम नरक में कापोतलेश्या का ही सद्भाव होता है, अत: जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति कापोतलेश्या की ही प्रतिपादित की गई है।

अब नीललेश्या की स्थिति के विषय मे कहते हैं–

तिण्णुदहीपलिओवम, असंखभागो जहन्नेण नीलठिई ।
दसउदहीपलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ॥ ४२ ॥

त्र्युदधिपल्योपमा, असंख्यभागाधिका जघन्येन नीलस्थितिः ।
दशोदधिपल्योपमा, असंख्यभागाधिका चोत्कृष्टा ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वयः–**तिण्णुदही**–तीन सागरोपम, **पलिओवम**–पल्योपम का, **असंखभागो**–असंख्यातवा भाग अधिक, **जहन्नेण**–जघन्य, **नील**–नीललेश्या की, **ठिई**–स्थिति होती है, **दस**–दश, **उदही**–सागरोपम, **पलिओवम**–पल्योपम के, **असंखभागं**–असख्यातवें भाग सहित, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट स्थिति होती है।

मूलार्थ–नीललेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भागसहित दश सागरोपम की होती है।

टीका–यहां पर नीललेश्या की जघन्य स्थिति का जो वर्णन है, वह बालुका-प्रभा नरक की अपेक्षा से है और उत्कृष्ट स्थिति का जो कथन है, वह धूम्र-प्रभा नरक के ऊपर के प्रस्तट की अपेक्षा से किया गया है।

अब कृष्णलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं–

दसउदहीपलिओवम, असंखभागं जहन्निया होइ ।
तेत्तीससागराइं, उक्कोसा होइ किण्हाए ॥ ४३ ॥

दशोदधिपल्योपमा, असंख्यभागाधिका जघन्यका भवति ।
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा, उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः–**दसउदही**–दश सागरोपम, **पलिओवम**–पल्योपम के, **असखभागं**–असख्यातवे भाग अधिक, **जहन्निया**–जघन्य स्थिति, **होइ**–होती हैं, **किण्हाए**–कृष्णलेश्या की, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट स्थिति, **तेत्तीससागराइं**–तेंतीस सागरोपम, **होइ**–होती है।

मूलार्थ–कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागरोपम की है और उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागरोपम की होती है।

टीका–कृष्णलेश्या की इस जघन्य स्थिति का वर्णन धूम्रप्रभा के कतिपय नारकियो की अपेक्षा से किया गया और उत्कृष्ट स्थिति का उल्लेख सातवें नरक की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि वहां

उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की ही मानी गई है। यह सब कथन द्रव्य लेश्याओं के विषय में जानना चाहिए। भाव से तो नारकी और देवों को छहों लेश्याओं का स्पर्श हो जाता है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार और अन्य विषय का उपक्रम करते हुए फिर कहते हैं–

एसा नेरइयाणं, लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण परं वोच्छामि, तिरियमणुस्साण देवाणं ॥ ४४ ॥

एषा नैरयिकाणां, लेश्याना स्थितिस्तु वर्णिता भवति ।
ततः परं वक्ष्यामि, तिर्यङ्मनुष्याणां देवानाम् ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वयः–एसा–यह, **नेरइयाणं**–नारकियो की, **लेसाण ठिई**–लेश्याओं की स्थिति, **वण्णिया**–वर्णन की गई, **होइ**–है, **तेण परं**–इसके आगे, **तिरिय**–तिर्यक्–पशु आदि, **मणुस्साण**–मनुष्य और, **देवाणं**–देवों की स्थिति को, **वोच्छामि**–मै कहूंगा।

मूलार्थ–यह लेश्याओं की स्थिति नरक के जीवों की कही गई है, अब इसके आगे तिर्यच–पशु, मनुष्य और देवों की लेश्यास्थिति को मैं कहूंगा।

टीका–आचार्य कहते हैं कि यह तो नारकियो की लेश्यास्थिति का वर्णन हुआ है, अब इसके अनन्तर मैं पशु, मनुष्य और देवो की लेश्या-स्थिति का वर्णन करता हू, उसे आप सावधान होकर श्रवण करें।

अब इसी विषय में कहते हैं, यथा–

अंतोमुहुत्तमद्धं लेसाण ठिई जहिं-जहिं जा उ ।
तिरियाण नराणं वा, वज्जित्ता केवलं लेसं ॥ ४५ ॥

अन्तर्मुहूर्त्ताद्धा, लेश्यानां स्थितिर्यस्मिन् यस्मिन् या तु ।
तिरश्चां नराणां वा, वर्जयित्वा केवलां लेश्याम् ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः–अंतोमुहुत्तं–अन्तर्मुहूर्त, **अद्धं**–कालप्रमाण, **लेसाण**–लेश्याओ की, **ठिई**–स्थिति, **जहिं जहि**–जहां-जहा, **जा**–जो (कृष्णादि लेश्याए हैं), **तिरियाण**–तिर्यंचों, **वा**–अथवा, **नराणं**–नरो की कही हैं, **केवलं**–शुद्ध, **लेसं**–लेश्या को, **वज्जित्ता**–छोडकर, **उ**–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ–तिर्यंच और मनुष्यों में शुक्ललेश्या को छोड़कर अवशिष्ट सब लेश्याओं की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त्त की है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में तिर्यच और मनुष्य-गति में प्राप्त होने वाली लेश्याओ की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है, तथा च तिर्यंच और मनुष्य-गति में अर्थात् एकेन्द्रिय [पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति], द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी और पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच तथा सम्मूर्च्छिम और गर्भज मनुष्यो में जितनी लेश्याए होती है, उनमे शुक्ल लेश्या को छोड़कर शेष लेश्याओं

की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्तमात्र होती है।

इसके अतिरिक्त इस विषय में शास्त्रानुसार इतना और समझ लेना चाहिए कि पृथिवी, जल और वनस्पति काय के जीवों में प्रथम की चार लेश्याएं होती हैं। नारकी, अग्नि और वायु काय के जीव तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी-पंचेन्द्रिय तथा समूर्च्छिम मनुष्य–इनमें प्रथम की तीन लेश्याए होती हैं, परन्तु संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यच और संज्ञी-पंचेन्द्रिय-मनुष्य-इनमें छहों लेश्याओं का सद्भाव होता है।

अब शुक्ललेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं, यथा–

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ ।
नवहि वरिसेहि ऊणा, नायव्वा सुक्कलेसाए ॥ ४६ ॥

अन्तर्मुहूर्त्तं तु जघन्या, उत्कृष्टा भवति पूर्वकोटी तु ।
नवभिर्वर्षैरूना, ज्ञातव्या शुक्ललेश्यायाः ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः–**मुहुत्तद्धं**–अन्तर्मुहूर्त्त, **तु**–तो, **जहन्ना**–जघन्य स्थिति, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट, **होइ**–होती है, **पुव्वकोडी**–एक करोड पूर्व की, **नवहि**–नव, **वरिसेहि**–वर्षों से, **ऊणा**–न्यून, **सुक्कलेसाए**–शुक्ललेश्या की स्थिति, **नायव्वा**–जाननी चाहिए।

मूलार्थ–शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उत्कृष्ट स्थिति नव वर्ष कम एक करोड़ पूर्व की जाननी चाहिए।

टीका–केवली भगवान् में सदा शुक्ल लेश्या का ही सद्भाव होता है। शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की कही है और उत्कृष्ट स्थिति का कालमान नौ वर्ष कम एक करोड़ पूर्व का माना गया है। यहा पर नव वर्ष कम कहने का तात्पर्य वृत्तिकार यह बताते है कि आठ वर्ष की आयु में यद्यपि व्रत-ग्रहण के परिणाम तो हो सकते हैं, परन्तु इतनी स्वल्प वय में एक वर्ष दीक्षा-पर्याय से पहले शुक्ललेश्या का सद्भाव सम्भव नही हो सकता[१]। इसलिए जिसकी करोड पूर्व की आयु है और वह नव वर्ष की आयु में दीक्षित होकर केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तब उसमे नव वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व तक उत्कृष्ट मान से शुक्ललेश्या का सद्भाव हो सकता है। बस, इसी अभिप्राय से शुक्ललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति में नव वर्षो की न्यूनता की गई है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार और अगले प्रतिपाद्य विषय का उपक्रम करते हैं–

एसा तिरियनराणं, लेसाणं ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण परं वोच्छामि, लेसाण ठिई उ देवाणं ॥ ४७ ॥

एषा तिर्यङ्नराणा, लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति ।
ततः परं वक्ष्यामि, लेश्यानां स्थितिस्तु देवानाम् ॥ ४७ ॥

---

१ इह च यद्यपि कश्चित् पूर्वको ह्यायुरष्टवार्षिक एव व्रतपरिणाममाप्नोति, तथापि नैतावद् वय·स्थस्य वर्षपर्यायादर्वाक् शुक्ललेश्याया. संभव· इति नवभिर्वर्षैर्न्यूना पूर्वकोटिरुच्यते।

पदार्थान्वयः—**एसा**—यह, **तिरिय**—तिर्यंच—और, **नराणं**—मनुष्यों की, **लेसाणं**—लेश्याओं की, **ठिई**—स्थिति, **उ**—तो, **वण्णिया**—वर्णन कर दी गई, **होइ**—है, **तेण परं**—इसके अनन्तर अब, **देवाणं**—देवों की, **लेसाण**—लेश्याओ की, **ठिई**—स्थिति को, **वोच्छामि**—कहूगा, **उ**—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—तिर्यंच और मनुष्यों की जो लेश्याएं हैं, उनकी स्थिति का तो यह वर्णन मैंने कर दिया है, अब इसके पश्चात् देवों की लेश्या-स्थिति को मैं कहूंगा।

टीका—आचार्य कहते है कि हे शिष्य ! मनुष्य और तिर्यञ्च गति में प्राप्त होने वाली लेश्याओ की जघन्य अर्थात् कम से कम और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन तो मैंने कर दिया है, अब मै देवगति मे प्राप्त होने वाली लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूगा, तुम सावधान होकर सुनो। यही इस गाथा का भाव है।

अब देवगति में प्राप्त होने वाली कृष्णलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं, यथा—

दसवाससहस्साइं, किण्हाए ठिई जहन्निया होइ ।
पलियमसंखिज्जइमो, उक्कोसो होइ किण्हाए ॥ ४८ ॥

दशवर्षसहस्राणि, कृष्णाया· स्थितिर्जघन्यका भवति ।
पल्योपमासंख्येयतमभागा, उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वयः—**दसवाससहस्साइं**—दश सहस्र वर्ष की, **जहन्निया**—जघन्य, **ठिई**—स्थिति, **किण्हाए**—कृष्णलेश्या की, **होइ**—होती है, **पलियं**—पल्योपम के, **असंखिज्जइमो**—असख्येयतम भाग प्रमाण, **उक्कोसो**—उत्कृष्ट स्थिति, **किण्हाए**—कृष्णलेश्या की, **होइ**—होती है।

मूलार्थ—कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

टीका—भवनपति और व्यन्तर-देवो मे कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भागमात्र है। यह स्मरणीय है कि कृष्णलेश्या का सद्भाव इन्ही देवो मे माना गया है और स्थिति भी इन देवो की मध्यम आयु की अपेक्षा से कही गई है।

अब नीललेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं, यथा—

जा किण्हाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं नीलाए, पलियमसंखं च उक्कोसा ॥ ४९ ॥

या कृष्णाया. स्थितिः खलु, उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका ।
जघन्येन नीलायाः, पल्योपमासंख्येयभागा चोत्कृष्टा ॥ ४९ ॥

पदार्थान्वयः—**जा**—जो, **किण्हाए**—कृष्णलेश्या की, **ठिई**—स्थिति, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट कही गई

है, **सा उ**–वही, **समयं**–एक समय, **अब्भहिया**–अधिक, **जहन्नेणं**–जघन्य, **नीलाए**–नीललश्या की स्थिति होती है, **च**–फिर, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट स्थिति, **पलियं**–पल्योपम का, **असंख**–असख्यातवा भागमात्र होती है, **खलु**–वाक्यालंकार मे है।

मूलार्थ–जितनी उत्कृष्ट स्थिति कृष्णालेश्या की कही गई है उतनी ही, किन्तु एक समय अधिक जघन्य स्थिति नीललेश्या की है और नीललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी है।

टीका–पूर्व में जो पल्योपम का असख्यातवां भाग कथन किया गया है, उससे यह भाग बृहत्तर समझना चाहिए, क्योंकि असंख्येय के भी असख्येय भाग होते हैं।

अब कापोतलेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं–

जा नीलाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं काऊए, पलियमसंखं च उक्कोसा ॥ ५० ॥

या नीलायाः स्थिति. खलु, उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका ।
जघन्येन कापोतायाः, पल्योपमासख्येयभागा चोत्कृष्टा ॥ ५० ॥

पदार्थान्वय –**जा**–जो, **नीलाए**–नीललेश्या की, **ठिई**–स्थिति, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट कही गई है, **सा उ**–वही, **समयं**–एक समय, **अब्भहिया**–अधिक, **जहन्नेण**–जघन्य स्थिति, **काऊए**–कापोतलेश्या की होती है, **च**–और, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट स्थिति, **पलियं**–पल्योपम के, **असंखं**–असंख्येय भाग प्रमाण होती है।

मूलार्थ–जितनी उत्कृष्ट स्थिति नीललेश्या की होती है, उससे एक समय अधिक वही जघन्य स्थिति कापोतलेश्या की है तथा कापोतलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण है।

टीका–यह सब स्थिति भवनपति और व्यन्तर देवों की अपेक्षा से ही कही गई है।

अब तेजोलेश्या के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा–

तेण परं वोच्छामि, तेऊलेसा जहा सुरगणाणं ।
भवणवइ-वाणमंतर, जोइस-वेमाणियाणं च ॥ ५१ ॥

ततः परं वक्ष्यामि, तेजोलेश्याया यथा सुरगणानाम् ।
भवनपति-वाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकानां च ॥ ५१ ॥

पदार्थान्वयः–**तेण परं**–इसके अनन्तर, **जहा**–जिस प्रकार की, **भवणवइ**–भवनपति, **वाणमंतर**–वाणव्यंतर, **जोइस**–ज्योतिषी, **वेमाणियाण**–वैमानिक, **सुरगणाणं**–देवगणो की, **तेऊलेसा**–तेजोलेश्या है–उसको, **वोच्छामि**–मैं कहूगा।

मूलार्थ—अब इससे आगे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों की जिस प्रकार की तेजोलेश्या है, उसको मैं कहूंगा।

टीका—प्रथम की तीन लेश्याएं तो भवनपति और वाणव्यतर देवों में होती हैं, परन्तु तेजोलेश्या का सद्भाव तो उक्त चारो देव-निकायों मे होता है।

अब इसी विषय का वर्णन करते हैं, यथा—

पलिओवमं जहन्ना, उक्कोसा सागरा उ दुन्नहिया ।
पलियमसंखेज्जेणं, होइ भागेण तेऊए ॥ ५२ ॥

पल्योपमं जघन्या, उत्कृष्टा सागरोपमे तु द्व्यधिके ।
पल्योपमासंख्येयेन, भवति भागेन तैजस्याः ॥ ५२ ॥

पदार्थान्वयः—**पलिओवमं**—पल्योपम-प्रमाण, **जहन्ना**—जघन्य स्थिति, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट, **दुन्न**—दो, **सागरा**—सागरोपम, **पलियं**—पल्योपम के, **असंखेज्जेणं**—असख्यातवे, **भागेण**—भाग से, **अहिया**—अधिक, **तेऊए**—तेजोलेश्या की स्थिति, **होइ**—होती है।

मूलार्थ—तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्योपम की होती है और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवे भागसहित दो सागरोपम की होती है।

टीका—तेजोलेश्या की यह स्थिति सामान्यतया वैमानिक देवो की अपेक्षा से कही गई है कि यह लेश्या दूसरे देवलोक-पर्यन्त ही होती है तथा प्रथम एव दूसरे देवलोक मे एतावन्मात्र ही आयु का सद्भाव है। उपलक्षण से भवनपति और व्यन्तरदेवो मे तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है तथा भवनपतियो की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की और व्यन्तरो की एक पल्योपम की होती है, परन्तु ज्योतिषीदेवो की तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति, पल्योपम के आठवें भाग जितनी और उत्कृष्ट स्थिति लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की हैं। इस प्रकार उपलक्षण से तेजोलेश्या की स्थिति जान लेना चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

दसवाससहस्साइं, तेऊए ठिई जहन्निया होइ ।
दुन्नुदही पलिओवम, असंखभागं च उक्कोसा ॥ ५३ ॥

दशवर्षसहस्राणि-तेजोलेश्यायाः स्थितिर्जघन्यका भवति ।
द्व्युदधिपल्योपम, असंख्यभागाधिका चोत्कृष्टा ॥ ५३ ॥

पदार्थान्वयः—**दसवाससहस्साइ**—दस हजार वर्ष, **तेऊए**—तेजोलेश्या की, **जहन्निया**—जघन्य, **ठिई**—स्थिति, **होइ**—होती है, **दुन्नुदही**—दो सागर, **पलिओवम**—पल्योपम के, **असंखभागं**—असंख्यातवां

भाग अधिक, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट स्थिति होती है।

मूलार्थ–तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम के असंख्यातवें भागसहित दो सागरोपम की होती है।

टीका–भवनपति और व्यन्तर-देवों की अपेक्षा से तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की प्रतिपादित की गई है और उत्कृष्ट स्थिति ईशान-देवलोक की अपेक्षा से पल्योपम के असंख्यातवें भाग-सहित दो सागर की कही गई है। कारण यह है कि इस लेश्या का सद्भाव ईशान-देवलोक-पर्यन्त ही बतलाया गया है।

अब पद्मलेश्या के विषय में कहते हैं, यथा–

जा तेऊए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं पम्हाए, दस उ मुहुत्ताहियाइ उक्कोसा ॥ ५४ ॥

या तेजोलेश्यायाः स्थिति खलु, उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका ।
जघन्येन पद्मायाः, दशसागरोपमा तु मुहूर्त्ताधिकोत्कृष्टा ॥ ५४ ॥

पदार्थान्वयः–**जा**–जो, **तेऊए**–तेजोलेश्या की, **ठिई**–स्थिति, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट कही गई है, **सा उ**–वही, **समयं**–एक समय, **अब्भहिया**–अधिक, **जहन्नेणं**–जघन्य रूप से, **पम्हाए**–पद्मलेश्या की स्थिति होती है, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट स्थिति, **मुहुत्ताहियाइ**–अन्तर्मुहूर्त्त अधिक, **दस**–दस सागरोपम की होती है, **खलु**–वाक्यालकार में, उ–पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ–यावन्मात्र उत्कृष्ट स्थिति तेजोलेश्या की है, वही एक समय अधिक पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति है तथा पद्मलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस सागरोपम की होती है।

टीका–पद्मलेश्या की यह जघन्य स्थिति सनत्कुमार-देवलोक की अपेक्षा से वर्णन की गई है और उत्कृष्ट स्थिति ब्रह्मदेवलोक की अपेक्षा से प्रतिपादन की गई है।

अब शुक्ललेश्या के विषय में कहते हैं, यथा–

जा पम्हाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं सुक्काए, तेत्तीस मुहुत्तमब्भहिया ॥ ५५ ॥

या पद्मायाः स्थितिः खलु, उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका ।
जघन्येन शुक्लायाः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्त्ताभ्यधिका ॥ ५५ ॥

पदार्थान्वयः–**जा**–जो, **पम्हाए**–पद्मलेश्या की, **ठिई**–स्थिति, **खलु**–वाक्यालकार में, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट कही है, **सा उ**–वही, **समयं**–एक समय, **अब्भहिया**–अधिक, **जहन्नेणं**–जघन्यरूप

से, **सुक्काए**—शुक्ललेश्या की स्थिति होती है और, **तेत्तीस**—तेंतीस सागरोपम से, **मुहुत्तमब्भहिया**—एक मुहूर्त्त अधिक उत्कृष्ट स्थिति है।

मूलार्थ—यावन्मात्र पद्मलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति कही गई है, उससे एक समय अधिक प्रमाण शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति होती है तथा शुक्ललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेंतीस सागरोपम की होती है।

टीका—शुक्ललेश्या की यह जघन्य स्थिति लान्तक-देवलोक की अपेक्षा से कही गई है और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन सर्वार्थसिद्ध-विमान की अपेक्षा से किया गया समझना चाहिए।

इस प्रकार स्थिति-द्वार का वर्णन करने के अनन्तर अब गति-द्वार का निरूपण करते हैं, यथा—

किण्हा नीला काऊ, तिन्निवि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई ॥ ५६ ॥

कृष्णा नीला कापोता, तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवो, दुर्गतिमुपपद्यते ॥ ५६ ॥

पदार्थान्वयः—किण्हा—कृष्णलेश्या, **नीला**—नीललेश्या, **काऊ**—कापोतलेश्या, **एयाओ**—ये, **तिन्नि वि**—तीनो ही लेश्याए, **अहम्मलेसाओ**—अधर्म-लेश्या है, **एयाहि**—इन, **तिहि वि**—तीनो लेश्याओ से, **जीवो**—जीव, **दुग्गइं**—दुर्गति को, **उववज्जई**—प्राप्त होता है—दुर्गति में उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीनों अधर्मलेश्या हैं, इन तीनों लेश्याओं से यह जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है।

टीका—कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या ये तीनो ही अधर्मलेश्या के नाम से प्रसिद्ध है तथा इन्हे अप्रशस्त लेश्या भी कहते है। इन लेश्याओ मे परिणत हुआ प्राणी यदि काल करता है तो वह दुर्गति अर्थात् नरक, तिर्यञ्चादि-गतियो मे उत्पन्न होता है। अधर्म का फल दुर्गति है, अतएव इन अधर्म-लेश्याओ के प्रभाव से यह जीव अशुभ गति का ही बन्ध करता है।

'दुग्गइ' यहा पर सुप् का व्यत्यय है।

अब अवशिष्ट तीन लेश्याओं के विषय में कहते हैं, यथा—

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई ॥ ५७ ॥

तैजसी पद्मा शुक्ला, तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः, सुगतिमुपपद्यते ॥ ५७ ॥

पदार्थान्वयः—**तेऊ**—तेजोलेश्या, **पम्हा**—पद्मलेश्या, **सुक्का**—शुक्ललेश्या, **एयाओ**—ये, **तिन्नि वि**—तीनो ही, **धम्मलेसाओ**—धर्मलेश्या हैं, **एयाहि तिहि वि**—इन तीनों से ही, **जीवो**—जीव, **सुग्गइं**—सुगति में, **उववज्जई**—उत्पन्न होता है।

मूलार्थ—तेज, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्यायें धर्मलेश्या कही जाती हैं। इन तीनों के द्वारा यह जीव सुगति में उत्पन्न होता है।

टीका—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या, ये तीन लेश्यायें सुगति की जनक होने से धर्मलेश्या कही जाती हैं, अर्थात् जो जीव इन प्रशस्त लेश्याओं को लेकर परलोक की यात्रा करता है, वह सुगति अर्थात् देव-मनुष्यादि-गतियों में उत्पन्न होता है। कारण यह है कि जिस लेश्या को लेकर जीव काल करता है, उस लेश्या में वह परलोक मे जाकर उत्पन्न होता है, अतः इन तीनों धर्मलेश्याओ के द्वारा जीवात्मा को देव, मनुष्य आदि शुभ गति की ही प्राप्ति होती है तथा इनमें जो शुक्ललेश्या है, वह तो कैवल्योत्पत्ति में भी निमित्त मानी जाती है।

क्या प्रथम समय मे वा चरम समय मे भावी लेश्या का उदय होने से परभव की आयु का उदय होता है, अथवा किसी अन्य प्रकार से होता है?

अब सूत्रकार इसी शंका का समाधान करते हुए कहते हैं –

लेसाहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
न हु कस्सइ उववत्ती, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥ ५८ ॥

लेश्याभिः सर्वाभिः, प्रथमे समये परिणताभिस्तु ।
न खलु कस्याप्युत्पत्तिः, परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥ ५८ ॥

पदार्थान्वयः—**लेसाहिं**—लेश्यायें, **सव्वाहि**—सर्व, **पढमे**—प्रथम, **समयम्मि**—समय में, **परिणयाहिं**—परिणत होने से, **न हु**—नही, **कस्सइ**—किसी भी, **जीवस्स**—जीव की, **उववत्ती**—उत्पत्ति, **परे भवे**—परभव मे, **अत्थि**—होती, तु—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—सर्व लेश्याओं की प्रथम समय में परिणति होने से किसी भी जीव की परलोक में उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् यदि लेश्या को आए हुए केवल एक समय हुआ हो तो उस समय जीव परलोक की यात्रा नहीं करता।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे इस विषय का वर्णन किया गया है कि यह जीव जिस लेश्या मे कालधर्म को प्राप्त होता है, भवान्तर में उसी लेश्या मे जाकर उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस लेश्या को साथ लेकर यह जीव परलोक को गमन करता है उस लेश्या को आए हुए कितना समय होना चाहिए, इस बात का समाधान प्रस्तुत गाथा में किया गया है। यथा—छहों लेश्याओं में से किसी भी लको

लेश्या मे आए हुए केवल एक समय हुआ हो तो उस समय अर्थात् लेश्या की परिणति के समय मे यह जीव काल नहीं करता—परलोक गमन नहीं करता।

प्रथम समय से तात्कालिक समय का ग्रहण है, इसीलिए तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि लेश्या की प्रथम समय की परिणति मे कोई भी जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होता।

अब चरम समय के विषय में कहते हैं—

लेसाहिं सव्वाहिं, चरिमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
न हु कस्सइ उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥ ५९ ॥

लेश्याभिः सर्वाभि., चरमे समये परिणताभिस्तु ।
न खलु कस्याप्युत्पत्ति., परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥ ५९ ॥

पदार्थान्वय —**लेसाहिं**—लेश्या, **सव्वाहिं**—सर्व, **चरिमे**—अन्त, **समयम्मि**—समय मे, **परिणयाहिं**—परिणत होने से, **न हु**—नही, **कस्सइ**—किसी भी, **जीवस्स**—जीव की, **उववाओ**—उत्पत्ति, **अत्थि**-होती, **परे भवे**—परभव में।

मूलार्थ—सर्व लेश्याओं की परिणति में अन्तिम समय पर किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती।

टीका—छहों लेश्याओं में से किसी भी लेश्या का यदि चरम अर्थात् अन्तिम समय परिणत होने का उदय हो रहा है और अन्य लेश्या के परिणत होने का समय निकट आ रहा है, तो उस चरम समय की किसी भी लेश्या की परिणति में किसी भी जीव की परलोक में उत्पत्ति नही होती। तात्पर्य यह है कि लेश्या के परिवर्तन मे यदि एक भी समय शेष रह गया हो तो उस समय मे भी जीव का परलोकगमन नही होता।

दोनों (५८-५९) गाथाओ का सक्षेप में भावार्थ यह है कि—मृत्यु के समय आगामी जन्म के लिए जब इस जीवात्मा की लेश्याओ मे परिवर्तन होता है, उस समय प्रथम और अन्तिम समय मे किसी भी जीव की उत्पत्ति नही होती।

तो फिर किस समय में जीव की उत्पत्ति अर्थात् परलोक-गमन होता है? अब इस प्रश्न के समाधान में निम्नलिखित गाथा का उल्लेख करते हैं, यथा—

अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥ ६० ॥

अन्तर्मुहूर्त्ते गते, अन्तर्मुहूर्त्ते शेषे चैव ।
लेश्याभिः परिणताभि·, जीवा गच्छन्ति परलोकम् ॥ ६० ॥

पदार्थान्वयः–**अंतमुहुत्तम्मि**–अन्तर्मुहूर्त के, **गए**–जाने पर, **च**–और, **अंतमुहुत्तम्मि**–अन्तर्मुहूर्त के, **सेसए**–शेष रहने पर, **लेसाहिं**–लेश्याओं के, **परिणयाहिं**–परिणत होने से, **जीवा**–जीव, **परलोयं**–परलोक में, **गच्छंति**–जाते हैं, **एव**–निश्चयार्थक है।

मूलार्थ–अन्तर्मुहूर्त्त के बीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त्त के शेष रहने पर लेश्याओं के परिणत होने से जीव परलोक में गमन करते हैं।

टीका–जब लेश्या में परिणत हुए जीव को अन्तर्मुहूर्त हो गया हो और अन्तर्मुहूर्त उस लेश्या के जाने में रह गया हो, तात्पर्य यह है कि लेश्या को आए हुए एक अन्तर्मुहूर्त हो गया हो और एक अन्तर्मुहूर्त उसके जाने मे शेष रह गया हो, उस समय जीव परलोक मे जाता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब परलोकगमन की बेला मे मृत्यु होते समय अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण आयु शेष रह जाती है, तब आगामी जन्म में प्राप्त होने वाली लेश्या का परिणाम उस जीव में अवश्य हो जाता है। फिर उसी लेश्या के साथ यह जीव परभव मे जाता है। यदि ऐसा न माना जाए तो उत्तरभव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त तथा च्यवमान होने पर प्राग्भव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त, यह दोनों ही बातें सम्भव नही हो सकतीं। इसीलिए शास्त्र मे कहा गया है कि जिस लेश्या के द्रव्य को लेकर जीव काल करता है उसी लेश्या मे उत्पन्न हो जाता है।

साराश यह है कि इस जीव को जिस जन्म में जाना हो, अन्तर्मुहूर्त्त की आयु शेष रह जाने पर उस जन्म की लेश्या की परिणति उसमे अवश्यमेव हो जाती है। फिर उस लेश्या के प्रथम समय में वा चरम समय मे कोई भी जीव काल नही करता, किन्तु उस परभव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत होने और अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर ही यह जीव परलोक को गमन करता है, तथा प्राग्भव-अन्तर्मुहूर्त और उत्तरभव-अन्तर्मुहूर्त, इन दो अन्तर्मुहूर्तों के साथ जीव का आयुकाल अवस्थित रहता है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए उपादेय के विषय में कहते हैं कि–

तम्हा एयासि लेसाणं, आणुभावे वियाणिया ।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी ॥ ६१ ॥
त्ति बेमि ।
इति लेसज्झयणं समत्तं ॥ ३४ ॥

तस्मादेतासां लेश्यानाम्, अनुभावान्विज्ञाय ।
अप्रशस्ता वर्जयित्वा, प्रशस्ता अधितिष्ठेन् मुनिः ॥ ६१ ॥
इति ब्रवीमि ।
इति लेश्याध्ययनं समाप्तम् ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः–**तम्हा**–इसलिए, **एयासि**–इन, **लेसाणं**–लेश्याओ के, **आणुभावे**–अनुभाव को, **वियाणिया**–विशेष रूप से जानकर, **अप्पसत्थाओ**–अप्रशस्त लेश्याओं को, **वज्जित्ता**–त्याग कर,

पसत्थाओ—प्रशस्त लेश्याओं को, **मुणी**—साधु, **अहिट्ठिए**—अंगीकार करे, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं, **इति लेसज्झयणं समत्तं**—यह लेश्याध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—इसलिए इन लेश्याओं के अनुभाव अर्थात् रसविशेष को जानकर साधु अप्रशस्त लेश्याओं को त्याग कर प्रशस्त लेश्याओं को स्वीकार करे।

टीका—ऊपर बताया जा चुका है कि इन छहों लेश्याओं मे से पहली तीन लेश्याए अप्रशस्त है और उत्तर की तीन प्रशस्त लेश्याए है। प्रशस्त लेश्याए सुगति को देने वाली है और अप्रशस्त दुर्गति में ले जाने वाली हैं। इसलिए विचारशील मुनि इन लेश्याओं के अनुभाव अर्थात् परिणाम या फलविशेष पर विचार करता हुआ अप्रशस्त लेश्याओं का त्याग करके प्रशस्त लेश्याओं को धारण करने का यत्न करे।

यहा पर '**अहिट्ठिए—अधितिष्ठेत्**' इस क्रियापद के देने का अभिप्राय जीवात्मा की स्वतन्त्रता को ध्वनित करना है, अर्थात् यह आत्मा सदैव लेश्याओ के वशीभूत रहने वाला नही है, अपने पराक्रम से इसका उन पर अधिकार हो सकता है। तात्पर्य यह है कि यदि वह चाहे तो अप्रशस्त लेश्याओ का परित्याग करके प्रशस्त लेश्याओं को बलात् स्वीकार कर सकता है।

इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का वही भावार्थ है जिसका उल्लेख पिछले अध्ययनों की पूर्णता पर किया जा चुका है। यह लेश्या नामक अध्ययन समाप्त हुआ।

चतुस्त्रिंशत्तममध्यनम् सम्पूर्णम्

नोट लेश्याओं का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के १७वें पद मे किया गया है, इसलिए अधिक देखने की जिज्ञासा रखने वाले वहा पर देखे।

अह अणगारज्झयणं णाम पंचतीसइमं अज्झयणं

अथ अनगाराध्ययनं नाम पञ्चत्रिंशत्तममध्ययनम्

गत चौतीसवें अध्ययन में अप्रशस्त लेश्याओ के त्याग और प्रशस्त लेश्याओं मे अनुराग करने का उपदेश दिया गया है, परन्तु इसके लिए यथोचित भिक्षु-गुणों को धारण करने की आवश्यकता है, अतः इस आगामी पैंतीसवे अध्ययन मे भिक्षु के गुणों का निरूपण किया जाता है जिसकी प्रथम गाथा इस प्रकार है–

सुणेह मे एगग्गमणा, मग्गं बुद्धेहि देसियं ।
जमायरंतो भिक्खू, दुक्खाणंतकरे भवे ॥ १ ॥

श्रृणुत मे एकाग्रमनसा, मार्गं बुद्धैर्देशितम् ।
यमाचरन्भिक्षुः, दुःखानामन्तकरो भवेत् ॥ १ ॥

पदार्थान्वयः–**सुणेह**–सुनो, **एगग्गमणा**–एकाग्रमन होकर, **मग्गं**–मार्ग को, **मे**–मुझसे–जो मार्ग, **बुद्धेहि**–बुद्धों ने, **देसियं**–उपदेशित किया है, **जं**–जिस मार्ग का, **आयरंतो**–आचरण करता हुआ, **भिक्खू**–भिक्षु, **दुक्खाण**–दुःखो का, **अंतकरे**–अन्त करने वाला, **भवे**–होता है।

मूलार्थ–हे शिष्यो ! बुद्धों–सर्वज्ञों के द्वारा उपदेश किए गए उस मार्ग को तुम मुझसे सुनो, जिस मार्ग का अनुसरण करने वाला भिक्षु सर्व प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है।

टीका–आचार्य कहते हैं कि जो मार्ग केवली, श्रुतकेवली अथवा गणधरो आदि के द्वारा उपदिष्ट है तथा जिस मार्ग का अनुसरण करके साधु सर्व प्रकार के दुःखों का नाश कर देता है, उस मार्ग को तुम मेरे से एकाग्रचित्त होकर श्रवण करो।

प्रस्तुत गाथा में वर्णनीय विषय को सर्वज्ञ-भाषित और दुःख-विनाशक बताने से उसकी प्रामाणिकता और सप्रयोजनता व्यक्त की गई है। 'बुद्ध' शब्द का अर्थ यहां पर सर्व वस्तुओ के स्वरूप को यथावत् जानने वाला–सर्वज्ञ महापुरुष है।

किसी-किसी प्रति मे **'सव्वन्नुदेसिय'** पाठ भी है तथा **'एगग्गमणा'** के स्थान पर **'एगमणा'** भी देखने में आता है।

अब मार्ग का निरूपण करते हैं, यथा–

गिहवासं परिच्चज्ज, पव्वज्जामस्सिए मुणी ।
इमे संगे वियाणिज्जा, जेहिं सज्जंति माणवा ॥ २ ॥

गृहवासं परित्यज्य, प्रव्रज्यामाश्रितो मुनि· ।
इमान् संगान् विजानीयात्, यैः सज्यन्ते मानवाः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः–**गिहवासं**–गृहवास को, **परिच्चज्ज**–छोड़कर, **पव्वज्जां**–दीक्षा का, **अस्सिए**–आश्रयण करने वाला, **मुणी**–मुनि, **इमे**–इन, **संगे**–संगों को, **वियाणिज्जा**–जाने, **जेहिं**–जिनमें, **माणवा**–मनुष्य, **सज्जंति**–बध जाते हैं।

मूलार्थ–गृहवास को छोड़कर प्रव्रज्या के आश्रित हुआ मुनि इन संगों को भली-भांति जानने का यत्न करे, जिनमें ज्ञानावरणीयादि कर्मों के द्वारा फंसे हुए मनुष्य बन्धन को प्राप्त होते हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में गृहवास को त्यागकर प्रव्रजित होने वाले जीव के कर्त्तव्य का निर्देश किया गया है। जैसे कि–जिस साधु ने गृहवास अर्थात् गृहस्थाश्रम को छोड़कर प्रव्रज्या को अगीकार कर लिया है, अर्थात् भिक्षु होकर विचरने लग गया है, उस साधु को उन संगो–पुत्र, मित्र और कलत्रादि मे होने वाली मोहमूलक आसक्तियों के स्वरूप को भलीभाति समझ लेना चाहिए, जिनसे कि सामान्य व्यक्ति अच्छी तरह से बधे हुए है।

तात्पर्य यह है कि गृहस्थाश्रम का परित्याग करने के अनन्तर सयमवृत्ति को धारण करने वाले साधक को पुत्र, मित्र और कलत्रादि मे उत्पन्न होने वाले मोह को सर्वथा त्याग देना चाहिए, क्योंकि मोह से इनमे आसक्ति पैदा होती है और वह आसक्ति कर्मबन्ध का कारण बनती है तथा कर्मबन्ध से जन्म-मरण परम्परा की वृद्धि होती है एवं यही वृद्धि दुःखरूप व्याधि का मूल कारण है। इसलिए इन वक्ष्यमाण संगों का विचार करके इनमे किसी प्रकार की आसक्ति न रखना ही मुमुक्षु पुरुष का सबसे पहला कर्त्तव्य है।

'जेहि' में सुप् का व्यत्यय है, अर्थात् सप्तमी के स्थान पर तृतीया का प्रयोग किया गया है।

अब गृहवास को छोड़कर संयम ग्रहण करने वाले मुनि के लिए विशेषरूप से कर्त्तव्य का निर्देश करते हुए सब से प्रथम आस्रवों के त्याग के विषय में कहते हैं, यथा–

तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अब्बंभसेवणं ।
इच्छाकामं च लोहं च, संजओ परिवज्जए ॥ ३ ॥

तथैव हिंसामलीकं, चौर्यमब्रह्मसेवनम् ।
इच्छाकामञ्च लोभञ्च, संयतः परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः–**हिंसं**–हिंसा, **अलियं**–असत्य झूठ, **चोज्जं**–चौर्य कर्म–चोरी, **अब्बंभसेवणं**–

मैथुन-क्रीड़ा, **च**–और, **इच्छाकामं**–अप्राप्त वस्तु की इच्छा, **च**–तथा, **लोहं**–लोभ को, **संजओ**–संयत, **परिवज्जए**–सर्व प्रकार से त्याग दे, **तहा**–तथा–समुच्चय अर्थ में है, **एव**–पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ–संयत–संयमशील पुरुष हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन-क्रीड़ा, अप्राप्त वस्तु की इच्छा और लोभ, इन सब का परित्याग कर दे।

टीका–प्रस्तुत गाथा में संयमशील साधक के लिए त्याग करने योग्य पाप के मार्गों का दिग्दर्शन कराया गया है। हिंसा करना, असत्य बोलना, चोरी मे प्रवृत्त होना और मैथुन-क्रीड़ा का सेवन करना, अप्राप्त वस्तु की इच्छा और प्राप्त वस्तु में ममत्व, ये पांचों ही कर्मास्रव हैं, अर्थात् इनके द्वारा ही जीव पाप-कर्मो का संचय करता है, अतएव संयमी को इनके त्याग करने का उपदेश दिया गया है।

यहा पर इतना ध्यान रहे कि अप्राप्त वस्तु की इच्छा और लोभ–प्राप्त वस्तु मे ममत्व–इन दोनो का परिग्रह मे समावेश है, इसलिए (१) हिंसा, (२) असत्य, (३) स्तेय (४) अब्रह्म और (५) परिग्रह, ये पांच पापास्रव कहे जाते हैं। जब तक इनका त्याग न होगा, इनको सब प्रकार से रोका न जाएगा, तब तक कर्म-बन्धन से छूटकर मोक्ष-सुख की प्राप्ति का होना अशक्य ही नही, असम्भव भी है। अत· मोक्ष के साधक अहिंसादि मूल गुणों की रक्षा के लिए संयमी पुरुष को इन उक्त पाप-स्थानों का अवश्य परित्याग कर देना चाहिए।

अब साधु के निवास-स्थान-उपाश्रय आदि के विषय में कहते हैं–

मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवेण वासियं ।
सकवाडं पंडुरुल्लोयं, मणसावि न पत्थए ॥ ४ ॥

मनोहरं चित्रगृहं, माल्यधूपेन वासितम् ।
सकपाटं पण्डुरोल्लोचं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–मणोहरं–मन को हरने वाला, **चित्तघरं**–चित्रगृह, **मल्ल**–पुष्पमालाओं से, **धूवेण**–सुगन्धित पदार्थो से, **वासियं**–सुवासित, **सकवाडं**–कपाटसहित, **पंडुरुल्लोयं**–श्वेत वस्त्रो से सुसज्जित गृह की, **मणसावि**–मन से भी, **न पत्थए**–प्रार्थना अर्थात् इच्छा न करे।

मूलार्थ–जो स्थान मन को लोभायमान करने वाला हो, चित्रो से सुशोभित हो, पुष्पमालाओं और अगर-चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों से सुवासित हो तथा सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित और सुन्दर किवाड़ों से युक्त हो ऐसे स्थान की साधु मन से भी इच्छा न करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे साधु के लिए निषिद्ध स्थान अर्थात् निवास करने के अयोग्य स्थान का उल्लेख किया गया है। साधु किस प्रकार के स्थान में न रहे, अब इस विषय का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो स्थान–उपाश्रय आदि चित्ताकर्षक है, नाना प्रकार के चित्रों से अलकृत है तथा नानाविध पुष्पो और अगर-चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यो से सुवासित हो रहा है एव विविध प्रकार के चन्दोवा आदि वस्त्रों से सुसज्जित और सुन्दर किवाड़ो से युक्त है, ऐसे स्थान मे शरीर से तो क्या, मन से भी रहने की साधु इच्छा न करे। कारण यह है कि कभी-कभी इस प्रकार का बाह्य सौन्दर्य भी आत्मा में बीजरूप से रहे हुए काम-रागादि को उत्तेजित करने में निमित्तरूप हो जाता है।

'पण्डुरोल्लोच' शब्द से चन्दोवा आदि विशिष्ट प्रकार के वस्त्रो का ग्रहण समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के उपाश्रय में संयमशील साधु कभी ठहरने का विचार न करे।

इस प्रकार के स्थान में ठहरने से जिस दोष की उत्पत्ति होती है, अब उसके विषय में कहते हैं, यथा–

इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए ।
दुक्कराइं निवारेउं, कामरागविवड्ढणे ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि तु भिक्षोः, तादृशे उपाश्रये ।
दुष्कराणि निवारयितुं, कामरागविवर्द्धने ॥ ५ ॥

पदार्थान्वयः–**इंदियाणि**–इन्द्रियो का, **उ**–जिससे, **भिक्खुस्स**–भिक्षु को, **तारिसम्मि**–इस प्रकार के, **उवस्सए**–उपाश्रय में, **दुक्कराइं**–दुष्कर है, **निवारेउं**–निवारण करना, **कामराग**–कामराग के, **विवड्ढणे**–बढाने वाले।

मूलार्थ–इस प्रकार के कामराग-विवर्द्धक उपाश्रय में भिक्षु के लिए इन्द्रियों का संयम रखना दुष्कर है।

टीका–शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार का उपाश्रय–निवासस्थान कामराग का विवर्द्धक होता है अर्थात् उसमें निवास करने से आत्मा मे सूक्ष्मरूप से रहे हुए कामरागादि के उत्तेजित हो उठने की हर समय सभावना बनी रहती है तथा इन्द्रियो का विषयो की ओर प्रवृत्त हो जाना भी कोई आश्चर्य की बात नही, अतः सचमुच ही भिक्षु को ऐसे स्थान मे अपना आत्म-सयम रखना कठिन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे काम-वर्द्धक स्थान में रहने से भिक्षु को हानि के सिवाय लाभ कुछ नही होता।

किसी-किसी प्रति में **'निवारेउं'** के स्थान पर **'धरेउ–धारयितु'** ऐसा पाठ भी देखने मे आता है। **'धारेउं'** यह पाठ होने पर इसका अर्थ हो जाता है कुमार्ग मे जाती हुई इन्द्रियों को सन्मार्ग मे धारण करना दुष्कर है।

तो फिर किस प्रकार के स्थान में साधु को निवास करना चाहिए?

अब इस विषय में अर्थात् साधु के निवासयोग्य स्थान के विषय में कहते है–

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व इक्कओ ।
पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए ॥ ६ ॥

श्मशाने शून्यागारे वा, वृक्षमूले वैककः ।
प्रतिरिक्ते परकृते वा, वासं तत्राभिरोचयेत् ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–**सुसाणे**–श्मशान में, **वा**–अथवा, **सुन्नगारे**–शून्यागार मे, अर्थात् शून्य गृह मे, **व**–अथवा, **इक्कओ**–एकाकी तथा राग-द्वेष से रहित होकर, **रुक्खमूले**–वृक्ष के मूल में, **पइरिक्के**–एकान्त स्थान में, **वा**–अथवा, **परकडे**–परकृत स्थान मे, **तत्थ**–इन श्मशानादि स्थानो मे, **वासं**–निवास करने की, **अभिरोयए**–अभिरुचि करे।

मूलार्थ–अतः श्मशान में, शून्य गृह में, किसी वृक्ष के नीचे अथवा परकृत एकान्त स्थान में ही एकाकी तथा राग-द्वेष से रहित होकर, साधु निवास करने की इच्छा करे।

टीका—जब कि उक्त प्रकर के स्थान में निवास करने का निषेध है तो फिर साधु किस प्रकार के स्थान मे निवास करे, इस प्रश्न के उत्तर मे आचार्य कहते हैं कि साधु श्मशान भूमि मे रहे, अथवा शून्य गृह में वा किसी वृक्ष के समीप या किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा अपने लिए बनाए हुए एकान्त स्थान मे ठहरे।

'पइरिक्के' यह एकान्त अर्थ का वाचक देशी प्राकृत का शब्द है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणभिद्दुए ।
तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए ॥ ७ ॥

प्रासुके अनाबाधे, स्त्रीभिरनभिद्रुते ।
तत्र सङ्कल्पयेद्वासं, भिक्षुः परमसंयतः ॥ ७ ॥

पदार्थान्वयः—फासुयम्मि—प्रासुक स्थान मे, **अणाबाहे**—बाधारहित स्थान में, **इत्थीहि**—स्त्रियो से, **अणभिद्दुए**—अनाकीर्ण अर्थात् स्त्रियो के उपद्रवो से रहित, **तत्थ**—वहा, **भिक्खू**—भिक्षु, **परमसंजए**—परम सयमी, **वासं**—निवास का, **संकप्पए**—सकल्प करे।

मूलार्थ—प्रासुक अर्थात् शुद्ध, जीवादि की उत्पत्ति से रहित, अनाबाध—जीवादि की विराधना वा स्व-पर-पीड़ा से रहित और स्त्रियों की आकीर्णता से रहित जो स्थान है, वहा पर संयमशील भिक्षु निवास करने का संकल्प करे।

टीका—जिस स्थान में जीवों की उत्पत्ति न होती हो तथा जो स्थान स्व-पर के लिए बाधाकारक न हो एव जिस स्थान मे स्त्रियो का आवागमन न हो, ऐसे निर्दोष स्थान मे संयमशील भिक्षु के लिए निवास करना उचित है, यही इस गाथा का भावार्थ है।

यद्यपि भिक्षु और संयत ये दोनो शब्द एक ही अर्थ के बोधक है, तथापि भिक्षु के साथ जो सयत विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य शाक्यादि भिक्षु-समुदाय की निवृत्ति से है, अर्थात् भिक्षु शब्द स यहा पर जैन भिक्षु का हो ग्रहण अभीष्ट है।

यहा पर इतना और ध्यान रहे कि पूर्व गाथा में भिक्षु के निवासयोग्य जो श्मशानादि स्थान लिखे है उन्ही के विषय मे यह परिमार्जना है, अर्थात् वे श्मशानादि स्थान भी निर्दोष, बाधा और स्त्री आदि के उपद्रवों से रहित होने चाहिएं।

अब परकृत एकान्त स्थान में ठहरने का हेतु बताते हुए फिर इसी विषय में कहते है, यथा—

न सयं गिहाइं कुव्विज्जा, णेव अन्नेहिं कारए ।
गिहकम्मसमारंभे, भूयाणं दिस्सए वहो ॥ ८ ॥

न स्वयं गृहाणि कुर्यात्, नैवान्यैः कारयेत् ।
गृहकर्मसमारम्भे, भूतानां दृश्यते वधः ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः—सयं—स्वयमेव, **गिहाइं**—गृह, **न कुव्विज्जा**—न बनाए, **णेव**—न ही, **अन्नेहिं**—दूसरो

से, **कारए**–बनवाए, **गिहकम्म**–गृहकर्म के, **समारंभे**–समारम्भ में, **भूयाणं**–भूतों–जीवों का, **वहो**–वध, **दिस्सए**–देखा जाता है।

मूलार्थ–(भिक्षु) स्वयं घर न बनाए और न ही दूसरों से बनवाए (उपलक्षण से अनुमोदना भी न करे), क्योंकि गृह-कार्य के समारम्भ में अनेक जीवों की हिंसा होती देखी जाती है।

टीका–शास्त्रकारो ने संयमशील साधु के लिए हर प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति का निषेध किया है। इतना ही नहीं, किन्तु सावद्य कर्म के लिए प्रेरणा और अनुमोदना करने का भी उसे अधिकार नहीं, अत: संयमशील भिक्षु उपाश्रय आदि निवास-गृहों का न तो स्वयं निर्माण करे और न अन्य गृहस्थों के द्वारा निर्माण कराए तथा इस विषय का अनुमोदन भी न करे, क्योंकि इस प्रकार के समारम्भ-कर्म मे अनेक जीवों का वध होता है।

तात्पर्य यह है कि गृह-कर्म समारम्भ का मूल है और उस समारम्भ में अनेकानेक जीवो का वध होना भी अनिवार्य है, इसलिए त्यागशील साधु इस प्रकार के कार्य को न तो स्वय करे और न दूसरो से कराए तथा उसकी अनुमोदना भी न करे। इसी आशय से संयमशील साधु को परकृत एकान्त स्थानो में रहने का आदेश दिया गया है।

गृह-निर्माण में जिन-जिन जीवों की हिसा होती है, अब उनका उल्लेख करते हुए गृहारम्भ के परित्याग का फिर उपदेश करते हैं, यथा–

तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बादराण य ।
तम्हा गिहसमारंभं, संजओ परिवज्जए ॥ ९ ॥

त्रसाना स्थावराणा च, सूक्ष्माणां बादराणां च ।
तस्माद् गृहसमारम्भं, संयतः परिवर्जयेत् ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–**तसाणं**–त्रस जीवो का, **थावराणं**–स्थावर जीवो का, **च**–और, **सुहुमाणं**–सूक्ष्म जीवो का, **य**–और, **बादराण**–बादर अर्थात् स्थूल जीवो का वध होता है, **तम्हा**–इसलिए, **गिहसमारंभ**–गृह के समारम्भ को, **संजओ**–सयमी पुरुष, **परिवज्जए**–त्याग दे।

मूलार्थ–गृह के समारम्भ में त्रस, स्थावर, सूक्ष्म तथा बादर जीवों की हिंसा होती है, इसलिए संयमशील साधु गृह के समारम्भ को सर्व प्रकार से त्याग दे।

टीका–दो इन्द्रियों से लेकर पांच इन्द्रियों वाले जीव त्रस कहलाते है तथा पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के जीवो की स्थावर सज्ञा है एव सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर को धारण करने वाले जीव और बादर नाम-कर्म के उदय से स्थूल शरीर को धारण करने वाले जीव–इन सब प्रकार के जीवो की हिसा गृहकर्म के समारम्भ मे दृष्टिगोचर होती है, इसलिए सयमशील यति को अपने अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिए इस प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति का सर्व प्रकार से परित्याग कर देना चाहिए।

अब आहार-विषयक सावद्य प्रवृत्ति के त्याग का उपदेश देते हुए फिर कहते हैं–

तहेव भत्त-पाणेसु, पयणे पयावणेसु य ।
पाणभूयदयट्ठाए, न पए न पयावए ॥ १० ॥

तथैव भक्तपानेषु, पचने पाचनेषु च ।
प्राणभूतदयार्थं, न पचेन्न पाचयेत् ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः—**तहेव**—उसी प्रकार, **भत्तपाणेसु**—भक्तपान के विषय में जानना, **पयणे**—पचन मे अर्थात् पकाने में, **य**—और, **पयावणेसु**—पाचन में अर्थात् पकवाने में, **पाणभूय**—प्राणियों की, **दयट्ठाए**—दया के वास्ते, **न पए**—न पकावे, **न**—न ही, **पयावए**—दूसरों से पकवावे।

मूलार्थ—उसी प्रकार अन्न-पानी बनाने अर्थात् पकाने और बनवाने अर्थात् पकवाने में भी त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है, अतः प्राणियों पर दया करने के लिए संयमशील साधु न तो स्वयं अन्न को पकाए और न ही दूसरों से पकवाए।

टीका—गृहनिर्माण की भांति संयमी साधु के लिए स्वयं आहार-पानी के तैयार करने का भी निषेध किया गया है, क्योंकि अन्नादि के तैयार करने—पकाने और पकवाने में भी जीवो की हिसा अवश्यंभावी है, अत: विचारशील यति पाकादि की क्रिया से भी पृथक् रहे।

अब फिर इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

जल-धन्ननिस्सिया जीवा, पुढवी-कट्ठनिस्सिया ।
हम्मंति भत्त-पाणेसु, तम्हा भिक्खू न पयावए ॥ ११ ॥

जल-धान्यनिश्रिता जीवाः, पृथिवी-काष्ठनिश्रिताः ।
हन्यन्ते भक्त-पानेषु, तस्माद् भिक्षुर्न पाचयेत् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वयः—**जलधन्न**—जल और धान्य के, **निस्सिया**—आश्रित, **जीवा**—अनेक जीव, तथा, **पुढवी कट्ठ**—पृथिवी और काष्ठ के, **निस्सिया**—आश्रित अनेक जीव, **हम्मंति**—हने जाते है, **तम्हा**—इसलिए, **भिक्खू**—भिक्षु, **न पयावए**—न पकवाए।

मूलार्थ—अन्न के पकाने और पकवाने में जल और धान्य के आश्रित तथा पृथिवी और काष्ठ के आश्रित अनेक जीवों की हिंसा होती है, इसलिए भिक्षु अन्नादि को न स्वयं पकाए और न पकवाए।

टीका—जिस प्रकार उपाश्रय आदि के निर्माण मे त्रस और स्थावर जीवों की हिसा होती है और इसी कारण से भिक्षु उससे अलग रहता है, ठीक उसी प्रकार अन्नादि के निर्माण करने या करवाने में भी जल, धान्य, पृथिवी और काष्ठ के आश्रय मे रहने वाले अनेकविध जीवो की हिसा होती है, इसलिए भिक्षु को रसोई आदि के बनाने या दूसरों से बनवाने का भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

यहा पर जो जल, धान्य, पृथिवी और काष्ठ आदि के आश्रित जीवों का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि बहुत से जीव तो अन्य स्थानों में उत्पन्न होकर जलादि का आश्रय लेते है और कुछ जीव ऐसे भी हैं जो जल और पृथिवी आदि में उत्पन्न होकर उनका स्वरूपभूत होकर रहते हैं, एतदर्थ ही भिक्षु के लिए पाकादि-क्रिया का निषेध किया गया है एव उपलक्षण से पकाने की अनुमति देने का भी निषेध समझ लेना चाहिए।

अब अग्नि के जलाने का निषेध करते हैं, यथा—

विसप्पे सव्वओ-धारे, बहुपाणिविणासणे ।
नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइं न दीवए ॥ १२ ॥

विसर्पत् सर्वतोधारं, बहुप्राणिविनाशनम् ।
नास्ति ज्योतिःसमं शस्त्रं, तस्माज्ज्योतिर्न दीपयेत् ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः-विसप्पे-फैलती हुई, **सव्वओ**-सर्व प्रकार से-सर्व दिशाओं में, **धारे**-शस्त्रधाराएं, **बहुपाणिविणासणे**-अनेकानेक प्राणियों का विनाशक, **नत्थि**-नहीं है, **जोइसमे**-ज्योति-अग्नि के समान, **सत्थे**-शस्त्र, **तम्हा**-इसलिए, **जोइं**-अग्नि को, **न दीवए**-प्रज्वलित न करे।

मूलार्थ-सर्व प्रकार से अथवा सर्व दिशाओं में जिसकी धाराएं अर्थात् ज्वालाएं फैली हुई हैं और जो अनेकानेक प्राणियों का विघात करने वाला है ऐसा अग्नि के समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं है, इसलिए साधु अग्नि को कभी प्रज्वलित न करे।

टीका-शास्त्रकार कहते हैं कि अग्नि के समान दूसरा कोई शस्त्र नही है, क्योंकि अग्नि थोड़े मे ही अधिक विस्तार को प्राप्त कर जाती है। इसकी धाराएं अर्थात् ज्वालाए सर्व दिशाओं मे फैल कर असख्य प्राणियो का विनाश कर डालती है, अतः विचारशील साधु कभी भी अग्नि को प्रदीप्त न करे।

प्रस्तुत गाथा में साधु को अग्नि जलाने का निषेध किया गया है जो कि उसके संयम की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक है।

निष्कर्ष-व्यवहार में उपयोगरूप से अग्नि के दो कार्य प्रायः देखे जाते है-१ अन्नादि का पकाना और २. शीत आदि की निवृत्ति करना। परन्तु इन दोनो ही कार्यों के लिए प्रज्वलित की गई अग्नि आस-पास के असंख्य क्षुद्र प्राणियों को भस्म-सात् कर देता है, इस प्रकार अग्नि को जलाने वाला अनेक क्षुद्र जीवों की हिसा में कारण बनता है। इस आशय को लेकर ही अहिसा-वृत्ति-प्रधान साधु के लिए शास्त्रकारो ने अग्नि जलाने का निषेध किया है।

यदि कोई यह कहे कि क्रय-विक्रय आदि के करने मे तो किसी भी जीव का वध नही होता, अतः यदि साधु क्रय-विक्रय आदि के द्वारा अपना निर्वाह कर ले तो इसमे क्या आपत्ति है?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शास्त्रकार अब क्रय-विक्रय आदि का भी निषेध करते हुए कहते हैं, यथा-

हिरण्णं जायरूवं च, मणसावि न पत्थए ।
समलेट्ठु-कंचणे भिक्खू, विरए कय-विक्कए ॥ १३ ॥

हिरण्यं जातरूपं च, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ।
समलोष्टकाञ्चनो भिक्षुः, विरतः क्रय-विक्रयात् ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः-हिरण्णं-सुवर्ण, **च**-और, **जायरूवं**-चांदी, **च**-अन्य पदार्थो के समुच्चय मे है, **मणसावि**-मन से भी, **न पत्थए**-प्रार्थना न करे, **समलेट्ठुकंचणे**-समान है पाषाण और कांचन जिसको ऐसा, **भिक्खू**-भिक्षु, **विरए**-निवृत्त, **कय-विक्कए**-क्रय-खरीदने और विक्रय-बेचने से।

मूलार्थ-क्रय-विक्रय (वस्तुओं के खरीदने और बेचने) से विरक्त और पाषाण तथा

सुवर्ण को समान समझने वाला भिक्षु, सोने-चांदी आदि वस्तुओं के क्रय-विक्रय की मन से भी इच्छा न करे।

टीका—जैसे पत्थर के टुकड़े या मिट्टी के ढेले को तुच्छ समझकर कोई उसको नहीं उठाता, उसी प्रकार सुवर्णादि को देखते हुए भी साधु उसका स्पर्श न करे। कारण यह है कि त्यागवृत्ति धारण कर लेने के बाद उसके लिए मिट्टी और सुवर्ण दोनों ही समान हो जाते है, इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि साधु सोने-चांदी आदि को ग्रहण करने की शरीर से तो क्या मन से भी इच्छा न करे तथा संयमशील साधु को वस्तुओ के क्रय-विक्रय आदि से भी सदा पृथक् ही रहना चाहिए। वास्तव में तो मिट्टी तथा सुवर्ण को हेयरूप मे तुल्य समझने वाले साधु को क्रय-विक्रय आदि में प्रवृत्त होने की कभी इच्छा होती हो, ऐसी तो कल्पना भी नही हो सकती।

'कय-विक्कए' यहा पर पंचमी के अर्थ में सप्तमी है।

अब क्रय-विक्रय में दोष बताते हुए फिर कहते हैं कि—

किणंतो कइओ होइ, विक्किणंतो य वाणिओ ।
कयविक्कयम्मि वट्टंतो, भिक्खू न भवइ तारिसो ॥ १४ ॥

क्रीणन् क्रायको भवति, विक्रीणानश्च वणिक् ।
क्रयविक्रये वर्तमानः, भिक्षुर्न भवति तादृशः ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः—**किणंतो**—पर की वस्तु को खरीदने वाला, **कइओ**—क्रायक अर्थात् खरीदार, **होइ**—होता है, **य**—और, **विक्किणंतो**—अपनी वस्तु को बेचने वाला, **वाणिओ**-वणिक् होता है, **कयविक्कयम्मि**—क्रय-विक्रय मे, **वट्टंतो**—वर्तता हुआ, **तारिसो**—वैसा—जैसे कि भिक्षु के लक्षण वर्णन किए गए है, **भिक्खू**—भिक्षु, **न भवइ**—नहीं होता।

मूलार्थ—पर की वस्तु को खरीदने वाला क्रायक अर्थात् खरीदार होता है और जो अपनी वस्तु को बेचने वाला है उसे बनिया अर्थात् व्यापारी कहते हैं, अतः क्रय-विक्रय मे भाग लेने वाला साधु, साधु नहीं कहला सकता।

टीका—साधु के लिए क्रय-विक्रय का निषेध करते हुए शास्त्रकार कहते है कि क्रय-विक्रय मे प्रवृत्त होने वाला साधु, साधु नही रह सकता, वह तो बनिया या व्यापारी बन जाता है। तात्पर्य यह है कि साधु यदि वस्तुओं के खरीदने और बेचने में लग जाएगा तब तो वह साधु-धर्म से च्युत होकर एक प्रकार का व्यापारी अर्थात् बनिया हो जाएगा, तथा जिस प्रकार अन्य व्यापारी लोग और सब बातो को छोड़कर रात-दिन बेचने और खरीदने के काम में ही निमग्न रहते है, उसी प्रकार व्यापार मे प्रवृत्त होने वाले साधु को भी अपने साधु-धर्मोचित्त गुणो को तिलाजलि देनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में वह "साधु रह सकता है कि नही", इस बात का निर्णय सहज ही में किया जा सकता है। इसलिए विचारशील साधु को अपने संयम की रक्षा के लिए क्रय-विक्रय आदि गृहस्थोचित कार्यो मे कभी प्रवृत्त नही होना चाहिए।

इसलिए अब साधु-धर्मोचित निर्दोष भिक्षावृत्ति के आचरण के विषय मे कहते हैं, यथा—

भिक्खियव्वं न केयव्वं, भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा ।
कय-विक्कओ महादोसो, भिक्खवत्ती सुहावहा ॥ १५ ॥

भिक्षितव्यं न क्रेतव्यं, भिक्षुणा भैक्ष्यवृत्तिना ।
क्रयविक्रययोर्महान् दोषः, भिक्षावृत्तिः सुखावहा ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः–**भिक्खियव्वं**–भिक्षा लेनी चाहिए, **न केयव्वं**–मूल्य देकर कोई वस्तु न लेनी चाहिए, **भिक्खुणा**–भिक्षु को, **भिक्खवत्तिणा**–भिक्षावृत्ति धारण करने वाले को, **कय-विक्कओ**–क्रय-विक्रय मे, **महा**–महान्, **दोसो**–दोष है, **भिक्खवत्ती**–भिक्षावृत्ति, **सुहावहा**–सुख देने वाली है।

मूलार्थ–भिक्षु को भिक्षावृत्ति से ही निर्वाह करना चाहिए, परन्तु मूल्य देकर कोई वस्तु न लेनी चाहिए, कारण कि क्रय-विक्रय में महान् दोष है और भिक्षावृत्ति सुख देने वाली है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में भिक्षु के लिए एकमात्र निर्दोष भिक्षावृत्ति के द्वारा ही संयम-यात्रा के निर्वाह करने का आदेश दिया गया है। भिक्षावृत्ति की श्रेष्ठता को बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि विचारशील साधु अपनी निर्दोष भिक्षावृत्ति से ही निर्वाह करे, न कि क्रय-विक्रय के द्वारा अपनी आत्मा को सक्लेशित करता हुआ उदरपूर्ति का जघन्य प्रयास करे, क्योंकि साधुवृत्ति में क्रय-विक्रय का आचरण महान् दोष का उत्पादक है और उसके विपरीत भिक्षावृत्ति इस लोक तथा परलोक दोनो मे ही कल्याण के देने वाली है। इसलिए त्यागशील भिक्षु को निर्दोष भिक्षावृत्ति से हो अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिए।

अब भिक्षावृत्ति का प्रकार बताते हैं, यथा–

समुयाणं उंछमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदियं ।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी ॥ १६ ॥

समुदानमुञ्छमेषयेत्, यथासूत्रमनिन्दितम् ।
लाभालाभयोः सन्तुष्टः, पिण्डपातं चरेन् मुनिः ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः–**समुयाणं**–सामुदानिक भिक्षा करता हुआ, **उंछं**–थोड़े से ही खाद्य पदार्थ की, **एसिज्जा**–गवेषणा करे, **जहासुत्तं**–सूत्रानुसार, **अणिंदियं**–निन्दनीय जाति की भिक्षा न हो, **लाभालाभम्मि**–लाभ तथा अलाभ में, **संतुट्ठे**–सन्तुष्ट, **पिंडवायं**–पिडपात को, **चरे**–आसेवन करे, **मुणी**–भिक्षु।

मूलार्थ–साधु सूत्रविधि के अनुसार अनिन्दित अनेक कुलों से थोड़े-थोड़े आहार की गवेषणा करे तथा लाभालाभ में सन्तुष्ट रहे, इस प्रकार मुनि भिक्षावृत्ति का आचरण करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा में भिक्षावृत्ति के प्रकार का वर्णन किया गया है। संयमशील मुनि सूत्रनिर्दिष्ट मर्यादा के अनुसार सामुदानिक गोचरी करे, अर्थात् अनेक घरों से थोड़ा-थोडा आहार ले। कहीं से भिक्षा की प्राप्ति हो, अथवा न हो, मुनि को दोनो दशाओं में सन्तुष्ट ही रहना चाहिए एवं जो कोई कुल दुर्गुणों के कारण निन्दित हो अथवा अभक्ष्य-भक्षण करने वाला हो, उसको छोड़कर ही भिक्षा-ग्रहण करे, अर्थात् निर्दोष उत्तम कुल से शास्त्रविधि के अनुसार भिक्षा ले।

अनेक कुलों या घरों से लाई हुई गोचरी को समुदान कहते हैं तथा भिक्षा के लिए भ्रमण करना **'पिंडवाय–पिंडपात'** कहलाता है।

अब लाए हुए आहार की भक्षणविधि के विषय में कहते हैं, यथा–

अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए ।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥ १७ ॥

अलोलो न रसे गृद्धः, दान्तजिह्वोऽमूर्च्छितः ।
न रसार्थं भुञ्जीत, यापनार्थं महामुनिः ॥ १७ ॥

पदार्थान्वयः–अलोले–अलोलुपी, **रसे**–रसविषयक, **न**–नही, **गिद्धे**–आसक्त, **जिब्भादंते**–जिह्वा का दमन करने वाला, **अमुच्छिए**–आहारविषयक मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति से रहित, **रसट्ठाए**–रस के लिए अर्थात् स्वाद के लिए, **न भुंजिज्जा**–भोजन न करे, अपितु, **जवणट्ठाए**–संयम-यात्रा के निर्वाहार्थ आहार करे, **महामुणी**–महान् मुनि अर्थात् आत्मा।

मूलार्थ–जिह्वा-इन्द्रिय पर काबू रखने वाला मननशील साधु रस का लोलुप न बने, अधिक स्वादु भोजन में आसक्त न हो, तथा रस के लिए अर्थात् स्वादेन्द्रिय की प्रसन्नता के लिए भोजन न करे, किन्तु संयम-निर्वाह के उद्देश्य से ही भोजन करे।

टीका–प्रस्तुत गाथा में साधु के लिए भोजन विषयिणी आसक्ति के त्याग का उपदेश दिया गया है। जैसे कि साधु कहीं से सरस भोजन मिलने पर प्रसन्न न हो और नीरस भोजन की प्राप्ति होने पर खिन्न न हो एवं सरस आहार की आकांक्षा भी न करे, किन्तु जिह्वा को वश मे रखे। अतएव जो भी आहार मिले उसको शरीर-यात्रा के निर्वाहार्थ ही स्वीकार करे, किन्तु स्वादेन्द्रिय की तुष्टि के लिए आहार का ग्रहण न करे।

तात्पर्य यह है कि संयम की भली-भांति रक्षा हो सके, एतदर्थ ही साधु को भोजन का ग्रहण करना चाहिए, न कि शरीर को पुष्ट करने के लिए।

'जिब्भादंते' इस शब्द में प्राकृत के कारण ही 'दंत–दान्त' शब्द का पर-निपात हुआ है, इसीलिए इसकी संस्कृत छाया **''दान्तजिह्वः''** की गई है।

अब अर्चना आदि के विषय में कहते हैं, यथा–

अच्चणं रयणं चेव, वंदणं पूयणं तहा ।
इड्ढी-सक्कार-सम्माणं, मणसावि न पत्थए ॥ १८ ॥

अर्चनं रचनं चैव, वन्दनं पूजनं तथा ।
ऋद्धि-सत्कार-सन्मानं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः–अच्चणं–अर्चना, **रयणं**–स्वस्तिकादि की रचना, **वंदणं**–वन्दना, **तहा**–तथा, **पूयणं**–पूजन, **इड्ढी**–ऋद्धि, **सक्कार**–सत्कार और, **सम्माणं**–सन्मान–इन बातों की, **मणसावि**–मन से भी, **न पत्थए**–प्रार्थना न करे, **च**–समुच्चय में है।

मूलार्थ–अर्चना, रचना, वन्दना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और सन्मान, इन बातों की मुनि

मन से भी इच्छा न करे।

टीका—साधुवृत्ति का अनुसरण करने वाला मुनि निम्नलिखित बातों की मन से भी इच्छा न करे, अर्थात् ये बाते मुझे किसी न किसी प्रकार से प्राप्त हो जाए, कभी ऐसा सकल्प भी न करे। जैसे कि लोग मेरा चन्दन और पुष्पादि से अर्चन करें, मेरे सम्मुख मोतियों के स्वस्तिकादि की रचना करे, मुझे विधिपूर्वक वन्दना करें और विशिष्ट सामग्री के द्वारा मेरी पूजा करें, वस्त्रादि से सत्कार और अभ्युत्थानादि से सन्मान एवं श्रावक की उपकरणरूप सम्पत् तथा आमर्षौषधि आदि ऋद्धि की मुझे प्राप्ति हो, इत्यादि। सारांश यह है कि साधु अपनी पूजा-सत्कार और मान-बड़ाई की कभी इच्छा न करे।

तो फिर उसे क्या करना चाहिए, अब इस विषय में कहते हैं—

सुक्कज्झाणं झियाएज्जा, अणियाणे अकिंचणे ।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥ १९ ॥

शुक्लध्यानं ध्यायेत्, अनिदानोऽकिञ्चनः ।
व्युत्सृष्टकायो विहरेत्, यावत्कालस्य पर्याय. ॥ १९ ॥

पदार्थान्वयः—**सुक्कज्झाणं**—शुक्लध्यान को, **झियाएज्जा**—ध्यावे, **अणियाणे**—निदानरहित, **अकिंचणे**—अकिंचनतापूर्वक, **वोसट्ठकाए**—व्युत्सृष्टकाय होकर, **विहरेज्जा**—विचरे, **जाव**—जब तक, **कालस्स**—काल का, **पज्जओ**—पर्याय है—अर्थात् मृत्यु-समय-पर्यन्त।

मूलार्थ—साधु मृत्यु-समय-पर्यन्त अकिचन अर्थात् अपरिग्रही रहकर तथा काया का व्युत्सर्जन करके, निदान-रहित होकर शुक्लध्यान को ध्याए और अप्रतिबद्ध होकर विचरण करे।

टीका—शास्त्रकार कहते है कि विचारशील साधु को आयु-पर्यन्त अर्थात् मरणसमय तक शुक्लध्यान के आश्रित रहना चाहिए तथा परलोक में जाकर देवादि बनने सम्बन्धी निदान-कर्म को न बांधना चाहिए और द्रव्यादि के परिग्रह को छोडकर सदा अकिंचन-वृत्ति मे अपरिग्रही होकर रहना चाहिए एव काया के ममत्व का भी परित्याग करके अप्रतिबद्ध होकर विचरना चाहिए।

इन पूर्वोक्त नियमो का पालन करने से साधु के चारित्र में कितनी निर्मलता आ सकती है, तथा उसके इस आदर्शभूत जीवन से संसारवर्ती अनेक भव्य जीवों को कितना लाभ पहुच सकता है और निजी आत्म-गुणो का कितना विकास हो सकता है, इत्यादि बातों की सहज ही मे कल्पना की जा सकती है।

शुक्लध्यान मोक्ष का अति समीपवर्ती साधन है, इसलिए अन्य धर्मादि ध्यानो को छोडकर यहा उसका ही उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार आयु-पर्यन्त विचरते हुए जब मृत्यु का समय समीप आ जाए, उस समय साधु को क्या करना चाहिए, अब इस विषय का फल-श्रुति-सहित निरूपण करते हैं, यथा—

निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए ।
चइऊण माणुसं बोंदिं, पहू दुक्खा विमुच्चई ॥ २० ॥

निर्हाय (परित्यज्य) आहारं, कालधर्मे उपस्थिते ।
त्यक्त्वा मानुषीं तनुं, प्रभुः दुःखाद् विमुच्यते ॥ २० ॥

पदार्थान्वयः–**निज्जूहिऊण**–छोडकर, **आहारं**–आहार को, **कालधम्मे**–कालधर्म के, **उवट्ठिए**–उपस्थित होने पर, **चइऊण**–छोड़कर, **माणुस**–मनुष्य-सम्बन्धी, **बोंदिं**–शरीर को, **पहू**–प्रभु अर्थात् सामर्थ्यवान् साधक, **दुक्खा**–दुःखो से, **विमुच्चई**–छूट जाता है।

मूलार्थ–प्रभु अर्थात् समर्थ मुनि कालधर्म अर्थात् मृत्यु के उपस्थित होने पर चतुर्विध आहार का परित्याग करके मनुष्य-सम्बन्धी शरीर को छोड़कर सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे सलेखना का प्रकार बताया गया है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से विशिष्ट सामर्थ्य को प्राप्त करने वाला साधु मृत्यु-समय के निकट आ जाने पर सूत्रोक्त विधि के अनुसार सलेखना अर्थात् अनशन के द्वारा चतुर्विध आहार का परित्याग करके समाधि मे लीन हो जाए। इस प्रकार के अनुष्ठान से वह इस औदारिक शरीर को छोड़ता हुआ सर्व प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखो से छूट जाता है।

इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षय हो जाने से इस आत्मा में रही हुई अनन्त शक्तियो का आविर्भाव हो जाता है। उससे यह जीव अवशिष्ट कर्म-बन्धनो को तोडकर सर्व प्रकार के दुःखो का अन्त कर देता है तथा अन्तिम समय मे सलेखना-विधि के द्वारा सर्व प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हुआ इस औदारिक शरीर के साथ ही कार्मण शरीर का भी अन्त कर देता है और इस आवागमन के चक्र से छूटकर परमानन्द-स्वरूप मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

सलेखना-विधि का वर्णन इस सूत्र के ३६वें अध्ययन में किया गया है, इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु-आत्मा को चाहिए कि वह इस प्रकार के पडित-मरण की प्राप्ति के लिए अपने जीवन मे भरसक प्रयत्न करे।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए पूर्वोक्त मुनि-कर्त्तव्य का फल वर्णन करते है, यथा–

निम्ममे निरहंकारे, वीयरागो अणासवो ।
संपत्तो केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए ॥ २१ ॥
त्ति बेमि ।
इति अणगारज्झयणं समत्तं ॥ ३५ ॥

निर्ममो निरहङ्कारः वीतरागोऽनास्रव ।
सम्प्राप्तः केवल ज्ञानं, शाश्वतं परिनिर्वृतः ॥ २१ ॥
इति ब्रवीमि ।
इत्यनगाराध्ययनं समाप्तम् ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः–**निम्ममे**–ममत्व से रहित, **निरहंकारे**–अहकार से रहित, **वीयरागो**–रागद्वेष से रहित, **अणासवो**–आस्रवों से रहित, **केवलं नाणं**–केवल ज्ञान को, **संपत्तो**–प्राप्त हुआ, **सासयं**–शाश्वत

अर्थात् सदा के लिए, **परिणिव्वुए**–सुखी हो जाता है।

मूलार्थ–(ऐसा साधक) ममत्व और अहंकार से रहित, वीतराग, तथा आस्रवों से रहित होकर केवल-ज्ञान को प्राप्त करके सदा के लिए सुखी हो जाता है।

टीका–अनगार-वृत्ति के यथावत् पालन करने का फल बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो मुनि ममत्व और अहंकार से रहित तथा आस्रवो से मुक्त और वीतराग अर्थात् राग-द्वेष से रहित हो गया है, वह केवलज्ञान को प्राप्त करके शाश्वत सुख अर्थात् मोक्ष के सुख को प्राप्त कर लेता है।

प्रस्तुत गाथा में मोक्ष के अन्तरंग साधन और उसके स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। मुमुक्षु जीव को सबसे प्रथम ममत्व और अहंकार का त्याग करना पड़ता है, उससे यह जीव अनास्रवी हो जाता है, अर्थात् पुण्य-पापरूप कर्मास्रवों को रोक देता है। उसका फल वीतरागता की प्राप्ति है और वीतराग अर्थात् राग-द्वेष से रहित को फिर केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तथा केवल-ज्ञान को प्राप्त करने वाली आत्मा सर्व प्रकार के कर्म बन्धनों से मुक्त होकर शाश्वत निर्वृत्ति को अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त कर लेती है।

मुक्ति को शाश्वत और सुखरूप बताने से उसकी नित्यता और परमानन्दस्वरूपता का बोध कराया गया है, इसलिए जो लोग मोक्ष-सुख को सावधिक अर्थात् अवधि वाला और दु खाभावरूप मानत है, उनका विचार शास्त्र-सम्मत और युक्तियुक्त प्रतीत नही होता।

"त्ति बेमि" का अर्थ पहले की तरह ही समझ लेना चाहिए। इस प्रकार यह अनगार नामक अध्ययन पूर्ण हुआ।

पञ्चत्रिंशत्तममध्ययनं संपूर्णम्

अह जीवाजीवविभत्ती णाम छत्तीसइमं अज्झयणं

अथ जीवाजीवविभक्तिनाम षट्त्रिंशत्तममध्ययनम्

गत पैतीसवे अध्ययन मे साधु के गुणो का कथन किया गया है, परन्तु उनके पालनार्थ जीव और अजीव आदि पदार्थो का भली-भाति ज्ञान होना परम आवश्यक है, अतः इस वक्ष्यमाण छत्तीसवें अध्ययन मे जीव और अजीव के स्वरूप का वर्णन किया जाता है और इसीलिए यह अध्ययन भी 'जीवाजीव-विभक्ति' के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत अध्ययन की आरम्भिक गाथा इस प्रकार है–

जीवाजीवविभत्तिं मे, सुणेह एगमणा इओ ।
जं जाणिऊण भिक्खू, सम्मं जयइ संजमे ॥ १ ॥

जीवाजीवविभक्ति मे, श्रृणत ! एकमनस इतः ।
यां ज्ञात्वा भिक्षुः, सम्यग् यतते संयमे ॥ १ ॥

पदार्थान्वय.–**जीवाजीवविभत्तिं**–जीव और अजीव की विभक्ति, **मे**–मुझसे, **एगमणा**–एकमन होकर, **सुणेह**–श्रवण करो! **इओ**–इससे, **जं**–जिसको, **जाणिऊण**–जानकर, **भिक्खू**–भिक्षु, **सम्मं**–भली प्रकार से, **संजमे**–सयम मे, **जयइ**–यत्नवान् होता है।

मूलार्थ–हे शिष्यो ! तुम मुझ से एकाग्रमन होकर जीवाजीव की विभक्ति अर्थात् विभाग को श्रवण करो, जिसको जानकर भिक्षु संयम की दृढ़ता के लिए यत्न करता है।

टीका–आचार्य कहते हैं कि हे शिष्यो ! अब तुम जीव और अजीव के भेदों को मुझसे सुनो, क्योकि संयम की आराधना एव दृढ़ता के लिए इनके स्वरूप और भेदों का जानना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत गाथा मे प्रतिपाद्य विषय का निर्देश और उसके फल का संक्षेप से दिग्दर्शन कराया गया है।

अब उद्देश्यक्रमानुसार प्रतिज्ञात विषय का उपक्रम करते हैं, यथा–

जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए ।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥ २ ॥

जीवाश्चैवाजीवाश्च, एष लोको व्याख्यातः ।
अजीवदेश आकाशः, अलोकः स व्याख्यातः ॥ २ ॥

पदार्थान्वयः—**जीवा**—जीव, **च**—और, **अजीवा**—अजीव रूप, **एस**—यह, **लोए**—लोक, **वियाहिए**—कहा गया है, **अजीवदेसं**—अजीव का देश, **आगासे**—केवल आकाशरूप, **से**—वह, **अलोए**—अलोक, **वियाहिए**—प्रतिपादन किया गया है, **य**—पुनः अर्थ में, **एव**—अवधारण अर्थ मे है।

मूलार्थ—जीव और अजीव रूप से लोक दो प्रकार का है और केवल अजीव का देशमात्र जो आकाश है (जहां पर आकाश-द्रव्य के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं है) उसको तीर्थंकरों ने अलोक कहा है।

टीका—इस गाथा में जीव और अजीव के लक्षण वर्णन किए गए है। चेतन को जीव और अचेतन को अजीव कहते हैं, अर्थात् जिसमें चैतन्य लक्षण हो, वह जीव है और चेतना से रहित को अजीव कहा जाता है। ये दोनो तत्त्व जहां निवास कर रहे है, उसे तीर्थकरों ने लोक कहा है। अजीव के एकदेश को जहां आकाशमात्र ही विद्यमान है, अर्थात् आकाश के सिवाय अन्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नही है, उसे अलोक कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि लोक मे तो जीव और धर्माधर्मादि सभी अजीव-द्रव्यो का अस्तित्व रहता है और अलोक मे केवल आकाशमात्र का ही अस्तित्व है। अजीव-द्रव्य का एकदेश आकाश है, अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल, ये पांच भेद अजीव-द्रव्य के है। इनमें से केवल आकाश ही जहां पर विद्यमान हो वह अलोक है। इस प्रकार यह लोकालोक के विभाग का वर्णन तीर्थकरों के द्वारा किया गया है।

अब जीव और अजीव पदार्थ के विभाग के विषय में कहते है, यथा—

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।
परूवणा तेसिं भवे, जीवाणमजीवाण य ॥ ३ ॥

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव, कालतो भावतस्तथा ।
प्ररूपणा तेषां भवेत्, जीवानामजीवानां च ॥ ३ ॥

पदार्थान्वयः—**दव्वओ**—द्रव्य से, **खेत्तओ**—क्षेत्र से, **च**—और, **कालओ**—काल से, **तहा**—तथा, **भावओ**—भाव से, **परूवणा**—प्ररूपणा, **तेसिं**—उन, **जीवाणं**—जीवों की, **य**—और, **अजीवाण**—अजीवो की, **भवे**—होती है।

मूलार्थ—जीव और अजीव द्रव्य की प्ररूपणा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार प्रकारों से होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में जीव और अजीव द्रव्य के निरूपण के चार प्रकार बताए गए है। वे चारों

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के नाम से विख्यात हैं। द्रव्य से जीव और अजीव द्रव्य इतने हैं, क्षेत्र से–जीव द्रव्य मात्र इतने क्षेत्र में स्थित है, काल से जीव द्रव्य की एतावन्मात्र काल-स्थिति है, और भाव से जीव-द्रव्य में एतावन्मात्र पर्याय परिवर्तित होते हैं।

इसी प्रकार से अजीव-द्रव्य के विषय में समझ लेना चाहिए। सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्य का इन चार प्रकारों से विभाग किया जाता है।

विषय-निरूपण की स्वल्पता को देखते हुए सर्व प्रथम अजीव-द्रव्य के विषय में कहते है, यथा–

रूविणो चेव रूवी य, अजीवा दुविहा भवे ।
अरूवी दसहा वुत्ता, रूविणो य चउव्विहा ॥ ४ ॥

रूपिणश्चैवारूपिणश्च, अजीवा द्विविधा भवेयुः ।
अरूपिणो दशधोक्ताः, रूपिणश्च चतुर्विधाः ॥ ४ ॥

पदार्थान्वयः–अजीवा–अजीव-द्रव्य, **दुविहा**–दो प्रकार का, **भवे**–होता है, **रूविणो**–रूपी, **च**–और, **अरूवी**–अरूपी द्रव्य, **दसहा**–दश प्रकार से, **वुत्ता**–कहा गया है, **य**–तथा, **रूविणो**–रूपी द्रव्य, **चउव्विहा**–चार प्रकार का है, **च**–समुच्चय में और, **एव**–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ–अजीव-द्रव्य के दो भेद कहे गए हैं, पहला रूपी और दूसरा अरूपी। उनमें भी अरूपी के दस और रूपी के चार भेद प्रतिपादित किए गए हैं।

टीका–रूपी और अरूपी भेद से अजीव द्रव्य दो प्रकार का है। उनमें भी रूपी के चार और अरूपी के दस भेद है। जिसमे वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श हो, वह रूपी द्रव्य कहलाता है, तथा इन गुणो का जिसमे अभाव हो, उसे अरूपी द्रव्य कहते हैं। इसके अतिरिक्त रूपी को मूर्तिक और अरूपी को अमूर्तिक भी कहते हैं।

साराश यह है कि अजीव-तत्त्व के मुख्य भेद तो दो हैं–रूपी और अरूपी, उनमें से अरूपी के दस और रूपी के चार भेद है।

धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए ।
अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ५ ॥

आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।
अद्धासमए चेव, अरूवी दसहा भवे ॥ ६ ॥

धर्मास्तिकायस्तद्देशः, तत्प्रदेशश्चाख्यातः ।
अधर्मस्तस्य देशश्च, तत्प्रदेशश्चाख्यातः ॥ ५ ॥

आकाशस्तस्य देशश्च, तत्प्रदेशश्चाख्यातः ।
अद्धासमयश्चैव, अरूपिणो दशधा भवेयुः ॥ ६ ॥

पदार्थान्वयः–धम्मत्थिकाए–धर्मास्तिकाय, **तद्देसे**–धर्मास्तिकाय का देश, **य**–और, **तप्पएसे**–धर्मास्तिकाय का प्रदेश, **आहिए**–कहा गया है, **अहम्मे**–अधर्मास्तिकाय, **तस्स**–उसका, **देसे**–देश,

य–और, **तप्पएसे**–उसका प्रदेश, **य**–पुनः, **आहिए**–कहा गया है, **आगासे**–आकाशास्तिकाय, **य**–और, **तस्स**–उसका, **देसे**–देश, **य**–तथा, **तप्पएसे**–उसका प्रदेश, **आहिए**–कहा है, **अद्धासमए**–अद्धा-समय अर्थात् काल का समय, **अरूवी**–अरूपी द्रव्य, **दसहा**–दश प्रकार का, **भवे**–होता है।

मूलार्थ–धर्मास्तिकाय के–१. स्कन्ध, २. देश और ३. प्रदेश तथा अधर्मास्तिकाय के-४. स्कन्ध, ५. देश और ६. प्रदेश एवं आकाशास्तिकाय के–७. स्कन्ध, ८. देश और ९. प्रदेश तथा १०. अद्धासमय–काल-पदार्थ, इस तरह अरूपी द्रव्य के दस भेद होते हैं।

टीका–इस गाथा में अरूपी द्रव्य के दस भेदो का दिग्दर्शन कराया गया है। अजीव-तत्त्व मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय तथा काल, ये चार अरूपी द्रव्य है। इनमे से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इन तीनों से प्रत्येक के स्कन्ध, देश और प्रदेश, ऐसे तीन-तीन भेद होने से नौ भेद होते है और दसवां काल, इस प्रकार कुल दस भेद होते हैं। निर्विभाग होने से काल के स्कन्ध, देश और प्रदेश नहीं माने जाते।

यद्यपि वर्तनालक्षण काल के भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान ऐसे तीन भेद माने गए है, तथापि धर्माधर्मादि की भांति इन समयों का एकीभाव नही हो सकता, क्योंकि काल मे प्रदेश-प्रचय-रूपता नहीं है, इसलिए काल तत्त्व एक ही है। अतः कालतत्त्व के मिलने से कुल दस ही भेद अरूपी दृव्य के माने गए है तथा इनके गति-स्थिति आदि लक्षणों का वर्णन प्रस्तुत सूत्र के २८वें अध्ययन में हो चुका है।

१ स्कन्ध–किसी भी सम्पूर्ण द्रव्य के पूर्ण रूप का नाम स्कन्ध है।

२ देश–स्कन्ध के किसी एक कल्पित विभाग को देश कहते हैं।

३. प्रदेश–स्कन्ध का एक अत्यन्त सूक्ष्म अविभाज्याश (जिसका और कोई विभाग न हो सके) प्रदेश या परमाणु कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि वह अविभाज्य अंश अपने स्कन्ध के साथ मिला हुआ तो प्रदेश कहलाता है और स्कन्ध से पृथक् होने पर उसकी परमाणु सज्ञा होती है।

अब उक्त द्रव्यों के विभाग का क्षेत्र से निरूपण करते हैं, तथा–

धम्माधम्मे य दो चेव, लोगमित्ता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे, समए समयखेत्तिए ॥ ७ ॥

**धर्माऽधर्मौ च द्वौ चैव, लोकमात्रौ व्याख्यातौ ।
लोकेऽलोके चाकाशः, समयः समयक्षेत्रिकः ॥ ७ ॥**

पदार्थान्वयः–धम्माधम्मे य–धर्म और अधर्म, **दो चेव**–दोनो ही, **लोगमित्ता**–लोकमात्र-प्रमाण, **वियाहिया**–कथन किए गए है, **लोगालोगे य**–लोक और अलोक प्रमाण, **आगासे**–आकाश है–परन्तु **समए**–समय, **समयखेत्तिए**–समयक्षेत्रिक है।

मूलार्थ–धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय इन दोनों को लोकप्रमाण कहा गया है, तथा आकाश लोक और अलोक उभय-प्रमाण है, परन्तु समय अर्थात् काल समय-क्षेत्रिक अर्थात् अढ़ाई-द्वीप-प्रमाण है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में क्षेत्र की दृष्टि से अजीव-तत्त्व के अरूपी द्रव्यो का निरूपण किया गया है। यथा–धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का क्षेत्र लोकप्रमाण है, आकाशास्तिकाय की सत्ता सम्पूर्ण लोक और अलोक दोनो मे है, तथा काल का क्षेत्र अढाई-द्वीप-प्रमाण है।

शास्त्रकारो ने मनुष्य-क्षेत्र को अढाई-द्वीप मे परिगणित किया है। इसी क्षेत्र मे सूर्य और चन्द्रमा आदि के भ्रमण से, समय से लेकर पल्योपम एवं सागरोपम आदि के प्रमाण का निश्चय किया जाता है, अतएव समय-विभाग को समय-क्षेत्रिक माना गया है और जो अढाई-द्वीप से बाह्य क्षेत्र हैं उनमे भी समय का निर्णय समय-क्षेत्र से ही किया जाता है, क्योंकि द्रव्य-काल समय-विभागादि से ही उत्पन्न होता है।

सारांश यह है कि काल-द्रव्य का क्षेत्र अढाई-द्वीप पर्यन्त ही स्वीकार किया गया है। काल की सर्व गणना समयक्षेत्र (मनुष्यक्षेत्र) से ही की जाती है।

अब काल से अजीव-द्रव्य के अरूपी विभाग के विषय में कहते हैं–

धम्माधम्मागासा, तिन्नि वि एए अणाइया ।
अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया ॥ ८ ॥

धर्माऽधर्माऽऽकाशानि, त्रीण्यप्येतान्यनादीनि ।
अपर्यवसितानि चैव, सर्वाद्धं तु व्याख्यातानि ॥ ८ ॥

पदार्थान्वयः–**धम्माधम्मागासा**–धर्म, अधर्म और आकाश, **एए**–ये, **तिन्नि वि**–तीनो ही, **अणाइया**–अनादि, **अपज्जवसिया**–अपर्यवसित है, **सव्वद्धं**–सर्व काल मे, **वियाहिया**–ऐसे तीर्थकरो ने कहा है।

मूलार्थ–तीर्थंकरों ने कहा है कि धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनों ही द्रव्य सर्व काल में अनादि और अपर्यवसित–अपने स्वभाव को न छोड़ने वाले माने गए हैं।

टीका–धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनों ही अरूपी द्रव्य अनादि और अन्त-रहित हैं। तात्पर्य यह है कि न तो इनकी कोई आदि है और न ही अन्त। परन्तु यह कथन काल की अपेक्षा से है, पर्याय की वा क्षेत्र की अपेक्षा से नही।

इस गाथा मे सर्वत्र लिंग का व्यत्यय किया हुआ है।

अब काल के विषय में कहते हैं–

समए वि संतइं पप्प, एवमेव वियाहिए ।
आएसं पप्प साइए, सपज्जवसिए वि य ॥ ९ ॥

समयोऽपि संततिं प्राप्य, एवमेव व्याख्यातः ।
आदेशं प्राप्य सादिकः, सपर्यवसितोऽपि च ॥ ९ ॥

पदार्थान्वयः–**समए वि**–समय भी, **संतइं**–सन्तति की, **पप्प**–अपेक्षा से, **एवमेव**–उसी प्रकार अनादि अपर्यवसित, **वियाहिए**–कथन किया है और, **आएसं पप्प**–आदेश की अपेक्षा से, **साइए**–सादि, **सपज्जवसिए**–सपर्यवसित है, **च**–पुनरर्थक है और, **अवि**–समुच्चय में है।

मूलार्थ–सन्तति अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से, समय अनादि-अपर्यवसित अर्थात् अनादि अनन्त है और आदेश की अपेक्षा से सपर्यवसित अर्थात् सादि-सान्त भी कहा गया है।

टीका–सन्तति अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से समय अनादि-अनन्त है, क्योंकि समय की उत्पत्ति नहीं होती है और उत्पत्ति से रहित होने से वह अनादि–आदि-शून्य, अनन्त–अन्त-शून्य, स्वत: सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब हम प्रवाह को देखते हुए समय के आदि की खोज करते हैं तब उसका आरम्भिक छोर उपलब्ध नहीं होता, तथा इसी प्रकार उसका पर्यवसान भी देखने मे नहीं आता, इसलिए प्रवाह की अपेक्षा से समय को अनादि-अनन्त माना गया है, परन्तु कार्य विशेष की अपेक्षा से वह सादि-सान्त अर्थात् आदि और अन्त वाला है। जैसे कि–किसी कुलाल ने अमुक समय में घट-निर्माणरूप कार्य का आरम्भ किया तो आरम्भ की अपेक्षा से वह सादि अर्थात् आदिसहित ठहरता है और घटनिर्माण की समाप्ति पर उसका अन्त हो जाता है, इसलिए आदेश अर्थात् कार्य की दृष्टि से समय को सादि-सान्त स्वीकार किया गया है। समय की सादि-सान्तता का लोक में भी निरन्तर व्यवहार होता रहता है। यथा–किसी शिक्षक ने अपने विद्यार्थी को पढने का समय दस बजे का दिया है और वह विद्यार्थी ग्यारह बजे पहुंचता है, तब उससे शिक्षक कहता है कि ''वत्स। तुम्हारा समय तो समाप्त हो चुका है, अब तो दूसरों का समय आरम्भ हो गया है। इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से समय की सादि-सान्तता भी मानी गई है।

सारांश यह है कि प्रवाह की ओर दृष्टि डाले, तब तो समय के आदि और अन्त दोनो का ही कुछ पता नहीं लगता, परन्तु नानाविध कार्यो के आरम्भ और समाप्ति को देखते हुए समय की उत्पत्ति और विनाश दोनो ही दृष्टिगोचर होते है, इसलिए उसको सादि-सान्त कहा गया हैं।

इस प्रकार द्रव्य-क्षेत्र और काल से अरूपी द्रव्य का निरूपण किया गया है, परन्तु भाव से सभी द्रव्य वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है, इसलिए अरूपी अर्थात् अमूर्त है तथा भाव से इनका निरूपण करने पर भी इनके पर्यायो के प्रत्यक्ष न होने से उनका अनुभव होना अतीव कठिन है, इसलिए भाव-सम्बन्धी निरूपण को केवल अनुमानगोचर होने से छोड दिया गया है।

अब क्रम-प्राप्त रूपी अजीव-द्रव्य का निरूपण करते हैं, यथा–

खंधा य खंधदेसा य, तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोद्धव्वा, रूविणो य चउव्विहा ॥ १० ॥

स्कन्धाश्च स्कन्धदेशाश्च, तत्प्रदेशास्तथैव च।
परमाणवश्च बोद्धव्याः, रूपिणश्च चतुर्विधाः ॥ १० ॥

पदार्थान्वयः–खंधा–स्कंध, **य**–और, **खंधदेसा**–स्कन्ध का देश, **य**–तथा, **तहेव**–उसी प्रकार, **तप्पएसा**–स्कन्ध के प्रदेश, **य**–और, **परमाणुणो**–परमाणु-पुद्गल, **य**–पुन: इसी प्रकार, **रूविणो**–रूपी द्रव्य के, **चउव्विहा**–चार भेद, **बोद्धव्वा**–जानने चाहिए।

मूलार्थ–रूपी द्रव्य के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार भेद हैं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में रूपी द्रव्य के भेदों का निरूपण किया गया है। जिसमे वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्शादि की उपलब्धि होती हो वह रूपी द्रव्य है। पुद्गल रूपी अर्थात् मूर्त–द्रव्य है, क्योंकि उसमें

उक्त वर्ण-रसादि गुणों की उपलब्धि होती है। रूपी द्रव्य के चार भेद हैं—१. स्कन्ध, २ स्कन्ध का देश, ३. स्कन्ध का प्रदेश और ४. परमाणु। इस प्रकार से पुद्गल-द्रव्य चार भागो मे विभक्त किया गया है।

१. **स्कन्ध**—परमाणु-प्रचय अर्थात् परमाणुओं के समूह को स्कन्ध कहते है।

२. **देश**—स्कन्ध के किसी अमुक कल्पित विभाग का नाम देश है।

३. **प्रदेश**—स्कन्ध के निरश अर्थात् अविभाज्य अंश को, जो कि अपने स्कन्ध से पृथक् न हुआ हो उसे प्रदेश कहते है।

४. **परमाणु**—स्कन्ध के पृथक् हुए निरश भाग की परमाणु संज्ञा है और सक्षेप से तो रूपी द्रव्य अर्थात् पुद्गल के स्कन्ध और परमाणु ये दो ही भेद हैं, क्योंकि देश और प्रदेश इन दोनों का स्कन्ध में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अब स्कन्ध और परमाणु का लक्षण-वर्णन करते हैं, यथा—

एगत्तेण पुहुत्तेण, खंधा य परमाणु य ।
लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेत्तओ ।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ ११ ॥

एकत्वेन पृथक्त्वेन, स्कन्धाश्च परमाणवश्च ।
लोकैकदेशे लोके च, भजनीयास्ते तु क्षेत्रतः ।
इत. कालविभागं तु, तेषां वक्ष्ये चतुर्विधम् ॥ ११ ॥

पदार्थान्वय.—**एगत्तेण**—परमाणुओ के एकत्व से अर्थात् मिलने से, **खंधा**—स्कन्ध होता है, **य**—और, **पुहुत्तेण**—पृथक्-पृथक् होने से उनकी, **परमाणु**—परमाणु सज्ञा हो जाती है, **लोएगदेसे**—लोक के एकदेश मे, **य**—तथा, **लोए**—लोक मे, **ते**—वे स्कन्ध और परमाणु, **उ**—वितर्क अर्थ में है, **खेत्तओ**—क्षेत्र से, **भइयव्वा**—भजनापूर्वक रहते है, **एत्तो**—इसके अनन्तर, **कालविभागं**—कालविभाग के विषय में, **तेसिं**—उन स्कन्ध और परमाणुओं का, **चउव्विहं**—चार प्रकार से, **वुच्छं**—निरूपण करूगा।

मूलार्थ—द्रव्य की अपेक्षा से परमाणुओं के परस्पर मिलने से स्कन्ध होता है तथा भिन्न-भिन्न होने से उनको परमाणु कहते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु, लोक के एक देश में और सम्पूर्ण लोक में भजना से रहते हैं, अर्थात् रहते भी हैं और नहीं भी। इसके अनन्तर अब काल की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु के चार भेद बतलाते हैं।

टीका—इस सार्द्ध गाथा मे स्कन्ध और परमाणु का द्रव्य से स्वरूप अर्थात् लक्षण वर्णन करने के साथ-साथ उनकी क्षेत्रस्थिति का भी वर्णन कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त इनकी काल-स्थिति के वर्णन की प्रतिज्ञा भी की गई है। जब अनेक पुद्गल अर्थात् परमाणु एकत्रित होकर आपस मे विशिष्ट प्रकार से मिल जाते हैं, तब उनकी स्कन्ध संज्ञा होती है और जब वे एक दूसरे से पृथक् होते है, तब उनको परमाणु कहते हैं। जैसे बहुत से पत्रों के विशिष्ट संचय को पुस्तक का नाम दिया जाता है और अलग-अलग रहने से उनकी पत्र संज्ञा होती है। तात्पर्य यह है कि पत्रों के संचय से पुस्तक और पृथक्-पृथक् होने से पत्र, ये दो सज्ञाए जैसे बन जाती है, इसी प्रकार स्कन्ध और परमाणु के विषय मे समझ लेना चाहिए।

क्षेत्र की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु की स्थिति का विचार करे तो लोक के एक प्रदेश से लेकर असख्यात प्रदेशो पर्यन्त स्कन्ध और परमाणु के विषय मे भजना है, अर्थात् लोक के एक आकाशप्रदेश पर एक परमाणु तो रहता ही है, परन्तु स्कन्ध के लिए कोई नियम नही है, वह स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश पर रहता भी है और नहीं भी रहता। कारण यह है कि स्कन्ध एक प्रदेश पर भी रहता है और दो पर भी रह सकता है, तथा सख्यात और असंख्यात प्रदेशों पर भी उसकी स्थिति हो सकती है, अथवा सर्व लोक में भी वह स्थिति कर सकता है।

इस प्रकार स्कन्ध और परमाणु का द्रव्य से लक्षण और क्षेत्र से स्थिति का वर्णन करने के अनन्तर अब काल की अपेक्षा से उनके चार भेद वर्णन करने की शास्त्रकार प्रतिज्ञा करते है, जैसा कि ऊपर गाथा के अर्द्धांश में बतलाया गया है।

यह गाथा षट्पाद गाथा के नाम से प्रसिद्ध है, अर्थात् इसके छः पाद हैं। गाथा का लक्षण बतलात हुए अन्यत्र लिखा है कि–

विषमाक्षरपादं वा पादैरसमं दशधर्मवत् ।
तंत्रेऽस्मिन् पदसिद्धं गाथेति तत्पण्डितैर्ज्ञेयम् ॥

इसका अर्थ सुगम है।

दश प्रकार के जीव धर्म का आराधन नही कर सकते। यथा–

मत्त प्रमत्त उन्मत्तः, श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षित. ।
त्वरमाणश्च भीरुश्च, लुब्ध· कामी च ते दश ॥

नशे मे चूर, पागल, भूतप्रेतादि की बाधा से युक्त, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दी मचाने वाला, डरपोक, लोभी और कामी, ये दस व्यक्ति धर्म की आराधना नही कर सकते है।

अब प्रतिज्ञात विषय, अर्थात् काल की अपेक्षा से स्कन्ध और परमाणु के चार भेदो का निरूपण करते हैं, यथा–

संतइं पप्प तेऽणाई, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १२ ॥

सन्ततिं प्राप्य तेऽनादयः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः–**सतइं**–सतति की, **पप्प**–अपेक्षा से, **ते**–वे–स्कन्धादि, **अणाई**–अनादि हैं, **य**–और, **अपज्जवसिया**–अपर्यवसित है, किन्तु, **ठिइं**–स्थिति की, **पडुच्च**–अपेक्षा से, **साईया**–सादि और, **सपज्जवसिया**–सपर्यवसित अर्थात् पर्यवसान वाले है।

मूलार्थ–स्कन्ध और परमाणु सन्तति-परम्परा अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और अपर्यवसित अर्थात् अनन्त हैं, परन्तु स्थिति की अपेक्षा से वे सादि और सपर्यवसान अर्थात् अन्त वाले हैं।

टीका–स्कन्ध और परमाणुओं की सन्तति अर्थात् परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है और इसी प्रकार चलती ही रहेगी, इसलिए प्रवाह की अपेक्षा से परमाणु अनादि और अनन्त कहे जाते हैं

अर्थात् न तो इनका आदि है और न अन्त ही। स्थिति और रूपान्तर होने की अपेक्षा से ये सादि-सान्त हैं, अर्थात् इनका आरम्भ भी है और समाप्ति भी। जैसे कि किसी समय पर परमाणुओं के संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति हुई और उसके बाद उसकी स्थिति पर विचार किया गया, तब इस अपेक्षा से वह सादि और सान्त प्रतीत होता है। यदि दूसरे सरल शब्दो में कहे तो ये स्कन्धादि किसी दृष्टि से अनादि-अनन्त हैं और किसी अपेक्षा से सादि-सान्त कहे जाते हैं।

अब इनकी स्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा-

असंखकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं ।
अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा वियाहिया ॥ १३ ॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा, एकं समय जघन्यका ।
अजीवानाञ्च रूपिणां, स्थितिरेषा व्याख्याता ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः-**असंखकालं**-असंख्यातकाल की, **उक्कोस**-उत्कृष्ट और, **जहन्नयं**-जघन्य, **इक्कं समयं**-एक समय-प्रमाण, **एसा**-यह, **ठिई**-स्थिति, **रूवीणं**-रूपी, **अजीवाण**-अजीव-द्रव्यो की, **वियाहिया**-प्रतिपादन की गई है, **य**-पादपूर्ति के लिए है।

मूलार्थ-रूपी अजीव-द्रव्य की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की और जघन्य एक समय की कही गई है।

टीका-स्कन्ध और परमाणु को काल-सापेक्ष्य स्थिति से सादि-सान्त माना गया है, इसलिए प्रस्तुत गाथा मे परमाणु की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है। परमाणु और स्कन्ध की जघन्य स्थिति तो एक समय की है और उत्कृष्ट स्थिति असख्यात काल की प्रतिपादित की गई है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि परमाणु या स्कन्ध किसी एक विवक्षित स्थान पर स्थिति करे तो उनका वह स्थिति-काल न्यून से न्यून एक समय का और अधिक से अधिक असख्यात काल का होता है। इसके अनन्तर उनको किसी न किसी निमित्त को पाकर वहा से अवश्य अलग होना पडता है। फिर उनकी दूसरी स्थिति चाहे उसी क्षेत्र में हो अथवा किसी क्षेत्रान्तर मे हो।

इस प्रकार स्कन्ध और परमाणु की कालसापेक्ष्य स्थिति का वर्णन किया गया है, अब इसी के अन्तर्गत अन्तर-द्वार अर्थात् पुद्गल के अन्तर-स्थिति-द्वार का वर्णन करते हैं, यथा-

अणंतकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं ।
अजीवाण य रूवीणं, अंतरेयं वियाहियं ॥ १४ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, एकं समयं जघन्यकम् ।
अजीवानाञ्च रूपिणाम्, अन्तरमिदं व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

पदार्थान्वयः-**उक्कोसं**-उत्कृष्ट, **अणंतकालं**-अनन्तकाल, **जहन्नयं**-जघन्य, **इक्कं**-एक, **समयं**-समय, **रूवीणं**-रूपी-मूर्त, **अजीवाण**-अजीव-द्रव्य का, **अंतरेयं**-यह अन्तर, **वियाहियं**-तीर्थकरो ने कहा है।

मूलार्थ—रूपी अजीव-द्रव्य का जघन्य अन्तर एक समय का और उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल का तीर्थंकरों ने कथन किया है।

टीका—इस गाथा में परमाणु आदि के विषय में काल-कृत् अन्तर का वर्णन किया गया है। शिष्य ने पूछा है कि परमाणु अथवा स्कन्ध किसी विवक्षित आकाश-प्रदेश मे स्थित हुए किसी निमित्तवशात् यदि वहा से चल पड़े तो उसके बाद वह परमाणु या स्कन्ध फिर उस आकाश-प्रदेश मे कब तक वापस आ सकता है? इस पर गुरु कहते हैं कि न्यून तो एक समय के पश्चात् और अधिक से अधिक अनन्त-काल के पश्चात् वे उस आकाश-प्रदेश पर वापस आ जाते हैं। यह अन्तर-कालमान जघन्य और उत्कृष्ट है, मध्यम अन्तर-काल तो आवलिका से लेकर संख्यात और असख्यात-काल-पर्यन्त माना गया है।

अब भाव से इनका निरूपण करते हैं, यथा—

वण्णओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तहा ।
संठाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसिं पंचहा ॥ १५ ॥

वर्णतो गन्धतश्चैव, रसतः स्पर्शतस्तथा ।
संस्थानतश्च विज्ञेयः, परिणामस्तेषां पञ्चधा ॥ १५ ॥

पदार्थान्वयः—**वण्णओ**—वर्ण से, **गंधओ**—गन्ध से, **च**—और, **एव**—निश्चय मे, **रसओ**—रस से, **तहा**—तथा, **फासओ**—स्पर्श से, **य**—और, **संठाणओ**—सस्थान से, **तेसिं**—उनका, **पंचहा**—पाच प्रकार का, **परिणामो**—परिणाम अर्थात् स्वभाव, **विन्नेओ**—जानना चाहिए।

मूलार्थ—स्कन्ध और परमाणु का वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान अर्थात् आकृति से पाच प्रकार का स्वरूप अथवा स्वभाव जानना चाहिए, तात्पर्य यह है कि वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इनके पांच भेद हैं।

टीका—रूपी अजीव द्रव्यों की अनुभूति वर्ण, रस, गन्धादि के द्वारा ही होती है। ये रूपी द्रव्य के असाधारण धर्म हैं और इन्ही से वह अपने स्वरूप में स्थित और निज स्वभाव से परिणत हो रहा है। ये गुण परमाणु मे सदैव विद्यमान रहते हैं, तथा वह रूपी द्रव्य भी कभी इनसे पृथक् नही हो सकता। कारण यह है कि पदार्थ अपने स्वाभाविक गुण का कभी परित्याग नही करता। यदि कर दे, तो उसका पदार्थत्व ही नष्ट हो जाए। जैसे कि सुवर्ण का स्वाभाविक गुण पीतता है, यदि उसका यह गुण नष्ट हो जाए, अथवा स्वर्ण अपने पीत गुण का परित्याग कर दे, तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इसलिए ये वर्ण-रस-गन्धादि पुद्गल के सदैव साथ मे रहने वाले गुण हैं और इन्ही के द्वारा पुद्गल-द्रव्य की स्वभाव-परिणति की उपलब्धि होती है।

अब उक्त वर्णादि गुणों में से प्रत्येक गुण के अवान्तर भेदों का वर्णन करते हैं, यथा—

वण्णओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया ।
किण्हा नीला य लोहिया, हालिद्दा सुक्किला तहा ॥ १६ ॥

वर्णतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः ।
कृष्णा नीलाश्च लोहिताः, हारिद्राः शुक्लास्तथा ॥ १६ ॥

पदार्थान्वयः—**वण्णओ**—वर्ण से, **परिणया**—परिणत, **जे**—जो—पुद्गल हैं, **ते**—वे, **पंचहा**—पांच प्रकार के, **पकित्तिया**—कहे गए हैं, यथा—**किण्हा**—कृष्ण, **नीला**—नील, **य**—और, **लोहिया**—लोहित अर्थात् लाल, **हालिद्दा**—हारिद्र अर्थात् पीला, **तहा**—तथा, **सुक्किला**—शुक्ल अर्थात् सफेद, **उ**—पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—पुद्गलों की वर्ण से जो परिणति होती है, उसके पांच भेद कहे गए हैं, यथा—काला, नीला, लाल, पीला और श्वेत।

टीका—इस गाथा में वर्ण अर्थात् रंग के अवान्तर भेदों का वर्णन किया गया है। वर्ण के पांच भेद कथन किए गए है—१. कृष्ण अर्थात् कज्जल के समान काला, २. नीला अर्थात् नील के सदृश, ३ लोहित अर्थात् हिंगुल के समान लाल, ४. हारिद्र अर्थात् हल्दी के समान पीला और ५ शुक्ल—शंख के सदृश श्वेत। तात्पर्य यह है कि इन पाचों वर्णों के रूप मे पुद्गल-द्रव्य परिणत हो रहा है।

अब गन्ध के विषय में कहते हैं—

गंधओ परिणया जे उ, दुविहा ते वियाहिया ।
सुब्भिगंधपरिणामा, दुब्भिगंधा तहेव य ॥ १७ ॥

गन्धत. परिणता ये तु, द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
सुरभिगन्धपरिणामाः, दुर्गन्धास्तथैव च ॥ १७ ॥

पदार्थान्वय·—**गंधओ**—गन्ध मे, **परिणया**—परिणत, **जे**—जो पुद्गल होते है, **ते**—वे, **दुविहा**—दो प्रकार के, **वियाहिया**—कथन किए गए है, **सुब्भिगंध**—सुगधि मे, **परिणामा**—परिणत हुए, **य**—फिर, **तहेव**—उसी प्रकार, **दुब्भिगन्धा**—दुर्गन्ध में परिणत होने वाले।

मूलार्थ—गन्ध में परिणत होने वाले पुद्गलो की दो प्रकार की परिणति होती है—सुगन्धरूप मे और दुर्गन्धरूप में।

टीका—गन्धरूप में परिणत होने वाले पुद्गलों के दो भेद प्रतिपादन किए गए है—सुरभिगन्ध अर्थात् सुन्दर गन्ध श्रीखण्ड-चन्दनादि जैसा, दुर्गन्धयुक्त लहशुन आदि के समान गन्ध वाला। तात्पर्य यह है कि गन्ध के सुगन्ध और दुर्गन्ध, इस प्रकार दो भेद है। जैसे पुद्गल मे पाच वर्ण रहते है, उसी प्रकार दो प्रकार की गन्ध भी रहती है।

अब रस के विषय में कहते हैं—

रसओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया ।
तित्तकडुयकसाया, अंबिला महुरा तहा ॥ १८ ॥

रसतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः ।
तिक्तकटुक-कषायाः, अम्ला मधुरास्तथा ॥ १८ ॥

पदार्थान्वयः—**रसओ**—रस रूप मे, **जे**—जो पुद्गल, **परिणया**—परिणत होते हैं, **ते**—वे, **पंचहा**—पाच प्रकार के, **पकित्तिया**-प्रतिपादन किए गए हैं, **तित्त**—तीखा, **कडुय**—कटुक, **कसाया**—कसैला, **अंबिला**—खट्टा, **तहा**—तथा, **महुरा**—मधुर, उ—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ–रसरूप में परिणत होने वाले पुद्गल-द्रव्य के पांच भेद कहे गए हैं, यथा–तीखा, कड़वा, कसैला, खट्टा और मीठा।

टीका–रस-परिणति में पुद्गल-द्रव्य पाच प्रकार से परिणत होता है। यदि सरल शब्दों में कहें तो पुद्गल में जो रस विद्यमान है उसके तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर, इस प्रकार पाच भेद है। १. मिर्च के समान तीक्ष्ण, २. नीम के तुल्य कड़वा, ३. हरीतकी आदि के सदृश कसैला, ४ निम्बू आदि के समान खट्टा और ५. मिश्री आदि के तुल्य मीठा। ये पांच भेद रस के हैं, अर्थात् पुद्गलों में ये पांच रस होते हैं।

अब स्पर्शविषयक वर्णन करते हैं, यथा–

> **फासओ परिणया जे उ, अट्ठहा ते पकित्तिया ।**
> **कक्खडा मउया चेव, गरुया लहुया तहा ॥ १९ ॥**
> **सीया उण्हा य निद्धा य, तहा लुक्खा य आहिया ।**
> **इय फासपरिणया एए, पुग्गला समुदाहिया ॥ २० ॥**

> स्पर्शतः परिणता ये तु, अष्टधा ते प्रकीर्तिता. ।
> कर्कशा मृदुकाश्चैव, गुरुका लघुकास्तथा ॥ १९ ॥
> शीता उष्णाश्च स्निग्धाश्च, तथा रूक्षाश्चाख्याताः ।
> इति स्पर्शपरिणता एते, पुद्गला· समुदाहृताः ॥ २० ॥

पदार्थान्वय.–**फासओ**–स्पर्श से, **जे**–जो पुद्गल, **उ**–पादपूर्ति मे है, **परिणया**–परिणत होने वाले है, **ते**–वे, **अट्ठहा**–आठ प्रकार के, **पकित्तिया**–कथन किए गए है, यथा, **कक्खडा**–कर्कश–कठोर, **मउया**–मृदु–कोमल, **गरुया**–गुरु, **च**–और, **लहुया**–लघु, **एव**–निश्चय मे, **सीया**–शीतल, **उण्हा**–उष्ण, **य**–और, **निद्धा**–स्निग्ध, **तहा**–तथा, **लुक्खा**–रूक्ष, **आहिया**–कहे हैं, **इय**–इस प्रकार, **फासपरिणया**–स्पर्शरूप से परिणत हुए, **एए**–ये, **पुग्गला**–पुद्गल–स्कन्ध और परमाणुरूप, **समुदाहिया**–सम्यक् प्रकार से कहे गए है।

मूलार्थ–स्पर्शरूप में परिणत होने वाले पुद्गलों के आठ भेद कहे गए हैं, यथा–कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। इस प्रकार पुद्गलों की स्पर्श-परिणति में आठ प्रकार के स्पर्श कहे गए है।

टीका–इस गाथा-युग्म में पुद्गलो अर्थात् परमाणुओ में रहने वाले स्पर्श के आठ भेदों का उल्लेख किया गया है। तात्पर्य यह है कि वर्ण, गन्ध और रस की भांति पुद्गल-द्रव्य में जो स्पर्श गुण विद्यमान है, वह आठ प्रकार का माना गया है। यथा–१ कर्कश स्पर्श-पाषाण आदि के स्पर्श की तरह कठोर, २ मृदु स्पर्श–नवनीत आदि की तरह अत्यन्त कोमल, ३. गुरु–स्वर्णादि की भांति गुरुतायुक्त–भारी स्पर्श, ४ लघु–तिनके आदि की तरह अत्यन्त हलका, ५ शीत स्पर्श–हिम आदि के तुल्य अत्यन्त शीतल, ६ उष्ण स्पर्श–अग्नि के सदृश अत्यन्त गरम, ७ स्निग्ध स्पर्श–घृत-तैल आदि की भांति अत्यन्त चिकना, और ८ रूक्ष स्पर्श–भस्मादि के समान अत्यन्त रूखा। इस प्रकार स्पर्श गुण वाले पुद्गलों मे ये आठ प्रकार के स्पर्श होते हैं। पुद्गल का लक्षण है पूर्ण और गलित होने वाला, अर्थात् जिसमें पूर्णता

और गलनता ये दोनों धर्म विद्यमान हों उसको पुद्गल कहते हैं।

अब संस्थान के विषय में कहते हैं–

संठाणओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया ।
परिमंडला य वट्टा य, तसा चउरंसमायया ॥ २१ ॥

संस्थानतः परिणता ये तु, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः ।
परिमण्डलाश्च वृत्ताश्च, त्र्यस्राश्चतुरस्रा आयताः ॥ २१ ॥

पदार्थान्वयः–संठाणओ परिणया–संस्थान रूप में परिणत, **जे**–जो पुद्गल हैं, **ते**–वे, **पंचहा**–पांच प्रकार के, **पकित्तिया**–कहे गए हैं, **परिमंडला**–परिमंडलाकार, **य**–और, **वट्टा**–वृत्ताकार, **तसा**–त्रिकोणाकार, **चउरंसं**–चतुष्कोण, **य**–और, **आयया**–दीर्घ, **तु**–प्राग्वत् ।

मूलार्थ–संस्थान रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों के पांच भेद कथन किए गए हैं, यथा–परिमंडल, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण और दीर्घ।

टीका–संस्थान का अर्थ है आकृति या आकारविशेष। तात्पर्य यह है कि जिस आकार में स्कन्ध और परमाणु रहते है उस आकारविशेष को संस्थान कहते है। उस सस्थान या आकृतिविशेष के निम्नलिखित पांच भेद कथन किए गए है–

१. **परिमंडल**–चूडी के समान गोल आकार को परिमडल कहते हैं।

२. **वृत्त**–गेंद की तरह वर्तुलाकार अर्थात् गोल आकृति को वृत्त कहते हैं।

३ **त्र्यस्र**–इसका अर्थ है त्रिकोणाकार।

४. **चतुरस्र**–चार कोनों वाला अर्थात् चौकी के समान आकृति वाला।

५. **आयत**–लम्बा, रज्जू के सदृश आकार वाला।

इस प्रकार सस्थान की अपेक्षा से पुद्गल-द्रव्य के पांच भेद होते है, तात्पर्य यह है कि इन्हीं सस्थानो के रूप में पुद्गल-द्रव्य का अवस्थान है।

अब इन पूर्वोक्त गुणों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में कहते हैं–

वण्णओ जे भवे किण्हे, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ २२ ॥

वर्णतो यो भवेत्कृष्णः, भाज्यः स तु गन्धतः ।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ २२ ॥

पदार्थान्वयः–वण्णओ–वर्ण से, **जे**–जो, **किण्हे**–कृष्ण, **भवे**–होवे, **से**–वह, **उ**–फिर, **गंधओ**–गन्ध से, **भइए**–भाज्य है, **रसओ**–रस से, **च**–और, **फासओ**–स्पर्श से, **च**–तथा, **संठाणओवि**–संस्थान से भी, **भइए**–भाज्य है, **एव**–निश्चयार्थक है।

मूलार्थ–जो पुद्गल कृष्ण वर्ण वाला है वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भी भजनीय होता है, अर्थात् गन्धादि से भी युक्त होता है।

टीका–कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल में–२ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ सस्थान, इस प्रकार बीस गुणो

की भजना है। तात्पर्य यह है कि कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल पदार्थ में दो प्रकार के गन्ध में से कोई एक गन्ध अवश्य रहती है, तथा पाच रसों में से कोई एक रस भी विद्यमान होगा ही एव आठ प्रकार के स्पर्शों मे से कोई दो स्पर्श भी मौजूद होंगे और उसका पाच प्रकार के सस्थानों मे से कोई संस्थान भी अवश्य होगा।

इस प्रकार कृष्ण वर्ण से युक्त अनन्त-प्रदेशी पुद्गल-स्कन्ध में गन्धादि २० गुणों की भजना समझ लेनी चाहिए, अर्थात् उक्त गन्धादि बीस में से कोई एक या दो गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान तो अवश्य होंगे।

इतना ध्यान रहे कि एक ही पुद्गल में सभी रस और सभी स्पर्श, तथा सभी सस्थान एक ही समय मे नहीं होते, क्योंकि परस्पर विरोधी गुणों की एक ही समय में एक अधिकरण में निरपेक्ष स्थिति नहीं हो सकती। यथा एक ही कृष्ण वर्ण के पुद्गल-द्रव्य में अच्छी और बुरी दोनों ही गन्ध हो सकती हैं, अर्थात् काले रंग का पुद्गल-द्रव्य सुगन्धमय भी हो सकता और दुर्गन्धमय भी, परन्तु एक ही समय मे एक ही रूप से वह सुगन्धमय भी हो तथा दुर्गन्ध वाला भी हो, ऐसा नहीं हो सकता।

इसी प्रकार रस, स्पर्श और संस्थानादि के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

तब इस सारे कथन का अभिप्राय यह हुआ कि जहा पर वर्ण है वहा पर गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादि की भी भजना है, अर्थात् समुच्चयरूप से कृष्ण वर्ण के पुद्गल-स्कन्ध मे-२ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ सस्थान, ऐसे २० गुणों या बोलों की अपेक्षित स्थिति समझनी चाहिए।

अब नील वाले वर्ण पुद्गल के विषय में कहते हैं, यथा-

वण्णओ जे भवे नीले, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ २३ ॥

वर्णतो यो भवेन्नीलः, भाज्यः स तु गन्धतः ।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ २३ ॥

पदार्थान्वयः-**वण्णओ**-वर्ण से, **जे**-जो, **नीले**-नीला, **भवे**-होवे, **से**-वह, उ-फिर, **भइए**-भाज्य है, **गंधओ**-गन्ध से, **रसओ**-रस से, **च**-और, **फासओ**-स्पर्श से, **य**-तथा, **संठाणओवि**-सस्थान से भी, **भइए**-भाज्य है, **एव**-प्राग्वत् ।

मूलार्थ-जो पुद्गल वर्ण से नील है वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भी युक्त है, अर्थात् नील वर्ण वाले पुद्गल में भी-२ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थानों की अपेक्षित स्थिति होती है।

टीका-यहा पर भी कृष्ण वर्ण की भांति ही सारी व्यवस्था समझ लेनी चाहिए।

अब रक्तवर्ण पुद्गल के विषय में कहते हैं, यथा-

वण्णओ लोहिए जे उ, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ २४ ॥

वर्णतो लोहितो यस्तु, भाज्यः स तु गन्धतः ।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ २४ ॥

पदार्थान्वयः—**वण्णओ**—वर्ण से, **लोहिए**—रक्तवर्ण, **जे**—जो पुद्गल है, **भइए**—भाज्य है, **से**—वह, उ—फिर, **गंधओ**—गंध से, **रसओ**—रस से, **च**—और, **फासओ**—स्पर्श से, **य**—तथा, **संठाणओवि**—संस्थान से भी, **भइए**—भाज्य है।

मूलार्थ—जो पुद्गल लाल रंग वाला है वह भी गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से युक्त है। तात्पर्य यह है कि लाल वर्ण के पुद्गल मे गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना है, अर्थात् ये गुण उसमें भी अपेक्षित स्थिति में विद्यमान रहते हैं।

अब पीत वर्ण के विषय में कहते हैं, यथा—

वण्णओ पीयए जे उ, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ २५ ॥

वर्णतः पीतो यस्तु, भाज्यः स तु गन्धतः ।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः, संस्थानतोऽपि च ॥ २५ ॥

पदार्थान्वयः—**वण्णओ**—वर्ण से, **जे**—जो, **पीयए**—पीतवर्ण है, **से**—वह, **उ**—फिर, **भइए**—भाज्य है, **गंधओ**—गन्ध से, **रसओ**—रस से, **च**—और, **फासओ**—स्पर्श से, **य**—तथा, **संठाणओवि**—सस्थान से भी, **भइए**—भाज्य है।

मूलार्थ—पीत वर्ण के पुद्गल में भी—दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श और पाच संस्थान होते हैं। तात्पर्य यह है कि यहा पर भी कृष्ण और नील वर्ण की तरह २० बोल अथवा गुणों की व्यवस्था समझ लेनी चाहिए।

अब शुक्ल वर्ण के विषय में कहते हैं—

वण्णओ सुक्किले जे उ, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ २६ ॥

वर्णतः शुक्लो यस्तु, भाज्यः स तु गन्धतः ।
रसतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ २६ ॥

पदार्थान्वयः—**वण्णओ**—वर्ण से, **सुक्किले**—शुक्लवर्ण, **जे**—जो पुद्गल-द्रव्य है, **से**—वह, उ—फिर, **गंधओ**—गध से, **रसओ**—रस से, **च**—और, **फासओ**—स्पर्श से, **य**—तथा, **संठाणओवि**—संस्थान से भी, **भइए**—भाज्य है।

मूलार्थ—जो पुद्गल-स्कन्ध वर्ण से श्वेत वर्ण वाला है उसमें भी गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान अर्थात् आकृतिविशेष की भजना है, तात्पर्य यह है कि उस श्वेत रंग के पुद्गल में भी गन्धादि २० प्रकार के गुण रहते हैं। सो इस प्रकार पांचों वर्णों के कुल मिलाकर १०० बोल हो जाते हैं।

अब द्वितीय गुण (गन्ध) के विषय में कहते हैं—

गंधओ जे भवे सुब्भी, भइए से उ वण्णओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ २७ ॥

मूलार्थ–रस से जो पुद्गल-स्कन्ध अम्ल रस वाला है वह भी वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भजनायुक्त होता है।

टीका–अम्ल-रस-युक्त पुद्गल-स्कन्ध में भी–५ वर्ण, २ गध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, ऐसे बीस बोलों की भजना समझ लेनी चाहिए।

अब मधुर रस के विषय में कहते हैं–

रसओ महुरए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ ३३ ॥

रसतो मधुरो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ ३३ ॥

पदार्थान्वयः–**रसओ**–रस से, **जे**–जो, **महुरए**–मधुर है, **भइए**–भाज्य है, **से**–वह, **उ**–फिर, **वण्णओ**–वर्ण से, **गंधओ**–गन्ध से, **च**–और, **फासओ**–स्पर्श से, **य**–तथा, **संठाणओवि**–संस्थान से भी, **भइए**–भाज्य है, **उ एव**–पूर्व की भांति।

मूलार्थ–जो पुद्गल-स्कन्ध रस से मधुर है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भी भाज्य अर्थात् भजनायुक्त है।

टीका–मधुर-रस-युक्त पुद्गल-स्कन्ध में उक्त वर्णादि २० गुणो का भी यथासम्भव स्थान है, अर्थात् वे भी उसमे रहते हैं, इस प्रकार उक्त पांचों रसों के भी १०० बोल होते हैं।

अब आठ स्पर्शों के विषय में वर्णन का उपक्रम करते हुए प्रथम कर्कश स्पर्श के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा–

फासओ कक्खडे जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ ३४ ॥

स्पर्शतः कर्कशो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ ३४ ॥

पदार्थान्वयः–**फासओ**–स्पर्श से, **जे**–जो पुद्गल, **कक्खडे**–कर्कश है, **भइए**–भाज्य है, **से**–वह, **उ**–फिर, **वण्णओ**–वर्ण से, **गंधओ**–गन्ध से, **च**–और, **रसओ**–रस से, **य**–तथा, **संठाणओवि**–सस्थान से भी, **भइए**–भाज्य है, **एव उ**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–स्पर्श से जो पुद्गल-स्कन्ध कर्कश अर्थात् कठोर स्पर्श वाला है उसमें वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान की भी भजना होती है।

टीका–कर्कश स्पर्श वाले पुद्गल-स्कन्ध में भी वर्णादि की भांति–५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ५ सस्थान, इस प्रकार १७ बोलों की भजना समझ लेनी चाहिए।

अब मृदु स्पर्श के विषय में कहते हैं, यथा–

फासओ मउए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ ३५ ॥

स्पर्शतो मृदुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ ३५ ॥

पदार्थान्वयः–**फासओ**–स्पर्श से, **जे**–जो, **मउए**–मृदु है, **भइए**–भाज्य है, **से**–वह, **उ**–फिर, **वण्णओ**–वर्ण से, **गंधओ**–गध से, **च**–और, **रसओ**–रस से, **य**–तथा, **संठाणओवि**–सस्थान से भी, **भइए**–भाज्य है, **एव उ**–इनका अर्थ पहले की तरह ही जानना चाहिए।

मूलार्थ–स्पर्श से जो पुद्गल-स्कन्ध मृदु अर्थात् कोमल स्पर्श वाला है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भी भजनायुक्त है।

टीका–मृदु स्पर्श वाले पुद्गल में भी वर्णादि १७ गुणो की भजना समझ लेनी चाहिए, अर्थात् मृदु स्पर्श की भांति इन गुणों की भी उसमे यथासंभव स्थिति होती है।

अब गुरु स्पर्श के विषय में कहते हैं–

फासओ गुरुए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ ३६ ॥

स्पर्शतो गुरुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धओ रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ ३६ ॥

पदार्थान्वयः–**फासओ**–स्पर्श से, **जे**–जो, **गुरुए**–गुरु है, **भइए**–भाज्य है, **से**–वह, **उ**–फिर, **वण्णओ**–वण से, **गंधओ**–गन्ध से, **च**–और, **रसओ**–रस से, **य**–तथा, **संठाणओवि**–संस्थान से भी, **भइए**–भाज्य होता है, **उ-एव**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–जो पुद्गल गुरु स्पर्श वाला है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भी भजनायुक्त है, अर्थात् उसमें वर्णादि १७ गुणों की यथासंभव स्थिति रहती है।

अब लघु स्पर्श के सम्बन्ध में कहते हैं–

फासओ लहुए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ ३७ ॥

स्पर्शतो लघुको यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ ३७ ॥

पदार्थान्वयः–**फासओ**–स्पर्श से, **जे**–जो, **लहुए**–लघु है, **से**–वह, **उ**–फिर, **भइए**–भाज्य है, **वण्णओ**–वर्ण से, **गंधओ**–गन्ध से, **च**–और, **रसओ**–रस से, **य**–तथा, **संठाणओवि**–संस्थान से भी, **भइए**–भाज्य होता है, **एव उ**–पूर्ववत्।

मूलार्थ–स्पर्श से जो पुद्गल लघु है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से, और संस्थान से भी भजना वाला होता है, अर्थात् वर्णादि १७ बोलों की उसमें भी भजना होती है।

अब शीत स्पर्श के विषय में कहते हैं–

फासओ सीयए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ ३८ ॥

स्पर्शतः शीतो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ ३८ ॥

पदार्थान्वयः–**फासओ**–स्पर्श से, **जे**–जो पुद्‌गल, **सीयए**–शीत स्पर्श वाला है, **भइए**–भाज्य है, **से**–वह, **उ**–फिर, **वण्णओ**–वर्ण से, **गंधओ**–गंध से, **च**–और, **रसओ**–रस से, **य**–तथा, **संठाणओवि**–संस्थान से भी, **भइए**–भाज्य है, **उ-एव**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–जो पुद्‌गल-स्कन्ध स्पर्श में शीतल है वह भी वर्ण, गन्ध, रस तथा संस्थान से भजनायुक्त है।

अब उष्ण स्पर्श के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा–

फासओ उण्हए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ ३९ ॥

स्पर्शतः उष्णो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णत. ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ ३९ ॥

पदार्थान्वयः–**फासओ**–स्पर्श से, **जे**–जो, **उण्हए**–उष्ण है, **भइए**–भाज्य है, **से**–वह, **उ**–फिर, **वण्णओ**–वर्ण से, **गंधओ**–गन्ध से, **च**–और, **रसओ**–रस से, **य**–तथा, **संठाणओवि**–सस्थान से भी, **भइए**–भाज्य है, **एव-उ**–पूर्ववत्।

मूलार्थ–जो पुद्‌गल-स्कन्ध स्पर्श से उष्ण है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भी भजनायुक्त होता है और सब कुछ पूर्ववत् ही है।

अब स्निग्ध स्पर्श के विषय मे कहते हैं, यथा–

फासओ निद्धए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ ४० ॥

स्पर्शतः स्निग्धो यस्तु, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ ४० ॥

पदार्थान्वयः–**फासओ**–स्पर्श से, **जे**–जो, **निद्धए**–स्निग्ध है, **भइए**–भाज्य है, **से**–वह, **उ**–फिर, **वण्णओ**–वर्ण से, **गंधओ**–गन्ध से, **च**–और, **रसओ**–रस से, **य**–तथा, **संठाणओवि**–संस्थान से भी, **भइए**–भाज्य होता है, **एव** उ–प्राग्वत्।

मूलार्थ–जो पुद्‌गल-स्कन्ध स्निग्ध स्पर्श वाला है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भी भजनायुक्त है, अर्थात् उसमें वर्णादि १७ बोलों की भजना होती है।

अब रूक्ष स्पर्श के विषय में कहते हैं, यथा–

फासओ लुक्खए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ ४१ ॥

स्पर्शतो रूक्षो यस्तु, भाज्य· स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥ ४१ ॥

पदार्थान्वयः—**फासओ**—स्पर्श से, **जे**—जो, **लुक्खए**—रूक्ष है, **भइए**—भाज्य है, **से**—वह, **उ**—फिर, **वण्णओ**—वर्ण से, **गंधओ**—गंध से, **च**—और, **रसओ**—रस से, **य**—तथा, **संठाणओवि**—संस्थान से भी, **भइए**—भाज्य होता है, **उ-एव**—पादपूर्ति के लिए है।

मूलार्थ—जो पुद्गल रूक्ष स्पर्श वाला है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से तथा संस्थान से भी भजनायुक्त है।

टीका—रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गल-स्कन्ध में वर्णादि १७ गुणो की भी यथा-संभव स्थिति होती है। इस प्रकार स्पर्श के कुल १३६ भेद होते है।

अब संस्थान के विषय में कहते हैं, यथा—

परिमंडलसंठाणे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए से फासओवि य ॥ ४२ ॥

परिमण्डलसंस्थानः, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स स्पर्शतोऽपि च ॥ ४२ ॥

पदार्थान्वय.—**परिमंडलसंठाणे**—परिमडल-संस्थान वाला जो पुद्गल-स्कन्ध है, **से**—वह, **भइए**—भाज्य है, **उ**—फिर, **वण्णओ**—वर्ण से, **गंधओ**—गन्ध से, **च**—और, **रसओ**—रस से, **य**—तथा, **फासओवि**—स्पर्श से भी, **भइए**—भाज्य है, **एव उ**—पादपूर्ति के लिए है।

मूलार्थ—परिमंडल संस्थान वाले पुद्गल-स्कन्ध में—पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श, इस प्रकार बीस गुणों की भजना होती है। इसकी व्याख्या भी पूर्ववत् ही जान लेनी चाहिए।

अब वृत्त-संस्थान के विषय में कहते हैं—

संठाणओ भवे वट्टे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए से फासओवि य ॥ ४३ ॥

संस्थानतो भवेद् वृत्तः, भाज्य. स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स स्पर्शतोऽपि च ॥ ४३ ॥

पदार्थान्वयः—**संठाणओ**—संस्थान से जो, **वट्टे**—वृत्ताकार से जो, **भवे**—हो, **भइए**—भाज्य है, **से**—वह, **उ**—फिर, **वण्णओ**—वर्ण से, **गंधओ**—गंध से, **च**—और, **रसओ**—रस से, **य**—तथा, **फासओवि**—स्पर्श से भी, **भइए**—भाज्य है, **एव उ**—पादपूर्त्यर्थक है।

मूलार्थ–जो पुद्गल-स्कन्ध संस्थान से वृत्ताकार अर्थात् गोलाकार है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से तथा स्पर्श से भी भजनायुक्त है, अर्थात् वृत्त-संस्थान वाले पुद्गल में यथासंभव उक्त गुण भी रहते हैं। शेष व्याख्या पूर्ववत् ही है।

अब त्रिकोण-संस्थान के विषय में कहते हैं–

संठाणओ भवे तंसे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए से फासओवि य ॥ ४४ ॥

संस्थानतो भवेत् त्र्यस्रः, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स स्पर्शतोऽपि च ॥ ४४ ॥

पदार्थान्वयः–**संठाणओ**–संस्थान से जो, **तंसे**–त्रिकोण, **भवे**–हो, **भइए**–भाज्य है, **से**–वह, **उ**–फिर, **वण्णओ**–वर्ण से, **गंधओ**–गध से, **च**–और, **रसओ**–रस से, **य**–तथा, **फासओवि**–स्पर्श से भी, **भइए**–भाज्य है, **एव-उ**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–जो पुद्गल-स्कन्ध संस्थान से त्रिकोण है वह वर्ण से, गन्ध से, रस से तथा स्पर्श से भी भजनायुक्त है, अर्थात् उसमें वर्ण, रस, गन्धादि भी यथासंभव रहते हैं।

अब चतुष्कोण-संस्थान के विषय में कहते हैं, यथा–

संठाणओ जे चउरंसे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए से फासओ वि य ॥ ४५ ॥

संस्थानतो यश्चतुरस्रः, भाज्य· स तु वर्णत· ।
गन्धओ रसतश्चैव, भाज्यः स स्पर्शतोऽपि च ॥ ४५ ॥

पदार्थान्वयः–**संठाणओ**–सस्थान से, **जे**–जो, **चउरंसे**–चतुष्कोण है, **से**–वह, **उ**–फिर, **वण्णओ**–वर्ण से, **गंधओ**–गंध से, **च**–और, **रसओ**–रस से, **य**–तथा, **फासओवि**–स्पर्श से भी, **भइए**–भाज्य है, **एव उ**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–जो पुद्गल-स्कन्ध संस्थान से चतुष्कोण होता है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भी भजनायुक्त है, अर्थात् उसमे वर्णादि उक्त बीस गुण भी यथासंभव रहते हैं।

अब आयत-संस्थान के सम्बन्ध में कहते हैं–

जे आययसंठाणे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए से फासओ वि य ॥ ४६ ॥

य आयतसंस्थानः, भाज्यः स तु वर्णतः ।
गन्धतो रसतश्चैव, भाज्यः स स्पर्शतोऽपि च ॥ ४६ ॥

पदार्थान्वयः–**जे**–जो पुद्गल-स्कन्ध, **आययसंठाणे**–आयत-सस्थान वाला है, **भइए**–भाज्य है, **से**–वह, **उ**–पुनः, **वण्णओ**–वर्ण से, **गंधओ**–गध से, **च**–और, **रसओ**–रस से, **य**–तथा, **फासओवि**–स्पर्श से भी, **भइए**–भाज्य है, **एव उ**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–जो पुद्गल-स्कन्ध संस्थान से आयत अर्थात् दीर्घ है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भी भजनायुक्त है।

टीका–दीर्घाकार में परिणत होने वाले पुद्गल-स्कन्ध मे–५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श यथासंभव विद्यमान होते हैं। जैसे कि कोई दीर्घाकार पुद्गल लाल वर्ण का होता है, और कोई काले वर्ण का तथा किसी मे तिक्त रस होता है और किसी मे कषाय रस होता है। इसी प्रकार गन्ध और स्पर्शादि के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इस रीति से संस्थान की दृष्टि से भी पुद्गल-स्कन्ध के १०० भेद होते हैं।

इस प्रकार वर्ण से लेकर सस्थान-पर्यन्त उक्त क्रम के अनुसार सब के ४८२ भेद हांते हैं, यथा–वर्ण के १००, गन्ध के ४६, रस के १००, स्पर्श के १३६ और संस्थान के १००, कुल मिलाकर ४८२ भग बन जाते है।

यहा प्रज्ञापना-सूत्र के वृत्तिकार का स्पर्श के विषय में कुछ मतभेद है। वे आठ स्पर्शो के १८४ भेद मानते है। उनके मत में प्रत्येक स्पर्श के २३ भेद हैं। इस प्रकार २३×८=१८४ भेद हुए। उनका कथन है कि जो पुद्गल कर्कश स्पर्श वाला है उसमें ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ५ संस्थान और ६ स्पर्श रहते हैं, इस प्रकार कर्कश स्पर्श के कुल २३ भेद हुए, कारण कि कर्कश-स्पर्श का प्रतिपक्षी जो मृदु-स्पर्श है उसको छोडकर अवशिष्ट ६ स्पर्शों के लिए वहां पर कोई प्रतिबन्धक नहीं है, अर्थात् अवशिष्ट छओ स्पर्श भी वहा पर रहते हैं। इस भांति शीत-स्पर्श मे उसके विरोधी उष्ण-स्पर्श को छोडकर अवशिष्ट ६ स्पर्श रहेगे, अत: वृत्तिकार के कथनानुसार कुल भेद ५३० होते है।

यहा पर इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि वीतराग का कथन तो सदैव सत्य और मान्य है, किन्तु जिस नय के आश्रित होकर जिस आचार्य ने जिस तत्त्व का वर्णन किया है वह उस नय की अपेक्षा से उसी प्रकार मानना चाहिए। गीतार्थ के लिए उसमे किसी प्रकार का विवाद नही होता। इसलिए स्थूल-रूप से यहां पर उक्त भंगों का दिग्दर्शन कराया गया है और सूक्ष्म विचार से तो तारतम्य भाव को लेकर इनके अनन्त भेद हो सकते हैं, कारण कि पुद्गल-द्रव्य की परिणति बहुत विचित्र है, अत: आगम के अनुसार जो कथन हो वह सब से अधिक श्रद्धेय होता है।[१]

टिप्पणी–प्रस्तुत अध्ययन मे कुछ एक वृत्तिकारो ने कर्कश आदि आठ स्पर्शों के १७-१७ भेद और कुल १३६ भेद बनाए है, जबकि आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना सूत्र के पहले पद की व्याख्या करते हुए आठ स्पर्शों के २३-२३ और कुल १८४ भेदो का निर्देश किया है। दोनो ओर सख्या मे इतना अन्तर क्यो ?

इस अध्ययन की स्पर्शविषयक गाथाओ मे कर्कश आदि आठ स्पर्शों के जो १७-१७ भेद किए हैं, उनमे ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ५ सस्थान, इस प्रकर १७-१७ भेद और कुल १३६ भेद वृत्तिकारो ने प्रदर्शित किए है, उन गाथाओ मे स्पर्श का उल्लख नही किया। उपलक्षण से फासओ शब्द का ग्रहण हो जाता है क्योकि गाथा में फासओ शब्द और जोडने से छन्दोभग हो जाता है। जैसे किसी एक वर्ण को भाजन बना कर शेष चार- वर्णों को प्रतिपक्षी बनाया जाता है, वैसे ही उन वृत्तिकारो ने सभव है ८ स्पर्शों मे किसी एक को भाजन बनाकर सात स्पर्शों को प्रतिपक्षी बना दिया हो। वस्तुत· स्पर्श के सन्दर्भ मे प्रतिपक्षी एक ही होता है, सात नही। जैसे कि कर्कश का प्रतिपक्षी मृदु, मृदु का प्रतिपक्षी कर्कश। इसी तरह गुरु और लघु, शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष के सन्दर्भ मे भी जानना चाहिए। अत· गाथाओ में फासओ शब्द का ग्रहण अध्याहार से कर लेना चाहिए। तभी दानो ओर की संख्या मे एकरूपता आ सकती है। अत: १७-१७ भेदों के स्थान पर २३-२३ भेद, कुल १८४ भेद ही स्पर्श के अधिक सुसगत हैं।

–सपादक

इस प्रकार रूपी अजीव-द्रव्य का संक्षेप से वर्णन करके अब उसका उपसंहार तथा उत्तर विषय का उपक्रम करते हुए शास्त्रकार कहते हैं–

एसा अजीवविभत्ती, समासेण वियाहिया ।
इत्तो जीवविभत्तिं, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥ ४७ ॥

एषाऽजीवविभक्तिः, समासेन व्याख्याता ।
इतो जीवविभक्तिं, वक्ष्याम्यानुपूर्व्या ॥ ४७ ॥

पदार्थान्वयः–एसा–यह, **अजीवविभत्ती**–अजीव-विभक्ति अर्थात् अजीव-द्रव्य का विभाग, **समासेण**–सक्षेप से, **वियाहिया**–कहा गया है, **इत्तो**–इससे आगे, **जीवविभत्तिं**–जीव-विभक्ति को, **अणुपुव्वसो**–अनुक्रम से, **वुच्छामि**–कहूंगा अथवा कहता हू।

मूलार्थ–यह अजीव-द्रव्य का विभाग मैंने संक्षेप से कह दिया है, अब इसके अनन्तर मैं क्रमपूर्वक जीव-द्रव्य के विभाग को कहूंगा या कहता हूं।

टीका–प्रस्तुत गाथा में अजीव-द्रव्य के वर्णन का उपसंहार और जीव-द्रव्य के वर्णन का उपक्रम करने की प्रतिज्ञा करते हुए सूत्रकार ने प्रतिपाद्य विषय के पौर्वापर्य का दिग्दर्शन करा दिया है। आचार्य कहते है कि अजीव-द्रव्य और उसके भेदो का तो मैंने संक्षेप से वर्णन कर दिया है, अब इसके अनन्तर मैं जीव-द्रव्य के अवान्तर भेदों का वर्णन करता हूं। यह प्रतिपाद्य-विषयसम्बन्धी प्रतिज्ञा है। साराश यह है कि सक्षेप से जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व है और सब कुछ इन्हीं दोनों का विस्तारमात्र है। सो अजीव-तत्त्व का वर्णन तो हो चुका, अब जीव तत्त्व का वर्णन किया जाता है, इत्यादि।

उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार अब जीव-तत्त्व के विभाग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया ।
सिद्धा णेगविहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥ ४८ ॥

संसारस्थाश्च सिद्धाश्च, द्विविधा जीवा व्याख्याताः ।
सिद्धा अनेकाविधा उक्ताः, तान् मे कीर्तयतः श्रृणु ॥ ४८ ॥

पदार्थान्वयः–संसारत्था–ससार में रहने वाले, **य**–और, **सिद्धा**–सिद्धगति को प्राप्त हुए, **दुविहा**–दो प्रकार के, **जीवा**–जीव, **वियाहिया**–कथन किए गए है, **सिद्धा**–सिद्ध, **अणेगविहा**–अनेक प्रकार के, **वुत्ता**–कहे गए हैं, **तं**–उनको, **कित्तयओ**–कीर्तन करते हुए अर्थात् कहते हुए, **मे**–मुझ से, **सुण**–श्रवण करो।

मूलार्थ–संसार में रहने वाले और सिद्धगति को प्राप्त हुए, इस प्रकार जीवों के दो भेद हैं, उनमें उपाधिभेद से सिद्धों के अनेक भेद कहे गए हैं, उन सब को तुम मुझ से सुनो।

टीका–पीछे चैतन्य अर्थात् उपयोग को जीव का लक्षण बतलाया जा चुका है। जीव दो प्रकार के है–ससारी और सिद्ध। ससारचक्र मे भ्रमण करने वाले जीव ससारी कहलाते हैं और जो जीव सिद्धगति अर्थात् मोक्षगति को प्राप्त हो चुके है उनको सिद्ध कहते हैं। उपाधिभेद से सिद्धो के भी अनेक भेद हैं, सो शास्त्रकार प्रथम इन्हीं के भेदों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते है।

उल्लिखित क्रम के अनुसार यद्यपि संसारी जीवो का वर्णन पहले होना चाहिए था, तथापि ससारी जीवो की अपेक्षा सिद्धो का विषय स्वल्प होने से ''सूचीकटाह-न्याय'' के अनुसार प्रथम सिद्धों के भेदों का ही वर्णन किया जा रहा है।

सूत्र मे 'तं' तान् के स्थान मे और 'सुण' 'श्रृणत' के स्थान पर आर्ष प्रयोग हुआ है।

अब उपाधिभेद से सिद्धों के भेदों का वर्णन करते हैं-

इत्थी पुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा ।
सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ॥ ४९ ॥

स्त्री पुरुषसिद्धाश्च, तथैव च नपुंसकाः ।
स्वलिङ्गा अन्यलिङ्गाश्च, गृहिलिङ्गास्तथैव च ॥ ४९ ॥

पदार्थान्वयः-इत्थी-स्त्रीलिंग-सिद्ध, **य**-और, **पुरिससिद्धा**-पुरुषलिंग-सिद्ध, **तहेव**-उसी प्रकार, **य**-फिर, **नपुंसगा**-नपुंसकलिंग-सिद्ध, **सलिंगे**-स्वलिंग में सिद्ध, **य**-और, **अन्नलिंगे**-अन्यलिंग मे सिद्ध, **तहेव**-उसी प्रकार, **गिहिलिंगे**-गृहस्थलिग मे सिद्ध होता है, **य**-च शब्द से अन्य तीर्थ-सिद्धादि का ग्रहण कर लेना चाहिए।

मूलार्थ-स्त्रीलिंग-सिद्ध, पुरुषलिंग-सिद्ध, नपुंसकलिंग-सिद्ध, स्वलिंग-सिद्ध, अन्यलिंग-सिद्ध और गृहस्थलिंग-सिद्ध तथा चकार से तीर्थादि-सिद्ध, ये सिद्धों के भेद हैं।

टीका-प्रस्तुत गाथा मे सिद्धों के उपाधिकृत भेदो का दिग्दर्शन कराया गया है। जिस जीवात्मा के ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार के कर्म क्षय हो गए हो, तथा केवलज्ञान को प्राप्त करके वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त बल-वीर्य का धारक हो गया हो वही सिद्ध-पद को प्राप्त होता है। इस प्रकार की आत्मा चाहे स्त्रीलिंग मे हो या पुरुषलिग में हो, तथा रजोहरण और मुखवस्त्रिका आदि स्वलिग मे हो, अथवा अन्य शाक्यादि के लिग में हो और चाहे गृहस्थ के लिग में हो, तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा ने कर्मो का क्षय करके केवल-ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वह वीतराग आत्मा चाहे किसी भी वेष मे क्यों न हो, उसका सिद्धपद अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त होना निःसन्देह है। क्योंकि बाह्य लिंग अर्थात् वेश मोक्ष का प्रतिबन्धक नहीं है, किन्तु मोक्ष का प्रतिबन्धक अन्दर का राग और द्वेष ही है, इसलिए जो आत्मा राग और द्वेष से रहित समभाव-भावित हो गया है उसकी सिद्धगति में अणुमात्र भी सन्देह नही।

इसके विपरीत जिस आत्मा मे राग और द्वेष विद्यमान हैं उसका बाह्य वेष कितना ही उज्ज्वल क्यो न हो, मोक्ष का दरवाजा तो उसके लिए बन्द ही है। इसलिए किसी बाह्य लिगविशेष का मोक्ष के साथ कोई सम्बन्ध नही।

प्रस्तुत गाथा से शास्त्रकारों की निष्पक्षता का भी खूब परिचय मिलता है, कारण कि उन्होंने किसी भी वेष वाले को मोक्ष का अनधिकारी नहीं बताया, कितु वीतरागता को ही मोक्ष का सर्वोपरि साधन कथन किया है, सो वीतरागता का सम्बन्ध केवल आत्मा से है और आत्मा सब की समान हैं, अत· मोक्षाभिलाषी आत्मा को सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से विभूषित होते हुए वीतरागता का सम्पादन करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा एक अमूर्त पदार्थ है, अतः उसका लिंगभेद नहीं होता। लिंगभेद तो केवल उपाधिजन्य है तथा इस गाथा के द्वारा बिना किसी रोक-टोक के मनुष्यमात्र को मोक्ष के अधिकार की सूचना दी गई है जोकि समुचित ही है।

इसके अतिरिक्त दीपिकावृत्ति-कार का कथन है कि कृत-नपुसक ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, जन्म-सिद्ध नपुंसक नहीं, कारण यह है कि उसकी कामोपशांति नहीं हो सकती और बिना कामोपशांति के मोक्ष प्राप्त नहीं होता, इसलिए 'नपुंसक' शब्द का अर्थ यहां पर 'कृत-नपुसक' ही करना चाहिए। यथार्थ तत्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिए इस पर अधिक ऊहापोह करना अनावश्यक है।

अन्य सूत्रों में जो सिद्धों के १५ भेद माने गए हैं उन सब का इन्ही ६ भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः विरोध की संभावना अकिंचित्कर है और सक्षेप तथा विस्तार की दृष्टि से भी भिन्न-भिन्न लेखों का समन्वय सुकर है।

गाथा में आए हुए 'च' शब्द से भी यावन्मात्र तीर्थादि उपाधियां हैं, उन सब का ग्रहण कर लेने से विरोध की कोई संभावना नहीं रहती।

अब क्षेत्रसिद्धों की अवगाहना का वर्णन करते हैं, यथा—

उक्कोसोगाहणाए य, जहन्नमज्झिमाइ य ।
उड्ढं अहे य तिरियं च, समुद्दम्मि जलम्मि य ॥ ५० ॥

उत्कृष्टावगाहनायाञ्च, जघन्यमध्यमयोश्च ।
ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च, समुद्रे जले च ॥ ५० ॥

पदार्थान्वयः—उक्कोसोगाहणाए—उत्कृष्ट अवगाहना मे सिद्ध हुए, **य**—और, **जहन्ना**—जघन्य अवगाहना मे सिद्ध हुए, **य**—तथा, **मज्झिमाइ**—मध्यम अवगाहना मे सिद्ध हुए, **उड्ढं**—ऊर्ध्वलोक में, **य**—और, **अहे**—अधोलोक में, **च**—तथा, **तिरियं**—तिरछे-लोक में, **समुद्दम्मि**—समुद्र मे, **य**—और, **जलम्मि**—जल मे अर्थात् नदी आदि जलाशयो में, **य**—अन्य पर्वतादि में सिद्ध हुए।

मूलार्थ—उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम, सब प्रकार की अवगाहना में सिद्ध हो सकते हैं, तथा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक में भी सिद्ध हो सकते हैं, एवं समुद्र, नदी, जलाशय और पर्वतादि पर भी सिद्ध हो सकते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे सिद्धगति को प्राप्त होने वाले जीवात्माओं की अवगाहना, तथा जिस-जिस क्षेत्र अर्थात् स्थान से वे सिद्धगति को जाते है उन-उन स्थानों का दिग्दर्शन कराया गया है। अंतिम शरीर वाले जीव शरीर त्याग के समय जिस अवगाहना मे हो उसी मे वे मोक्षगति को प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि अन्तिम शरीर-त्याग के समय उनके शरीर की जो अवस्था हो, उसी रूप मे उनके आत्मप्रदेश शरीर में से निकलकर ऊपर सिद्धगति को प्राप्त हो जाते हैं, उस समय उनके शरीर की अवगाहना चाहे उत्कृष्ट हो, चाहे जघन्य अथवा मध्यम। यदि जघन्य होगी तो आत्मप्रदेश भी जघन्य अवगाहना मे होंगे और उत्कृष्ट होगी तो उत्कृष्ट अवगाहना में रहेंगे। मध्यम अवगाहना दो हाथ की होती है और उत्कृष्ट ५०० धनुष की कही गई है, तथा उत्कृष्ट से न्यून और जघन्य से अधिक मध्यम अवगाहना है। जिन आत्माओ के ज्ञानावरणादि कर्म सर्वथा क्षय हो चुके हैं वे ऊर्ध्वलोक मेरु-चूलिका आदि से भी मोक्ष

को जा सकते है, अधोलोक, मनुष्यलोक और तिर्यक्लोक—अढाई द्वीप और दो समुद्रो से भी मोक्ष को जाती हैं, एवं नदी, जलाशय और पर्वत आदि पर से भी मुक्त होती है।

तात्पर्य यह है कि अढाई द्वीप मे भी किसी स्थान पर से मोक्षगमन मे निषेध नहीं, किन्तु रागद्वेष का आत्यन्तिक क्षय करने वाला जीव जहां कहीं भी हो वहां से मोक्ष में गमन कर सकता है, अत: वीतराग आत्मा के सिद्धगति को प्राप्त करने मे कोई भी क्षेत्र प्रतिबन्धक नही है।

अब स्त्री, पुरुष और नपुंसक में से, एक समय में होने वाले सिद्धों की सख्या का वर्णन करते हैं, यथा—

दस य नपुंसएसुं, वीसं इत्थियासु य ।
पुरिसेसु य अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झई ॥ ५१ ॥

दश च नपुंसकेषु, विंशतिः स्त्रीषु च ।
पुरुषेषु चाष्टाधिकशतं, समयेनैकेन सिध्यन्ति ॥ ५१ ॥

पदार्थान्वयः—**दस**—दस, **नपुंसएसुं**—नपुसको में, **य**—और, **वीसं**—बीस, **इत्थियासु**—स्त्रियों मे, **य**—तथा, **अट्ठसयं**—एक सौ आठ, **पुरिसेसु**—पुरुषों मे, **समएणेगेण**—एक समय मे, **सिज्झई**—सिद्ध होत है, **य**—उत्तर के समुच्चय मे।

मूलार्थ—एक समय में दस नपुंसक-लिंगी, बीस स्त्री-लिंगी और एक सौ आठ पुरुष-लिंगी जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—स्त्री, पुरुष और नपुसक, इनमे से एक समय मे कितनी-कितनी सख्या मे जीव सिद्धगति को प्राप्त होते है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शास्त्रकार कहते है कि नपुंसक १०, स्त्री २० और पुरुष १०८ की सख्या में सिद्धपद को प्राप्त करते हैं। यहां पर पुरुष की अधिक सख्या उसकी विशिष्टता से है, अर्थात् पुरुष मे इनकी अपेक्षा अधिक योग्यता है, अत· वे अधिक सख्या मे मुक्त होते हैं।

पुनः इसी विषय में कहते हैं—

चत्तारि य गिहलिंगे, अन्नलिंगे दसेव य ।
सलिंगेण अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झई ॥ ५२ ॥

चत्वारश्च गृहलिङ्गे, अन्यलिङ्गे दशैव च ।
स्वलिङ्गेनाष्टाधिकशतं, समयेनैकेन सिध्यन्ति ॥ ५२ ॥

पदार्थान्वयः—**चत्तारि**—चार, **गिहलिंगे**—गृहस्थलिंग में, **य**—और, **अन्नलिंगे**—अन्यलिग मे, **दसेव**—दश ही, **य**—तथा, **सलिंगेण**—स्वलिंग मे, **अट्ठसयं**—एक सौ आठ, **समएणेगेण**—एक समय में, **सिज्झई**—सिद्ध होते हैं।

मूलार्थ—गृहस्थलिंग में चार, अन्य लिंग में दश और स्वलिग से एक सौ आठ, एक समय मे सिद्धगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—एक समय में गृहस्थलिंग से ४, अन्यलिंग से १० और स्वलिग से १०८ सिद्ध होते हैं।

इस कथन से स्वलिंग की विशेषता सूचित होती है जो कि उसके अनुरूप ही है। कारण यह है कि स्वलिंग तो प्राय: होता ही मोक्ष के लिए है, अतएव उस लिंग में विशेष सिद्ध हों यह स्वाभाविक ही है।

अब अवगाहना की अपेक्षा से सिद्धगति को प्राप्त होने वाले जीवों की संख्या का उल्लेख करते हैं, यथा—

उक्कोसोगाहणाए य, सिज्झंते जुगवं दुवे ।
चत्तारि जहन्नाए, जवमज्झट्ठुत्तरं सयं ॥ ५३ ॥

उत्कृष्टावगाहनायाञ्च, सिध्यतो युगपद् द्वौ ।
चत्वारो जघन्यायाम्, मध्यायामष्टोत्तरं शतम् ॥ ५३ ॥

पदार्थान्वय:—उक्कोसोगाहणाए—उत्कृष्ट अवगाहना मे, **जुगवं**—युगपत् अर्थात् एक समय मे, **दुवे**—दो जीव, **सिज्झंते**—सिद्धगति को प्राप्त होते हैं, **जहन्नाए**—जघन्य अवगाहना में, **चत्तारि**—चार सिद्ध होते हैं, **जवमज्झे**—मध्यम अवगाहना में, **अट्ठुत्तरं सयं**—एक सौ आठ सिद्ध होते है।

मूलार्थ—एक समय में जघन्य अवगाहना से चार, उत्कृष्ट अवगाहना से दो और मध्यम अवगाहना से एक सौ आठ जीव सिद्धगति को प्राप्त होते है।

टीका—उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीव एक समय में दो मिद्ध होते हैं, तथा जघन्य अवगाहना वाले जीव एक समय में चार सिद्ध होते हैं और मध्यम अवगाहना वाले जीवो की संख्या एक सौ आठ होती है। उक्त गाथा के चतुर्थ चरण का अर्थ इस प्रकार है—"**जवमज्झट्ठुत्तर सयं**'—**यवमध्याष्टोत्तरं शतम्**" अर्थात् जिस प्रकार यव का मध्य भाग होता है तद्वत् मध्यम अवगाहना होती है।

अब क्षेत्र की अपेक्षा से सिद्धों की संख्या का प्रतिपादन करते हैं—

चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे, तओ जले वीसमहे तहेव य ।
सयं च अट्ठुत्तरं तिरियलोए, समएणेगेण सिज्झई धुवं ॥ ५४ ॥

चत्वार ऊर्ध्वलोके च द्वौ समुद्रे, त्रयो जले विंशतिरधस्तथैव च ।
शतञ्चाष्टोत्तरं तिर्यग्लोके, समयेनैकेन सिध्यति ध्रुवम् ॥ ५४ ॥

पदार्थान्वय:—चउरुड्ढलोए—ऊर्ध्व-लोक से चार, **य**—और, **दुवे**—दो, **समुद्दे**—समुद्र से, **तओ**—तीन, **जले**—शेष जलों मे, **तहेव**—उसी प्रकार, **वीसं**—बीस, **अहे**—अधोलोक मे, **च**—तथा, **अट्ठुत्तरं सयं**—अष्टोत्तर शत—१०८, **तिरियलोए**—तिर्यक्-लोक में, **धुवं**—निश्चय ही, **समएणेगेणं**—एक समय में, **सिज्झई**—सिद्धगति को प्राप्त होते है, **उ**—प्राग्वत्।

मूलार्थ—एक समय में—ऊर्ध्वलोक में से ४, समुद्र में से २, नदी तथा अन्य जलाशयों मे से ३, अधोलोक में से २० और तिर्यग्-लोक में से १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

टीका—मेरु पर्वत की चूलिकादि ऊचे लोक से एक समय मे ४ जीव सिद्धगति को प्राप्त होते हैं, एवं लवणोदधि में से २, नदी आदि अन्य जलाशयों में से ३, नीचे के लोक मे से २० और मध्यलोक

---

१. जवमज्झत्ति—यवमध्यमिव यवमध्यं मध्यमावगाहना तस्याम् अष्टोत्तर शतम्।

से १०८ जीव एक समय मे सिद्धगति को प्राप्त करते है।[१]

शिष्य प्रश्न करता है –

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झई ॥ ५५ ॥

क्व प्रतिहताः सिद्धाः, क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः ।
क्व शरीरं त्यक्त्वा, कुत्र गत्वा सिध्यन्ति ॥ ५५ ॥

पदार्थान्वयः–कहिं–कहा पर, **सिद्धा**–सिद्ध, **पडिहया**–रुकते हैं, **कहिं**–कहा पर, **बोंदिं**–शरीर को, **चइत्ताणं**–छोड़कर, **कत्थ**–कहां पर, **गंतूणं**–जाकर, **सिज्झई**–सिद्ध होते है।

मूलार्थ–सिद्ध किस स्थान पर जाकर रुकते हैं ? किस स्थान पर प्रतिष्ठित हैं? तथा कहां पर शरीर छोड़कर कहां जाकर सिद्ध होते हैं ?

टीका–प्रस्तुत गाथा में चार प्रश्नो का वर्णन किया गया है, यथा–(१) सिद्ध जीव कहा पर जाकर रुकते हैं ? (२) कहां जाकर ठहरते हैं ? (३) कहा पर अन्तिम शरीर को छोड़कर, (४) कहा जाकर सिद्धगति को प्राप्त करते है ? इन प्रश्नो का तात्पर्य यह है कि कर्म–मल से सर्वथा पृथक् हुए जीव की ऊर्ध्वगति अनिवार्य है, क्योंकि वह स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करने वाला है, अतः जब वह कर्म–मल से रहित होकर ऊपर को गमन करेगा तो उसकी गति का निरोध कहा पर होगा, अर्थात् उसकी गति कहा जाकर रुकेगी, यह पहला प्रश्न है। दूसरा प्रश्न उसकी स्थिति के सम्बन्ध मे है, अर्थात् वह कहां पर ठहरेगा। और तीसरे प्रश्न में उसकी शरीर–त्याग–सम्बन्धी व्यवस्था पूछी गई है, तथा चौथे मे सिद्धि–स्थान के बारे में पूछा गया है इत्यादि।

(सिद्धों के विषय में कुछ जानने योग्य प्रश्न और उनके उत्तर)

अब शास्त्रकार इन पूर्वोक्त प्रश्नों का क्रमपूर्वक उत्तर देते हैं, यथा–

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इहं बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ ५६ ॥

अलोके प्रतिहताः सिद्धा, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः ।
इह शरीर त्यक्त्वा, तत्र गत्वा सिध्यन्ति ॥ ५६ ॥

पदार्थान्वय.–अलोए–अलोक मे, **सिद्धा**–सिद्ध, **पडिहया**–प्रतिहत होते है–रुकते हैं, **य**–और, **लोयग्गे**–लोक के अग्रभाग मे, **पइट्ठिया**–प्रतिष्ठित है, **इह**–यहां, **बोंदिं**–शरीर को, **चइत्ताणं**–त्यागकर, **तत्थ**–लोक के अग्र भाग में, **गंतूण**–जाकर, **सिज्झई**–सिद्ध होते है।

मूलार्थ–अलोक में जाकर सिद्ध रुकते हैं, लोक के अग्र भाग में ठहरते हैं और इस मनुष्य लोक में शरीर को छोड़कर, लोक के अग्र भाग में सिद्धगति को प्राप्त होते हैं।

---

१ नोट– किसी–किसी प्रति मे इस ५४वी गाथा के स्थान मे निम्नलिखित पाठ की दो गाथाएं देखने म आती है। यथा–

चउरो उड्ढलोगम्मि, वीस पहुत्त अहे भवे। सयं अट्ठोत्तर तिरिए, एगसमएण सिज्झई ॥ १ ॥
दुवे समुद्दे सिज्झंति, सेस जलेसु ततो जणा। एसा उ सिज्झणा भणिया, पुव्वभावं पडुच्च उ ॥ २ ॥

टीका—इस गाथा के द्वारा पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। कर्म-निर्मुक्त जीव, ऊर्ध्वगमन करता हुआ लोक के अन्त तक पहुंचकर रुक जाता है, कारण यह है कि उसकी गति धर्मास्तिकाय के आश्रित है और धर्मास्तिकाय की सत्ता लोक से आगे नहीं, इसलिए मुक्त जीव के गमन का लोक के अन्त मे जाकर निरोध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मुक्तात्मा की ऊर्ध्वगति अलोक में प्रतिहत हो जाती है—रुक जाती है, यह प्रथम प्रश्न का उत्तर है। इस प्रकार धर्मास्तिकाय के द्वारा ऊर्ध्वगति मे प्रवृत्त हुई मुक्तात्मा लोक के अग्र भाग में जाकर प्रतिष्ठित हो जाती है—ठहर जाती है, यह दूसरे प्रश्न का उत्तर है तथा मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी जीव कर्म-बन्धन को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता, अर्थात् सिद्धगति की प्राप्ति का अधिकार एकमात्र मानवभव मे आए हुए जीवात्मा को ही है अन्य योनि के जीव को नहीं, इसलिए सिद्धगति को प्राप्त करने वाली जीवात्मा इस शरीर का परित्याग करके मनुष्य-लोक से ऊर्ध्वगमन करती हुई लोक के अग्र भाग मे सिद्धगति को प्राप्त हो जाती है, यह तीसरे और चौथे प्रश्न का समाधान है। यहां पर इतना स्मरण रहे कि कर्मनिर्मुक्त जीवात्मा की गति ऊर्ध्वगति के बिना अन्य किसी गति की ओर नहीं होती, अतः ऊर्ध्वगति करती हुई वह लोक के अन्त भाग में जाकर प्रतिष्ठित हो जाती है।

लोकाग्र ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के ऊपर है, सो शास्त्रकार अब प्राग्भारा पृथ्वी के संस्थान और वर्णादि के विषय में कहते हैं—

बारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिं भवे ।
ईसिपब्भारनामा उ, पुढवी छत्तसंठिया ॥ ५७ ॥

द्वादशभिर्योजनैः, सर्वार्थस्योपरि भवेत् ।
ईषत्प्राग्भारनाम्नी तु, पृथिवी छत्रसंस्थिता ॥ ५७ ॥

पदार्थान्वयः—बारसहिं—द्वादश, **जोयणेहिं**—योजन-प्रमाण, **सव्वट्ठस्सुवरिं**—सर्वार्थसिद्ध विमान के ऊपर, **भवे**—है, **ईसिपब्भारनामा**—ईषत्-प्राग्भार-नामा, **पुढवी**—पृथ्वी, **छत्त**—छत्र के आकार मे, **संठिया**—अवस्थित है, **उ**—प्राग्वत्।

मूलार्थ—सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत् प्राग्भार नाम की पृथ्वी छत्र के आकार में अवस्थित है।

टीका—यद्यपि यह पृथिवी सिद्धालय के नाम से ही प्रसिद्ध है, तथापि इसका ईषत्-प्राग्भारा भी शास्त्रविहित नाम है। तथा उत्तान किए हुए छत्र के आकार में अवस्थित है अर्थात् ऊपर को उलटे ताने हुए छत्र का जैसा आकार होता है उसके समान आकार वाली वह पृथिवी है। सारांश यह है कि—इस लोक मे सारी आठ पृथिवियां हैं जिनमें सात तो अधोलोक मे है और आठवीं-पृथिवी ऊर्ध्वलोक में है जो कि ईषत्-प्राग्भारा या सिद्धालय के नाम से शास्त्रो में विख्यात है।

अब फिर प्रस्तुत विषय में ही कहते हैं, यथा—

पणयालसयसहस्सा, जोयणाणं तु आयया ।
तावइयं चेव वित्थिण्णा, तिगुणो तस्सेव परिरओ ॥ ५८ ॥

पञ्चचत्वारिंशत्शतसहस्राणि, योजनानां त्वायता ।
तावती चैव विस्तीर्णा, त्रिगुणस्तस्या एव परिरयः ॥ ५८ ॥

पदार्थान्वयः—**पणयाल**—पैंतालीस, **सयसहस्सा**—लाख, **जोयणाणं**—योजन की, **तु**—तो, **आयया**—लम्बी, **च**—और, **तावइयं**—उतनी ही, **वित्थिण्णा**—विस्तीर्ण-चौडी-फिर, **तिगुणो**—तीन गुणा अधिक, **तस्सेव**—उसी की, **परिरओ**—परिधि है, **एव**—निश्चय में है।

मूलार्थ—वह ईषत्-प्राग्भारा पृथिवी (सिद्धशिला) पैंतालीस लाख योजन की तो लम्बी और उतनी ही चौड़ी है, तथा उसकी परिधि कुछ अधिक तीन गुणा है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में उस स्थान की लम्बाई, चौड़ाई और परिधि का उल्लेख किया गया है। उसकी लम्बाई पैंतालीस लाख योजन की है और उतनी ही उसकी चौड़ाई है—तथा उसकी परिधि (घिराव) कुछ अधिक तिगुना, अर्थात् एक करोड़, बयालीस लाख, तीस हजार, दो सौ, उनचास योजन से कुछ अधिक कथन की गई है।

अब फिर इसी के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा—

अट्ठजोयणबाहल्ला, सा मज्झम्मि वियाहिया ।
परिहायंती चरिमंते, मच्छिपत्ताउ तणुयरी ॥ ५९ ॥

अष्टयोजनबाहल्या, सा मध्ये व्याख्याता ।
परिहीयमाणा चरमान्ते, मक्षिकापत्रात्तु तनुतरा ॥ ५९ ॥

पदार्थान्वयः—**सा**—वह पृथ्वी, **अट्ठजोयण**—आठ योजन प्रमाण, **बाहल्ला**—स्थूलता वाली, **मज्झम्मि**—मध्य भाग मे, **वियाहिया**—कही गई है, फिर वह, **परिहायंती**—सर्व प्रकार से हीन होती हुई, **चरिमंते**—अन्त मे, **मच्छिपत्ताउ**—मक्षिका-पख से भी, **तणुयरी**—अधिक पतली है।

मूलार्थ—वह पृथिवी (सिद्धशिला) मध्य में आठ योजन प्रमाण स्थूल-मोटी है। तथा फिर वह सर्व प्रकार से हीन होती-होती मक्षिकापत्र—मक्खी के पर—से भी अधिक पतली हो गई है।

टीका—इस गाथा में उक्त स्थान की स्थूलता और सूक्ष्मता का वर्णन किया गया है। वह पृथिवी मध्य में आठ योजन प्रमाण मोटी है, और चारों ओर से हीन होती-होती चरमान्त में वह मक्खी के परों से भी पतली रह गई है। यहां पर इतना ध्यान रहे कि—आठ योजन प्रमाण में, अवचूरीकार ने तो उत्सेधांगुल से प्रमाण की कल्पना की है, परन्तु अनुयोगद्वार में शाश्वत वस्तु के लिए प्रामाणांगुल का प्रमाण स्वीकार किया है।

अब पुनः इसी विषय में कहते हैं—

अज्जुणसुवण्णगमई, सा पुढवी निम्मला सहावेणं ।
उत्ताणगच्छत्तगसंठिया य, भणिया जिणवरेहिं ॥ ६० ॥

अर्जुनसुवर्णकमयी, सा पृथिवी निर्मला स्वभावेन ।
उत्तानकच्छत्रकसंस्थिता च, भणिता जिनवरैः ॥ ६० ॥

पदार्थान्वयः–**अज्जुण**–श्वेत, **सुवण्णगमई**–सुवर्णमयी, **सा**–वह, **पुढवी**–पृथिवी, **निम्मला**–निर्मल है, **सहावेणं**–स्वभाव से, **उत्ताणग**–उत्तानक, **छत्तग**–छत्रक के, **संठिया**–संस्थान–आकार पर है, **जिणवरेहिं**–जिनेन्द्रों ने, **भणिया**–कहा है।

मूलार्थ–वह पृथिवी स्वभाव से निर्मल, श्वेत, सुवर्णमयी और उत्तान छत्र के समान आकार वाली जिनेन्द्र देवों ने कही है।

टीका–वह ईषत्-प्राग्भार नाम की पृथिवी स्वभाव से ही श्वेत सुवर्ण के सदृश और अत्यन्त निर्मल तथा उत्तान छत्र के आकार-जैसी है। इस कथन से उसकी कृत्रिमता का निषेध किया गया है। तात्पर्य यह है कि वह पृथ्वी अनादि काल से ही उत्तान छत्र के आकार में अवस्थित है, तथा श्वेत सुवर्णमयी कहने से सुवर्ण की भी अनेक जातिया सूचित होती हैं और जिनेन्द्र-कथित होने से इसकी प्रामाणिकता ध्वनित की है।[1]

अब फिर कहते हैं–

संखंककुंदसंकासा, पंडुरा निम्मला सुहा ।
सीयाए जोयणे तत्तो, लोयंतो उ वियाहिओ ॥ ६१ ॥

शङ्खाङ्ककुन्दसङ्काशा, पाण्डुरा निर्मला शुभा ।
सीताया योजने ततः, लोकान्तस्तु व्याख्यातः ॥ ६१ ॥

पदार्थान्वयः–**संख**–शख, **अंक**–अक–रत्न विशेष, **कुंद**–कुन्दपुष्प, इनके, **संकासा**–समान, **पंडुरा**–श्वेत, **निम्मला**–निर्मल, **सुहा**–शुभ, **सीयाए**–सीता नाम की पृथ्वी के ऊपर, **जोयणे**–योजन के अन्तर मे, **तत्तो**–उस पृथिवी से, **लोयंतो**–लोकान्त भाग, **वियाहिओ**–कथन किया है।

मूलार्थ–वह पृथिवी शंख, अंक और कुन्दपुष्प के समान अत्यन्त श्वेत, निर्मल और अतीव शुभ है, तथा सीता नाम की उस पृथिवी के ऊपर एक योजन के अन्तर में लोकान्त भाग है, ऐसा तीर्थंकर देवों ने प्रतिपादन किया है।

टीका–जैसे शख श्वेत होता है, तथा जैसे अक-रत्न श्वेत और कातिमय होता है, अथवा जिस प्रकार का सुन्दर श्वेत वर्ण वाला मुचकुन्द का पुष्प होता है, ठीक उसी प्रकार की अत्यन्त निर्मल और श्वेत-वर्ण-युक्त तथा कल्याण वा सुखकारक वह पृथिवी है। उसके ऊपर एक योजन के अन्तर मे लोकान्त है, अर्थात् उस पृथिवी से लोकान्त एक योजन के अन्तर पर है तथा अन्य नामों की भांति उस पृथिवी का 'सीता' यह नाम भी है।

अब लोकान्त में सिद्ध जीवो की स्थिति के विषय में कहते है–

जोयणस्स उ जो तत्थ, कोसो उवरिमो भवे ।
तस्स कोसस्स छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥ ६२ ॥

---

१ बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा को मूल मे ग्रहण नही किया, परन्तु अन्य सब मूल प्रतियो में इसका उल्लेख देखने मे आता है।

योजनस्य तु यस्तत्र, क्रोश उपरिवर्त्ती भवेत् ।
तस्य क्रोशस्य षड्भागे, सिद्धानामवगाहना भवेत् ॥ ६२ ॥

पदार्थान्वयः—**जोयणस्स**—योजन के, **जो**—जो, **तत्थ**—ईषत्-प्राग्भार के, **उवरिमो**—ऊपर का, **कोसो**—कोस, **भवे**—है, **तस्स**—उस, **कोसस्स**—कोस के, **छब्भाए**—छठे भाग मे, **सिद्धाण**—सिद्धों की, **ओगाहणा**—अवगाहना, **भवे**—होती है।

मूलार्थ—ईषत्-प्राग्भार-पृथ्वी से एक योजन के ऊपर के कोस के छठे भाग के प्रमाण में सिद्धों की अवगाहना प्रतिपादन की गई है।

टीका—ईषत्-प्राग्भारा पृथिवी के ऊपर जिस एक योजन के अन्तर मे लोकान्त का प्रतिपादन किया गया है, उस योजन का जो ऊपर का कोस है उस कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना स्वीकार की गई है।

इसका स्फुट भावार्थ यह है कि, २००० धनुष का एक कोस होता है, तथा ३३३ धनुष और ३२ अगुल-प्रमाण क्षेत्र मे सिद्धो की अवगाहना कथन की गई है, अर्थात् उत्कृष्ट रूप से इतने आकाश-प्रदेश मे सिद्धों की स्थिति कही गई है।

और 'तत्थ-तत्र' यहां पर 'तस्य' के स्थान में सुप् का व्यत्यय किया गया है।

अब फिर इसी सम्बन्ध में अर्थात् सिद्धों के विषय में कहते हैं—

तत्थ सिद्धा महाभागा, लोगग्गम्मि पइट्ठिया ।
भवप्पवंच उम्मुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥ ६३ ॥

तत्र सिद्धा महाभागाः, लोकाग्रे प्रतिष्ठिताः ।
भवप्रपञ्चोन्मुक्ताः, सिद्धिं वरगतिं गताः ॥ ६३ ॥

पदार्थान्वयः—**तत्थ**—उस स्थान पर, **सिद्धा**—सिद्ध, **महाभागा**—महान् भाग्य वाले, **लोगग्गम्मि**—लोक के अग्र भाग पर, **पइट्ठिया**—प्रतिष्ठित हुए, **भवप्पवंच**—जन्मादि के प्रपंच से, **उम्मुक्का**—उन्मुक्त हुए, **सिद्धिं**—सिद्धिरूप, **वरगइं**—परम श्रेष्ठ गति को, **गया**—प्राप्त हुए।

मूलार्थ—सर्वप्रधान सिद्धगति को प्राप्त होने वाले महाभाग्यशाली सिद्ध जीव संसार-चक्र के प्रपंच से उन्मुक्त होकर वहां लोक के अग्र भाग में प्रतिष्ठित हैं।

टीका—मोक्ष-गति के अतिरिक्त अन्य जितनी भी गतिया हैं वे सब सावधिक एवं विनाशशील है, परन्तु मोक्षगति की न तो कोई अवधि है और न ही उसका विनाश है, अत· वह शाश्वत है। और इसी कारण से मोक्षगति के सिवाय अन्य गतियों को प्राप्त होने वाले जीव चलस्वभावी कहे गए हैं और मुक्ति के जीव अचलस्वभावी हैं। इसके अतिरिक्त उनके स्वरूप और स्वभाव के अनुरूप ही उनको—अचल, अजर, अमर, बुद्ध, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है।

अब सिद्धगति को प्राप्त हुए जीवों की अवगाहना के विषय में कहते हैं—

उस्सेहो जस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि उ ।
तिभागहीणो तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥ ६४ ॥

**उत्सेधो यस्य यो भवति, भवे चरमे तु ।
तृतीयभागहीना ततश्च, सिद्धानामवगाहना भवेत् ॥ ६४ ॥**

पदार्थान्वयः–**उस्सेहो**–ऊंचाई, **जस्स**–जिस जीव का, **जो**–जो, **होइ**–होती है, **चरिमम्मि**–चरम, **भवम्मि**–भव में, **य**–फिर, **तत्तो**–उससे, **तिभागहीणो**–तीसरा भाग न्यून, **सिद्धाण**–सिद्धो की, **ओगाहणा**–अवगाहना, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–यावन्मात्र अन्तिम शरीर में जितनी अवगाहना होती है, उससे तृतीय भाग न्यून सिद्धों की अवगाहना कही गई है।

टीका–यहा पर इतना ध्यान रहे कि सिद्धो की यह अवगाहना, आकाश मे ठहरे हुए आत्मा के जो असंख्यात प्रदेश हैं उनकी अपेक्षा से कथन की गई है। यों तो सिद्ध अमूर्त हैं, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, रूप आदि से रहित हैं तथा अवगाहना मे जो चरम शरीर का तृतीय भाग न्यून किया गया है उसका कारण यह है कि शरीर के जो विवर-छिद्र हैं, वे घनरूप हो जाते हैं। इसलिए तृतीय भाग न्यून अवगाहना मानी गई है।

अब काल की अपेक्षा से सिद्धों का वर्णन किया जाता है, यथा–

**एगत्तेण साइया, अपज्जवसियावि य ।
पुहुत्तेण अणाइया, अपज्जवसियावि य ॥ ६५ ॥**

**एकत्वेन सादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
पृथक्त्वेनानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ॥ ६५ ॥**

पदार्थान्वयः–**एगत्तेण**–एक सिद्ध की अपेक्षा से, **साइया**–सादि, **य**–और, **अपज्जवसियावि**–अपर्यवसित हैं, **पुहुत्तेण**–बहुतों की अपेक्षा से, **अणाइया**–अनादि, **अपज्जवसिया**–अपर्यवसित है, **अवि-य**–अपि-च–समुच्चयार्थक है।

मूलार्थ–एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध, सादि-अपर्यवसित हैं और बहुतों की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित हैं।

टीका–इस गाथा में सिद्धों का काल-सापेक्ष वर्णन किया गया है। तथाहि–जिन आत्माओ ने जिस समय कर्म-निर्मुक्त होकर सिद्धभाव को प्राप्त किया, उस समय की अपेक्षा से सिद्ध की आदि तो सिद्ध हो गई, परन्तु फिर उसका कभी सिद्ध काल का अन्त न होने से वह अपर्यवसित अर्थात् अनन्त पद वाला है। तात्पर्य यह है कि इस दृष्टि से सिद्धपद सादि-अनन्त है और बहुत से सिद्धों की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त पद वाला है, अर्थात् जिस प्रकार यह संसार प्रवाह से अनादि-अनन्त है, उसी प्रकार प्रवाह रूप से सिद्धपद भी अनादि-अनन्त है। तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई समय नहीं, जब कि सिद्ध नही थे और ऐसा भी कोई समय नहीं, जब कि सिद्ध नही होंगे, अतः शाश्वत रूप होने से सिद्धपद को अनादि और अनन्त कहा गया है। इसी दृष्टि से जैन-धर्म में परमेश्वरपद को अनादि-अनन्त माना है, अतः जैन-धर्म मे परमेश्वर और परमात्मा आदि सिद्धों के ही अपर नाम स्वीकार किए गए हैं।

अब सिद्धों का स्वरूप-वर्णन करते हैं, यथा–

अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया ।
अउलं सुहं संपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ ॥ ६६ ॥

अरूपिणो जीवघनाः, ज्ञानदर्शनसंज्ञिताः ।
अतुलं सुखं सम्प्राप्ता., उपमा यस्य नास्ति तु ॥ ६६ ॥

पदार्थान्वयः–अरूविणो–अरूपी, **जीवघणा**–घनरूप जीव, **नाण**–ज्ञान, **दंसण**–दर्शन, **सन्निया**–संज्ञा वाले–ज्ञान-दर्शन के उपयोग सहित, **अउलं**–अतुल, **सुहं**–सुख को, **संपत्ता**–सम्यक् प्राप्त हुए, **जस्स**–जिस सुख की, **उवमा**–उपमा, **नत्थि**–नहीं है, **उ**–प्राग्वत्।

मूलार्थ–वे सिद्ध जीव रूप से रहित घनरूप और ज्ञान-दर्शन के उपयोग वाले उस अतुल सुख को प्राप्त होते हैं जिसकी कोई उपमा नहीं है।

टीका–सिद्धात्मा रूपादि से रहित होते हैं तथा शरीर-सम्बन्धी विवरों अर्थात् छिद्रों के दूर हो जाने से वे परम पवित्रात्मा, प्रदेशो के घनरूप हो जाने से जीवघन कहे जाते है और ज्ञान-दर्शन के उपयोग से युक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त उनका जो आत्म-सुख है वह अक्षय और तुलना से रहित है, अर्थात् सिद्धों के सुख की संसार के किसी भी सुख से तुलना नही की जा सकती। कारण यह है कि वेदनीय-कर्मजन्य जो सुख है वह नाशवान् और तारतम्य से युक्त होता है, अत: उसका विपाक भी शुभ नही होता, परन्तु जो आत्मिक सुख है वह अजन्य होने से अविनाशी और सदा एकरस रहने वाला है, इसीलिए उसकी ससार मे कोई उपमा उपलब्ध नही होती। जैसे सूर्य के प्रकाश के समक्ष जुगनू का प्रकाश अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक होता है, सूर्य के समक्ष उसकी कोई गणना नही होती, इसी तरह आत्मिक सुख की अपेक्षा वेदनीय-कर्मजन्य सुख अत्यन्त क्षुद्र और नहीं के बराबर है तथा सिद्धो में जो ज्ञान और दर्शन का उपयोग बताया गया है उससे जो वादी मोक्ष मे ज्ञान का अभाव मानते हैं उनके मत का निराकरण करना अभिमत है और जीव-घन से अभावरूप मोक्ष का खण्डन किया गया है एव सुख का निर्वचन करने से केवल दु:ख-ध्वंसरूप मोक्ष का निषेध किया है।

साराश यह है कि जो सुख अर्थात् आनन्द ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रयी की उपासना से प्राप्त होने वाली आत्मोपलब्धि मे है वह आनन्द तो क्या, उसका शताश या सहस्राश भी ससार के रम्य से भी रम्य पदार्थों के सेवन से प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे कि एक विद्यार्थी को परीक्षा में उत्तीर्ण होने से जिस आनंद का अनुभव होता है वैसा आनन्द परीक्षा मे अनुत्तीर्ण हुए विद्यार्थी को सुंदर पदार्थों के भक्षण से कभी प्राप्त नहीं हो सकता। अत: आध्यात्मिक सुख के समक्ष वैषयिक सुख की कोई भी गणना नही है।

इस प्रकार भाव से सिद्धों के स्वरूप का वर्णन करने के अनन्तर अब उनके क्षेत्र-सापेक्ष्य-स्वरूप का वर्णन करते हुए शास्त्रकार फिर कहते हैं कि –

लोगेगदेसे ते सव्वे, नाणदंसणसंनिया ।
संसारपारनित्थिण्णा, सिद्धिं वरगइं गया ॥ ६७ ॥

लोकैकदेशे ते सर्वे, ज्ञानदर्शनसंज्ञिताः ।
संसारपारनिस्तीर्णाः, सिद्धिं वरगतिं गताः ॥ ६७ ॥

पदार्थान्वयः—**लोगेगदेसे**—लोक के एक देश में, **ते**—वे, **सव्वे**—सर्व सिद्ध हुए आत्मा ठहरते है, **नाणदंसणसंनिया**—ज्ञान और दर्शन संज्ञा वाले, **संसारपारनित्थिण्णा**—संसार से पार निस्तीर्ण होकर, **सिद्धिं वरगइं**—सर्वप्रधान सिद्धपद को, **गया**—प्राप्त हुए।

मूलार्थ—वे सब सिद्धात्मा लोक के एकदेश अर्थात् अग्रभाग में स्थित हैं, ज्ञान-दर्शन से युक्त हुए संसार से पार होते हुए सर्वप्रधान सिद्धगति को प्राप्त हो गए हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सिद्धात्माओं का लोक के एक देश मे ठहरने का जो उल्लेख किया गया है, उससे जो लोग मुक्तात्माओं का आकाश में भ्रमण मानते है उनके मत का निषेध किया गया है, क्योंकि वे अचल हैं तथा ज्ञान और दर्शन इन दोनों का उल्लेख इसलिए किया गया है कि बहुत से वादी एक ही उपयोग मानते हैं, या दोनों को एक ही समय में स्वीकार करते हैं, अथवा मोक्ष मे किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं मानते, उनका मत असंगत है। इसी प्रकार "संसार से निस्तीर्ण हो गए" यह कथन उन लोगों की मान्यता का निषेध करता है जो यह कहते हैं कि "दुष्टो के विनाश और श्रेष्ठों की रक्षा के लिए मोक्ष को गई हुई आत्मा फिर जन्म धारण करती है।" कारण कि मुक्तात्मा के पुनरागमन का कोई भी कारण उपलब्ध नहीं होता और दुष्ट-संहार आदि कार्य तो उनकी सर्वशक्तिमत्ता के द्वारा बिना ही जन्म लिए सम्पादन हो सकता है, तथा जन्म देने वाले कर्म-बीज के दग्ध होने से फिर जन्म की कल्पना तो सर्वथा युक्तिशून्य और असम्बद्ध-प्रलाप-सा है। गति के कथन से आत्मा को सक्रिय बताया गया है इत्यादि।

इस प्रकार जीव के दो भेदों में से प्रथम भेद का तो संक्षेप से निरूपण कर दिया गया, अब उसके दूसरे भेद का निरूपण करते हैं, यथा—

संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया ।
तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं ॥ ६८ ॥

संसारस्थास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते व्याख्याता. ।
त्रसाश्च स्थावराश्चैव, स्थावरास्त्रिविधास्तत्र ॥ ६८ ॥

पदार्थान्वयः—**संसारत्था**—संसार में रहने वाले, **उ**—पादपूर्ति मे है, **जे**—जो, **जीवा**—जीव है, **ते**—वे, **दुविहा**—दो प्रकार के, **वियाहिया**—कथन किए गए हैं, **तसा**—त्रस, **य**—और, **थावरा**—स्थावर, **च**—पुन., **थावरा**—स्थावर, **तहिं**—वहा—उन दो भेदों मे, **तिविहा**—तीन प्रकार के है।

मूलार्थ—ससारी जीव त्रस और स्थावर भेद से दो प्रकार के हैं और उनमे त्रस जीव के तीन भेद कहे गए हैं।

टीका—इस गाथा में जीव के दूसरे भेद का वर्णन करते हुए उसके दो भेद बताए गए है, यथा—त्रस और स्थावर। ये दो भेद संसारी जीवो के है, इनमें स्थावर जीव तीन प्रकार के हैं, जो जीव दु:खादि के उत्पन्न होने पर प्रत्यक्ष रूप में त्रास पाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं उन्हे त्रस कहा जाता है तथा जो कष्टादि के उपस्थित होने पर अपने नियत स्थान को छोडकर अन्यत्र न जा सकें, वे स्थावर माने गए हैं। यहा पर यद्यपि क्रम प्राप्त प्रथम त्रस जीव का ही वर्णन करना चाहिए था, किन्तु अल्प-वक्तव्य होने से त्रस को छोड़कर प्रथम स्थावर के वर्णन का उपक्रम किया गया है।

अब उक्त कथन के अनुसार स्थावर के भेदों का वर्णन करते हैं–

पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई ।
इच्चेए थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ ६९ ॥

पृथिव्यब्जीवाश्च, तथैव च वनस्पतिः ।
एत्येते स्थावरास्त्रिविधाः, तेषां भेदान् श्रृणुत मे ॥ ६९ ॥

पदार्थान्वयः–**पुढवी**–पृथिवीरूप, **य**–और, **आउजीवा**–जल रूप जीव, **तहेव**–उसी प्रकार, **वणस्सई**–वनस्पतिरूप जीव, **इच्चेए**–इस प्रकार से ये, **तिविहा**–तीन प्रकार के, **थावरा**–स्थावर है, **तेसिं**–इनके, **भेए**–भेदों को, **मे**–मुझ से, **सुणेह**–तुम सुनो।

मूलार्थ–पृथिवीरूप जीव, जलरूप जीव और वनस्पतिरूप जीव, इस प्रकार ये तीन भेद स्थावर के वर्णन किए गए हैं, सो अब इनके भेदो को तुम मुझसे श्रवण करो।

टीका–आचार्य कहते हैं कि स्थावर के तीन भेद कहे गए है–पृथिवी, जल और वनस्पति, अर्थात् पृथिवीरूप जीव, जलरूप जीव और वनस्पतिरूप जीव। ये तीनों एक-इन्द्रिय-रूप जीव हैं, एवं जीव और शरीर के परस्पर अनुगत होने तथा विभाग के न होने से इस प्रकार कहा गया है। तात्पर्य यह है कि उक्त तीनो मे पिण्डो के समूह का नाम जीव है, न कि उन पृथिवी आदि के काठिन्यादि को जीव कहते है। कारण यह है कि जीव का उपयोग लक्षण है, सो वहां वे आत्माए भी सूक्ष्म उपयोग से युक्त है तथा स्थिति-प्रधान होने से इनको स्थावर कहते है।

अब पृथिवीरूप स्थावर जीव के भेदों का वर्णन करते हैं, यथा–

दुविहा पुढवीजीवा य, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ ७० ॥

द्विविधाः पृथिवीजीवाश्च, सूक्ष्मा बादरास्तथा ।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेव द्विधा पुनः ॥ ७० ॥

पदार्थान्वयः–**दुविहा**–दो प्रकार के, **पुढवीजीवा**–पृथ्वीकाय के जीव है, **सुहुमा**–सूक्ष्म, **तहा**–तथा, **बायरा**–बादर, य–पुनः, **पज्जत्तं**–पर्याप्त–और, **अपज्जत्ता**–अपर्याप्त, **एवमेव**–उसी प्रकार, **पुणो**–फिर, **दुहा**–दो प्रकार के है।

मूलार्थ–पृथिवीकाय के जीवों के दो भेद हैं–सूक्ष्म और बादर, फिर इसी प्रकार इन दो मे से प्रत्येक के–पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद जानने चाहिएं।

टीका–पृथिवीकाय के जीवों के दो भेद है–सूक्ष्म और बादर; अर्थात् सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से सूक्ष्म पृथिवीकाय और बादर नाम-कर्म के उदय से बादर पृथिवीकाय ये दो भेद है। फिर सूक्ष्म और बादर के भी दो भेद हैं–पर्याप्त और अपर्याप्त। यथासम्भव पर्याप्ति वालों को पर्याप्त कहते हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्‌वास, मन और वचन ये छह पर्याप्तिया कही जाती हैं तथा जिन्होंने पर्याप्तियां पूर्ण कर ली हों वे पर्याप्त और बिना पर्याप्ति के जो जीव हैं उनको अपर्याप्त कहा जाता है। सो पृथिवी, जल और वनस्पति काय में चार पर्याप्तिया हैं–आहार-पर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति और

श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, अतएव ये चारों अपर्याप्त हैं; अर्थात् सूक्ष्म और बादर पृथिवीकाय मे ये चारों अपर्याप्त भी होते हैं। इनमें सूक्ष्म तो केवली-प्रत्यक्ष है और बादर का प्रत्यक्ष भान होता ही है।

अब इनके उत्तर भेदों का वर्णन करते हुए फिर कहते हैं कि—

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया ।
सण्हा खरा य बोधव्वा, सण्हा सत्तविहा तहिं ॥ ७१ ॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः, द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
श्लक्ष्णाः खराश्च बोद्धव्याः, श्लक्ष्णाः सप्तविधास्तत्र ॥ ७१ ॥

पदार्थान्वयः—**बायरा**—बादर-पृथिवीकाय के, **जे**—जो, **पज्जत्ता**—पर्याप्त जीव हैं, **ते**—वे, **दुविहा**—दो प्रकार के, **वियाहिया**—कथन किए गए हैं, **सण्हा**—श्लक्ष्ण अर्थात् सुकोमल, **य**—और, **खरा**—कठिन, **बोधव्वा**—जानने चाहिए, **तहिं**—उन दो भेदों में, **सण्हा**—श्लक्ष्ण, **सत्तविहा**—सात प्रकार के है।

मूलार्थ—जो पर्याप्त-बादर-पृथिवीकाय के जीव हैं वे भी दो प्रकार के वर्णन किए गए हैं—एक मृदु, दूसरे खर। इन दो में भी मृदु के सात भेद हैं।

टीका—पर्याप्त बादर-पृथिवीकाय के दो भेद हैं—एक श्लक्ष्ण अर्थात् सुकोमल और दूसरा खर अर्थात् कठिन। ये दोनों ही मृदु और कठिन पृथिवीकाय के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनमे जो श्लक्ष्ण पृथिवी है, वह सात प्रकार की कही गई है।

अब उक्त सात भेदों का वर्णन करते हैं, यथा—

किण्हा नीला य रुहिरा य, हालिद्दा सुक्किला तहा ।
पंडुपणगमट्टिया, खरा छत्तीसईविहा ॥ ७२ ॥

कृष्णा नीलाश्च रुधिराश्च, हारिद्राः शुक्लास्तथा ।
पाण्डुपनकमृत्तिका., खराः षट्त्रिंशद्विधाः ॥ ७२ ॥

पदार्थान्वयः—**किण्हा**—काली मिट्टी, **य**—पुनः, **नीला**—नीली मिट्टी, **य**—और, **रुहिरा**—लाल मृत्तिका, **हालिद्दा**—पीत मृत्तिका, **तहा**—तथा, **सुक्किला**—शुक्ल मृत्तिका, **पंडु**—पाडु मृत्तिका—वा, **पणगमट्टिया**—पनक अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म मृत्तिका, तथा, **खरा**—कठिन पृथिवी, **छत्तीसई**—छत्तीस, **विहा**—प्रकार की है।

मूलार्थ—श्लक्ष्ण पृथिवीकाय के सात भेद हैं—काली, नीली, लाल, पीली, श्वेत एवं पांडु तथा पनक मृत्तिका तथा खर पृथिवीकाय के छत्तीस भेद हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में श्लक्ष्णा पृथिवी के सातों भेदों का वर्णन किया गया है। पांडु उसका नाम है जिसमे थोडी सी तो श्वेतता है और शेष अन्य वर्ण हों और आकाश में फैलने वाली अत्यन्त सूक्ष्म रज को पनकमृत्तिका कहते हैं; तथा मरुस्थल में जो पर्यटिकारूप होती है और चरण के अभिघात से जो शीघ्र ही आकाश मे चढ जाती है, उसे भी पनकमृत्तिका कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि पनक अत्यन्त सूक्ष्म रज का नाम है।

अब ऊपर बताए गए खरमृत्तिका के ३६ भेदों का वर्णन करते हैं—

पुढवी य सक्करा बालुया य, उवले सिला य लोणूसे ।
अय-तंब-तउय-सीसग-रुप्प-सुवण्णे य वइरे य ॥ ७३ ॥

हरियाले हिंगुलुए, मणोसिला सासगंजण-पवाले ।
अब्भपडलब्भवालुय, बायरकाए मणिविहाणा ॥ ७४ ॥

गोमेज्जए य रुयगे, अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगय-मसारगल्ले, भुयमोयग-इंदनीले य ॥ ७५ ॥

चंदण-गेरुय-हंसगब्भे, पुलए सोगंधिए य बोधव्वे ।
चंदप्पहवेरुलिए, जलकंते सूरकंते य ॥ ७६ ॥

पृथिवी च शर्करा बालुका च, उपलः शिला च लवणोषौ ।
अयस्ताम्रत्रपुकसीसक - रूप्यसुवर्णवज्राणि च ॥ ७३ ॥

हरितालो हिङ्गुलकः, मनःशिला सासकाऽञ्जनप्रवालानि ।
अभ्रपटलमभ्रबालुका, बादरकाये मणिविधानानि ॥ ७४ ॥

गोमेदकश्च रुचकः, अङ्कः स्फटिकश्च लोहिताक्षश्च ।
मरकतमसारगल्लः भुजमोचक इन्द्रनीलश्च ॥ ७५ ॥

चन्दनगैरिकहंसगर्भः, पुलकः सौगन्धिकश्च बोद्धव्यः ।
चन्द्रप्रभो वैडूर्यः, जलकान्तः, सूर्यकान्तश्च ॥ ७६ ॥

पदार्थान्वयः–**पुढवी**–शुद्ध पृथिवी, **सक्करा**–कंकडरूप पृथिवी, **य**–और, **बालुया**–बालुका-रूप पृथिवी, **उवले**–पाषाणरूप, **य**–और, **सिला**–शिलारूप, **लोणु**–लवणरूप पृथिवी, **उसे**–खारी मृत्तिका, **अय**–लोहरूप मिट्टी, **तउय**–तरुआ रूप पृथिवी, **तंब**–ताम्ररूप, **सीसग**–सीसा, **रुप्प**–चादी, **य**–और, **सुवण्णे**–सुवर्णरूप, **य**–तथा, **वइरे**–वज्ररूप, **हरियाले**–हरिताल, **हिंगुलुए**–हिंगुलु, **मणोसिला**–मनसिल, **सासग**–सासक, **अंजण**–अजन, **पवाले**–प्रवाल, **अब्भपडल**–अभ्रपटल–अभ्रक, **अब्भवालुय**–अभ्रवालुका, **बायरकाए**–बादर-पृथिवीकाय में ही, **मणिविहाणा**–मणियों के भेद जानने, **गोमेज्जए**–गोमेदक रत्न, **य**–और, **रुयगे**–रुचक रत्न, **अंके**–अंक रत्न, **य**–तथा, **फलिहे**–स्फटिक रत्न, **य**–और, **लोहियक्खे**–लोहिताक्ष रत्न, **मरगय**–मरकत मणि, **मसारगल्ले**–मसारगल्ल रत्न, **भुयमोयग**–भुजमोचक रत्न, **य**–और, **इंदनीले**–इंद्रनील रत्न, **चंदण**–चन्दन, **गेरुय**–गेरुक, **हंसगब्भे**–हंस-गर्भ, **पुलए**–पुलक, **य**–और, **सोगंधिए**–सौगन्धिक, **बोधव्वे**–जानना चाहिए, **चंदप्पह**–चन्द्रप्रभ, **वेरुलिए**–वैडूर्य, **जलकंते**–जलकान्त, **य**–और, **सूरकंते**–सूर्यकान्त मणि।

मूलार्थ–खर पृथिवी के–१. शुद्ध पृथिवी, २. शर्करा, ३. बालुका, ४. उपल, ५ शिला, ६. लवण, ७. खारी मिट्टी, ८. लोहा, ९. तरुआ, १०. ताम्बा, ११. सीसा, १२. रूपा–चांदी, १३. सुवर्ण, १४. वज्र, १५. हरिताल, १६. हिंगुलु, १७. मनसिल, १८. सासक, १९. अंजन, २०. प्रवाल, २१. अभ्रपटल–अभ्रक, २२. अभ्रबालुक, तथा मणियों के नाना भेद पृथिवीकाय के ही अन्तर्गत हैं; यथा–२३. गोमेदक, २४. रुचक, २५. अंक-रत्न, २६. स्फटिक और

लोहिताक्ष रत्न, २७. मरकत और मसारगल्ल, २८. भुजमोचक, २९. इन्द्रनील, तथा ३०. चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ, ३१. पुलक, ३२. सौगन्धिक, ३३. चन्द्रप्रभ, ३४. वैडूर्य, ३५. जलकान्त और ३६. सूर्यकान्तमणि—इस प्रकार ये ३६ भेद हैं।

टीका—इन चार गाथाओं में खर पृथिवी के उत्तर-भेदो का वर्णन किया गया है। ये कुल भेद सामान्य रूप से ३६ हैं जिनका ऊपर निर्देश किया गया है। पृथिवी से यहां पर समुच्चयरूप शुद्ध पृथिवी का ग्रहण समझना चाहिए। बालु-रेत को कहते हैं। लवण से, प्रायः समुद्रलवणादि सभी प्रकार के लवणों का ग्रहण है। क्षारमृत्तिका—कल्लर आदि। तथा लोहा, ताम्बा, सीसा, चादी और सुवर्णादि सब पृथिवीकाय के ही भेद है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि मल के दूर हो जाने से ये अपने शुद्ध रूप में प्रकट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यावन्मात्र धातुए उपलब्ध होती है या होंगी वे सब पृथिवीकाय में ही समाविष्ट हैं। इसी प्रकार वज्र-हीरकादि नानाविध रत्नो को भी पृथिवीकाय के ही अन्तर्भूत समझना चाहिए। हरिताल, पीली और श्वेत दो प्रकार की होती है। इनमें पहली वर्कीया, तवकिया और दूसरी गोदन्ती के नाम से प्रसिद्ध है। हिंगुल-शिंगरफ का नाम है। मनः शिला—मनसिल प्रसिद्ध ही है। प्रवाल का दूसरा नाम विद्रुम है जिसे आम लोग मूगा कहते हैं। सासक—कोई धातुविशेष है। अजन—सुरमे का नाम है। यह भी श्वेत और काला दो प्रकार का होता है। अभ्रपटल—अभ्रक को कहते है। इसी प्रकार अन्य भेदो को भी समझ लेना चाहिए।

जैसे कि ऊपर कहा गया है कि सब प्रकार के रत्नो का भी पृथिवीकाय मे ही समावेश है, उसी सिद्धान्त से यहां पर गोमेदादि रत्नों का भी उल्लेख किया गया है। साराश यह है कि जो पदार्थ किसी आकर अर्थात् खान से उत्पन्न होने वाला है वह पृथिवी का ही भेद है। इस प्रकार प्रथम गाथा मे कहे गए पृथिवी आदि १४, दूसरी गाथा मे वर्णन किए गए हरिताल आदि ८, तीसरी और चौथी मे उल्लेख किए गए गोमेद आदि १४, इस प्रकार खर पृथिवी के कुल ३६ भेद है।

इस प्रकार बादर पृथिवीकाय और उसके उत्तर भेदों का निरूपण करने के अनन्तर अब उक्त विषय का उपसंहार करते हुए सूक्ष्म पृथिवीकाय का वर्णन करते है—

एए खरपुढवीए, भेया छत्तीसमाहिया ।
एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥ ७७ ॥

एते खरपृथिव्याः, भेदाः षट्त्रिंशदाख्याताः ।
एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः ॥ ७७ ॥

पदार्थान्वयः—**एए**—ये सब, **खरपुढवीए**—कठिन पृथिवीरूप जीवों के, **भेया**—भेद, **छत्तीसं**—छत्तीस, **आहिया**—कथन किए गए हैं, और, **एगविहं**—एक ही प्रकार, **अनाणत्ता**—नाना प्रकार से रहित, **तत्थ**—उन सूक्ष्म बादर में, **सुहुमा**—सूक्ष्म भेद, **वियाहिया**—कथन किया गया है।

मूलार्थ—उक्त छत्तीस भेद खर पृथिवीकाय के वर्णन किए गए हैं, परन्तु उक्त दोनों भेदों में सूक्ष्मकाय का केवल एक ही भेद कथन किया गया है।

टीका—बादर पृथिवीकाय के ३६ भेदों का वर्णन कर दिया गया है, परन्तु सूक्ष्म और इन दोनो

में सूक्ष्म पृथिवीकाय के उत्तर भेद नही है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म पृथिवीकाय को भेद-रहित माना गया है।

'अनाणत्ता' की व्युत्पत्ति वृत्तिकार ने इस प्रकार की है–'**यतोऽविद्यमानं नानात्वं नानाभावो भेदो येषां तेऽमी अनानात्वाः सूक्ष्माः**'–अर्थात् जो नानात्व अर्थात् अनेक प्रकार के भेदों से रहित हो उसको अनानात्व कहते हैं, वही सूक्ष्म पृथिवीकाय है।

अब सूक्ष्म और बादर पृथिवी-काय का क्षेत्र सापेक्ष्य वर्णन करते हैं, यथा–

सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ।
इत्तो कालविभागं तु, वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥ ७८ ॥

सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः ।
इतः कालविभागं तु, वक्ष्ये तेषां चतुर्विधम् ॥ ७८ ॥

पदार्थान्वयः–**सुहुमा**–सूक्ष्म, **सव्व**–सर्व, **लोगम्मि**–लोक में व्याप्त हैं, **य**–और, **लोगदेसे**–लोक के देशमात्र मे, **बायरा**–बादर स्थित है, **इत्तो**–इसके अनन्तर, **तेसिं**–उनके, **कालविभागं**–कालविभाग को, **तु**–फिर, **चउव्विहं**–चार प्रकार से, **वुच्छ**–कहूगा या कहता हूं।

मूलार्थ–सूक्ष्म पृथिवीकाय के जीव सर्व लोक मे व्याप्त हैं और बादर-लोक के एक देश में (रत्नप्रभा आदि पृथिवी में) स्थित हैं। इसके अनन्तर मैं इनके काल-विभाग को चार प्रकार से कहूंगा या कहता हूं, अर्थात् अब इनका काल की अपेक्षा से वर्णन किया जाएगा।

टीका–इस गाथा में सूक्ष्म और बादर पृथिवीकाय की क्षेत्र-स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है, तथा इनकी कालस्थिति के वर्णन की प्रतिज्ञा की गई है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म पृथिवी के जीव तो सर्व लोक मे व्याप्त हैं और बादर पृथिवी के जीव रत्नप्रभा आदि पृथिवियो में स्थित है, यह तो इनका क्षेत्र-विभाग है और काल विभाग से इनका वर्णन आगे किया जाएगा। यही इस गाथा का भावार्थ है।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार ही वर्णन करते हैं, यथा–

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ ७९ ॥

संततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ ७९ ॥

पदार्थान्वयः–**संतइं**–प्रवाह की, **पप्प**–अपेक्षा से, **णाईया**–अनादि, **य**–और, **अपज्जवसिया**–अपर्यवसित है, **अवि**–अपितु, **ठिइं**–स्थिति की, **पडुच्च**–अपेक्षा, **साईया**–सादि, **सपज्जवसिया**–सपर्यवसित है, **अवि य**–अपिच अर्थात् प्राग्वत् ।

मूलार्थ–पृथिवीकाय सन्तति की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित है और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सपर्यवसित है।

टीका–इस गाथा की व्याख्या पूर्व मे आई हुई बारहवी गाथा के समान ही समझ लेनी चाहिए,

अर्थात् पृथिवीकाय को यदि प्रवाह की अपेक्षा से देखा जाए तो वह अनादि-अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त माना गया है। तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई भी समय नही होता जबकि पृथिवीकाय का अभाव हो, इसलिए वह अनादि-अनन्त है और जब पृथिवीकाय के जीवो की स्थिति का विचार करते हैं तब उनका आदि और अन्त दोनों ही प्रतीत होते हैं, इसलिए उसको सादि-सान्त भी कहा गया है।

अब इनकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का वर्णन करते हैं–

बावीससहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउठिई पुढवीणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ ८० ॥

द्वाविंशतिसहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत् ।
आयु:स्थितिः पृथिवीनाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥ ८० ॥

पदार्थान्वयः–बावीससहस्साइं–बाईस सहस्र, **वासाण**–वर्षों की, **उक्कोसिया**–उत्कृष्ट, **आउठिई**–आयु की स्थिति, **भवे**–होती है, **पुढवीणं**–पृथिवीकाय के जीवो को, **अन्तोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त की, **जहन्निया**–जघन्य स्थिति होती है।

मूलार्थ–पृथिवीकाय के जीवों की जघन्य आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की होती है।

टीका–प्रस्तुत गाथा मे पृथिवीकाय के जीवों की आयु-स्थिति का वर्णन किया गया है। उन की जघन्य आयु तो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष की मानी गई है। यह स्थिति काल-सापेक्ष और पृथिवीकाय को सादि-सान्त मान कर उसका वर्णन किया गया है तथा अन्तर्मुहूर्त्त से लेकर बाईस हजार वर्ष से जो न्यून हो वह आयु-स्थिति मध्यम कही जाती है और इसी को भवस्थिति भी कहते है।

अब काय-स्थिति के विषय में कहते हैं–

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई पुढवीणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ ८१ ॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्त जघन्यका ।
कायस्थितिः पृथिवीनां, तं कायं त्वमुञ्चताम् ॥ ८१ ॥

पदार्थान्वयः–अंसखकालं–असंख्यातकाल, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त, **जहन्निया**–जघन्य, **कायठिई**–कायस्थिति, **पुढवीणं**–पृथिवीकाय के जीवों की, **तं**–उस, **कायं**–काय को, **अमुंचओ**–न छोडते हुओ की, **तु**–अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ–पृथिवीकाय के जीवों की जघन्य-स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट असंख्यात काल की कथन की गई है, परन्तु यदि उस काया का वे परित्याग न करें।

टीका–यदि पृथिवीकाय का जीव मर कर पृथिवीकाय में ही उत्पन्न होता रहे तब उसका नाम कायस्थिति है और यह स्थिति जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्त की मानी गई है, अर्थात् जघन्य स्थिति मे जीव अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् ही पृथिवीकाय से च्यव कर अन्य काय में उत्पन्न हो जाता है और उत्कृष्टता से

वह यदि उसी काय मे जन्म-मरण करता रहे तो असंख्यातकाल-पर्यन्त उसी काय में रह सकता है। इसी अभिप्राय से उक्त गाथा में कहा गया है कि उस काया को न छोड़ता हुआ जीव असख्य कालपर्यंत उसी में जन्म-मरण करता रहता है। इस प्रकार यह पृथिवीकाय के जीवों की सादि सान्तता का निरूपण भवस्थिति और कायस्थिति की अपेक्षा से किया गया है।

अब अन्तर बताते हैं, यथा—

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए, पुढवीजीवाण अंतरं ॥ ८२ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, पृथिवीजीवानामन्तरम् ॥ ८२ ॥

पदार्थान्वयः—अणंतकालं—अनन्त काल, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **जहन्नयं**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त, **विजढंमि**—छोडने पर, **सए**—स्व, **काय**—काया में, **पुढवीजीवाण**—पृथिवीकाय के जीवो का, **अतरं**—अन्तर होता है।

मूलार्थ—स्वकाय की अपेक्षा से पृथिवीकाय के जीवों का जघन्य अन्तर तो अन्तर्मुहूर्त्त का है और उत्कृष्ट अनन्त काल का माना गया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे पृथिवीकाय के जीवो के अन्तर का कथन किया गया है। पृथिवीकाय का जीव मर कर किसी अन्य काय मे चला जाए और वहां से च्यव कर यह उसी काय में आए तो उसके लिए न्यून से न्यून तथा अधिक से अधिक जितना समय लगता है, अर्थात् पृथिवीकाय का जीव फिर जितने समय में वापिस उसी काय में आ सकता है, उसी को स्वकाय अन्तर कहते है, सो इसका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त्त तथा अनन्तकाल बताया गया है।

तात्पर्य यह है कि अपनी पूर्व की त्यागी हुई काया मे फिर से आने के लिए कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त का समय लगता है, अर्थात् इतने समय के पश्चात् ही वह जीव पृथिवीकाय में वापिस आ सकता है और यदि उसको आने मे चिरकाल लगे तो अधिक से अधिक अनन्तकाल व्यतीत हो जाता है, अर्थात् इतने समय के बाद पृथिवीकाय में वापिस आता है। यह पृथिवीकाय के जीवो का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर-मान है। कारण यह कि वनस्पतिकाय में जीव अनन्त-काल तक कायस्थिति करता है, अत. उसी की अपेक्षा से पृथिवीकाय का अन्तर-काल, उत्कृष्टता से अनन्तकाल का माना गया है और मध्यम काल की कल्पना अपनी बुद्धि के द्वारा कर लेनी चाहिए। परन्तु इतना ध्यान रहे कि भव-स्थिति, काय-स्थिति अन्तर-मान इत्यादि सब कुछ स्थिति की अपेक्षा से प्रतिपादन किया गया है और सन्तति अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से तो पृथिवीकाय अनादि एवं अनन्त ही है। किसी काल में इसका सद्भाव न हो, ऐसा नही है।

अब इनका भाव-सापेक्ष्य वर्णन करते हैं, यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ ८३ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥ ८३ ॥

पदार्थान्वयः–**एएसिं**–इन पृथिवी के जीवों के, **वण्णओ**–वर्ण से, **च**–पुनः–एव अवधारण में, **गंधओ**–गन्ध से, **रस-फासओ**–रस और स्पर्श से, **वा**–अथवा, **संठाणादेसओ**–संस्थान के आदेश से, **अवि**–अपि–समुच्चय मे, **सहस्ससो**–सहस्रों, **विहाणाइं**–विधान अर्थात् भेद होते है।

मूलार्थ–पृथिवीकाय के जीवों के वर्ण से, गन्ध से, रस और स्पर्श से, तथा संस्थान के आदेश से सहस्रों भेद होते हैं।

टीका–पूर्वोक्त पृथिवीकाय के जीवों के वर्ण की अपेक्षा, गन्ध की अपेक्षा, रस की अपेक्षा, स्पर्श की अपेक्षा और संस्थान की अपेक्षा से तारतम्य को लेकर सहस्रों भेद हो जाते है, अर्थात् वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान की न्यूनाधिकता से इनके असख्यात भेद हो जाते है, परन्तु उनमे जो मुख्य हैं उनका ही निरूपण ऊपर किया गया है।

अब सूत्रकार अप्काय का निरूपण करते हैं, यथा–

दुविहा आउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ ८४ ॥

द्विविधा अब्जीवास्तु, सूक्ष्मा बादरास्तथा· ।
पर्याप्ता अपर्याप्ता., एवमेव द्विधा पुन· ॥ ८४ ॥

पदार्थान्वयः–**आउजीवा**–अप्काय के जीव, **उ**–पुनः, **दुविहा**–दो प्रकार के है, **सुहुमा**–सूक्ष्म, **तहा**–तथा, **बायरा**–बादर, **पज्जत्त**–पर्याप्त और, **अपज्जत्ता**–अपर्याप्त, **एवमेव**–इसी प्रकार, **पुणो**–फिर, उनके, **दुहा**–दो भेद जानने चाहिए।

मूलार्थ–अप्काय के जीवों के दो भेद हैं–सूक्ष्म और बादर। फिर प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद जानने चाहिएं।

टीका–जिस प्रकार पृथिवीकाय के भेद वर्णन किए गए है उसी प्रकार जलकाय के जीवो के भी मुख्य चार ही भेद है, यथा–सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, अर्थात् १ सूक्ष्म-पर्याप्त, २ सूक्ष्म-अपर्याप्त, ३. बादर-पर्याप्त और ४ बादर-अपर्याप्त।

अब बादर काय के विषय में कहते हैं, यथा–

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया ।
सुद्धोदए य उस्से, हरतणू महिया हिमे ॥ ८५ ॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः ।
शुद्धोदकञ्चावश्यायः, हरतनुर्महिका-हिमम् ॥ ८५ ॥

पदार्थान्वय.–**जे**–जो, **उ**–फिर, **बायरा**–बादर, **पज्जत्ता**–पर्याप्त हैं, **ते**–वे, **पंचहा**–पाच प्रकार के, **पकित्तिया**–कथन किए गए हैं, **सुद्धोदए**–शुद्धोदक–मेघ का जल, **य**–और, **उस्से**–अवश्याय–ओस, **हरतणू**–प्रातःकाल में तृणादि पर दिखाई देने वाले जल-बिन्दु, **महिया**–धुध, **हिमे**–बर्फ।

मूलार्थ—जो बादर पर्याप्त हैं वे पांच प्रकार के कहे गए हैं, यथा—१ मेघ का जल, २. ओस, ३. हरतनु, ४. धूयर अर्थात् धुंध और ५. बर्फ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में पर्याप्त-बादर के पांच भेदो का उल्लेख किया गया है, यथा—१ मेघ का पानी तथा समुद्रादि का जल, २. अवश्याय अर्थात् ओस का पानी, जो शरद्-ऋतु मे प्रातःकाल में सूक्ष्म सी वर्षा हुआ करती है, ३ हरतनु[1] अर्थात् प्रातःकाल स्नेहयुक्त पृथिवी से निकल कर तृण के अग्रभाग में मुक्ता के समान दिखाई देने वाले जलबिन्दु, ४. महिका अर्थात् गर्मी के मासों में जो सूक्ष्म वर्षा होती है उसे महिका कहते हैं, लोक मे उसे धूमर या धुध के नाम से पुकारते है, ५. बर्फ तो प्रसिद्ध ही है।

अब सूक्ष्म अप्काय के विषय में कहते हैं, यथा—

एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥ ८६ ॥

एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः ।
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः ॥ ८६ ॥

पदार्थान्वयः—एगविहं—एक प्रकार का, **अनाणत्ता**—नाना भेदों से रहित, **सुहुमा**—सूक्ष्म, **तत्थ**—उक्त दोनो भेदों में, **वियाहिया**—कहे गए हैं, **सुहुमा**—सूक्ष्म, **सव्वलोगम्मि**—सर्व लोक में हैं, **य**—और, **बायरा**—बादर, **लोगदेसे**—लोक के एक देश मे हैं।

मूलार्थ—सूक्ष्म अप्काय के जीव नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार के हैं, तथा सूक्ष्म अप्काय के जीव सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर अप्काय के जीव लोक के एक देश में स्थित हैं।

टीका—जिस प्रकार बादर अप्काय के पांच भेद ऊपर वर्णन किए गए हैं, उसी प्रकार से सूक्ष्म अप्काय का कोई अवान्तर भेद नहीं है, अर्थात् वह सर्व प्रकार के भेदो से रहित केवल एक ही है। सूक्ष्म अप्काय सर्व-लोक-व्यापी है और बादर अप्काय की स्थिति लोक के एक देश मे है।

अब इसके अनादित्व और सादित्व के विषय में कहते हैं—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ ८७ ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ ८७ ॥

पदार्थान्वयः—संतइं—सन्तति की, **पप्प**—अपेक्षा से, **अणाईया**—अनादि, **य**—और, **अपज्जवसिया**—अपर्यवसित है, **अवि**—तथा, **ठिइं**—स्थिति की, **पडुच्च**—अपेक्षा से, **साईया**—सादि, **सपज्जवसियावि**—सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ—अप्काय सन्तान की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित है और स्थिति की अपेक्षा से

---

१ हरतनु—प्रातः सस्नेहं पृथिव्युद्भवस्तृणाग्रजलबिन्दु. इति बृहद् वृत्तिकारः।

सादि-सपर्यवसित है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में अप्काय का काल-सापेक्ष वर्णन किया गया है। अप्काय प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि-अनन्त है और स्थिति को अपेक्षा से सादि और सान्त है, तात्पर्य यह है कि भव-स्थिति और काय-स्थिति को लेकर वह सादि-सान्त है।

अब इसकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं, यथा–

सत्तेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउठिई आऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ ८८ ॥

सप्तैव सहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत् ।
आयुःस्थितिरपाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥ ८८ ॥

पदार्थान्वयः–**आऊणं**–अप्काय के जीवों की, **उक्कोसिया**–उत्कृष्ट, **आउठिई**–आयु-स्थिति, **सत्तेव सहस्साइ**–सात सहस्र, **वासाण**–वर्षों की, **भवे**–होती है, और, **जहन्निया**–जघन्य स्थिति, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

मूलार्थ–अप्काय के जीवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति सात हजार वर्ष की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

टीका–जलकाय के जीवो का उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक आयुमान सात हजार वर्ष का है और न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त मात्र होता है।

अब काय-स्थिति के विषय में कहते हैं–

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
कायठिई आऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ ८९ ॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।

कायस्थितिरपाम्, तं कायं त्वमुचताम् ॥ ८९ ॥

पदार्थान्वयः–**आऊणं**–अप्काय के जीवों की, **कायठिई**–काय-स्थिति, **तं**–उस, **कायं**–काया को, **अमुंचओ**–न छोड़ते हुओ की, **जहन्नयं**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अंतर्मुहूर्त्त की, **उक्कोसं**–उत्कृष्ट, **असंखकालं**-असख्य काल की है, **तु**–अवधारण में है।

मूलार्थ–अपनी उस कायस्थिति को न छोड़ते हुए अप्काय के जीवों की जघन्य काय-स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट असंख्यात काल की होती है।

टीका–यदि यह आत्मा अप्काय में ही जन्मती और मरती रहे तो उसकी न्यून से न्यून काय-स्थिति अर्थात् अप्काय को छोड़कर दूसरी काय में जाने तक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र है तथा उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक असंख्यात काल पर्यन्त की है। इसके बाद तो उसको अप्काय का परित्याग करके अन्यत्र जाना ही पडेगा, परन्तु मध्यम स्थिति की कोई मर्यादा नहीं है, अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त

के बाद और असंख्यात के भीतर किसी भी समय में वह स्थिति पूरी हो सकती है।

अब इसके अन्तर-मान का वर्णन करते हैं, यथा–

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, आउजीवाण अंतरं ॥ ९० ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, अब्जीवानामन्तरम् ॥ ९० ॥

पदार्थान्वयः–सए काए–स्वकाय के, **विजढम्मि**–छोडने पर, **जहन्नयं**–जघन्य, **अन्तोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त, **उक्कोसं**–उत्कृष्ट, **अणंतकालं**–अनन्तकाल, **आउजीवाण**–अप्काय के जीवो का, **अंतर**–अन्तर-काल कथन किया गया है।

मूलार्थ–स्व-काय के छोड़ने का (फिर वहां आने तक) जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त तथा उत्कृष्ट अनन्तकाल-पर्यन्त अप्काय के जीवों का अन्तर-काल कथन किया गया है।

टीका–यदि अप्काय का जीव अप्काय को छोडकर किसी अन्य काय मे चला जाए और वहां से च्यव कर यदि फिर वह अप्काय मे ही लौट कर आए तो उसको कम से कम और अधिक से अधिक कितना समय लगता है? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं कि उसके लिए न्यून से न्यून अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय अपेक्षित है। सारांश यह है कि अप्काय को छोडकर फिर वही जीव यदि अप्काय मे ही आए तो कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त मे और अधिक से अधिक अनन्तकाल में वापिस आ सकता है।

इसका अभिप्राय यह है कि वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट काय-स्थिति अनन्तकाल की मानी गई है, इसलिए अप्काय को छोडकर वनस्पतिकाय मे गया हुआ जीव अनन्त काल के पश्चात् ही अप्काय मे वापिस आ सकता है, अतः इसका उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल का और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का प्रतिपादन किया गया है। अप्काय की यह काल-सापेक्ष्य सादि-सान्तता प्रतिपादन की गई है। इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ पृथिवीकाय की भांति ही जान लेना चाहिए।

अब इनका भाव-सापेक्ष्य वर्णन करते हैं, यथा–

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ ९१ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥ ९१ ॥

पदार्थान्वयः–एएसिं–इन अप्काय के जीवों के, **वण्णओ**–वर्ण से, **च**–पुनः, **गंधओ**–गन्ध से, **रसफासओ**–रस और स्पर्श से, **वा**–अथवा, **संठाणादेसओ**–संस्थान के आदेश से, **सहस्ससो**–हजारो, **विहाणाइं**–भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ–अप्काय के जीवों के–वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान के आदेश से तारतम्य को लेकर हजारों भेद हो जाते हैं।

टीका—अप्काय के जीवो की व्याख्या वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से असंख्य प्रकार से की जा सकती है, तात्पर्य यह है कि वर्ण, गन्ध, रसादि के तारतम्य को लेकर इनके असख्य और अनन्त भेद किए जा सकते हैं, परन्तु यहां पर तो इनके स्थूल भेदों का प्रदर्शन करना ही अभिप्रेत है।

वनस्पतिकाय निरूपण

अब क्रम-प्राप्त वनस्पतिकाय का निरूपण करते हैं—

दुविहा वणस्सई-जीवा, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ १२ ॥

द्विविधा वनस्पतिजीवाः, सूक्ष्मा बादरास्तथा ।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः ॥ १२ ॥

पदार्थान्वयः—वणस्सईजीवा—वनस्पतिकाय के जीव, **दुविहा**—दो प्रकार के है, **सुहुमा**—सूक्ष्म, **तहा**—तथा, **बायरा**—बादर, **एवमेव**—इसी प्रकार, **पुणो**—फिर, **पज्जत्तं**—पर्याप्त, और **अपज्जत्ता**—अपर्याप्त, ये, **दुहा**—दो भेद प्रत्येक के जानने चाहिएं।

मूलार्थ—वनस्पतिकाय जीव भी सूक्ष्म और बादर भेद से दो प्रकार के हैं तथा उनके भी पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद होते हैं।

टीका—वनस्पतिकाय के भी—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, ये चार भेद है। यथा १ सूक्ष्म वनस्पतिकाय और २. बादर वनस्पतिकाय, इस प्रकार दो भेद हुए। फिर इनके—(क) सूक्ष्म-पर्याप्त-वनस्पतिकाय और (ख) सूक्ष्म-अपर्याप्त-वनस्पतिकाय (ग) बादर-पर्याप्त-वनस्पतिकाय और (घ) बादर-अपर्याप्त-वनस्पतिकाय। इस प्रकार से चार भेद वनस्पतिकाय के हो जाते है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया ।
साहारणसरीरा य, पत्तेगा य तहेव य ॥ १३ ॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः, द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
साधारणशरीराश्च, प्रत्येकाश्च तथैव च ॥ १३ ॥

पदार्थान्वयः—जे—जो, **बायरा**—बादर, **पज्जत्ता**—पर्याप्त हैं, **ते**—वे, **दुविहा**—दो प्रकार के, **वियाहिया**—कथन किए गए हैं, **साहारणसरीरा**—साधारण शरीर, **तहेव**—उसी प्रकार, **पत्तेगा**—प्रत्येक शरीर, **य-य**—ये दोनो पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त हैं।

मूलार्थ—जो जीव पर्याप्त-बादर हैं वे दो प्रकार के कथन किए गए हैं, यथा—साधारण-शरीर और प्रत्येक-शरीर।

टीका—बादर-पर्याप्त-वनस्पतिकाय के साधारण और प्रत्येक ऐसे दो भेद कथन किए गए हैं, अर्थात् एक साधारण शरीर वाली वनस्पति और दूसरी प्रत्येक शरीर वाली वनस्पति होती है।

१. **साधारण**—जिस वनस्पति-काय के एक ही शरीर में अनन्त जीवों का निवास हो उसे साधारण

वनस्पति कहते हैं।

२. **प्रत्येक**–जिसके प्रत्येक शरीर मे प्रत्येक जीव निवास करे वह प्रत्येक-वनस्पति कहलाती है।

अब प्रथम प्रत्येक-नामक वनस्पति का वर्णन करते हैं–

पत्तेगसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया ।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा ॥ ९४ ॥

प्रत्येक-शरीरास्तु, अनेकधा ते प्रकीर्तिता. ।
वृक्षा गुच्छाश्च गुल्माश्च, लता वल्ली तृणानि तथा ॥ ९४ ॥

पदार्थान्वयः–**पत्तेगसरीरा**–प्रत्येक शरीर वाली वनस्पति, **उ**–फिर, **णेगहा**–अनेक प्रकार की, **ते**–वह, **पकित्तिया**–कही गई है, यथा–**रुक्खा**–वृक्ष, **य**–और, **गुच्छा**–गुच्छे, **य**–यथा, **गुम्मा**–गुल्म, **लया**–लता, **वल्ली**–वल्ली, **तहा**–तथा, **तणा**–तृण।

मूलार्थ–प्रत्येक शरीर वाली वनस्पति अनेक प्रकार की कही गई है, यथा–वृक्ष, गुच्छे, गुल्म, लता, वल्ली और तृण आदि।

टीका–प्रत्येक शरीर उस वनस्पति को कहते है कि जिसके शरीर में एक-एक ही जीव हो, अर्थात्–जैसे गुड़ आदि पर चिपके हुए तिलों का समुदाय होता है तद्वत् अनेक शरीरों का समूह रूप जो पिंड होता है उसे प्रत्येक-शरीरी-वनस्पति कहते है, जैसे गज्जक या तिल पपडी आदि।

यह प्रत्येक-वनस्पति अनेक प्रकार की होती है, परन्तु सक्षेप से इसके १२ भेद कहे गए है। जिनमें से ६ तो इस गाथा में कहे गए है और ६ अगली गाथा में बताए जाएंगे। १. **वृक्ष**–आम्रादि, २ **गुच्छ**–वृन्ताकी आदि गुच्छे, ३. **गुल्म**–नवमल्लिका आदि, ४. **लता**–चम्पक आदि लताएं, ५. **वल्ली**–करेला, ककडी आदि की बेलें, ६ **तृण**–दूर्वा आदि घास। इन वृक्षादि प्रत्येक-शरीर में एक-एक जीव रहता है, यथा तिलों के बने हुए मोदक में भिन्न-भिन्न तिल रहते है और प्रत्येक तिल में भिन्न-भिन्न जीव रहता है, परन्तु है वह तिलों का समूहरूप ही, उसी प्रकार यहां भी समझ लेना चाहिए।

अब शेष भेदों का वर्णन करते हैं–

वलया पव्वगा कुहणा, जलरुहा ओसहीतिणा ।
हरियकाया उ बोधव्वा, पत्तेगाइ वियाहिया ॥ ९५ ॥

वलयाः पर्वजाः कुहणाः, जलरुहा औषधितृणानि ।
हरितकायास्तु बौद्धव्याः, प्रत्येका इति व्याख्याताः ॥ ९५ ॥

पदार्थान्वयः–**वलया**–नारिकेलादि, **पव्वगा**–पर्व से उत्पन्न होने वाले ईख आदि, **कुहणा**–भूमि-विस्फोटक–भूमि में से निकलने वाले खुंब आदि, **जलरुहा**–कमल आदि, **ओसहीतिणा**–औषधि-तृण–शालि आदि धान्य, **हरियकाया**–हरितकाय आदि और भी, **बोधव्वा**–जान लेना, **पत्तेगा**–प्रत्येक-शरीरी वनस्पति, **इ**–इस प्रकार से, **वियाहिया**–कही गई है।

मूलार्थ–वलय, पर्वज, कुहुण, जलरुह, औषधितृण और हरितकाय इत्यादि भेद प्रत्येक

वनस्पति के जानने चाहिएं जो कि वर्णन किए गए हैं।

टीका—पूर्व गाथा में प्रत्येक-वनस्पति के ६ भेदों का वर्णन किया जा चुका है। अब शेष ६ भेद इस गाथा मे बताए गए हैं, जैसे कि—७ **वलय**—नारिकेल—नारियल और कदली आदि को वलय कहते हैं, कारण यह है कि इनमें शाखान्तर नहीं होता किन्तु त्वचा का वलयाकार होने से ये वलय कहलाते हैं। ८. **पर्वज**—संधियों से उत्पन्न होने वाले ईख और बांस आदि को पर्वज कहते है। ९. **कुहण**—कु शब्द का अर्थ है पृथ्वी, उसको हण अर्थात् भेदन करके उत्पन्न होने वाले छत्राकार जैसे (खुब आदि) कुहण कहलाते है। १० **जलरुह**—जल से उत्पन्न होने वाले कमल आदि। ११. **औषधि**-तृण—पके हुए शाल्यादि धान्य। १२ **हरितकाय**—चुलाई आदि शाक का हरितकाय में समावेश है। इत्यादि अनेक भेद प्रत्येक-वनस्पति के कथन किए गए हैं, जिसके मुख्य भेद ऊपर बता दिए गए है।

अब साधारण वनस्पतिकाय का वर्णन करते हैं, यथा—

साहारणसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया ।
आलुए मूलए चेव, सिंगबेरे तहेव य ॥ ९६ ॥

साधारणशरीरास्तु, अनेकधा ते प्रकीर्तिताः ।
आलुको मूलकश्चैव, श्रृङ्गबेरं तथैव च ॥ ९६ ॥

पदार्थान्वयः—**साहारणसरीरा**—साधारण शरीर, **उ**—भी, **णेगहा**—अनेक प्रकार से, **ते**—वे, **पकित्तिया**—कथन किए गए है, **आलुए**—आलू, **च**—और, **मूलए**—मूलक, **तहेव**—उसी प्रकार, **सिंगबेरे**—आर्द्रक अर्थात् अदरक, **एव च**—पादपूर्ति मे।

मूलार्थ—साधारण शरीर का भी अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, यथा—आलुक अर्थात् आलू, मूलक अर्थात् मूली और श्रृंगबेर अर्थात् अदरक आदि।

टीका—जहां पर एक शरीर मे अनन्त जीव निवास करते हों उसे साधारण शरीर कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि उन जीवों का श्वासोच्छ्वास और आहार आदि सर्व-साधारण होता है। साधारण वनस्पति के भी अनेक भेद हैं। इनमें आलू, मूली और अदरक आदि कन्द-मूल तो प्राय· प्रसिद्ध ही है, तथा अन्य कन्द-मूलादि के नाम भी देश-भेद से विभिन्न देश-भाषाओं से जान लेने चाहिएं। सारांश यह है कि जितने भी कन्द-मूल हैं वे सब के सब साधारण वनस्पति के अन्तर्गत आ जाते हैं।

अब कतिपय कन्द-मूल के नामों का निर्देश करते हैं, यथा—

हरिली सिरिली सिस्सिरिली, जावईकेय कंदली ।
पलंडुलसणकंदे य, कंदली य कुहुव्वए ॥ ९७ ॥

लोहिणी हूयथी हूय, कुहगा य तहेव य ।
कण्हे य वज्जकंदे य, कंदे सूरणए तहा ॥ ९८ ॥

अस्सकण्णी य बोधव्वा, सीहकण्णी तहेव य ।
मुसुंढी य हलिद्दा य, णेगहा एवमायओ ॥ ९९ ॥

हरिली सिरिली सिस्सिरिली, यावतिकश्च कन्दली ।
पलाण्डुलशुनकन्दश्च, कन्दली च कुहुव्रतः ॥ ९७ ॥

लोहनी हुताक्षी हुतकन्दः, कुहकश्च तथैव च ।
कृष्णश्च वज्रकन्दश्च, कन्दः सूरणकस्तथा ॥ ९८ ॥

अश्वकर्णी च बोद्धव्या, सिंहकर्णी तथैव च ।
मुसुण्ढी व हरिद्रा च, अनेकधा एवमादिका ॥ ९९ ॥

पदार्थान्वयः–हरिली–हरिली कन्द, **सिरिली**–सिरिली कन्द, **सिस्सिरिली**–सिस्सिरीली कन्द, **जावईके**–यावतिक कन्द, **कंदली**–कन्दली कन्द, **पलंडु**–पलाडु कन्द–प्याज, **लसणकंदे**–लशुन कन्द, (थोम-लसण) **कन्दली य कुहुव्वए**–कुहुव्रत, कदली कन्द, **लोहिणी**–लोहिनी कन्द, **हूयथी**–हुताक्षी कन्द, **हूय**–हूतकन्द, **य**–तथा, **तहेव**–उसी प्रकार, **कुहगा**–कुहक कन्द, **य**–और, **कण्हे**–कृष्णकन्द, **य**–तथा, **वज्ज कंदे**–वज्र कन्द, **तहा**–तथा, **सूरणए**–सूरण कन्द–जिमींकन्द, **अस्सकण्णी**–अश्वकर्णी कन्द, **य**–तथा, **मुसुंढी**–मुसुंढीकन्द, **य**–और, **हलिद्दा**–हरिद्राकन्द, **एवमायओ**–इत्यादि, **णेगहा**–अनेक प्रकार की साधारण वनस्पति है।

मूलार्थ–हरिली, सिरिली, सिस्सिरीली, यावतिक, कन्दली, पलांडु, लशुन, कुहुव्रत, लोहिनी, हुताक्षी, हूत, कृष्ण, वज्र और सूरणकन्द तथा अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंढी और हरिद्रा कन्द इत्यादि अनेक प्रकार की साधारण वनस्पतियां कही गई हैं।

टीका–इन तीनो गाथाओं में साधारण वनस्पति के अन्तर्गत आने वाले अनेक प्रकार के कन्दों के नाम निर्दिष्ट किए गए हैं। उनमें कुछ तो प्रसिद्ध है और कुछ अप्रसिद्ध हैं।

जितने भी नाम ऊपर आ चुके हैं उन सबका विवरण-पूर्वक ज्ञान, वैद्यक-निघटु से तथा देश-विदेश की भाषाओ द्वारा ही हो सकता है। ये सब प्रकार के कन्द और मूल अनन्तकाय कहलाते हैं। जो तोडने पर चक्राकार में टूटे उसे अनन्त-काय कहते हैं। अनन्तकाय का अन्यत्र यह भी लक्षण बताया गया है कि–

समभागं भज्यमानस्य, ग्रन्थिश्चूर्णघनो भवेत् ।
पृथ्वीसदृशेन भेदेन, अनन्तकायं विजानीहि ॥ १ ॥

गूढशिराक पत्रं, सक्षीरं यच्च भवति निःक्षीरम् ।
यद्यपि प्रणष्टसन्धिम्, अनन्तजीवं विजानीहि ॥ २ ॥

जिसका समविभाजन करने पर गोली चूर्ण एक जैसा बन सकता है जो पृथ्वी के अन्दर ही पृथ्वी का अग बनकर विकसित होता हो उसे अनन्तकाय कहते हैं।

जिस वनस्पति के अन्दर रेशे और पत्ते न हों, जो दूध वाली भी होती है और दूधरहित भी होती है जिसमें कोई जोड, गाठ या बीज नहीं होता उसे अनन्त जीव वनस्पति कहते है।

पनक अर्थात् उल्ली–के जीव भी सामान्य रूप से वनस्पतिकाय में ही परिगणित किए गए हैं।

अब सूक्ष्म वनस्पति को भेद-शून्य बताते हुए साथ में वनस्पतिकाय का क्षेत्र-सापेक्ष्य

वर्णन करते हैं, यथा–

एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥ १०० ॥

एकविधा अनानात्वा., सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः ।
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः ॥ १०० ॥

पदार्थान्वयः–**सुहुमा**–सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव, **अनाणत्ता**–नाना प्रकार के भेदो से रहित केवल, **एगविहं**–एक ही प्रकार के, **वियाहिया**–कथन किए गए है और, **तत्थ**–इन दोनों में, **सुहुमा**–सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव, **सव्वलोगम्मि**–सर्व लोक में व्याप्त हैं, **य**–और, **बायरा**–बादर-वनस्पति के जीव, **लोगदेसे**–लोक के एक देश में है।

मूलार्थ–सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार के हैं तथा सूक्ष्म जीव तो सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर अर्थात् स्थूल जीव लोक के विशेष भागों में स्थित हैं।

टीका–सूक्ष्म वनस्पतिकाय का अवान्तर भेद कोई नहीं है। वह केवल एक ही प्रकार का माना गया है तथा उसकी व्याप्ति सारे लोक मे है और स्थूल वनस्पति की स्थिति लोक के एक देश मे है।

अब काल की अपेक्षा से वनस्पतिकाय का वर्णन करते हैं–

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १०१ ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ १०१ ॥

पदार्थान्वयः–**संतइं**–संतति की, **पप्प**–अपेक्षा से, **अणाईया**–अनादि, **य**–और, **अपज्जवसिया**–अपर्यवसित, **अवि**–भी है, **ठिइं**–स्थिति की, **पडुच्च**–अपेक्षा से, **साईया**–सादि, **य**–और, **सपज्जवसियावि**–सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ–संतति अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से वनस्पतिकाय अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त माने गए हैं।

टीका–यदि प्रवाह की ओर दृष्टि डालें तब तो वनस्पतिकाय आदि और अन्त दोनो से रहित है, अर्थात् न तो उसकी आदि उपलब्ध होती है न उसका अन्त ही दृष्टिगोचर होता है, परन्तु जब इसकी स्थिति की ओर ध्यान करें तब इसकी आदि और अन्त दोनों ही मानने पड़ते है, इसलिए दृष्टि-भेद से वनस्पतिकाय मे अनादि-अनन्तता और सादि-सान्तता दोनों ही स्वीकार किए गए है।

अब इसकी स्थिति का वर्णन करते हैं, यथा–

दस चेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे !
वणस्सईणं आउं तु, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १०२ ॥

दश चैव सहस्त्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत् ।
वनस्पतीनामायुस्तु, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥ १०२ ॥

पदार्थान्वयः–**दस**–दस, **सहस्साइं**–हजार, **वासाण**–वर्षो की, **उक्कोसिया**–उत्कृष्ट, **आउं**–आयु, **वणस्सईणं**–वनस्पति के जीवो की, **भवे**–होती है, **तु**–फिर, **जहन्नयं**–जघन्य आयु, **अंतोमुहुत्त**–अन्तर्मुहूर्त्त की होती है, **च-एव**–पादपूर्ति में हैं।

मूलार्थ–वनस्पतिकाय के जीवों की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की होती है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की स्वीकार की गई है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में वनस्पतिकाय के जीवों का उत्कृष्ट और जघन्य आयु-मान बताया गया है, परन्तु यह आयुमान प्रत्येक वनस्पति का है, अर्थात् प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीवों की ही उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है, परन्तु जो साधारण वनस्पति है उसकी तो उत्कृष्ट और जघन्य दोनो प्रकार की आयु केवल अन्तर्मुहूर्त्त की ही मानी गई है। इस प्रकार आयुस्थिति की अपेक्षा से वनस्पतिकाय की यहां सादि-सान्तता प्रमाणित की गई है।

अब काय-स्थिति का वर्णन करते हैं–

अणंतकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई पणगाणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १०३ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
कायस्थिति. पनकाना, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥ १०३ ॥

पदार्थान्वयः–**अणंतकालं**–अनंतकाल, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर् मुहूर्त्त, **जहन्निया**–जघन्य, **कायठिई**–कायस्थिति, **पणगाण**–वनस्पति के जीवों की है, **तं कायं**–उस काया को, **तु**–फिर, **अमुंचओ**–न छोड़ते हुओं की।

मूलार्थ–उस काया को न छोड़ते हुए वनस्पति के जीवों की काय-स्थिति उत्कृष्ट अनन्त काल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

टीका–यदि वनस्पतिकाय का जीव वनस्पतिकाय में ही जन्मता और मरता रहे तो वह कम से कम और अधिक से अधिक कितने समय तक जन्म-मरण करता रहेगा, अर्थात् अपनी काया को छोडकर अन्य काया मे प्रविष्ट होने के लिए उसको कम से कम और अधिक से अधिक कितना समय अपेक्षित है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि वनस्पतिकाय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट अनन्तकाल की है, अर्थात् न्यून से न्यून तो अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् और अधिक से अधिक अनन्तकाल के बाद वह स्व-काय को छोडकर अन्य काय मे जाता है।

यह काय-स्थिति सामान्य प्रकार से पनक-जीवों की कही गई है जो कि निगोद के जीवो की अपेक्षा से सिद्ध होती है तथा यदि विशेषता से देखा जाए तो प्रत्येक-वनस्पति और बादर तथा सूक्ष्म निगोद, इन सबकी काय-स्थिति असख्यातकाल की होती है। यथा–

बादर-प्रत्येक-वनस्पतिकाय के जीवों की कायस्थिति जघन्यरूप से अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और उत्कृष्ट रूप से ७० कोटा-कोटी सागरोपम की है तथा निगोद के जीवों की जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट

असंख्यात काल की है।

बादर निगोद की काय-स्थिति जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त मात्र की ही है, किन्तु उत्कृष्ट स्थिति उसकी भी ७० कोटाकोटी सागरोपम की ही मानी गई है, परन्तु सूक्ष्म निगोद की उत्कृष्ट स्थिति असख्यात काल की ही है।

तात्पर्य यह है कि जघन्य स्थिति तो इन सब की समान ही है, परन्तु उत्कृष्ट स्थिति मे ऊपर लिखा अन्तर है, इसलिए सूत्रकार ने जो अनन्त काल की उत्कृष्ट स्थिति कही है वह सामान्यतया पनक-जीवों की ही है।

इस प्रकार सामान्यरूप से वनस्पतिकाय के जीवों की काय-स्थिति का वर्णन करने के अनंतर अब उसका अन्तर बताते हैं, यथा—

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, पणगजीवाण अंतरं ॥ १०४ ॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, पनकजीवानामन्तरम् ॥ १०४ ॥

पदार्थान्वयः—**पणगजीवाण**—पनक-जीवो के, **सए काए**—स्वकाय के, **विजढम्मि**—छोडने पर, **जहन्नयं**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त, और, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **असंखकाल**—असंख्यातकाल का, **अंतरं**—अन्तर होता है।

मूलार्थ—वनस्पतिकाय के जीवों का स्वकाय के छोड़ने पर जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और उत्कृष्ट असंख्यातकाल तक का है।

टीका—वनस्पतिकाय का जीव वनस्पतिकाय को छोडकर अन्यत्र गया हुआ, पुन. वनस्पतिकाय मे कितने समय के बाद आ सकता है? इसके समाधान मे यह कहा गया है उत्कृष्ट असंख्य काल और जघन्य अन्तर्मुहूर्त के बाद वह वापिस आ सकता है।

तात्पर्य यह है कि पृथिवीकाय आदि की उत्कृष्ट काय-स्थिति असंख्यात काल की कही गई है, तदनुसार वनस्पतिकाय से निकलकर जीव यदि अन्य काय मे रहे तो उसकी उत्कृष्ट स्थिति भी असख्यात काल की ही होती है, अर्थात् वह अधिक से अधिक असंख्यात काल तक वहा रह सकता है। इसके पश्चात् वह वनस्पतिकाय मे वापिस आ सकता है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १०५ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥ १०५ ॥

पदार्थान्वयः—**एएसिं**—इन जीवों के, **वण्णओ**—वर्ण से, **गंधओ**—गन्ध से, **च**—और, **रसफासओ**—रस

और स्पर्श से, **वा**–तथा, **संठाणादेसओ**–संस्थान के आदेश से, **अवि**–समुच्चयार्थक है, **सहस्ससो**–हजारों, **विहाणाइं**–विधान अर्थात् भेद होते हैं।

मूलार्थ–वनस्पतिकाय के जीवों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान के आदेश से हजारों अवान्तर भेद होते हैं।

टीका–वनस्पतिकाय के पूर्वोक्त जितने अवान्तर भेद बताए गए हैं उनका यदि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादि के तारतम्य से विचार करे तो उनके हजारो भेद हो जाते है, परन्तु यहां पर तो उनका सामान्यरूप से निर्देशमात्र ही किया गया है।

त्रसकाय-निरूपण

इस प्रकार स्थावर जीवों का निरूपण करके अब त्रस जीवों का वर्णन करते हैं–

इच्चेए थावरा तिविहा, समासेण वियाहिया ।
इत्तो उ तसे तिविहे, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥ १०६ ॥

इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः, समासेन व्याख्याताः ।
इतस्तु त्रसान् त्रिविधान्, वक्ष्याम्यानुपूर्व्या ॥ १०६ ॥

पदार्थान्वयः–**इच्चेए**–इस प्रकार यह, **तिविहा**–तीन प्रकार के, **थावरा**–स्थावर, **समासेण**–संक्षेप से, **वियाहिया**–वर्णन किए गए है, **इत्तो**–इससे आगे, **उ**–पुनः, **तिविहे**–तीन प्रकार के, **तसे**–त्रसो के भेदो को, **अणुपुव्वसो**–अनुक्रम से, **वुच्छामि**–कहूंगा।

मूलार्थ–हे शिष्य ! इस प्रकार से यह तीनों स्थावरों का संक्षेप से वर्णन किया गया है, अब इसके आगे मैं तीन प्रकार के त्रसों को अनुक्रम से कहूंगा।

टीका–आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! पृथिवी, जल और वनस्पति रूप तीनों स्थावरों का तो यह सक्षेप से स्वरूप वर्णन कर दिया गया है, अब इसके अनन्तर मै तीन प्रकार के त्रसो के स्वरूप का वर्णन करता हूं, तुम सावधान होकर श्रवण करो।

अब त्रसों के विषय में ही कहते हैं, यथा–

तेऊ वाऊ य बोधव्वा, उराला य तसा तहा ।
इच्चेए तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १०७ ॥

तेजांसि वायवश्च बोद्धव्याः, उदाराश्च त्रसास्तथा ।
इत्येते त्रसास्त्रिविधाः, तेषां भेदान् श्रृणुत मे ॥ १०७ ॥

पदार्थान्वयः–**तेऊ**–तेजस्काय, **वाऊ**–वायुकाय, **य**–और, **उराला**–प्रधान, **तहा**–तथा, **तसा**–त्रसकाय, **इच्चेए**–इस प्रकार यह, **तिविहा**–तीन प्रकार के, **तसा**–त्रस है, **तेसिं**–उनके, **भेए**–भेदो को, **मे**–मुझसे, **सुणेह**–श्रवण करो।

मूलार्थ–हे शिष्यो ! अग्निकाय, वायुकाय और प्रधान त्रस, ये तीन प्रकार के त्रस जीव हैं, अब तुम इनके उत्तर भेदों को मुझसे श्रवण करो।

टीका—आचार्य कहते हैं कि त्रसों के भी तीन भेद हैं—अग्निकाय, वायुकाय और प्रधान त्रस अर्थात् एकेन्द्रिय की अपेक्षा से प्रधान अर्थात् उत्कृष्ट जो कि त्रस-नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न होते है।

तात्पर्य यह है कि अग्नि, वायु और द्वीन्द्रियादि ये तीनों त्रस जीव माने जाते हैं, यहा शिष्य के लिए श्रवण करने का जो आदेश है उसका तात्पर्य एकाग्रचित्त से विषय के अवधारण के लिए है, अर्थात् इस विषय को एकाग्रचित्त से श्रवण करना चाहिए।

यद्यपि तेज अर्थात् अग्नि और वायु ये दोनों भी स्थावर-नाम-कर्मोदय से उत्पन्न होने के कारण स्थावरो की ही गणना में आते है, तथापि गति करने वाले अर्थात् एक देश से दूसरे प्रदेश मे जाने वाले जीव को त्रस कहते है। **'त्रस्यन्ति—देशाद्देशान्तरं संक्रामन्ति—इति त्रसाः'** इस मान्यता के अनुसार अग्नि और वायु को स्थावर न मानकर त्रस ही माना गया है।

आगम मे दो प्रकार के त्रस माने गए हैं, एक गतित्रस, दूसरे लब्धित्रस। लब्धित्रस तो द्वीद्रियादि जीव है और गतित्रस अग्नि एवं वायु को माना गया है, क्योंकि इनकी गति प्रत्यक्षसिद्ध है, अर्थात् अग्निज्वाला का ऊर्ध्व-गमन और वायु का तिर्यग्गमन, चक्षु और स्पर्श इन्द्रिय से प्रत्यक्ष ही है।

शंका—जल मे भी तो गति है, अर्थात् वह भी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे गमन करता हुआ देखा जाता है, फिर जल को त्रस क्यो नहीं माना गया ?

समाधान—जल की गति में स्वतन्त्रता नही है, वह तो केवल निम्न स्थान की ओर गमन करता है और उसको यदि किसी घटादि-यन्त्र मे रख दिया जाए तो वहा उसकी गति निरुद्ध हो जाती है, परन्तु अग्नि और वायु में ऐसा नहीं है। अग्नि अथवा वायु किसी स्थान पर भी क्यो न हो उनमे गति बराबर होती रहती है, अर्थात् अग्नि-शिखा की ऊर्ध्व और वायु की तिर्यग्गति मे कोई प्रतिबन्धक या प्रेरक नही हो सकता, इसलिए इनको गति-त्रस के भेद मे परिगणित किया गया है।

अब तेजस्काय के सम्बन्ध में कहते हैं—

दुविहा तेऊजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ १०८ ॥

द्विविधास्तेजोजीवास्तु, सूक्ष्मा बादरास्तथा ।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः ॥ १०८ ॥

पदार्थान्वय.—दुविहा—दो प्रकार के, **तेऊ**—तेजस्काय के, **जीवा**—जीव हैं, **उ**—फिर, **सुहुमा**—सूक्ष्म, **तहा**—तथा, **बायरा**—बादर, **एवमेव**—उसी प्रकार, **पुणो**—फिर, **दुहा**—दो प्रकार के हैं, **पज्जत्तमपज्जत्ता**—पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से।

मूलार्थ—तेजस्काय के सूक्ष्म और बादर ये दो भेद हैं, तथा ये दोनों भी पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से दो-दो प्रकार के कथन किए गए हैं।

टीका—तेजस्काय के कुल चार भेद है—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त अर्थात् सूक्ष्म-पर्याप्त, सूक्ष्म-अपर्याप्त, बादर-पर्याप्त और बादर-अपर्याप्त। इस प्रकार से चार भेद तेजस्काय के हो जाते हैं।

अब बादर के उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं, यथा–

बायरा जे उ पज्जत्ता, णेगहा ते वियाहिया ।
इंगाले मुम्मुरे अगणी, अच्चिजाला तहेव य ॥ १०९ ॥
उक्का विज्जू य बोधव्वा, णेगहा एवमायओ ।

बादरा ये तु पर्याप्ताः, अनेकधा ते व्याख्याताः ।
अङ्गारो मुर्मुरोऽग्निः, अर्चिर्ज्वाला तथैव च ॥ १०९ ॥
उल्का विद्युच्च बोद्धव्याः, अनेकधा एवमादिकाः ।

पदार्थान्वयः–**जे**–जो, **उ**–फिर, **बायरा**–बादर, **पज्जत्ता**–पर्याप्त-अग्निकाय के जीव है, **ते**–वे, **णेगहा**–अनेक प्रकार से, **वियाहिया**–वर्णन किए गए है, **इंगाले**–अगार–निर्धूम अग्निखण्ड, **मुम्मुरे**–भस्ममिश्रित अग्निकण, **अगणी**–सामान्य अग्नि, **अच्चि**–मूलसहित अग्निशिखा, **जाला**–ज्वाला–मूलरहित अग्निशिखा, **य**–और, **तहेव**–उसी प्रकार, **उक्का**–उल्का, **य**–और, **विज्जू**–विद्युत, **एवमायओ**–इत्यादि, **णेगहा**–अनेक प्रकार की, **बोधव्वा**–जानना।

मूलार्थ–बादर-पर्याप्त अग्नि अनेक प्रकार की वर्णन की गई है। यथा–अगार, मुर्मुर अर्थात् चिनगारियां, अग्नि, दीपशिखा, मूलप्रतिबद्धशिखा, छिन्न-मूलशिखा, उल्का और विद्युत् इत्यादि तेजस्काय के अनेक भेद कहे गए हैं।

टीका–प्रस्तुत सार्द्ध गाथा में अग्निकाय के अवान्तर भेदों का वर्णन किया गया है।

अंगारक–धूमरहित अग्निखड (जलते कोयले) को अगारक या अगार कहते है। **मुर्मुर**–भस्मयुक्त अग्नि-कणों का नाम है। **अग्नि**–प्रसिद्ध ही है। **ज्वाला**–अग्निशिखा या दीपशिखा आदि। **अर्चि**–विच्छिन्नमूल अथवा मूलबद्ध अग्निशिखा। **उल्का**–तारों की तरह पतित होने वाली आकाशाग्नि। **विद्युत्**–बिजली इत्यादि अनेक भेद अग्नि के कहे गए हैं।

अब सूक्ष्म अग्निकाय के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा–

एगविहमनाणत्ता, सुहुमा ते वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥ ११० ॥

एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्ते व्याख्याताः ।
सूक्ष्माः सर्वलोके, लोकदेशे च बादराः ॥ ११० ॥

पदार्थान्वयः–**एगविहं**–एक प्रकार का, **अनाणत्ता**–नाना प्रकार के भेदों से रहित, **सुहुमा**–सूक्ष्म अग्निकाय के जीव, **ते**–वे, **वियाहिया**–वर्णन किए गए है। **सुहुमा**–सूक्ष्म, **सव्वलोगम्मि**–सर्व लोक में व्याप्त हैं, **य**–और, **लोगदेसे**–लोक के एक देश में, **बायरा**–बादर-अग्नि स्थित हैं।

मूलार्थ–सूक्ष्म अग्निकाय के जीव नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार के होते हैं तथा वे सूक्ष्म जीव तो सर्व लोक में व्याप्त हैं और बादर अर्थात् स्थूल जीव लोक के एक देश अर्थात् किसी भागविशेष में स्थित हैं।

टीका—सूक्ष्म अग्निकाय का कोई विशेष भेद नहीं है, किन्तु वह एक ही प्रकार का माना गया है।

अब इनके काल-विभाग के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं, यथा—

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ १११ ॥

इतः कालविभागं तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥ १११ ॥

पदार्थान्वयः—**इत्तो**—इससे आगे, **तु**—फिर, **तेसिं**—उनके, **कालविभागं**—कालविभाग को, **चउव्विहं**—चार प्रकार से, **वुच्छं**—कहूगा।

मूलार्थ—अब इससे आगे उन जीवों के चार प्रकार के काल-विभाग को मैं कहूंगा।

टीका—प्रस्तुत अर्द्धगाथा में अग्निकाय के जीवो के काल-सम्बन्धी चतुर्विध विभाग के वर्णन की प्रतिज्ञा का उल्लेख किया गया है।

अब शास्त्रकार उसी चतुर्विध विभाग का वर्णन करते हैं, यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ ११२ ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ ११२ ॥

पदार्थान्वयः—**संतइं**—सन्तति की, **पप्प**—अपेक्षा से, **अणाईया**—अनादि, **य**—और, **अपज्जवसियावि**—अपर्यवसित भी है, परन्तु, **ठिइं**—स्थिति की, **पडुच्च**—अपेक्षा से, **साईया**—सादि, **य**—और, **सपज्जवसियावि**—सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ—सन्तान अर्थात् प्रवाह की दृष्टि से अग्निकाय के जीव अनादि और अनन्त है, परन्तु स्थिति की अपेक्षा से वे सादि और सान्त भी कहे गये हैं।

टीका—प्रवाह की दृष्टि से अग्निकाय के जीव अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से वे सादि-सान्त माने गए है।

अब इनकी स्थिति का निरूपण करते है—

तिण्णेव अहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई तेऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ ११३ ॥

त्रीण्येवाहोरात्राणि, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
आयुः स्थितिस्तेजसाम् अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥ ११३ ॥

पदार्थान्वयः—**तिण्णेव**—तीन ही, **अहोरत्ता**—अहोरात्र की, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **तेऊणं**—तेजस्काय के जीवों की, **आउठिई**—आयुस्थिति, **वियाहिया**—वर्णन की गई है, **जहन्निया**—जघन्य स्थिति, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त की बतलाई गई है।

मूलार्थ—अग्निकाय के जीवों की जघन्य आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन अहोरात्र की बताई गई है।

टीका—इस गाथा मे अग्निकाय के जीवों की आयु-स्थिति का वर्णन किया गया है। अग्निकाय के जीवो की उत्कृष्ट आयु तीन अहोरात्र की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। तात्पर्य यह है कि अग्निकाय का जीव अधिक से अधिक तीन दिन और तीन रात्रि तक तथा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्तमात्र भवस्थिति कर सकता है।

अब इनकी कायस्थिति बताते हैं, यथा—

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई तेऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ ११४ ॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
कायस्थितिस्तेजसाम्, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥ ११४ ॥

पदार्थान्वयः—**तं कायं**—उस काय को, **तु**—फिर, **अमुंचओ**—न छोड़ते हुए, **तेऊणं**—तेजस्काय के जीवो की, **कायठिई**—कायस्थिति, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट, **असंखकालं**—असंख्यातकाल की—और, **जहन्निया**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

मूलार्थ—अपनी काया को न छोड़ते हुए अग्निकाय के जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की होती है, अर्थात् इतना समय वह जीव उसी काय मे जन्मता और मरता रहता है।

टीका—अग्निकाय का जीव यदि अग्निकाय में ही जन्म मरण करता रहे तो उसकी यह अवस्था कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक असख्यकाल-पर्यन्त है। इसके बाद वह दूसरी काया में चला जाता है, इसी का नाम कायस्थिति है। यह स्थिति की अपेक्षा से अग्निकाय की सादि-सान्तता कथन की गई है।

अब अन्तर के विषय में कहते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, तेऊजीवाण अंतरं ॥ ११५ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, तेजोजीवानामन्तरम् ॥ ११५ ॥

पदार्थान्वयः—**तेऊजीवाण**—तेजस्काय के जीवो के, **सए काए**—स्वकाय को, **विजढम्मि**—छोडने पर, **जहन्नयं**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त और, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **अणंतकालं**—अनन्तकाल का, **अंतरं**—अन्तर हो जाता है।

मूलार्थ—अग्निकाय के जीवों का स्वकाय के छोड़ने से लेकर पुनः स्वकाय में आने तक, जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्तमात्र का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का अपेक्षित है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में अग्निकाय के जीव को अपनी त्यागी हुई काया मे फिर से आने के लिए कम से कम और अधिक से अधिक जितना समय लगता है उस समय का निर्देश किया गया है। वह समय जघन्य अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट अनन्त काल का है, यही इसका अन्तर-काल है। दो समयो से अधिक और एक घड़ी से कम समय को अन्तर्मुहूर्त कहते है।

अब प्रकारान्तर से इसके अवान्तर भेदों का निरूपण करते हैं—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ ११६ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वाऽपि, विधानानि सहस्रशः ॥ ११६ ॥

पदार्थान्वयः—**एएसिं**—इन अग्निकाय के जीवो के, **वण्णओ**—वर्ण से, **च**—और, **गंधओ**—गन्ध से, **रसफासओ**—रस और स्पर्श से, **वा**—तथा, **संठाणादेसओ**—संस्थान के आदेश से, **सहस्ससो**—हजारो, **विहाणाइं**—भेद होते हैं, **एव-अवि**—समुच्चय में है।

मूलार्थ—अग्निकाय जीव के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान के आदेश से तारतम्य की दृष्टि से हजारो नाना प्रकार के अवान्तर भेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण, गन्ध और रसादि के तारतम्य से अग्निकाय के जीवो के हज़ारो उपभेद बन जाते है।

वायु-काय-निरूपण

इस प्रकार अग्निकाय का निरूपण करने के अनन्तर अब वायुकाय के विषय में कहते हैं, यथा—

दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ ११७ ॥

द्विविधा वायुजीवास्तु, सूक्ष्मा बादरास्तथा ।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, एवमेते द्विधा पुनः ॥ ११७ ॥

पदार्थान्वयः—**दुविहा**—दो प्रकार के, **वाउजीवा**—वायुकाय के जीव हैं, **सुहुमा**—सूक्ष्म, **तहा**—तथा, **बायरा**—बादर, **उ**—पुनः, **पज्जत्तमपज्जत्ता**—पर्याप्त और अपर्याप्त, **एवमेव**—इसी प्रकार से, **पुणो**—फिर, **दुहा**—दो प्रकार के हैं।

मूलार्थ—वायुकाय के दो भेद हैं सूक्ष्म और बादर, फिर इनमे भी प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो भेद हैं।

टीका—वायुकाय के चार भेद हैं—सूक्ष्म-पर्याप्त, सूक्ष्म-अपर्याप्त, बादर-पर्याप्त और बादर-अपर्याप्त।

अब इनके उत्तर भेदों का वर्णन करते हैं—

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया ।
उक्कलिया मंडलिया, घणगुंजा सुद्धवाया य ॥ ११८ ॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः, पञ्चधा ते प्रकीर्तिताः ।
उत्कलिका मण्डलिका, घनगुञ्जाः शुद्धवाताश्च ॥ ११८ ॥

पदार्थान्वयः—**बायरा**—बादर, **जे**—जो, **पज्जत्ता**—पर्याप्त हैं, उ—फिर, **ते**—वे, **पंचहा**—पांच प्रकार के, **पकित्तिया**—कथन किए गए हैं, **उक्कलिया**—उत्कलिक—ठहर-ठहर कर चलने वाली वायु, **मंडलिया**—माडलिक—बातोली रूप वायु, **घण**—घनवायु—रत्नप्रभा आदि के नीचे की, **गुंजा**—गुंजा वायु अर्थात् गुजार शब्द करने वाली, **य**—और, **सुद्धवाया**—शुद्ध वायु।

मूलार्थ—बादर-पर्याप्त वायु पांच प्रकार की कही गई है—उत्कलिका वायु, मंडलिका वायु, घन वायु, गुंजा वायु और शुद्ध वायु तथा इसके और भेद भी उपलक्षण से जान लेने चाहिएं।

टीका—बादर-पर्याप्त वायु के पांच भेद हैं। यथा—

१. **उत्कलिका वायु**—जो ठहर-ठहर कर चले।

२ **मंडलिका वायु**—जो चक्र खाती हुई चले।

३. **घन वायु**—रत्नप्रभा आदि पृथिवी के नीचे अथवा विमानों के नीचे की घनरूप वायु।

४ **गुंजा वायु**—जो चलती हुई ध्वनि करे।

५ **शुद्ध वायु**—जो कि उक्त गुणो से रहित और मन्द-मन्द चलने वाली होती है, उसे शुद्ध वायु कहते हैं।

इन भेदो के अतिरिक्त तारतम्य को लेकर वायु के और बहुत से उपभेद हो सकते है, परन्तु सक्षेप से मुख्य भेद तो उक्त पांच ही है।

अब फिर कहते हैं—

संवट्टगवाया य, णेगहा एवमायओ।
एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥ ११९ ॥

संवर्तकवायवश्च, अनेकधा एवमादय. ।
एकविधा अनानात्वाः, सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः ॥ ११९ ॥

पदार्थान्वयः—**संवट्टग**—संवर्त वायु अर्थात् जो बाहर के क्षेत्र से तृणादि को लाकर विवक्षित क्षेत्र मे फैंकती है, **एवमायओ**—इत्यादि, **णेगहा**—अनेक भेद वायु के हैं, **अनाणत्ता**—नाना प्रकार के भेदो से रहित, **एगविहं**—केवल एक ही प्रकार से, **तत्थ**—सूक्ष्म और बादर वायु मे, **सुहुमा**—सूक्ष्म वायु, **वियाहिया**—कथन की गई है।

मूलार्थ—पूर्वोक्त भेदों के अतिरिक्त संवर्तक वायु इत्यादि वायु के अनेक भेद कहे गए हैं, सूक्ष्म वायु नाना प्रकार के भेदों से रहित केवल एक ही प्रकार की कही गई है।

टीका—प्रस्तुत गाथा के अर्द्ध भाग मे तो वायुकाय के संवर्त नामक अन्य भेद का उल्लेख किया गया है और शेष अर्द्ध भाग में सूक्ष्म वायुकाय को अवान्तर भेदरहित बताया गया है। जो वायु बाहर पड़े हुए तृण आदि को उड़ाकर विवक्षित क्षेत्र में लाकर फैंक देती है, उसे संवर्तक वायु कहते हैं। इस

प्रकार से वायुकाय के अनेक उत्तर भेद हैं।

अब सूक्ष्म वायुकाय के विषय में कहते हैं। सूक्ष्म वायु का कोई उत्तर भेद नहीं, किंतु वह एक ही प्रकार की है।

अब सूक्ष्म और बादर वायु का क्षेत्र-विभाग बताते हैं—

सुहुमा सव्वलोगम्मि, एगदेसे य बायरा ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ १२० ॥

सूक्ष्माः सर्वलोके, एकदेशे च बादराः ।
इतः कालविभागं तु तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥ १२० ॥

पदार्थान्वयः—**सुहुमा**—सूक्ष्म, **सव्वलोगम्मि**—सर्व लोक में व्याप्त हैं, **य**—और, **बायरा**—बादर, **एगदेसे**—लोक के एक देश में स्थित हैं, **इत्तो**—इसके आगे, **तु**—फिर, **तेसिं**—इनके, **चउव्विहं**—चार प्रकार के, **कालविभागं**—काल-विभाग को, **वुच्छं**—कहूंगा।

मूलार्थ—इनमें सूक्ष्म वायु सर्व लोक में व्याप्त है और बादर लोक के एक देश में रहता है। अब इसके पश्चात् मैं इनके चतुर्विध कालविभाग का वर्णन करूंगा।

टीका—सूक्ष्म वायुकाय सर्व-लोक-व्यापी और बादर वायुकाय एकदेश-व्यापी है, यह गाथा के प्रथम अर्धभाग का तात्पर्य है और अवशिष्ट गाथार्द्ध में वायुकाय के चतुर्विध कालविभाग के वर्णन की प्रतिज्ञा की गई है।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार कालविभाग का वर्णन करते हैं—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १२१ ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ १२१ ॥

पदार्थान्वयः—**संतइं**—प्रवाह की, **पप्प**—अपेक्षा से, वायुकाय, **अणाईया**—अनादि, **य**—और, **अपज्जवसियावि**—अपर्यवसित भी है, **ठिइं**—स्थिति की, **पडुच्च**—अपेक्षा से, **साईया**—सादि, **य**—और, **सपज्जवसियावि**—सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ—सन्तान अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से वायुकाय अनादि-अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से वह सादि-सान्त भी है।

टीका—यदि वायुकाय के प्रवाह पर विचार करें तो उसके आदि और अन्त का अभाव है; अर्थात् वह अनादि-अनन्त है, परन्तु यदि उसकी आयुस्थिति और कायस्थिति का विचार करे तब तो उसके आदि और अन्त दोनों ही उपलब्ध होते है।

अब स्थिति अर्थात् आयु-स्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा—

तिण्णेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउठिई वाऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १२२ ॥

त्रीण्येव सहस्राणि, वर्षाणामुत्कृष्टा भवेत् ।
आयुः स्थितिर्वायूनाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥ १२२ ॥

पदार्थान्वयः–**वाऊणं**–वायुकाय के जीवों की, **जहन्निया**–जघन्य, **आउठिई**–आयुस्थिति, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त की, **भवे**–होती है और, **उक्कोसिया**–उत्कृष्ट आयुस्थिति, **तिण्णेव**–तीन, **सहस्साइं**–हजार, **वासाण**–वर्षों की हुआ करती है।

मूलार्थ–वायुकाय के जीवों की आयु-स्थिति जघन्य अर्थात् कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उसका उत्कृष्ट आयुमान तीन हजार वर्षों का माना गया है।

टीका–इस गाथा में वायुकाय के जीवों की आयु-स्थिति का वर्णन किया गया है। इनकी उत्कृष्ट आयुस्थिति तो तीन हजार वर्ष और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं, यथा–

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई वाऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १२३ ॥

असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
कायस्थितिर्वायूनाम्, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥ १२३ ॥

पदार्थान्वयः–**तं कायं**–उस काया को, **तु**–पुनः, **अमुंचओ**–न छोडते हुए, **वाऊणं**–वायुकाय के जीवो की, **जहन्निया**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट, **असंखकालं**–असंख्यकाल की, **कायठिई**–कायस्थिति होती है।

मूलार्थ–यदि वायुकाय के जीव स्व-भव मे ही जन्म-मरण करते रहें तो उनकी इस कायस्थिति का उत्कृष्ट समय तो असंख्यकाल का है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का है।

टीका–वायुकाय के जीवों की कायस्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त की और अधिक से अधिक असंख्यातकाल की मानी गई है, तात्पर्य यह है कि इसके पश्चात् वे अपनी काया को त्याग कर दूसरी काया में चले जाते हैं।

अब वायु-काय के अन्तर का उल्लेख करते हैं–

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, वाऊजीवाण अंतरं ॥ १२४ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, वायुजीवानामन्तरम् ॥ १२४ ॥

पदार्थान्वयः–**वाऊजीवाण**–वायुकाय के जीवों का, **अंतरं**–अन्तरकाल, **सए काए**–स्व-काय के, **विजढम्मि**–छोडने पर, **उक्कोसं**–उत्कृष्ट, **अणंतकालं**–अनन्तकाल और, **जहन्नयं**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त का है।

मूलार्थ–वायुकाय के जीवों को स्वकाय के छोड़ने में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का अन्तर पड़ जाता है।

टीका—अपने शरीर को छोडकर अन्यत्र गया हुआ वायु-काय का जीव वहां से च्यव कर यदि फिर अपनी उसी काया में वापिस आता है तो उसको वापिस आने मे कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त का समय लगता है और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय व्यतीत हो जाता है, इसी का नाम अन्तरकाल है। इस प्रकार वायुकाय की सादि-सान्तता प्रमाणित की गई है, अर्थात् आयुस्थिति, कायस्थिति और अन्तरकाल की अपेक्षा से वायुकाय को सादि और सान्त सिद्ध किया गया है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए वायुकाय के उत्तर भेदों के विषय में फिर प्रतिपादन करते हैं, यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १२५ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वाऽपि, विधानानि सहस्रशः ॥ १२५ ॥

पदार्थान्वयः—**एएसिं**—इन वायुकाय के जीवो के, **वण्णओ**—वर्ण से, **च**—और, **गंधओ**—गन्ध से, **रसफासओ**—रस और स्पर्श से, **वा**—अथवा, **संठाणादेसओ**—संस्थान के आदेश से, **अवि**—भी, **सहस्ससो**—हजारो, **विहाणाइं**—भेद होते हैं।

मूलार्थ—इन वायुकाय के जीवों के तारतम्य को लेकर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादेश से हजारों अवान्तर भेद होते हैं।

टीका—पूर्वोक्त वायुकाय के जीवों के यदि वर्ण, गन्ध, रस आदि के तारतम्य को लेकर भेद करे तो वे हजारों की संख्या में हो जाते है। तात्पर्य यह है कि तारतम्य से इनके लाखो भेद किए जा सकते हैं। यहां पर '**सहस्ससो—सहस्रशः**' शब्द अनेक लाख अर्थ का बोधक माना गया है।

उदार त्रस वर्णन

इस प्रकार अग्नि और वायु रूप त्रसकाय का निरूपण करने के अनन्तर अब उदार त्रसों का वर्णन करते हैं, यथा—

उराला तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया ।
बेइंदिया तेइंदिया, चउरो पंचिंदिया चेव ॥ १२६ ॥

उदाराः त्रसा ये तु, चतुर्धा ते प्रकीर्तिताः ।
द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेव ॥ १२६ ॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो, **उ**—पुनः, **उराला**—उदार, **तसा**—त्रस हैं, **ते**—वे, **चउहा**—चार प्रकार के, **पकित्तिया**—कथन किए गए है, **बेइंदिया**—दो इन्द्रियो वाले, **तेइंदिया**—तीन इन्द्रियों वाले, **चउरो**—चार इन्द्रियो वाले, **च**—और, **पंचिंदिया**—पांच इन्द्रियों वाले, **एव**—निश्चय में है।

मूलार्थ—उदार त्रस के चार भेद कहे गए हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

टीका—इस गाथा में उदार-त्रस जीवो का वर्णन किया गया है। उदार-त्रस-दो, तीन, चार और पाच इन्द्रियों वाले जीवो का नाम है। यद्यपि त्रसकाय में अग्नि और वायु का भी ग्रहण किया गया है,

तथापि वे अप्रधान त्रस हैं, अतः उनका प्रधान त्रसो मे समावेश नहीं हो सकता। अग्नि और वायु के जीव एकेन्द्रिय जीव होने से अप्रधान कहे जाते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि द्रव्य और भाव से इन्द्रियां भी दो प्रकार की हैं, अर्थात् द्रव्य-इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय। यद्यपि कर्म-सत्ता की अपेक्षा से एकेन्द्रिय जीव में भी भावेन्द्रिय-पञ्चक की सत्ता विद्यमान है, तथापि एक से अधिक निर्वृत्त्युपकरण-रूप द्रव्य-इन्द्रिय के अभाव से एकेन्द्रिय जीवों में द्वीन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा अप्रधानता है, इसलिए पुण्य-कर्म की न्यूनाधिकता से जिन आत्माओं की जितनी द्रव्येन्द्रियां प्रकट हैं, उतनी इन्द्रियो की अपेक्षा से ही उनकी सज्ञा का निर्माण हुआ है। यथा–

जिनके स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रिया हैं उनको द्वीन्द्रिय जीव कहते है। जिनके स्पर्श, रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रियां है उनको त्रीन्द्रिय जीव कहते है। स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षु–इन चार इन्द्रियो वाले जीवों की चतुरिन्द्रिय संज्ञा है। स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र–ये पाच इन्द्रियां जिनमें विद्यमान हो उनको पचेन्द्रिय जीव कहा जाता है। इस प्रकार ये चार भेद प्रधान त्रसो के माने गए हैं।

द्वीन्द्रिय जीव-निरूपण

अब द्वीन्द्रिय जीवों के अवान्तर भेदों का उल्लेख करते हैं, यथा–

बेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १२७ ॥

द्वीन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः ।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे ॥ १२७ ॥

पदार्थान्वयः–जे–जो, **बेइंदिया**–दो इन्द्रियों वाले, **जीवा**–जीव है, **उ**–पुनः, **ते**–वे, **दुविहा**–दो प्रकार के, **पकित्तिया**–कथन किए गए हैं, **पज्जत्तमपज्जत्ता**–पर्याप्त और अपर्याप्त, **तेसिं**–उनके, **भेए**–भेदों को, **मे**–मुझसे, **सुणेह**–तुम श्रवण करो।

मूलार्थ–हे शिष्य ! द्वीन्द्रिय जीव पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से दो प्रकार के है, अब उनके उत्तर भेदो को तुम मुझ से श्रवण करो !

टीका–श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्यों से कहते है कि दो इन्द्रियो वाले जो जीव हैं उनके पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद माने गए है, अर्थात् एक पर्याप्त-द्वीन्द्रिय और दूसरे अपर्याप्त-द्वीन्द्रिय। यद्यपि दो इन्द्रियो वाले जीव सूक्ष्म भी होते हैं, अतः अग्नि और वायु की तरह इनके सूक्ष्म और बादर ये अन्य दो भेद भी होने चाहिए, तथापि सूक्ष्म शब्द से यहा पर उसी शरीर का ग्रहण अभिप्रेत है जो कि सूक्ष्म नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ हो, परन्तु द्वीन्द्रिय जीवो में वह नही होता, इसलिए यहा पर उनके सूक्ष्म और बादर ये दो भेद नही किए गए, किन्तु इनके पर्याप्त और अपर्याप्त यही दो भेद मानने युक्ति-सगत हैं।

अब द्वीन्द्रिय जीवों का निर्देश करते हैं, यथा–

किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया ।
वासीमुहा य सिप्पीया, संखा संखणगा तहा ॥ १२८ ॥

पल्लोयाणुल्लया, चेव, तहेव य वराडगा ।
जलूगा जालगा चेव, चंदणा य तहेव य ॥ १२९ ॥

इइ बेइंदिया एए, णेगहा एवमायओ ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥ १३० ॥

कृमयः सुमङ्गलाश्चैव, अलसा मातृवाहकाः ।
वासीमुखाश्च शुक्तयः, शङ्खाः शङ्खनकास्तथा ॥ १२८ ॥

पल्लका अनुपल्लकाश्चैव, तथैव च वराटकाः ।
जलौका जालकाश्चैव, चन्दनाश्च तथैव च ॥ १२९ ॥

इति द्वीन्द्रिया एते, अनेकधा एवमादयः ।
लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याता ॥ १३० ॥

पदार्थान्वयः—**किमिणो**—कृमी, **च**—और, **सोमंगला**—सुमगल, **अलसा**—अलसिया, **माइवाहया**—मातृवाहक—घुण, **य**—और, **वासीमुहा**—वासीमुख, **सिप्पीया**—शुक्ति—सीप, **संखा**—शख, **तहा**—तथा, **संखणगा**—छोटे शंख—घोंघे आदि, **एव**—पादपूर्ति में है, **पल्लोयाणुल्लया**—पल्लक और अनुपल्लका, **य**—फिर, **तहेव**—उसी प्रकार, **वराडगा**—वराटक—कौड़िया, **जलूगा**—जोक, **च**—और, **जालगा**—जालक—जीवविशेष, **तहेव**—उसी प्रकार, **चंदणा**—चदनिया, **एव-च**-पूर्ववत्, **इइ**—इस प्रकार, **एए**—ये, **बेइंदिया**—द्वीन्द्रिय जीव, **णेगहा**—अनेक प्रकार के, **एवमायओ**—इत्यादि, **ते**—वे, **सव्वे**—सब, **लोगेगदेसे**—लोक के एक भाग में, **वियाहिया**—प्रतिपादन किए गए हैं, **न सव्वत्थ**—सर्वत्र नहीं।

मूलार्थ—कृमि, सुमंगल, अलसिया, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शंख और लघुशंख—घोंघे आदि, तथा पल्लक, अनुपल्लक, कपर्दिका अर्थात् कौड़ियां, जोंक, जालक और चंदनिया इत्यादि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव कथन किए गए हैं। ये सब लोक के एकदेश में अर्थात् भाग-विशेष में ही रहते हैं, सर्वत्र नहीं।

टीका—इस गाथात्रय मे द्वीन्द्रिय जीवो के नामो का निर्देश और उनकी एकदेशता का वर्णन किया गया है। ये द्वीन्द्रिय जीव, सूक्ष्म वायुकाय आदि की भांति सर्व-लोक-व्यापी नहीं है, किन्तु लोक के एक देश मे रहते हैं।

कृमि—विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थो में उत्पन्न होने वाले जीव।

सोमंगल—यह कोई द्वीन्द्रिय जाति का जीव विशेष है।

अलस—यह वर्षाकाल मे पृथिवी मे उत्पन्न होने वाला जीव है, इसको अलसिया और पंजाबी मे 'गडोआ' कहते है।

मातृवाहक—काष्ठ को भक्षण करने वाला जीव—घुण।

वासीमुख—कोई द्वीन्द्रिय जाति का जीवविशेष है।

शुक्ति—सीप, शंख और लघुशंख, घोंघे आदि सब प्रसिद्ध ही हैं।

पल्लक, अनुपल्लक—ये दोनों अप्रसिद्ध से हैं तथा **वराटक** (कौडी) और **जोंक** आदि प्रसिद्ध

हैं। इसी प्रकार **जालक** और **चन्दन** ये भी द्वीन्द्रिय जीवों में से है, परन्तु अप्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार द्वीन्द्रिय जीवों के अनेक भेद हैं जिनका कि यहां पर संकेतमात्र कर दिया गया है। सारांश यह है कि जिन जीवों के स्पर्श और रसना ये दो इन्द्रिया होती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

अब इनके असादित्व और सादित्व का उल्लेख करते हैं, यथा–

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १३१ ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ १३१ ॥

पदार्थान्वयः–संतइं–सन्तान की, **पप्प**–अपेक्षा से, **अणाईया**–अनादि, **य**–और, **अपज्ज-वसियावि**–अपर्यवसित भी हैं, **ठिइं**–स्थिति की, **पडुच्च**–प्रतीति से, **साईया**–सादि, **य**–और, **सपज्जवसियावि**–सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ–द्वीन्द्रिय जीव प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि और अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

टीका–सन्तान अर्थात् प्रवाह की ओर दृष्टि डालने से तो दो इन्द्रियो वाले जीवों का कभी भी अभाव नही होता, अर्थात् न इनकी आदि उपलब्ध होती है और न अन्त ही दृष्टिगोचर होता है, इसलिए ये अनादि और अनन्त माने गए हैं, परन्तु इनकी आयु सम्बन्धी स्थिति की ओर दृष्टि देने से ये आदि और अन्त दोनों से युक्त प्रतीत होते हैं, अतः अपेक्षा भेद से ये अनादि-अनन्त और सादि-सान्त उभयरूप है।

अब इनकी सादि-सान्तता को सिद्ध करने वाली भवस्थिति के विषय में कहते है, यथा–

वासाइं बारसा चेव, उक्कोसेण वियाहिया ।
बेइंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १३२ ॥

वर्षाणि द्वादश चैव, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
द्वीन्द्रियायु-स्थिति., अन्तर्मुहूर्त्त जघन्यका ॥ १३२ ॥

पदार्थान्वयः–बेइंदियआउठिई–द्वीन्द्रिय जीवो की आयुस्थति, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **बारसा**–द्वादश, **वासाइं**–वर्षों की है और, **जहन्निया**–जघन्य स्थिति, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त की, **वियाहिया**–कथन की गई है।

मूलार्थ–द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति द्वादश वर्ष की प्रतिपादन की गई है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की मानी गई है।

टीका–इस गाथा में द्वीन्द्रिय जीवो की जघन्य और उत्कृष्ट आयु का दिग्दर्शन कराया गया है। तात्पर्य यह है कि दो इन्द्रियों वाले जीवों की आयु, कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त की और अधिक से अधिक १२ वर्ष की होती है। इसी को भवस्थिति कहते हैं।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं, यथा–

संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
बेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १३३ ॥

सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ।
द्वीन्द्रियकायस्थितिः, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥ १३३ ॥

पदार्थान्वयः—**बेइंदियकायठिई**—दो इन्द्रियो वाले जीवों की कायस्थिति, **तं कायं**—उस काय को, **अमुंचओ**—न छोड़ते हुए, **जहन्निया**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अंतर्मुहुर्त की, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट, **संखिज्जकालं**—संख्यातकाल की है।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीव यदि द्वीन्द्रिय जाति में ही जन्म-मरण करते रहें तो उनकी इस कायस्थिति का जघन्य काल तो अन्तर्मुहूर्त्तमात्र है और उत्कृष्ट संख्यात काल है।

टीका—उसी काया में जन्म-मरण करते रहना कायस्थिति है। द्वीन्द्रिय जीव की, यदि वे अपनी काया का परित्याग करके अन्यत्र न जाए तब तक की कायस्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त की और अधिक से अधिक संख्यातकाल तक की मानी जाती है। इससे द्वीन्द्रिय जीवों की सादि-सान्तता भी भली प्रकार से प्रमाणित हो जाती है।

अब इन जीवों के अन्तरकाल के विषय में कहते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
बेइंदियजीवाणं, अंतरं च वियाहियं ॥ १३४ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
द्वीन्द्रियजीवानाम्, अन्तरञ्च व्याख्यातम् ॥ १३४ ॥

पदार्थान्वयः—**बेइंदियजीवाणं**—द्वीन्द्रिय जीवों का, **जहन्नयं**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त और, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **अणंतकाल**—अनन्तकाल का, **अंतरं**—अन्तरकाल, **वियाहियं**—कथन किया गया है, **च**—पादपूर्ति के लिए है।

मूलार्थ—द्वीन्द्रिय जीवों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का है।

टीका—अपनी प्रथम काया को छोड़कर कायान्तर में गया हुआ द्वीन्द्रिय शरीर को धारण करे, इसके लिए जघन्य अन्तरकाल तो अन्तर्मुहूर्त का माना जाता है और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का स्वीकार किया गया है, अर्थात् उस जीव को फिर से द्वीन्द्रिय शरीर मे आने के लिए कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त जितना समय लगता है और अधिक से अधिक अनन्तकाल जितना समय अपेक्षित है।

अब इनके विशेष भेदों के सम्बन्ध में कहते हैं—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १३५ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्त्रशः ॥ १३५ ॥

पदार्थान्वयः—**एएसिं**—इन द्वीन्द्रिय जीवों के, **वण्णओ**—वर्ण से, **च**—और, **गंधओ**—गन्ध से, **रसफासओ**—रस और स्पर्श से, **वा**—तथा, **संठाणादेसओवि**—संस्थान के आदेश से भी, **सहस्ससो**—अनेकानेक, **विहाणाइं**—भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—इन द्वीन्द्रिय जीवों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान की अपेक्षा से तारतम्य को लेकर अनेकानेक भेद हो जाते हैं।

टीका—द्वीन्द्रिय जीवों के वर्ण, गन्ध, रस और गन्धादि के तारतम्य से हजारों भेद हो जाते है।

अब तीन इन्द्रियों वाले जीवों का वर्णन करते हैं, यथा—

तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १३६ ॥

त्रीन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः ।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे ॥ १३६ ॥

पदार्थान्वयः—**उ**—पुनः, **तेइंदिया**—तीन इन्द्रियो वाले, **जे जीवा**—जो जीव हैं, **ते**—वे, **दुविहा**—दो प्रकार के, **पकित्तिया**—कथन किए गए है, **पज्जत्तमपज्जत्ता**—पर्याप्त और अपर्याप्त, **तेसिं**—उनके, **भेए**—भेदों को, **मे**—मुझसे, **सुणेह**—श्रवण करो।

मूलार्थ—तीन इन्द्रियों वाले जो जीव हैं वे भी दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। अब मुझसे इनके उपभेदों को सुनो।

टीका—आचार्य कहते है कि पर्याप्त और अपर्याप्त, इस तरह त्रीन्द्रिय जीव भी दो प्रकार के हैं, और अब तुम मुझसे इनके भेदो का श्रवण करो, अर्थात् त्रीन्द्रिय जीवों के जितने उपभेद हैं, अब उनका निरूपण करता हूं, तुम एकाग्र मन से सुनो ।

अब उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार त्रीन्द्रिय जीवों के भेद बताते हैं, यथा—

कुंथुपिवीलिउड्डंसा, उक्कलुद्देहिया तहा ।
तणहारा कट्ठहारा य, मालूगा पत्तहारगा ॥ १३७ ॥

कप्पासट्ठिम्मि जाया, तिंदुगा तउसमिंजगा ।
सयावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इंदगाइया ॥ १३८ ॥

इंदगोवगमाईया, णेगहा एवमायओ ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥ १३९ ॥

कुन्थुपिपील्युद्दंशाः, उत्कलिकोपदेहिकास्तथा ।
तृणहाराः काष्ठहाराश्च, मालूकाः पत्रहारका. ॥ १३७ ॥

कर्पासास्थिजाताः, तिन्दुकाः त्रपुषमिञ्जकाः ।
शतावरी च गुल्मी च, बोद्धव्या इन्द्रकायिकाः ॥ १३८ ॥

इन्द्रगोपकादिका:, अनेकविधा एवमादय: ।
लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याता: ॥ १३९ ॥

पदार्थान्वय:—**कुंथु**—कुंथुआ, **पिवीलि**—पिपीलिका—कीड़ी, **उड्डंसा**—उद्दंश, **उक्कलुद्देहिया**—उपदेहिक, **तहा**—तथा, **तणहारा**—तृणहारक, **य**—और, **कट्ठहारा**—काष्ठहारक, **मालूगा**—मालुगा और, **पत्तहारगा**—पत्राहारक, **कप्पासट्ठिम्मि जाया**—कपास और अस्थि मे उत्पन्न होने वाले जीव, **तिदुगा**—तिन्दुक, **तउस**—त्रपुष, **मिंजगा**—मिंजग, **य**—तथा, **सयावरी**—शतावरी, **य**—और, **गुम्मी**—गुल्मी—जूका—जूं आदि, **इंदगाइया**—षट्पदी वा इन्द्रकायिक, **बोधव्वा**—जानने चाहिएं, **इंदगोवगमाईया**—इद्रगोप आदि, **एवमायओ**—इत्यादि, **अणेगविहा**—अनेक प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव, **वियाहिया**—कहे गए हैं, **ते सव्वे**—वे सब, **लोगेगदेसे**—लोक के एक देश में रहते हैं, **न सव्वत्थ**—सर्वत्र नहीं।

मूलार्थ—कुन्थु, पिपीलिका, उद्दंसा, उपदेहिका, तृणहारक, काष्ठहारक, मालुका, पत्राहारक तथा कार्पासिक, अस्थिजात, तिन्दुक, त्रपुष, मिंजग, शतावरी, गुल्मी, इंद्रकायिक, तथा इन्द्रगोपक आदि अनेक प्रकार के तीन इन्द्रियों वाले जीव प्रतिपादन किए गए हैं। वे जीवलोक के एक देश में ही रहते हैं, सर्वत्र नहीं।

टीका—इस गाथात्रय में तीन इन्द्रियों वाले जीवो के भेद और उनकी एकदेशता का वर्णन किया गया है, जो कि द्वीन्द्रिय जीवों की तरह ही समझ लेने चाहिएं।

कुन्थु—यह एक अत्यन्त सूक्ष्म जीव होता है, जोकि चलता-फिरता ही दृष्टिगोचर हो सकता है।

पिपीलिका—चींटी आदि। उपर्युक्त गाथाओं मे निर्दिष्ट अनेक नाम तो प्रसिद्ध हैं किन्तु अनेक अप्रसिद्ध है। जिन जीवों की स्पर्श, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रिया विद्यमान हो उनको त्रीन्द्रिय जीव समझ लेना चाहिए। ये सब त्रीन्द्रिय जाति के जीव लोक के एक देश मे ही स्थित है। सूक्ष्म वायु-काय की तरह इनकी सर्व लोक में स्थिति नहीं है।

अब इनकी अनादि-अनन्तता और सादि-सान्तता का वर्णन करते हैं, यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १४० ॥

सन्तति प्राप्यानादिका:, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिका:, सपर्यवसिता अपि च ॥ १४० ॥

पदार्थान्वय:—**संतइं**—सन्तान की, **पप्प**—अपेक्षा से, **अणाईया**—अनादि, **य**—और, **अपज्जवसियावि**—अपर्यवसित भी है, **ठिइं पडुच्च**—स्थिति की अपेक्षा से, **साईया**—सादि, **य**—तथा, **सपज्जवसियावि**—सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—ये सब त्रीन्द्रिय जीव प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि और अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से आदि एवं अन्त वाले हैं।

टीका—गाथा का भावार्थ स्पष्ट ही है।

अब इनकी भव-स्थिति का वर्णन करते हैं–

एगूणपण्णहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया ।
तेइंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १४१ ॥

एकोनपञ्चाशदहोरात्राणाम्, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
त्रीन्द्रियायुःस्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥ १४१ ॥

पदार्थान्वयः–**तेइंदियआउठिई**–त्रीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति, **जहन्निया**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त की, और, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **एगूणपण्णहोरत्ता**–४९ अहोरात्र की, **वियाहिया**–कथन की गई है।

मूलार्थ–त्रीन्द्रिय जीवों की आयु-स्थिति, जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट ४९ दिन की होती है। तात्पर्य यह है कि तीन इन्द्रियों वाले जीवों की अधिक से अधिक ४९ दिन की आयु होती है, इसी को उनकी भव-स्थिति कहते हैं।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं–

संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
तेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १४२ ॥

सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
त्रीन्द्रियकायस्थितिः, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥ १४२ ॥

पदार्थान्वयः–**तु**–फिर, **तं कायं अमुंचओ**–उस काया को न छोड़ते हुए, **तेइंदिय**–त्रीन्द्रिय जीवो की, **कायठिई**–कायस्थिति, **जहन्निया**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त की, और, **उक्कोसा**–उत्कृष्ट, **सखिज्जकालं**–संख्येयकाल तक होती है।

मूलार्थ–त्रीन्द्रिय अर्थात् तीन इन्द्रियों वाले जीवों की यदि वे अपनी उसी काया को न छोड़ें जिसमें वे रह रहे हैं, तब तक की जघन्य काय-स्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक संख्यातकाल की होती है।

टीका–इसकी अन्य सब व्याख्या पूर्व की भांति जान लेना चाहिए।

अब इनका अन्तर-काल बताते हैं, यथा–

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
तेइंदियजीवाणं, अंतरं तु वियाहियं ॥ १४३ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
त्रीन्द्रियजीवानाम्, अन्तरं तु व्याख्यातम् ॥ १४३ ॥

पदार्थान्वयः–**तेइंदियजीवाणं**–तीन इन्द्रिय वाले जीवों का, **अंतरं**–अन्तराल, **जहन्नयं**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त का, और, **उक्कोसं**–उत्कृष्ट, **अणंतकालं**–अनन्तकाल तक का, **वियाहियं**–कथन किया गया है।

मूलार्थ–त्रीन्द्रिय जीव अपने प्रथम ग्रहण किए हुए शरीर को छोड़कर फिर उसी जाति के शरीर को धारण करें तो उसके बीच के अन्तरकाल का प्रमाण कम से कम एक मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक का माना गया है।

टीका–इस गाथा की व्याख्या भी स्पष्ट ही है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए फिर इनके भेदों के विषय में कहते हैं, यथा–

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १४४ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥ १४४ ॥

पदार्थान्वयः–**एएसिं**–इन त्रीन्द्रिय जीवों के, **वण्णओ**–वर्ण से, **च**–और, **गंधओ**–गन्ध से, **रसफासओ**–रस और स्पर्श से, **वा**–तथा, **संठाणादेसओ**–संस्थान के आदेश से भी, **सहस्ससो**–हजारो, **विहाणाइं**–भेद होते हैं।

मूलार्थ–तीन इन्द्रियों वाले जीवों के–वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से सहस्रों अर्थात् अनेकानेक उपभेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि वर्ण, रस, गन्धादि के तारतम्य से इनके लाखों उपभेद बन जाते हैं।

टीका–गाथा का भावार्थ अत्यन्त स्पष्ट है।

अब चतुरिन्द्रिय जीवों का वर्णन करते हैं, यथा–

चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १४५ ॥

चतुरिन्द्रियास्तु ये जीवाः, द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः ।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः, तेषां भेदाञ्छृणुत मे ॥ १४५ ॥

पदार्थान्वयः–**चउरिंदिया**–चार इंद्रियो वाले, **उ**–पुनः, **जे**–जो, **जीवा**–जीव हैं, **ते**–वे, **दुविहा**–दो प्रकार के, **पकित्तिया**–कथन किए गए है, **पज्जत्तमपज्जत्ता**–पर्याप्त और अपर्याप्त, **तेसिं**–उनके, **भेए**–भेदों को, **मे**–मुझसे, **सुणेह**–श्रवण करो।

मूलार्थ–हे शिष्यो ! चार इन्द्रियों वाले जीव, पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से दो प्रकार के कथन किए गए हैं, अब तुम इनके भेदों को मुझसे सुनो !

टीका–आचार्य कहते है कि चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं–पर्याप्त और अपर्याप्त। अब मै इनके भेदों को तुमसे कहता हूं, तुम उन्हें सावधान होकर श्रवण करो ! तात्पर्य यह है कि भेदज्ञान से इनके स्वरूप का निश्चय भली प्रकार से हो सकेगा।

अब भेदों का वर्णन करते हैं, यथा–

अंधिया पोत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा ।
भमरे कीडपयंगे य, ढिंकुणे कुंकणे तहा ॥ १४६ ॥

कुक्कुडे सिंगरीडी य, नंदावत्ते य विंच्छिए ।
डोले भिंगिरीडी य, विरली अच्छिवेहए ॥ १४७ ॥

अच्छिले माहए अच्छि, (रोडए) विचित्ते चित्तपत्तए ।
उहिंजलिया जलकारी य, नीयया तंबगाइया ॥ १४८ ॥

इय चउरिंदिया एए, णेगहा एवमायओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिया ॥ १४९ ॥

अन्धिकाः पौत्तिकाश्चैव, मक्षिका मशकास्तथा ।
भ्रमराः कीटपतङ्गाश्च, ढिङ्कुणाः कुङ्कणास्तथा ॥ १४६ ॥

कुक्कुटः भृङ्गरीटी च, नन्दावर्त्ताश्च वृश्चिकाः ।
डोला भृङ्गरीटकाश्च, विरल्योऽक्षिवेधकाः ॥ १४७ ॥

अक्षिला मागधा अक्षि-, (रोडका) विचित्राश्चित्रपत्रका ।
उपधिजलका जलकार्यश्च, नीचकास्ताम्रकादिकाः ॥ १४८ ॥

इति चतुरिन्द्रिया एते, अनेकधा एवमादयः ।
लोकस्यैकदेशे ते, सर्वे परिकीर्तिताः ॥ १४९ ॥

पदार्थान्वय.—**अंधिया**—अन्धिक, **पोत्तिया**—पोतिक, **च**—और, **मच्छिया**—मक्षिका, **तहा**—तथा, **मसगा**—मशक, **भमरे**—भ्रमर, **य**—और, **कीडपयंगे**—कीट और पतग, **ढिंकुणे**—ढिकण, **कुंकणे**—कुकण, **कुक्कडे**—कुर्कुट, **य**—और, **सिंगरीडी**—शृंगरीटी, **नंदावत्ते**—नन्द्यावर्त, **य**—और, **विंच्छिए**—बिच्छू, **डोले**—डोल, **भिंगिरीडी**—भृगरीटी, **विरली**—विरिली, **अच्छिवेहए**—अक्षिवेधक, **अच्छिले**—अक्षिल, **माहए**—मागध, **अच्छिरोडए**—अक्षिरोड़क, **विचित्ते**—विचित्र, **चित्तपत्तए**—चित्तपत्रक, **उहिंजलिया**—उपधिजलक, **य**—और, **जलकारी**—जलकारी, **नीयया**—नीचका, **तंबगाइया**—ताम्रकादि, **इय**—इस प्रकार, **एए**—ये सब, **चउरिंदिया**—चतुरिन्द्रिय जीव, **एवमायओ**—इत्यादि, **णेगहा**—अनेक प्रकार के, **परिकित्तिया**—कथन किए गए हैं, **ते सव्वे**—वे सब, **लोगस्स**—लोक के, **एगदेसम्मि**—एक देश में स्थित है।

मूलार्थ—अन्धक, पौत्तिक, मक्षिका, मशक, भ्रमर, कीट, पतंग, ढिंकण, कुंकण, कुर्कुट, सिगरीटी, नन्द्यावर्त, बिच्छू, डोल, भृंगरीटक और अक्षिवेधक तथा अक्षिल, मागध, अक्षिरोड़क, विचित्र, चित्रपत्रक, उपधिजलका, जलकारी, नीचक और ताम्रक आदि अनेक प्रकार के चतुरिन्द्रिय जीव कहे गए हैं और ये सब लोक के एकदेश में रहते है।

टीका—जिन जीवों के स्पर्श, रसना, घ्राण और चक्षु—ये चार इन्द्रिया हों, उन्हें चतुरिन्द्रिय जीव कहते है। इनमें मक्खी, भ्रमर, मशक और बिच्छू आदि कई एक नाम तो प्रसिद्ध हैं और शेष जो नाम हैं, वे हमारे लिए अप्रसिद्ध है। कारण यह है कि हर वस्तु का देशभेद से भिन्न-भिन्न नाम सुनने मे

आता है। एक ही वस्तु का एक देश मे अन्य नाम होता है और दूसरे देश में वह किसी दूसरे ही नाम से प्रसिद्ध होती है। अतः ऊपर चतुरिन्द्रिय जीवों के जो नाम दिए गए हैं उनमें कुछ नामो का तो ज्ञान होता है और कुछ का नहीं हो पाता। शास्त्रकारों ने तो अपने विशिष्ट ज्ञान से उनका उल्लेख कर दिया है, परन्तु हम लोगों को उनको समझने के लिए गीतार्थ गुरुओं की शरण में जाकर जिज्ञासा करनी चाहिए। जैसे शास्त्रों में लिखे रहने पर भी वनौषधियों का बिना किसी अनुभवी वैद्य की सहायता से ज्ञान नहीं हो पाता, उसी प्रकार यहां पर भी समझ लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि चतुरिन्द्रिय जीवो के अनेक भेद है, उनमे कुछ नाम तो ऊपर बतला दिए गए हैं। इनके अतिरिक्त इनके विषय में और सब कुछ पूर्व की भांति ही समझ लेना चाहिए।

अब इनका कालसापेक्ष्य वर्णन करते हैं, यथा–

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १५० ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिका, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ १५० ॥

पदार्थान्वयः–संतइं–प्रवाह की, **पप्प**–अपेक्षा से, **अणाईया**–अनादि, **य**–और, **अपज्जवसियावि**–अपर्यवसित, **ठिइं**–स्थिति की, **पडुच्च**–प्रतीति से, **साईया**–सादि, **य**–और, **सपज्जवसियावि**–सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ–चतुरिंद्रिय जीव सन्तान अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि-अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

टीका–प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सभी जीव अनादि अर्थात् आदि से रहित और अनन्त अर्थात् अन्त से रहित है, परन्तु स्थिति अर्थात् आयुस्थिति और कायस्थिति आदि की अपेक्षा से ये उत्पत्ति और विनाश दोनो से युक्त हैं।

अब इसी बात को प्रमाणित करने के लिए इनकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं, यथा–

छच्चेव य मासाऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
चउरिंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १५१ ॥

षट् चैव च मासायुः, उत्कर्षेण व्याख्याताः ।
चतुरिन्द्रियायुः स्थितिः, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥ १५१ ॥

पदार्थान्वयः–चउरिंदिय–चार इन्द्रियों वाले जीवो की, **आउठिई**–आयु की स्थिति, **जहन्निया**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तमुर्हूर्त्त, **य**–और, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **छच्चेव**–षट्–छः–ही, **मासाऊ**–मास की आयु, **वियाहिया**–प्रतिपादन की गई है।

मूलार्थ–चतुरिन्द्रिय जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट छः मास की वर्णन की गई है।

टीका–चार इन्द्रियो वाले जीवों का आयुमान कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त का और अधिक से अधिक

छः महीनो का प्रतिपादन किया गया है, अर्थात् चतुरिंद्रिय जीव अधिक से अधिक छः मास तक ही जीवित रह सकता है।

अब इनकी काय-स्थिति के विषय में कहते हैं–

संखिज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
चउरिंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १५२ ॥

सङ्ख्येयकालमुत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
चतुरिन्द्रियकायस्थितिः, तं कायन्त्वमुञ्चताम् ॥ १५२ ॥

पदार्थान्वयः–**चउरिंदिय**–चार इन्द्रियों वाले जीवों की, **कायठिई**–कायस्थिति, **तं कायं**–उस काया को, **तु**–फिर, **अमुंचओ**–न छोड़ते हुओं की, **जहन्नयं**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अंतर्मुहूर्त्त, **उक्कोसं**–उत्कृष्ट, **संखिज्जकालं**–संख्येयकाल की कथन की गई है।

मूलार्थ–चतुरिंद्रिय जीवों की उस काया को न छोड़ें तब तक की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट संख्यातकाल की होती है।

टीका–अपनी काया को छोड़कर अन्यत्र न जाना अर्थात् उसी में जन्म-मरण करते रहना कायस्थिति है। चतुरिन्द्रिय जीव कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त्त मात्र और अधिक से अधिक संख्येयकाल तक अपनी काया में जन्मता-मरता रहता है, अर्थात् अधिक से अधिक इतने काल के अनन्तर वह अन्यत्र अवश्य चला जाता है।

अब इनका अन्तर-काल बताते हैं–

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, अंतरं च वियाहियं ॥ १५३ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, अन्तरञ्च व्याख्यातम् ॥ १५३ ॥

पदार्थान्वयः–**सए**–स्व, **काए**–काय के, **विजढम्मि**–छोडने पर, **जहन्नयं**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त, **उक्कोसं**–उत्कृष्ट, **अणंतकालं**–अनन्तकाल का, **अंतरं**–अन्तरकाल अर्थात् अन्तराल, **वियाहियं**–कहा है।

मूलार्थ–छोड़ी हुई स्वकाय को फिर से प्राप्त करने में चतुरिन्द्रिय जीव का जघन्य अन्तराल अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का प्रतिपादन किया गया है।

टीका–अपने पूर्व शरीर को छोडकर अन्यत्र गया हुआ चतुरिन्द्रिय जीव, कम से कम और अधिक से अधिक कितने समय के बाद फिर उस चतुरिंद्रिय शरीर में वापिस आता है ? इस प्रश्न का प्रस्तुत गाथा में उत्तर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि कम से कम तो वह अन्तर्मुहूर्त्त के ही अनन्तर वापिस लौट आता है और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय लग जाता है।

अब प्रकारान्तर से इनके असंख्य भेदों का निरूपण करते हैं, यथा–

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १५४ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥ १५४ ॥

पदार्थान्वयः–**एएसिं**–इन जीवों के, **वण्णओ**–वर्ण से, **य**–और, **गंधओ**–गन्ध से, **रसफासओ**–रस और स्पर्श से, **वा**–तथा, **संठाणादेसओ**–सस्थानादेश से, **अवि**–भी, **सहस्ससो**–हजारों, **विहाणाइं**–भेद होते हैं।

मूलार्थ–वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान की अपेक्षा से इन चतुरिंद्रिय जीवों के हजारों भेद हैं।

टीका–वर्णादि के तारतम्य भाव से चतुरिन्द्रिय जीवों के असख्य भेद हो जाते है, शेष व्याख्या पूर्ववत् जानना चाहिए।

इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों का स्वरूप और उनके अनेक प्रकार के भेद-उपभेदों का वर्णन करने के अनन्तर अब पञ्चेन्द्रिय जीवों के विषय में कहते हैं, यथा–

पंचिंदिया उ जे जीवा, चउव्विहा ते वियाहिया ।
नेरइया तिरिक्खा य, मणुया देवा य आहिया ॥ १५५ ॥

पञ्चेन्द्रियास्तु ये जीवाः, चतुर्विधास्ते व्याख्याताः ।
नैरयिकास्तिर्यञ्चश्च, मनुजा देवाश्चाख्याताः ॥ १५५ ॥

पदार्थान्वयः–**पंचिंदिया**–पञ्चेन्द्रिय, **जे**–जो, **जीवा**–जीव है, **ते**–वे, **चउव्विहा**–चार प्रकार के, **वियाहिया**–कथन किए गए हैं, **नेरइया**–नारकी, **य**–और, **तिरिक्खा**–तिर्यच, **मणुया**–मनुष्य, **य**–और, **देवा**–देवता, **आहिया**–कथन किए गए हैं–तीर्थकरों ने, **उ**–पादपूर्ति मे।

मूलार्थ–पञ्चेन्द्रिय जीव चार प्रकार के कहे गए हैं–नारकी, तिर्यच, मनुष्य और देवता।

टीका–पञ्चेन्द्रिय जीवों के तीर्थकर भगवान् ने चार भेद बताए है, जैसे कि ऊपर दर्शाए गए हैं। इन भेदो के कारण जीवात्मा के उच्चावच कर्म हैं। इन्हीं के प्रभाव से वह ऊंची-नीची योनियो को प्राप्त होता है।

अब शास्त्रकार क्रम प्राप्त प्रथम नारकी जीवों का वर्णन करते हैं। यथा–

नेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसु भवे ।[१]
रयणाभसक्कराभा, बालुयाभा य आहिया ॥ १५६ ॥

पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा ।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥ १५७ ॥

नैरयिकाः सप्तविधाः, पृथिवीषु सप्तसु भवेयुः ।
रत्नाभा शर्कराभा, बालुकाभा चाख्याताः ॥ १५६ ॥

पङ्काभा धूमाभा, तमः तमस्तमः तथा ।
इति नैरयिका एते, सप्तधा परिकीर्तिताः ॥ १५७ ॥

---

१ दीपिकावृत्तिकार ने इस गाथा के उत्तरार्द्ध मे इस प्रकार अधिक पाठ दिया है–**पज्जत्तमपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे।**

पदार्थान्वयः—**नेरइया**—नैरयिक—नारकी जीव, **सत्तविहा**—सात प्रकार के, **सत्तसु**—सात, **पुढवीसु**—पृथिवियों में, **भवे**—होते हैं, यथा, **रयणाभा**—रत्नाभा, **सक्कराभा**—शर्कराभा, **य**—और, **बालुयाभा**—वालुकाभा, **आहिया**—कथन की गई है, तथा, **पंकाभा**—पंकाभा, **धूमाभा**—धूमाभा, **तमा**—तमा—अंधकारमयी, **तहा**—तथा, **तमतमा**—तमस्तम—अत्यन्त अन्धकारमयी, **इइ**—इस प्रकार, **एए**—ये, **नेरइया**—नारकी जीव, **सत्तहा**—सात प्रकार से, **परिकित्तिया**—कथन किए गए हैं।

मूलार्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुप्रभा, पंकप्रभा, धूम्रप्रभा, तमःप्रभा और महातमप्रभा, ये सात नरक-पृथिवी कही जाती हैं। इन सात पृथिवियों में रहने वाले नारकी जीव सात प्रकार के हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में नारकी जीवो के स्थान और भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है। अधोलोक में सात नरकभूमियां हैं, जो कि सात नरको के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमे नारकी जीव निवास करते है, अर्थात् जिन जीवों ने अपने अध्यवसाय के अनुसार नरकगति की आयु का बन्ध किया है उनको वहा रहना पडता है। वे भूमिया एक दूसरी के नीचे के क्रम से सात हैं, जिनका कि ऊपर निर्देश किया गया है।

१. **रत्नप्रभा**—रत्नो के प्रकाश की भांति जिसका प्रकाश हो, अथवा भवनपति देवो के भवनों की जिसमे प्रभा विद्यमान हो उसे रत्नप्रभा कहते हैं।

२. **शर्कराप्रभा**—जिसमें श्लक्ष्ण पाषाणों की प्रभा देखी जाती है वह शर्कराप्रभा कहलाती है।

३. **बालुप्रभा**—बालू के समान कान्ति वाली।

४. **पंकप्रभा**—पक के समान प्रभा अर्थात् कान्ति वाली।

५. **धूमप्रभा**—धूम के समान कान्ति वाली। यद्यपि नरक मे धूम का सद्भाव नही माना है तथापि वहा पर तदाकार धूमाकार पुद्गलो का परिणमन होने से धूमप्रभा नाम है।

६. **तमः प्रभा**—अन्धकारमयी छठी नरकभूमि।

७. **महातमःप्रभा**—अत्यन्त अन्धकारमयी महाभयानक स्वरूप वाली सातवी नरकभूमि।

इन सात नरकभूमियों में सात ही प्रकार के नारकी जीव निवास करते हैं। तथा सात पर्याप्त और सात अपर्याप्त इस प्रकार नारकी जीवों के १४ भेद हैं।[1]

अब इसका क्षेत्र विभाग कहते हैं, यथा—

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे उ वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥ १५८ ॥

---

१ दीपिकावृत्तिकार ने इस विषय मे निम्नलिखित अन्य दो गाथाए उद्धृत की है, यथा—
"घम्मा वंसगा सेला, तहा अंजणरिट्ठगा। मघा मघवई चेव, नारइया य पुणो भवे॥
रयणाइ गुत्तउ चेव, तहा घम्माइणायओ। इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया॥"
इन दोनों गाथाओं में नरकों के नामो का उल्लेख किया गया है। गाथाओं का अर्थ सुगम है।

लोकस्यैकदेशे, ते सर्वे तु व्याख्याताः ।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥ १५८ ॥

पदार्थान्वयः—**लोगस्स**—लोक के, **एगदेसम्मि**—एक देश में, **ते सव्वे**—वे सब नारकी, **वियाहिया**—कथन किए गए हैं, **उ**—पुनः, **इत्तो**—इसके अनन्तर, **तेसिं**—उन नारकियो के, **चउव्विहं**—चतुर्विध, **कालविभागं**—कालविभाग को, **वोच्छं**—कहूंगा, **तु**—प्राग्वत्।

मूलार्थ—वे सब नारकी जीव लोक के एक देश में रहते हैं। अब मैं इनके चतुर्विध काल विभाग को कहता हूं।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे नारकी जीवो की क्षेत्र-स्थिति का वर्णन करने के बाद उनके चतुर्विध काल-विभाग के वर्णन करने की प्रतिज्ञा का उल्लेख किया गया है। नारकी जीव लोक के एक देश विशेष में ही रहते हैं। काल-विभाग से उनकी सादि-सान्तता और अनादि-अनन्तता का वर्णन करना ही शास्त्रकार को अभिप्रेत है।

तथाहि—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १५९ ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिका, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिका., सपर्यवसिता अपि च ॥ १५९ ॥

पदार्थान्वयः—**संतइं**—सन्तान की, **पप्प**—अपेक्षा से, **अणाईया**—अनादि, **य**—और, **अपज्जवसियावि**—अपर्यवसित भी हैं, **ठिइं**—स्थिति की, **पडुच्च**—अपेक्षा से, **साईया**—सादि, **य**—और, **सपज्जवसियावि**—सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—नारकी जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि तथा सपर्यवसित अर्थात् आदि और अन्त वाले हैं।

टीका—ऐसा कोई समय नहीं था जब कि नारकी जीवों का सद्भाव न हो तथा ऐसा भी कोई काल उपलब्ध नहीं होता, जब कि उनका सर्वथा अन्त हो जाए, किन्तु इनका अनादिकाल से प्रवाह चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा, इसलिए प्रवाह की अपेक्षा से ये अनादि-अनन्त कहे जाते हैं। परन्तु इनकी आयुस्थिति और कायस्थिति आदि की ओर ध्यान देने से ये सादि-सान्त सिद्ध होते हैं, अर्थात् इनके आदि और अन्त दोनो ही हैं।

अब इनकी स्थिति के विषय में कहते हैं—

सागरोवममेगं तु, उक्कोसेण वियाहिया ।
पढमाए जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥ १६० ॥

सागरोपममेकन्तु, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
प्रथमायां जघन्येन, दशवर्षसहस्त्रिका ॥ १६० ॥

पदार्थान्वयः—**पढमाए**—प्रथम पृथिवी मे, **जहन्नेणं**—जघन्यता से, **दसवाससहस्सिया**—दस हजार

वर्षों की, **तु**—पुनः, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **एगं**—एक, **सागरोवम**—सागरोपम की, **वियाहिया**—वर्णन की गई है।

मूलार्थ—पहली नरक-भूमि में नारकियों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक सागरोपम की कही गई है।

टीका—रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में वर्तमान जीवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक सागरोपम की कही गई है।

सागरोपम—एक योजन प्रमाण लम्बा और चौडा कूप यदि अत्यन्त सूक्ष्म केशाग्रो से भरा जाए, फिर उसमे से सौ-सौ वर्ष के अनन्तर एक-एक खड निकाला जाए और इस प्रकार जब वह सारा कूप खाली हो जाए तो एक पल्योपम होता है, ऐसे दस कोटाकोटी पल्योपमों का एक सागरोपम होता है। यही उत्कृष्ट स्थिति पहले नरक की है।

अब द्वितीय नरक की स्थिति का वर्णन करते हैं—

तिण्णेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
दोच्चाए जहन्नेणं, एगं तु सागरोवमं ॥ १६१ ॥

त्रीण्येव सागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
द्वितीयायां जघन्येन, एकन्तु सागरोपमम् ॥ १६१ ॥

पदार्थान्वयः—**दोच्चाए**—दूसरी नरकभूमि में, **जहन्नेण**—जघन्यता से, **एगं**—एक, **सागरोवमं**—सागरोपम की, **आऊ**—आयु, **तु**—और, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **तिण्णेव**—तीन, **सागरा**—सागरोपम की, **वियाहिया**—कथन की गई है।

मूलार्थ—दूसरे नरक में नारकीयों की जघन्य आयुस्थिति एक सागरोपम की और उत्कृष्ट तीन सागरोपम की है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में द्वितीय नरक मे विद्यमान जीवो के आयुमान का उल्लेख किया गया है जो कि कम से कम एक सागर और अधिक से अधिक तीन सागर प्रमाण है।

अब तीसरे नरक के विषय में कहते हैं, यथा—

सत्तेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
तइयाए जहन्नेणं, तिण्णेव सागरोवमा ॥ १६२ ॥

सप्तैव सागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
तृतीयायां जघन्येन, त्रीण्येव सागरोपमाणि ॥ १६२ ॥

पदार्थान्वयः—**तइयाए**—तीसरी नरक-भूमि में, **जहन्नेणं**—जघन्यता से, **तिण्णेव**—तीन ही, **सागरोवमा**—सागरोपम की, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **सत्तेव सागरा**—सात ही सागरोपम की, **आऊ**—आयु, **वियाहिया**—प्रतिपादन की गई है।

मूलार्थ—तीसरे नरक में नारकी जीवों की जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट

सप्त सागरोपम की कथन की गई है।

टीका—तीसरे नरक में नारकी जीव कम से कम तीन सागरोपम तक रहते हैं और अधिक से अधिक सात सागरोपम तक उनका वहां निवास-काल कहा गया है।

अब चतुर्थ नरक के विषय में कहते हैं—

दससागरोवमाऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
चउत्थीए जहन्नेणं, सत्तेव सागरोवमा ॥ १६३ ॥

दशसागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
चतुर्थ्यां जघन्येन, सप्तैव सागरोपमाणि ॥ १६३ ॥

पदार्थान्वयः—**चउत्थीए**—चतुर्थ पृथिवी मे, **जहन्नेणं**—जघन्यरूप से, **आऊ**—आयु, **सत्तेव**—सात ही, **सागरोवमा**—सागरोपम की है, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **दससागरोवमा**—दस सागरोपम की, **वियाहिया**—कथन की गई है।

मूलार्थ—चतुर्थ नरक में नारकी जीवों की जघन्य आयु सात सागरोपम की और उत्कृष्ट दस सागरोपम की कथन की गई है।

टीका—चतुर्थ नरक मे रहने वाले जीवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति दस सागर की और जघन्य सात सागर-प्रमाण होती है।

अब पांचवें नरक के सम्बन्ध में कहते हैं—

सत्तरससागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहन्नेणं, दस चेव सागरोवमा ॥ १६४ ॥

सप्तदशसागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
पञ्चमायां जघन्येन, दश चैव सागरोपमाणि ॥ १६४ ॥

पदार्थान्वयः—**पंचमाए**—पांचवीं नरक-भूमि मे, **जहन्नेणं**—जघन्यरूप से, **दस**—दश, **सागरोवमा**—सागरोपम की, **च**—और, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **सत्तरससागरा**—सप्तदश सागरोपम की, **आऊ**—आयु, **वियाहिया**—कथन की गई है, **एव**—अवधारण में है।

मूलार्थ—पांचवीं नरक-भूमि के जीवों की कम से कम आयु दस सागरोपम की और उत्कृष्ट सत्रह सागरोपम की कही गई है।

टीका—पाचवीं नरक-भूमि में रहने वाले जीवों की आयु-स्थिति कम से कम दस सागर की और अधिक से अधिक सत्रह सागर की होती है।

अब छठे नरक के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा—

बावीससागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
छट्ठीए जहन्नेणं, सत्तरससागरोवमा ॥ १६५ ॥

द्वाविंशतिसागरोपमाण्यायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
षष्ठ्यां जघन्येन, सप्तदशसागरोपमाणि ॥ १६५ ॥

पदार्थान्वयः—**छट्ठीए**—छठी नरक-पृथिवी में, **जहन्नेणं**—जघन्य रूप से, **सत्तरस**—सप्तदश, **सागरोवमा**—सागरोपम, **आयु**—आयु है, और, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **बावीससागरा**—बाईस सागर की, **वियाहिया**—कथन की गई है।

मूलार्थ—छठे नरक में वर्तमान जीवों की जघन्य आयु सत्रह सागरोपम की और उत्कृष्ट बावीस सागरोपम की कथन की गई है।

टीका—छठे नरक-स्थान की आयु का प्रमाण कम से कम सत्रह सागर और अधिक से अधिक बावीस सागरोपम का होता है।

अब सातवीं नरक-भूमि के विषय में कहते हैं, यथा—

तेत्तीससागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
सत्तमाए जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥ १६६ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरायुः, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
सप्तम्यां जघन्येन, द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ॥ १६६ ॥

पदार्थान्वयः—**सत्तमाए**—सातवीं नरक-भूमि में जीवो की, **जहन्नेणं**—जघन्य रूप से, **आऊ**—आयु की स्थिति, **बावीसं सागरोवमा**—२२ सागरोपम की है, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **तेत्तीससागरा**—३३ सागरोपम की, **वियाहिया**—कथन की गई है।

मूलार्थ—सातवें नरक में रहने वाले जीवों की कम से कम निवास-स्थिति बाईस सागरोपम की और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की कही गई है।

टीका—सप्तम नरकवर्ती जीवो की आयु का मान कम से कम २२ सागरोपम और अधिक से अधिक ३३ सागरोपम का कहा गया है।

अब नारकी जीवों की कायस्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं—

जा चेव उ आउठिई, नेरइयाणं वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥ १६७ ॥

या चैव तु आयुःस्थितिः, नैरयिकाणां व्याख्याता ।
सा तेषां कायस्थितिः, जघन्यकोत्कृष्टा भवेत् ॥ १६७ ॥

पदार्थान्वयः—**जा**—जो, **आउठिई**—आयुस्थिति, **नेरइयाणं**—नारकी जीवों की, **वियाहिया**—कथन की गई है, **उ**—पुनः, **सा**—वही, **तेसिं**—उनकी, **कायठिई**—कायस्थिति, **जहन्नुक्कोसिया**—जघन्योत्कृष्ट, **भवे**—होती है, **एव**—भिन्न क्रम में, **च**—वक्तव्य के उपन्यास में आया हुआ है।

मूलार्थ—नारकी जीवों की जितनी आयु-स्थिति है, उतनी ही उनकी कायस्थिति भी कही गई है।

टीका—नारकी जीवों की काय-स्थिति भव-स्थिति के समान ही जघन्य अथवा उत्कृष्ट रूप से वर्णन की गई है। कारण यह है कि नारकी जीव मर कर फिर नरक मे ही उत्पन्न नही होता, अपितु नरक से निकल कर गर्भज-पर्याप्त मनुष्य और तिर्यग् योनि में ही संख्येय वर्षों तक निवास करता है, अत: नारकी जीवों की भवस्थिति और कायस्थिति दोनों एक ही हैं।

अब इनके अन्तर-काल के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा—

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, नेरइयाणं तु अंतरं ॥ १६८ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, नैरयिकाणान्तु अन्तरम् ॥ १६८ ॥

पदार्थान्वयः—**नेरइयाणं**—नारकी जीवों का, **सए काए**—स्वकाया को, **विजढम्मि**—छोड़ने पर, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **अंतरं**—अन्तर, **अणंतकालं**—अनन्त काल का, और, **जहन्नयं**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त का माना गया है।

मूलार्थ—नारकी जीवों का स्वकाय को छोड़कर फिर उसमें वापिस आने तक का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्त-काल का होता है।

टीका—नारकी जीव नरक को त्याग कर गर्भज-पर्याप्त मे जाने के बाद यदि फिर नरक मे आए तो उसको कम से कम और अधिक से अधिक कितना समय अपेक्षित है? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते है कि कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त के बाद और अधिक से अधिक अनन्तकाल के पश्चात् वह फिर अपनी उसी योनि में उत्पन्न हो सकता है।

अब फिर कहते हैं कि—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १६९ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥ १६९ ॥

पदार्थान्वयः—**एएसिं**—इन नारकी जीवो के, **वण्णओ**—वर्ण से, **च**—और, **गंधओ**—गन्ध से, **रसफासओ**—रस और स्पर्श से, **वा**—तथा, **संठाणादेसओ वि**—संस्थानादेश से भी, **सहस्ससो**—हजारों, **विहाणाइ**—भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—इन नारकी जीवों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान की अपेक्षा से अनेकानेक भेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण, गन्ध और रसादि के तारतम्य से नारकी जीवों के हजारों भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार नारकी जीवों के अनन्तर अब तिर्यञ्चों का वर्णन करते हैं—

पंचिंदियतिरिक्खाओ, दुविहा ते वियाहिया ।
संमुच्छिमतिरिक्खाओ, गब्भवक्कंतिया तहा ॥ १७० ॥

पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चः, द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
सम्मूर्च्छिमतिर्यञ्चः, गर्भव्युत्क्रान्तिकास्तथा ॥ १७० ॥

पदार्थान्वयः—**ते**—वे, **पंचिंदियतिरिक्खाओ**—पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च, **दुविहा**—दो प्रकार के, **वियाहिया**—कहे गए हैं, **संमुच्छिमतिरिक्खाओ**—सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्च, **तहा**—तथा, **गब्भवक्कंतिया**—गर्भव्युत्क्रान्त अर्थात् गर्भ से उत्पन्न होने वाले।

मूलार्थ—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च दो प्रकार के कथन किए गए हैं—संमूर्च्छिम तिर्यञ्च और गर्भज तिर्यञ्च।

टीका—नारकी जीवो के अनन्तर प्रस्तुत गाथा में तिर्यञ्चों के वर्णन का उपक्रम किया गया है। तिर्यंच जीव संमूर्च्छिम और गर्भज भेद से दो प्रकार के हैं।

संमूर्च्छिम—किसी स्थान-विशेष मे पुद्गलो के एकत्रित हो जाने से उत्पन्न होने वाले अर्थात् माता-पिता के सयोग के बिना ही जिनकी उत्पत्ति हो जाती है, तथा मनःपर्याप्ति के अभाव से जो सदा मूर्च्छित की तरह ही अत्यन्त मूढ़ अवस्था में रहते हैं उनको संमूर्च्छिम जीव कहा जाता है।

गर्भज—गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीव। इस प्रकार पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचो के दो भेद शास्त्र में वर्णन किए गए है।

अब इनके अवान्तर भेदों का वर्णन करते हैं, यथा—

दुविहा ते भवे तिविहा, जलयरा थलयरा तहा ।
नहयरा य बोधव्वा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १७१ ॥

द्विविधास्ते भवेयुस्त्रिविधाः, जलचराः स्थलचरास्तथा ।
नभश्चराश्च बोद्धव्याः, तेषां भेदान् श्रृणुत मे ॥ १७१ ॥

पदार्थान्वयः—**दुविहा**—दो प्रकार के, **ते**—वे तिर्यंच, **तिविहा**—तीन प्रकार के, **भवे**—होते हैं, जलयरा—जलचर, **तहा**—तथा, **थलयरा**—स्थलचर, **नहयरा**—नभचर, **बोधव्वा**—जानना, **तेसि**—उनके, **भेए**—भेदो को, **मे**—मुझसे, **सुणेह**—श्रवण करो।

मूलार्थ—आचार्य कहते हैं कि दो प्रकार के भी वे तिर्यंच तीन प्रकार के होते हैं—जलचर, स्थलचर और नभचर। अब इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो।

टीका—संमूर्च्छिम और गर्भज तिर्यंचो के भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं।

१. **जलचर**—जल में विचरने वाले।

२. **स्थलचर**—स्थल अर्थात् भूमि पर विचरने वाले।

३. **नभचर**—नभ अर्थात् आकाश में उडने वाले।

इनमें से प्रत्येक के गर्भज और समूर्च्छिम ये दो भेद करने पर ये ६ प्रकार के हो जाते हैं। **संमूर्च्छिम**—जलचर, स्थलचर और नभचर। **गर्भज**—जलचर, स्थलचर और नभचर। अब शास्त्रकार इनके भेदों के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं।

अब जलचरों के भेद बताते हैं, यथा–

मच्छा य कच्छभा य, गाहा य मगरा तहा ।
सुंसुमारा य बोधव्वा, पंचहा जलयराहिया ॥ १७२ ॥

मत्स्याश्च कच्छपाश्च, ग्राहाश्च मकरास्तथा ।
सुंसुमाराश्च बोद्धव्याः, पञ्चधा जलचरा आख्याताः ॥ १७२ ॥

पदार्थान्वयः–मच्छा–मत्स्य, य–पुनः, **कच्छभा**–कच्छप-कछुए, य–पुनः, गाहा–ग्राह–तंदवा, तहा–तथा, मगरा–मगरमच्छ, य–और, **सुंसुमारा**–सुंसुमार, **बोधव्वा**–जानना, **पंचहा**–पाच प्रकार के, **जलयर**–जलचर जीव, **आहिया**–कहे गए है।

मूलार्थ–जलचर जीव पांच प्रकार के वर्णन किए गए हैं–मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मगर और सुंसुमार।

टीका–जल मे रहने वाले जीवों के यद्यपि अनेक भेद है, तथापि उन सब का इन पाचों मे ही समावेश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जलचर जीवो की मुख्य जातिया पाच ही हैं, अन्य सब का इन्ही में अन्तर्भाव हो जाता है।

अन्यत्र यह भी कहा गया है कि जितने स्थलचर जीव हैं उतने ही जलचर हैं। यहां पर चकार का प्रयोग समुच्चयार्थक है।

अब इनकी क्षेत्र-स्थिति और चतुर्विध काल-विभाग का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि–

लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥ १७३ ॥

लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥ १७३ ॥

पदार्थान्वयः–लोएगदेसे–लोक के एकदेश मे, **ते सव्वे**–वे सब, **वियाहिया**–कथन किए गए है, **न सव्वत्थ**–सर्वत्र नहीं, **इत्तो**–इसके अनन्तर, **तेसिं**–उनके, **चउव्विहं**–चतुर्विध, **कालविभागं**–कालविभाग को, **वोच्छं**–कहूंगा।

मूलार्थ–वे जलचर जीव, लोक के एकदेश में रहते हैं, सर्व लोक में नहीं। अब इसके अनन्तर मैं उन जीवों के चार प्रकार के काल-विभाग को कहूंगा।

टीका–ऊपर बताए गए जलचर जीवों के क्षेत्र-विभाग का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया गया है। वे जलचर जीव सर्व-लोक-व्यापी नही, किन्तु लोक के क्षेत्रविशेष में ही रहते है। अवशिष्ट अर्ध गाथा मे इनका काल-सापेक्ष विभाग बताया गया है।

अब काल-विभाग का वर्णन करते हैं, यथा–

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १७४ ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ १७४ ॥

पदार्थान्वयः—**संतइं**—संतति की, **पप्प**—अपेक्षा से, **अणाईया**—अनादि, **य**—और, **अपज्जवसियावि**—अपर्यवसित भी हैं, **ठिइं**—स्थिति की, **पडुच्च**—प्रतीति से, **साईया**—सादि, **य**—और, **सपज्जवसियावि**—सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ—ये जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि और सान्त हैं।

टीका—जलचर जीव प्रवाह की दृष्टि से तो अनादि-अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि और सान्त हैं।

अब इनकी भवस्थिति का वर्णन करते हैं—

एगा य पुव्वकोडी उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १७५ ॥

एका च पूर्वकोटी, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
आयुः स्थितिर्जलचराणाम्, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥ १७५ ॥

पदार्थान्वयः—**एगा**—एक, **पुव्वकोडी**—पूर्व करोड़ की, **जलयराणं**—जलचरों की, **आउठिई**—आयुस्थिति, **उक्कोसेण**—उत्कृष्ट रूप से, **वियाहिया**—कथन की गई है, **य**—और, **जहन्निया**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त की मानी है।

मूलार्थ—जलचर जीवों की जघन्य आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व की कथन की गई है।

टीका—इस गाथा में जलचर जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट एक करोड पूर्व की मानी गई है, परन्तु मध्यम स्थिति का कोई नियम नहीं, अर्थात् वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक और एक करोड़ पूर्व से कम किसी समय में भी पूरी हो सकती है। ०+७० लाख ५६ हजार वर्ष को एक करोड़ से गुणा करने पर ७०५६०००००००००० वर्षों का एक पूर्व होता है। ऐसे एक करोड पूर्वो की उत्कृष्ट आयु जलचर जीवो की है।

अब इनकी कायस्थिति का वर्णन करते हैं, यथा—

पुव्वकोडिपुहुत्तं तु, उक्कोसेण वियाहिया ।
कायठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १७६ ॥

पूर्वकोटिपृथक्त्वन्तु, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
कायस्थितिर्जलचराणाम्, अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका ॥ १७६ ॥

पदार्थान्वयः—**जलयराणं**—जलचरों की, **कायठिई**—कायस्थिति, **जहन्नयं**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त की है, **तु**—और, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **पुव्वकोडिपुहुत्तं**—पृथक्त्व पूर्व

करोड़ की, **वियाहिया**—कही गई है।

मूलार्थ—जलचरों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पृथक्त्व पूर्व करोड़ की प्रतिपादित की गई है।

टीका—जलचर जीवों की कायस्थिति निरन्तर एक ही जाति का शरीर धारण रूप अर्थात् कम से कम अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण और अधिक से अधिक पृथक्त्व पूर्व कोटि का वर्णन किया गया है। २ से लेकर ९ तक की पृथक् सज्ञा है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई जलचर जीव मरकर अपनी जाति में ही उत्पन्न होता रहे तो अधिक से अधिक करोड-करोड़ पूर्व के आठ भव कर सकता है। इसके अतिरिक्त एक उसका अपना पहला भव होता है। इस प्रकार कुल ९ भव हो जाते हैं।

''पृथक्त्व पूर्व'' यह पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार जानना चाहिए।

अब इनके अन्तर-काल के विषय में कहते हैं—

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, जलयराणं अंतरं ॥ १७७ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्त जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, जलचराणामन्तरम् ॥ १७७ ॥

पदार्थान्वयः—जलयराणं—जलचर जीवों का, **सए काए**—स्वकाय के, **विजढम्मि**—त्यागने पर, **जहन्नय**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **अणंतकालं**—अनन्तकाल का, **अंतरं**—अन्तर होता है।

मूलार्थ—जलचर जीवों का अपनी काय को छोड़कर फिर उसी काय को धारण करने तक का अर्थात् जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का माना गया है।

टीका—जलचर जीव मर कर अन्य स्थान मे गया हुआ, वहा से मर कर फिर वह जलचर मे यदि आता है तो उसके लिए जघन्य अथवा उत्कृष्ट कितना काल अपेक्षित है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक का समय लग जाता है। तात्पर्य यह है कि कम से कम अन्तर्मुहूर्त के बाद आ सकता है और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय व्यतीत हो जाता है।

अब प्रकारान्तर से इनके भेदों का वर्णन करते हैं—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १७८ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥ १७८ ॥

पदार्थान्वयः—एएसिं—इन जलचर जीवों के, **वण्णओ**—वर्ण से, **च**—और, **गंधओ**—गंध से, **रसफासओ**—रस और स्पर्श से, **वा**—तथा, **संठाणादेसओवि**—संस्थान के आदेश से भी, **सहस्ससो**—हजारों, **विहाणाइं**—भेद होते हैं, **एव**—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—उक्त जलचरों के वर्ण से, गन्ध से, रस और स्पर्श से तथा संस्थान से हजारों भेद होते हैं।

टीका—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शादि के तारतम्य से जलचर जीवों के असंख्य भेद हो जाते है।

अब स्थल-चर जीवों का निरूपण करते हैं, यथा—

चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे ।
चउप्पया चउविहा, ते मे कित्तयओ सुण ॥ १७९ ॥

चतुष्पदाश्च परिसर्पाः, द्विविधाः स्थलचरा भवेयुः ।
चतुष्पदाश्चतुर्विधाः, तान् मे कीर्तयतः श्रृणु ॥ १७९ ॥

पदार्थान्वयः—**थलयरा**—स्थलचर, **दुविहा**—दो प्रकार के, **भवे**—होते हैं, **चउप्पया**—चतुष्पाद, **य**—और, **परिसप्पा**—परिसर्प, **चउप्पया**—चतुष्पाद, **चउविहा**—चार प्रकार के है, **ते**—उनके भेद, **कित्तयओ**—कथन करते हुए, **मे**—मुझ से, **सुण**—सुनो।

मूलार्थ—हे शिष्यो ! स्थलचर जीव दो प्रकर के हैं—चतुष्पाद और परिसर्प, इनमें जो चतुष्पाद हैं, वे चार प्रकार के हैं, अब तुम मुझसे उनके भेदों को श्रवण करो।

टीका—चतुष्पाद और परिसर्प ये दो भेद स्थलचर जीवों के हैं। इनमें चतुष्पाद चार प्रकार के हैं। आचार्य अपने शिष्यो से कहते हैं कि उनके भेदों को मैं तुम्हारे प्रति कहता हू, तुम सावधान होकर सुनो! चतुष्पाद—चार पैरो वाले। परिसर्प—रेंगकर चलने वाले सर्पादि। '**परि समन्तात् सर्पन्तीति परिसर्पाः**' अर्थात् जो सर्व प्रकार से सारे शरीर का संचालन करते हुए चलते है उनको परिसर्प कहते है।

अब चतुष्पदों के चार भेद बताते हैं, यथा—

एगखुरा दुखुरा चेव, गंडीपय सणप्पया ।
हयमाई गोणमाई, गयमाई सीहमाइणो ॥ १८० ॥

एकखुरा द्विखुराश्चैव, गण्डीपदाः सनखपदाः ।
हयादयो गोणादयः, गजादयः सिंहादयः ॥ १८० ॥

पदार्थान्वयः—**एगखुरा**—एक खुर वाले, **च**—और, **दुखुरा**—दो खुरों वाले, **गंडीपय**—गंडीपद वाले, **सणप्पया**—सनख पद वाले, **हयमाई**—हय-अश्व आदि, **गोणमाई**—गोण आदि—बलीवर्दादि, **गयमाई**—गज आदि और, **सीहमाइणो**—सिंह आदि।

मूलार्थ—एक खुर वाले, दो खुर वाले, गंडीपद और सनखपद वाले, ये चार प्रकार के स्थलचर जीव हैं। एक खुर वाले—अश्वादि। दो खुर वाले, गौ-महिषी आदि। गंडीपद वाले—हस्ती आदि। सनखपद—नखयुक्त पैरों वाले, सिंह, श्वान आदि।

टीका—स्थल में रहने वाले पञ्चेन्द्रिय जीवों के निरूपण में चतुष्पाद के चार भेद वर्णन किए गए हैं :—

१. **एकखुरा**—एक खुर वाले—अश्वादि।

२. **द्विखुरा**–दो खुरों वाले–गो-महिषी आदि।

३. **गंडीपदा**–गडीपद वाले–हस्ती आदि।

४. **सनखपदा**–नखसहित पैरों वाले–सिह आदि।

इस प्रकार पहले भेद में–अश्व-गर्दभादि, दूसरे में गौ महिषी आदि, तीसरे भेद में–हस्ती आदि, और चौथे में सिंह–व्याघ्र आदि का समावेश है। जिनके पैर मे एक ही खुर होता है, अर्थात् चरण के नीचे एक स्थूल अस्थिविशेष होती है वे एक खुर वाले अश्वादि पशु चतुष्पाद हैं तथा दो खुर वाले जीव गौ-बैल आदि पशु हैं। वर्तुलाकार अर्थात् गोल जिनके पैर हैं ऐसे हस्ती आदि पशु 'गडीपद' कहलाते हैं और जिनके पैर नखो से युक्त है, वे सनखपद कहे जाते हैं।

यहां पर सनखपद का–'सणप्पय' यह प्राकृत रूप है। तथाच–**नखैर्नखात्मकैर्वर्तन्त इति सनखानि, तथाविधानि पदानि येषां ते सनखपदाः सिंहादयः**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सिहादि चतुष्पाद जीव सनखपद कहे जाते हैं।

अब परिसर्पों के भेद बताते हैं, यथा–

भुओरगपरिसप्पा य, परिसप्पा दुविहा भवे ॥
गोहाई अहिमाई य, एक्केक्का णेगहा भवे ॥ १८१ ॥

भुजपरिसर्पा उरःपरिसर्पाश्च, परिसर्पा द्विविधा भवेयुः ।
गोधादयोऽह्यादयश्च, एकैकका अनेकधा भवेयुः ॥ १८१ ॥

पदार्थान्वयः–**भुअ**–भुजपरिसर्प, **उरगपरिसप्पा**–उरःपरिसर्प, **परिसप्पा**–परिसर्प, **दुविहा**–दो प्रकार के, **भवे**–होते है, **गोहाई**–गोधा आदि, **अहिमाई**–अहिसर्प आदि, **य**–पुनः, **एक्केक्का**–एक-एक, **अणेगहा**–अनेक प्रकार के, **भवे**–होते हैं।

मूलार्थ–परिसर्प के दो भेद हैं–भुजपरिसर्प और उरःपरिसर्प। भुजपरिसर्प–गोधा आदि हैं और उरःपरिसर्प सर्प आदि कहे गए हैं, फिर इनके प्रत्येक के अनेक भेद हैं।

टीका–जो जीव दो भुजाओं के बल चलते है उनको भुजपरिसर्प कहते है तथा जो जीव छाती के बल रेंगते है उन्हे उरःपरिसर्प कहा जाता है। गोधा, नकुल और मूषक आदि जीव तो भुजपरिसर्प हैं और सर्प आदि जीवों को उरःपरिसर्प कहते है, ये इन दोनो के भेद है। नकुल, मूषक आदि मे अनेक जातियां पाई जाती हैं, तथा सर्पों की भी–दर्वीकर; मुकुलीकर, उग्रविष और कालविष आदि नाना जातिया हैं। यद्यपि जल में भी सर्पादि का सद्भाव है, तथापि छाती के बल से चलने के कारण इनको स्थलचर ही माना गया है।

अब इनका क्षेत्र-विभाग बताते हैं, यथा–

लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥ १८२ ॥

लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥ १८२ ॥

पदार्थान्वयः—**लोएगदेसे**—लोक के एकदेश में, **ते सव्वे**—वे सब, **वियाहिया**—कहे गए हैं, **न सव्वत्थ**—सर्वत्र नहीं, **इत्तो**—इसके अनन्तर, **तेसिं**—उनके, **चउव्विहं**—चार प्रकार के, **कालविभागं**—कालविभाग को, **वोच्छं**—मैं कहूंगा।

मूलार्थ—वे स्थलचर जीव लोक के एकदेश में रहते हैं, सर्वत्र नहीं रहते। इसके अनन्तर अब मैं उनके चार प्रकार के काल-विभाग का वर्णन करता हूं।

टीका—स्थल में रहने वाले ये सभी जीव एकदेशी है, सर्वदेशी नहीं, अर्थात् ये सूक्ष्मकाय की भांति सर्व-लोक-व्यापी नहीं, किन्तु लोक के किसी एकदेश में ही उनकी स्थिति मानी जाती है।

अब काल-विभाग का उल्लेख करते हैं, यथा—

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १८३ ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ १८३ ॥

पदार्थान्वयः—**संतइं**—सन्तति की, **पप्प**—अपेक्षा से, **अणाईया**—अनादि, **य**—और, **अपज्जवसियावि**—अपर्यवसित भी हैं, **ठिइं**—स्थिति की, **पडुच्च**—अपेक्षा से, **साईया**—सादि, **य**—और, **सपज्जवसियावि**—सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ—स्थलचर जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त कथन किए गए हैं।

टीका—स्थलचर जीव सतति अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और अनन्त है, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से वे आदि और अन्त सहित हैं। इस प्रकार अनादि, सादि, अनन्त, और सान्त, ये चार भेद इनके काल-सापेक्ष्य माने जाते हैं।

अब इनकी भव-स्थिति का वर्णन करते हैं—

पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई थलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १८४ ॥

पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
आयुःस्थितिः स्थलचराणाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥ १८४ ॥

पदार्थान्वयः—**तिन्नि**—तीन, **पलिओवमाइं**—पल्योपम की, **आउठिई**—आयुस्थिति, **उ**—तो, **थलयराणं**—स्थलचरों की, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टरूप से, **वियाहिया**—प्रतिपादन की गई है, **जहन्निया**—जघन्य स्थिति, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त की कही गई है।

मूलार्थ—स्थलचर जीवों की जघन्य आयु-स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की प्रतिपादन की गई है।

टीका—स्थलचर जीवों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम तक हो जाती है, क्योंकि जो अकर्म-भूमिज स्थलचर तिर्यंच हैं उनकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम की होती है, परन्तु यह कथन

सुषम-सुषम-काल एवं देवकुरु और उत्तरकुरु प्रदेशो की अपेक्षा से ही किया गया है। मध्यम स्थिति का कोई नियम नही है।

अब इनकी काय-स्थिति का वर्णन करते हैं, यथा—

पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पुव्वकोडिपुहुत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई थलयराणं, अंतरं तेसिमं भवे ॥ १८५ ॥

पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
कायस्थितिः स्थलचराणां, अन्तरं तेषामिदं भवेत् ॥ १८५ ॥

पदार्थान्वयः—**तिन्नि**—तीन, **पलिओवमाइं**—पल्योपम, **पुव्वकोडिपुहुत्तेणं**—पूर्वकोटि पृथक्—अधिक, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टरूप से, **कायठिई**—कायस्थिति, **थलयराणं**—स्थलचरो की, **वियाहिया**—वर्णन की गई है, **जहन्निया**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त की है, **उ**—प्राग्वत्, **तेसिमं**—उनका यह, **अंतरं**—अन्तर, **भवे**—होता है।

मूलार्थ—तीन पल्योपम सहित पृथक् कोटि (२ से लेकर ९ पूर्व कोटि तक) की उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण जघन्य काय-स्थिति स्थलचर जीवों की प्रतिपादन की गई है, उनका निम्नलिखित अन्तर है।

टीका—यदि यह जीव निरन्तर स्थलचरों मे ही जन्मता और मरता रहे तो कम से कम तो वह अन्तर्मुहूर्त्त मे स्वकाया से जन्म-मरण धारण कर सकता है और अधिक से अधिक पृथक् कोटि पूर्व, अर्थात् करोड़-करोड़ पूर्व के सात व आठ भव करके फिर तीन कल्प की आयु वाला स्थलचर पचेंद्रिय तिर्यच बन जाता है। तदनन्तर वह देवलोक में चला जाता है, अतः तीन पल्योपम अधिक पृथक् कोटि पूर्व की कायस्थिति स्थलचर जीवो की कथन की गई है। इससे अधिक काल तक वह निरन्तर स्थलचरो में जन्म-मरण नहीं कर सकता। इसका अभिप्राय यह है कि करोड-करोड़ पूर्व के सात भव करके आठवे भव मे स्थलचर जीव युगलियों मे उत्पन्न होकर फिर वह देवलोक मे चला जाता है, अन्य योनियों मे नहीं जाता। इसीलिए पृथक् कोटि पूर्व अधिक तीन पल्योपम की उत्कृष्ट कायस्थिति स्थलचर जीवों की प्रतिपादन की गई है।

अब इनका अन्तर बताते हुए कहते हैं, यथा—

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, थलयराणं तु अंतरं ॥ १८६ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, स्थलचराणां त्वन्तरम् ॥ १८६ ॥

पदार्थान्वयः—**उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **अणंतकालं**—अनन्तकाल, **जहन्नयं**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त, **सए काए**—स्वकाय के, **विजढम्मि**—त्यागने पर, **थलयराणं**—स्थलचरों का, **अंतरं**—अन्तराल होता है।

मूलार्थ—स्थलचर जीव यदि अपना प्रथम शरीर छोडकर दूसरी बार फिर वही शरीर धारण करें उसके बीच का जघन्य अन्तराल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट अनन्त काल तक का होता है।

टीका—अपने त्यागे हुए पूर्व शरीर को फिर से ग्रहण करने तक का अन्तर कम से कम एक मुहूर्त्त का और अधिक से अधिक अनन्त काल का माना गया है।

अब पक्षियों के सम्बन्ध में कहते हैं—

चम्मे उ लोमपक्खी य, तइया समुग्गपक्खिया ।
विययपक्खी य बोधव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा ॥ १८७ ॥

चर्मपक्षिणस्तु रोमपक्षिणश्च, तृतीयभेदः समुद्गपक्षिणः ।
विततपक्षिणश्च बोद्धव्याः, पक्षिणश्च चतुर्विधाः ॥ १८७ ॥

पदार्थान्वयः—**चम्मे**—चर्म-पक्षी, **उ**—पुनः, **लोमपक्खी य**—रोम-पक्षी, **तइया**—तृतीय, **समुग्गपक्खिया**—समुद्ग पक्षी, **य**—और, **विययपक्खी**—वितत-पक्षी, **बोधव्वा**—जानना, **य**—पुनः, **पक्खिणो**—पक्षी-गण, **चउव्विहा**—चार प्रकार के कहे गए हैं।

मूलार्थ—चर्म-पक्षी, रोम-पक्षी, समुद्ग-पक्षी और वितत-पक्षी, इस प्रकार पक्षियों के चार भेद कहे जाते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में खेचर जीवो के भेदो का वर्णन किया गया है। खेचर अर्थात् आकाश मे उडने वाले पक्षियो के भी—चर्म-पक्षी, रोम पक्षी, समुद्ग-पक्षी और वितत-पक्षी, ऐसे चार भेद वर्णन किए गए है। (१) चर्म-पक्षी—चमड़े के परों वाले चमगादड आदि; (२) रोम-पक्षी—हंस, चकवा आदि; (३) समुद्ग-पक्षी—जिनके पक्ष सदा अविकसित रहें तथा डब्बे के आकारसदृश जिनके पक्ष सदा ढके रहते हैं उनको समुद्ग-पक्षी कहते है, परन्तु ये पक्षी मनुष्यक्षेत्र से सदा बाहर ही होते हैं; (४) वितत-पक्षी—जिन पक्षियो के पर सदैव खुले या विस्तृत रहते हैं उनको वितत-पक्षी कहा गया है। ये पक्षी भी मनुष्यक्षेत्र से बाहर के द्वीप-समुद्रों में होते हैं। तात्पर्य यह है कि सार्द्ध द्वीप-समुद्रों से बाहर के क्षेत्रों मे ही इन दोनो प्रकार के पक्षियों का निवास है।

अब इनके क्षेत्र-विभाग और काल-विभाग के विषय में कहते हैं, यथा—

लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥ १८८ ॥

लोकैकदेशे ते सर्वे, न सर्वत्र व्याख्याताः ।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥ १८८ ॥

पदार्थान्वयः—**लोगेगदेसे**—लोक के एकदेश में, **ते सव्वे**—वे सब स्थित हैं, **न**—नही, **सव्वत्थ**—सर्वत्र, **वियाहिया**—कथन किए गए हैं, **इत्तो**—इसके बाद, **तेसिं**—उनके, **चउव्विहं**—चतुर्विध, **कालविभागं**—कालविभाग को, **वोच्छं**—कहूंगा, **तु**—पुनः।

मूलार्थ—ये सब पक्षीगण समस्त-लोक-व्यापी नहीं, किन्तु लोक के एकदेश अर्थात् क्षेत्र-विशेष में ही रहते हैं। अब मैं उनका चार प्रकार से काल-विभाग कहता हूं, आप सावधान होकर श्रवण करें!

तथाहि–

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १८९ ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ १८९ ॥

पदार्थान्वयः–**संतइं**–सन्तान अर्थात् प्रवाह की, **पप्प**–अपेक्षा से, **अणाईया**–अनादि, **य**–और, **अपज्जवसियावि**–अपर्यवसित भी है, **ठिइं**–स्थिति की, **पडुच्च**–प्रतीति से, **साईया**–सादि, **य**–और, **सपज्जवसियावि**–सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ–प्रवाह की अपेक्षा से ये खेचर जीव अनादि और अनन्त हैं, परन्तु स्थिति की अपेक्षा से आदि और अन्त वाले हैं।

टीका–जब हम सन्तान की अपेक्षा से विचार करते हैं तब तो ये खेचरादि जीव अनादि-अनन्त सिद्ध होते हैं, क्योंकि इनका सद्भाव सदैव बना रहता है, और यदि इनकी आयु और कायस्थिति आदि की ओर ध्यान देते हैं, तब ये सादि-सान्त सिद्ध होते हैं, इसलिए अपेक्षाभेद से ये चार प्रकार से प्रमाणित होते है।

अब इनकी स्थिति के विषय में कहते हैं–

पलिओवमस्स भागो, असंखेज्जइमो भवे ।
आउठिई खहयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १९० ॥

पल्योपमस्य भागः, असङ्ख्येयतमो भवेत् ।
आयुःस्थितिः खेचराणां, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥ १९० ॥

पदार्थान्वयः–**पलिओवमस्स**–पल्योपम के, **असंखेज्जइमो**–असख्येयतम, **भागो**–भाग जितनी, **आउठिई**–आयुस्थिति, **खहयराणं**–खेचरो की, **भवे**–होती है, **जहन्निया**–जघन्य स्थिति, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

मूलार्थ–खेचर जीवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति, पल्योपम के असंख्येय भाग प्रमाण है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में खेचरों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का वर्णन किया गया है। इनकी उत्कृष्ट आयु पल्योपम के असंख्येय भाग जितनी है, तथा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की मानी गई है। यह स्थिति ५६ अन्तर-द्वीपों मे युगलियो के भव में जो उत्पन्न होते है उनकी अपेक्षा से वर्णन की गई है।

अब इनकी कायस्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं–

असंखभागो पलियस्स, उक्कोसेण उ साहिया ।
पुव्वकोडिपुहुत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १९१ ॥
कायठिई खहयराणं,

असङ्ख्यभागः पल्योपमस्य, उत्कर्षेण तु साधिका ।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥ १९१ ॥
कायस्थितिः खेचराणाम्,

पदार्थान्वयः—**पलियस्स**—पल्योपम का, **असंखभागो**—असंख्यातवा भाग, **साहिया**—अधिक, **पुव्वकोडिपुहुत्तेणं**—पृथक् पूर्वकोटि की, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **कायठिई**—कायस्थिति, **खहयराणं**—खेचरों की वर्णन की गई है, और, **जहन्निया**—जघन्य स्थिति, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त की है, उ—प्राग्वत्।

मूलार्थ—खेचर जीवों की जघन्य काय-स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट, पल्योपम के असंख्येय भाग अधिक पृथक् पूर्व कोटि की कथन की गई है।

टीका—यदि खेचर जीव मरकर खेचर मे ही जन्मता-मरता रहे तो कम से कम वह अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण अपनी काया मे स्थिति कर सकता है और अधिक से अधिक पल्योपम के असख्येय भाग खेचर जीव सहित पृथक् (२ से ९) पूर्व कोटि तक अपनी काया मे स्थिति कर सकता है। तात्पर्य यह है कि करोड-करोड पूर्व के सात भव करके आठवां भव पल्योपम के असख्येय भाग का युगलियों का कर लेता है, तदनन्तर वह खेचरभाव को छोड़कर देवगति को प्राप्त करता है।

अब इनका अन्तराल बताते हैं, यथा—

अंतरं तेसिमं भवे ।
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १९२ ॥

अन्तरं तेषामिदं भवेत् ।
अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥ १९२ ॥

पदार्थान्वयः—**तेसिमं**—उन जीवों का यह, **अंतरं**—अन्तराल, **भवे**—है, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **अणंतकालं**—अनन्तकाल, **जहन्नयं**—जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**—अन्तर्मुहूर्त्त का है।

मूलार्थ—खेचर जीवों का उत्कृष्ट अन्तरकाल अनन्तकाल का और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का है।

टीका—इस गाथा की व्याख्या पीछे अनेक बार की जा चुकी है।

अब अन्य प्रकार से इनके भेद बताते हैं, यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १९३ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥ १९३ ॥

पदार्थान्वयः—**एएसिं**—इन जीवो के, **वण्णओ**—वर्ण से, **च**—और, **गंधओ**—गध से, **रसफासओ**—रस और स्पर्श से, **वा**—तथा, **संठाणादेसओ वावि**—सस्थानादेश से भी, **सहस्ससो**—हजारो, **विहाणाइं**—भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—इन खेचर जीवों के—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान आदि की अपेक्षा से हजारों भेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण-गन्धादि के तारतम्य को लेकर खेचर जीवो के असंख्य भेद हो जाते हैं, इत्यादि पूर्ववत् ही जान लेना चाहिए।

अब मनुष्यों के विषय में कहते हैं, यथा—

मणुया दुविहभेया उ, ते मे कित्तयओ सुण ।
संमुच्छिमा य मणुया, गब्भवक्कंतिया तहा ॥ १९४ ॥

मनुजा द्विविधभेदास्तु, तान् मे कीर्तयतः श्रृणु ।
संमूर्च्छिमाश्च मनुजाः, गर्भव्युत्क्रान्तिकास्तथा ॥ १९४ ॥

पदार्थान्वयः—मणुया—मनुष्य, **दुविहभेया**—दो भेद वाले हैं, **उ**—फिर, **ते**—उन, भेदों को, **कित्तयओ**—कथन करते हुए, **मे**—मुझ से, **सुण**—श्रवण करो, **संमुच्छिमा**—संमूर्च्छिम, **मणुया**—मनुष्य, **तहा**—उसी प्रकार, **गब्भवक्कंतिया**—गर्भव्युत्क्रान्त—मनुष्य।

मूलार्थ—गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! मनुष्यों के दो भेद हैं—संमूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक—गर्भज, सो इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो !

टीका—संमूर्च्छिम मनुष्य और गर्भज मनुष्य इस प्रकार मनुष्यो के दो भेद हैं। समूर्च्छिम मनुष्य चतुर्दश अशुचि स्थानों—अपवित्र मलमूत्रादि—में उत्पन्न होते है। वे बिना मन के होते है तथा मनुष्य के अवयवो से उत्पन्न होने से ही उनकी मनुष्य संज्ञा होती है और उनकी अवगाहना अगुल के असख्येय भाग जितनी होती है, इनको असंज्ञी मनुष्य भी कहते है। द्वितीय मनुष्य, गर्भज अर्थात् गर्भ से उत्पन्न होने वाले हैं, इन में मनःपर्याप्ति का सद्भाव होता है, इसलिए ये सज्ञी मनुष्य कहलाते है।

अब प्रथम गर्भज मनुष्य के भेदों का वर्णन करते हैं, यथा—

गब्भवक्कंतिया जे उ, तिविहा ते वियाहिया ।
कम्म-अकम्मभूमा य, अंतरद्दीवया तहा ॥ १९५ ॥

गर्भव्युत्क्रान्तिका ये तु, त्रिविधास्ते व्याख्याताः ।
कर्माकर्मभूमाश्च, अन्तरद्वीपकास्तथा ॥ १९५ ॥

पदार्थान्वयः—जे—जो, **उ**—पुनः, **गब्भवक्कंतिया**—गर्भज मुनष्य हैं, **ते**—वे, **तिविहा**—तीन प्रकार के, **वियाहिया**—वर्णन किए गए हैं, **कम्म**—कर्मभूमिक, **य**—और, **अकम्मभूमा**—अकर्मभूमिक, **तहा**—तथा, **अंतरद्दीवया**—अन्तर-द्वीपक।

मूलार्थ—गर्भज मनुष्य तीन प्रकार के हैं जैसे कि कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तर-द्वीपक।

टीका—गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य तीन प्रकार के वर्णन किए गए हैं :—

१. कर्मभूमिक—असि, मसि, कृषि, वाणिज्य और शिल्प-कलादि के द्वारा जहा पर जीवन-निर्वाह किया जाए, वह कर्मभूमि कहलाती है। उसमे रहने वाले मनुष्य कर्मभूमिक कहे जाते है।

२. **अकर्मभूमिक**–जहां पर असि, मसि, कृषि आदि कर्मों का अभाव है, किन्तु कल्पवृक्षों पर ही जहां के जीवन निर्भर हों, उसे अकर्मभूमि कहा है, उस भूमि के जीव अकर्मभूमिक कहलाते है।

३. **अन्तर-द्वीपक**–जो समुद्रीय द्वीपों के मध्य में उत्पन्न होने वाले है उनको अन्तरद्वीपक मनुष्य कहते हैं।

अब इनके संख्यागत भेदों का उल्लेख करते हैं, यथा–

पन्नरसतीसविहा, भेया अट्ठवीसइं ।
संखा उ कमसो तेसिं, इइ एसा वियाहिया ॥ १९६ ॥

पञ्चदशत्रिंशद्विधाः, भेदा अष्टविंशतिः ।
सङ्ख्या तु क्रमशस्तेषाम्, इत्येषा व्याख्याता ॥ १९६ ॥

पदार्थान्वयः–**पन्नरस**–पन्द्रह भेद, **तीसविहा**–तीस भेद, **अट्ठवीसइं**–अट्ठाईस, **भेया**–भेद, उ–पुनः, **संखा**–सख्या, **तेसिं**–उनकी, **कमसो**–क्रम से, **इइ**–इस प्रकार, **एसा**–यह, **वियाहिया**–कथन की गई है।

मूलार्थ–१५ भेद, ३० भेद और २८ भेद–इस प्रकार यह क्रमपूर्वक इनकी संख्या का विधान किया गया है, अर्थात् कर्मभूमि के १५, अकर्म भूमि के ३० और अन्तरद्वीप के २८ भेद हैं।

टीका–इस गाथा में मनुष्यों के संख्यागत भेदों का वर्णन किया गया है। वह संख्या अनुक्रम से–१५, ३० और २८ है।

१ एक भरत, एक ऐरावत और एक महाविदेह, ये तीनो क्षेत्र जम्बूद्वीप मे हैं, तथा–दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह ये छह क्षेत्र धातकी-खंड द्वीप में हैं और इसी प्रकार ये छहो क्षेत्र पुष्करार्द्ध नामक द्वीप में हैं। इस रीति से पांच भरत, पांच ऐरांवत और पाच महाविदेह, ऐसे १५ भेद कर्मभूमि के प्रतिपादन किए गए हैं।

२ अकर्मभूमि के ३० भेद हैं, अर्थात् अकर्मभूमि मे ३० क्षेत्र हैं। जैसे कि–हैमवत, हैरण्यवत, हरिवास–हरिवर्ष, रम्यकवर्ष और देवकुरु, ये छओं क्षेत्र जम्बूद्वीप मे हैं। तथा ये दो-दो धातकी-खंड मे और दो-दो ही पुष्करार्द्धद्वीप मे हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप के ६ और धातकीखण्ड के १२ तथा पुष्करार्द्धद्वीप के १२, सब मिलाकर ३० भेद अकर्मभूमि अर्थात् भोगभूमि के है। इनमें केवल युगलियो की ही उत्पत्ति होती है और वे अपनी सम्पूर्ण अभिलाषाओ को कल्पवृक्षों से पूर्ण कर लेते हैं।

अन्तरद्वीपक-क्षेत्रो का विधान इस प्रकार से है–हिमवन्त पर्वत के पूर्वा-पर और विदिशा मे प्रसृत कोटियों (दाढ़ाओं) की सीमा पर लवण-समुद्र में तीन-तीन सौ योजन की दूरी पर और इतने ही विस्तार वाले चार द्वीप हैं। तात्पर्य यह है कि क्षुल्लक हिमवन्त पर्वत के पूर्व और पश्चिम के अन्त मे दो-दो दाढ़ें अर्थात् दोनों पर्वतों की चार दाढ़ें और प्रत्येक दाढ़ में सात-सात द्वीप हैं। इस प्रकार ७×४=२८ अन्तरद्वीप होते हैं। इसी भांति शिखरिणी पर्वत के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए अर्थात् उसकी भी चार दाढ़ें हैं और प्रत्येक दाढ पर सात-सात द्वीप हैं, जो कि वे भी संकलना से २८ होते है। इस प्रकार कुल २८+२८=५६ भेद अन्तरद्वीप के होते हैं। इन द्वीपो की नामावली इस प्रकार है :–

(१–भेद) १. एकोरुक, २. आभाषिक, ३. लागूलिक और ४. वैषाणिक, ये चार द्वीप लवण समुद्र की जगतिकोट से तीन सौ योजन के अन्तर पर बसते है। इस प्रकार आगे सौ-सौ योजन समुद्र का अन्तर और द्वीपों का विस्तार कर लेना यह प्रथम भेद हुआ।

(२–भेद) १ हयकर्ण, २ गजकर्ण, ३ गोकर्ण और ४ शष्कुलीकर्ण।

(३–भेद) १ आदर्शमुख, २ मेषमुख, ३ हयमुख और ४. गजमुख।

(४–भेद) १ अश्वमुख, २ हस्तीमुख, ३ सिंहमुख और ४ व्याघ्रमुख।

(५–भेद) १ अश्वकर्ण, २ सिंहकर्ण, ३ गजकर्ण और ४ कर्णप्रावरण।

(६–भेद) १ उल्कामुख, २ विद्युन्मुख, ३. जिह्वामुख और ४ मेघमुख।

(७–भेद) १ घनदन्त, २ गूढदन्त, ३ श्रेष्ठदन्त और ४ शुद्धदन्त।

इस प्रकार ये सात भेद हुए। सातों युगल सात सौ योजन के जगतिकोट से समुद्र के अन्तर मे सात सौ योजन विस्तार वाले अन्तरद्वीपो के रूप है। वहा पर इन्ही नामो वाले युगलिय मनुष्यो का निवास है। इस विषय का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम-सूत्र में प्राप्त होता है।

अब संमूर्च्छिम मनुष्यों के विषय मे कहते हैं–

संमुच्छिमाण एसेव, भेओ होइ वियाहिओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे वि वियाहिया ॥ १९७ ॥

सम्मूर्च्छिमाणामेष एव, भेदो भवति व्याख्यातः ।
लोकस्यैकदेशे, ते सर्वेऽपि व्याख्याताः ॥ १९७ ॥

पदार्थान्वय.–**संमुच्छिमाण**–समूर्च्छिम मनुष्यों के, **एसेव**–यही, **भेओ**–भेद, **होइ**–होते है, **वियाहिओ**–तीर्थङ्करो द्वारा कहा गया है, **ते**–वे, **सव्वे वि**–सब ही, **लोगस्स**–लोक के, **एगदेसम्मि**–एकदेश में, **वियाहिया**–वर्णन किए गए हैं।

मूलार्थ–जो भेद गर्भज मनुष्यों के वर्णन किए गए हैं, वे ही सब संमूर्च्छिम मनुष्यो के होते है और वे सभी मनुष्यलोक के एकदेश में व्याप्त हैं।

टीका–जिस प्रकार गर्भज मनुष्यों के सामान्यरूप से १०१ भेद कथन किए गए हैं, उसी प्रकार समूर्च्छिम मनुष्यों के भी १०१ ही भेद माने गए है। तात्पर्य यह है कि, जैसे–१५ कर्मभूमिक, ३० अकर्मभूमिक और ५६ अन्तरद्वीपक, इस प्रकार कुल १०१ भेद होते हैं, उसी भांति मनुष्यों के अवयवो में उत्पन्न होने वाले संमूर्च्छिम मनुष्यों के भी उतने अर्थात् १०१ ही भेद माने गए है। गर्भज मनुष्यो के जिन-जिन अवयवों मे अगुल के असख्यातवे भाग जितनी अवगाहना वाले संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है उन सब स्थानो का उल्लेख आगमो में इस प्रकार किया गया है–

"उच्चारेसु वा, पासवणेसु वा, खेलेसु वा, सिंघाणेसु वा, वंतेसु वा, पित्तेसु वा, पूएसु वा, सोणिएसु वा, सुक्केसु वा, सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा, विगयकडेवरेसु वा, थीपुरिससंजोएसु वा, गामनिद्धमणेसु वा, सव्वेसु चेव असुइठाणेसु"। [प्रज्ञाप. पद १. सूत्र ३६]

अर्थात्–१ विष्ठा में, २. मूत्र में, ३. श्लेष्मा में, ४ नासिका के मल में, ५. वमन में, ६. पित्त मे, ७. पूय मे, ८ रुधिर में, ९. शुक्र में, १०. शुक्रपुद्गल के परिशाट मे, ११ विगत कलेवर में, १२ स्त्रीपुरुष के संयोग में, १३. ग्राम के गटर में, और (१४) मनुष्य के सब प्रकार के अपवित्र स्थानो में संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं। इनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है। ये सभी जीव, लोक के एकदेश में निवास करते हैं और इन दोनों के भेदों की संख्या समान ही है।

अब इनकी काल-सापेक्ष अनादिता और सादिता का वर्णन करते हैं–

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १९८ ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिका, सपर्यवसिता अपि च ॥ १९८ ॥

पदार्थान्वयः–**संतइं**–सन्तति की, **पप्प**–अपेक्षा से, **अणाईया**–अनादि, **य**–और, **अपज्जवसियावि**–अपर्यवसित भी है, **ठिइं**–स्थिति की, **पडुच्च**–प्रतीति से, **साईया**–सादि, **य**–और, **सपज्जवसियावि**–सपर्यवसित भी है।

मूलार्थ–प्रवाह की अपेक्षा से मनुष्य-जाति अनादि और अनन्त है, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से वह आदि और अन्त से युक्त है।

टीका–सन्तति अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से देखा जाए तो मनुष्य-जाति अनादि और अनन्त है, परन्तु इसकी भवस्थिति और कायस्थिति का विचार करने से यह सादि-सान्त सिद्ध होती है। यद्यपि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूपकाल-चक्र का विचार करने से मनुष्य-जाति की न्यूनाधिकता तो अवश्य होती रहती है, परन्तु इसका सर्वथा अभाव किसी समय में भी नही होता। सारांश यह है कि अपेक्षाभेद से मनुष्य-जाति में अनादि-अनन्तता और सादि-सान्तता दोनो ही धर्म उपलब्ध होते है।

अब इनकी आयु-स्थिति का वर्णन करते हैं, यथा–

पलिओवमाइं तिन्नि य, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई मणुयाणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ १९९ ॥

पल्योपमानि त्रीणि च, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
आयुःस्थितिर्मनुजानाम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥ १९९ ॥

पदार्थान्वयः–**मणुयाणं**–मनुष्यो की, **आउठिई**–आयुस्थिति, **जहन्निया**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त, **य**–पुनः, **उक्कोसेण**–उत्कर्ष से, **तिन्नि**–तीन, **पलिओवमाइं**–पल्योपम की, **वियाहिया**–कही गई है।

मूलार्थ–मनुष्यों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की कही गई है।

टीका–प्रस्तुत गाथा का भावार्थ स्पष्ट है, अतः इस गाथा की व्याख्या नहीं की गई है।

अब इनकी कायस्थिति के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा–

पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पुव्वकोडिपुहुत्तेण, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ २०० ॥
कायठिई मणुयाणं,

पल्योपमानि त्रीणि तु, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
पूर्वकोटिपृथक्त्वेन, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥ २०० ॥
कायस्थितिर्मनुजानाम्,

पदार्थान्वयः–तिन्नि–तीन, **पलिओवमाइ**–पल्योपम, **उ**–और, **पुव्वकोडिपुहुत्तेणं**–पृथक् पूर्व कोटि अधिक, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से तथा, **जहन्निया**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त की, **वियाहिया**–कथन की गई है, **कायठिई**–कायस्थिति, **मणुयाणं**–मनुष्यो की।

मूलार्थ–मनुष्यों की कायस्थिति जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पल्य सहित पृथक् पूर्व कोटि की है।

टीका–यदि मनुष्य मरकर मनुष्य ही बनता रहे तो कम से कम तो वह अन्तर्मुहूर्त्त तक ही अपनी मनुष्य-काया में स्थिति कर सकता है और अधिक से अधिक वह करोड-करोड पूर्व के निरंतर सात मनुष्य-भव करके आठवें भव मे तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु वाला युगलिया बनता है। तदनन्तर वह मनुष्य-भव को छोडकर देवगति मे जन्म लेता है, अर्थात् देवता बन जाता है।

अब इनके अन्तरकाल का विचार करते हैं, यथा–

अंतरं तेसिमं भवे ।
अणंतकालमुक्कोसं अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ २०१ ॥

अन्तरं तेषामिदं भवेत् ।
अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥ २०१ ॥

पदार्थान्वयः–उक्कोसं–उत्कृष्ट, **अणंतकालं**–अनन्तकाल, **जहन्नयं**–जघन्य, **अतोमुहुत्त**–अन्तर्मुहूर्त्त, **तेसिमं**–यह उन मनुष्यो का, **अतरं**–अन्तरकाल, **भवे**–होता है।

मूलार्थ–मनुष्यों का जघन्य अंतर अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनतकाल का है।

टीका–मनुष्य अपनी योनि को छोडकर यदि उसी योनि को पुनः धारण करे तो इन दोनों के बीच के समय का प्रमाण कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल का है। तात्पर्य यह है कि जघन्य दशा में तो अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् ही मनुष्य मरकर अन्य योनि मे जाकर फिर मनुष्य बन जाता है और उत्कृष्टता मे उसे अनन्तकाल लग जाता है। कारण यह है कि यदि कदाचित् मनुष्य मर कर वनस्पति में चला गया और वहां पर उसकी उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल की है तब तो अनन्त काल का समय अवश्य व्यतीत करना होगा, इसलिए मनुष्यों का उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल तक का माना गया है।

अब प्रकारान्तर से इनके भेदों को कहते हैं, यथा–

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ २०२ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥ २०२ ॥

पदार्थान्वयः—**एएसिं**—इन मनुष्यों के, **वण्णओ**—वर्ण से, **च**—और, **गंधओ**—गन्ध से, **रसफासओ**—रस और स्पर्श से, **वा**—तथा, **संठाणादेसओवि**—सस्थान के आदेश से भी, **सहस्ससो**—हजारो, **विहाणाइं**—भेद हो जाते हैं।

मूलार्थ—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से मनुष्यों के हजारों उपभेद हो जाते हैं।

टीका—वर्ण-गन्धादि के तारतम्य से मनुष्यो के असंख्य भेद बन जाते हैं।

अब देवों के विषय में कहते हैं, यथा—

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमिज्ज-वाणमंतरा, जोइस वेमाणिया तहा ॥ २०३ ॥

देवाश्चतुर्विधा उक्ताः, तान् मे कीर्तयतः श्रृणु ।
भौमेया व्यन्तराः, ज्योतिष्का वैमानिकास्तथा ॥ २०३ ॥

पदार्थान्वयः—**देवा**—देवता, **चउव्विहा**—चार प्रकार के, **वुत्ता**—कहे गए हैं, **ते**—उन भेदों को, **कित्तयओ**—कहते हुए, **मे**—मुझसे, **सुण**—श्रवण करो, **भोमिज्ज**—भौमेय, **वाणमंतरा**—व्यन्तर, **जोइस**—ज्योतिषी, **तहा**—तथा, **वेमाणिया**—वैमानिक।

मूलार्थ—हे शिष्य ! देवों के चार भेद हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, अब इनके भेदों को तुम मुझसे श्रवण करो !

टीका—आचार्य कहते है कि हे शिष्य ! भौमेय, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, ये चार प्रकार के देव कहे जाते है। अब मैं इनके भेदों का वर्णन करता हू, तुम उनको सुनो, यही उक्त गाथा का भाव है।

(१) भवनपति—इनका निवास-स्थान रत्नप्रभा पृथिवी है। रत्न-प्रभा का पृथिवी-पिड १ लाख ८० हजार योजन स्थूल है। उसमें से एक सहस्र योजन ऊपर और एक सहस्र योजन नीचे छोड़ दिया जाए तो मध्य के १ लाख ७८ हजार योजन में भवनपति देवों के ७ करोड़ ७२ लाख भवन प्रतिपादन किए गए है, जिनमें कि प्रायः भवनपति देवों की उत्पत्ति मानी गई है।

(२) व्यन्तर—जिनके उत्कर्ष और अपकर्षमय रूपविशेष हैं, तथा गिरिकन्दराओं और वृक्षों के विवरादि में जिनका निवास होता है उनको व्यन्तरदेव कहते हैं; अर्थात् जो अधः, तिर्यक् और ऊर्ध्व इन तीनों लोकों मे अपनी इच्छा के अनुसार भ्रमण करते हुए शैलकन्दरान्तर, वन, विवरादि में निवास करते है वे व्यन्तर कहलाते है। तिर्यक्-लोक में इनकी असख्यात राजधानिया हैं।

(३) ज्योतिषी–जो तीनों लोक में प्रकाश करनै वाले विमानों में निवास करते हैं उनको ज्योतिषी देव कहा जाता है। यहां पर इतना और भी स्मरण रहे कि जैसे 'ग्राम आ गया' इस वाक्य में आया हुआ ग्राम शब्द ग्रामनिवासी जनों का बोधक है, उसी प्रकार ज्योति वाले विमानों में निवास करने से उन देवों का नाम ज्योतिषी है।

(४) वैमानिक–जो विशेषरूप से माननीय हैं तथा किए हुए शुभ कर्मों के फल को विमानो में उत्पन्न होकर यथेच्छ भोगते हैं उन देवों का नाम वैमानिक है।

अब इनके उत्तर भेदों का वर्णन करते है, यथा–

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो ।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥ २०४ ॥

दशधा तु भवनवासिनः, अष्टधा वनचारिणः ।
पञ्चविधा ज्योतिष्काः, द्विविधा वैमानिकास्तथा ॥ २०४ ॥

पदार्थान्वयः–**दसहा उ**–दश प्रकार के तो, **भवणवासी**–भवनवासी देव हैं, **अट्ठहा**–आठ प्रकार के, **वणचारिणो**–व्यन्तर देव हैं, तथा, **पंचविहा**–पाच प्रकार के, **जोइसिया**–ज्योतिषी देव हैं, **तहा**–तथा, **दुविहा**–दो प्रकार के, **वेमाणिया**–वैमानिक देव है।

मूलार्थ–दश प्रकार के भवनपति, आठ प्रकार के व्यन्तर, पांच प्रकार के ज्योतिषी और दो प्रकार के वैमानिक देव कहे गए हैं।

टीका–भवनों मे उत्पन्न होने वाले देवों की दश जातियां है, इसलिए दश ही प्रकार के भवनवासी कथन किए गए हैं। इसी प्रकार वनो में या विचित्र उपवनो में वा अन्य स्थानों में जो क्रीड़ा के रस मे निमग्न हैं, उन्हीं का नाम वनचारी है। वे आठ प्रकार के माने गए है। ज्योतिरूप विमानों मे उत्पन्न होने वाले ज्योतिषी देव पाच प्रकार के हैं एवं वैमानिकों के केवल दो ही भेद हैं।

अब इनके नामों का निर्देश किया जाता है, यथा–

असुरा नागसुवण्णा, विज्जू अग्गी य आहिया ।
दीवोदहिदिसा वाया, थणिया भवणवासिणो ॥ २०५ ॥

असुरा नागसुपर्णाः, विद्युदग्निश्च आख्याताः ।
द्वीपोदधिदिशो वायवः, स्तनिता भवनवासिनः ॥ २०५ ॥

पदार्थान्वयः–**असुरा**–असुरकुमार, **नाग**–नागकुमार, **सुवण्णा**–सुपर्णकुमार, **विज्जू**–विद्युत्कुमार, **य**–पुनः, **अग्गी**–अग्निकुमार, **दीव**–द्वीपकुमार, **उदहि**–उदधिकुमार, **दिसा**–दिक्कुमार, **वाया**–वायुकुमार, **थणिया**–स्तनितकुमार, **भवणवासिणो**–भवनवासियो के दश भेद है।

मूलार्थ–भवनपति-देवों की दश जातियां कथन की गई हैं–असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार।

टीका–यहां पर गाथा के मूलार्थ में जो हर एक नाम के अन्त में कुमार शब्द का उल्लेख किया गया है उसका आशय यह है कि वे देव, कुमारवत् कान्त दर्शनों वाले है, सुकुमार हैं और मृदु-ललित गति वाले हैं। इसके अतिरिक्त वे श्रृंगारादि अभिजात-रूप-क्रियाए भी कुमारो की तरह ही करते हैं तथा उनका वेष, भाषा, आभरण, प्रहरणावरण, यान, वाहन इत्यादि सब प्रकार का व्यवहार कुमारों की भांति ही होता है, इसलिए उनको कुमार कहा गया है।

अब व्यन्तर देवों के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा–

पिसायभूया जक्खा य, रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा ।
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ॥ २०६ ॥

पिशाचभूता यक्षाश्च, राक्षसाः किन्नराः किंपुरुषाः ।
महोरगाश्च गन्धर्वाः, अष्टविधा व्यन्तराः ॥ २०६ ॥

पदार्थान्वयः–**पिसाय**–पिशाच, **भूया**–भूत, **य**–और, **जक्खा**–यक्ष, **रक्खसा**–राक्षस, **किन्नरा**–किन्नर, **किंपुरिसा**–किंपुरुष, **महोरगा**–महोरग, **य**–और, **गंधव्वा**–गन्धर्व, **अट्ठविहा**–आठ प्रकार के, **वाणमंतरा**–व्यन्तर देव है।

मूलार्थ–आठ प्रकार के व्यन्तर देव कहे हैं। यथा–१ पिशाच, २. भूत, ३. यक्ष, ४. राक्षस, ५. किन्नर, ६. किंपुरुष, ७. महोरग और ८. गन्धर्व, ये आठ भेद हैं।

टीका–रत्नप्रभा पृथिवी का जो प्रथम सहस्र योजन का रत्नकाड है, उसमें से सौ योजन नीचे छोड़कर और सौ योजन ऊपर छोड़कर मध्य के आठ सौ योजन मे असंख्यात व्यन्तरो के नगर प्रतिपादन किए गए है। तथा द्वीप-समुद्रों मे इनकी असंख्य राजधानियां है। इनकी उत्पत्ति भी इन्हीं स्थानो मे मानी गई है। यद्यपि व्यन्तर देव १६ जाति के माने गये हैं, तथापि यहां पर महर्द्धिक की अपेक्षा आठ ही प्रकार के व्यन्तरो का ग्रहण किया गया है।

अब ज्योतिषियों के विषय में कहते हैं–

चंदा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा ।
ठियावि चारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥ २०७ ॥

चन्द्राः सूर्याश्च नक्षत्राणि, ग्रहास्तारागणास्तथा ।
स्थिताऽपि चारिणश्चैव, पञ्चधा ज्योतिषालयाः ॥ २०७ ॥

पदार्थान्वयः–**चंदा**–चन्द्र, **य**–और, **सूरा**–सूर्य, **नक्खत्ता**–नक्षत्र, **गहा**–ग्रह, **तहा**–तथा, **तारागणा**–तारागण, **ठियावि**–स्थित भी, **च**–और, **चारिणो**–चलने वाले, **पंचहा**–पाच प्रकार के, **जोइसालया**–ज्योतिषी देवों के आलय-स्थान है, **एव**–पादपूर्ति मे।

मूलार्थ–ज्योतिषी देव पांच प्रकार के हैं–चंद्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह तथा तारागण। ये पांच मनुष्य क्षेत्र के बाहर तो स्थिर हैं और आभ्यन्तर में चर हैं।

टीका–पांच प्रकार के ज्योतिषी देवों के पांच आलय अर्थात् स्थान हैं। यथा–चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारागण, ये पांचों ही सार्द्ध द्वीप-समुद्र की सीमा मे तो चर है अर्थात् गति वाले हैं और सार्द्ध

द्वीप-समुद्र के बाहर उक्त पाचो प्रकार के ज्योतिषी देव स्थिर हैं। इस गतिशील सूर्यादि के कारण ही काल का विभाग किया जाता है और इसी से आयु का परिमाण किया जाता है। मनुष्य क्षेत्र का सारा ही ज्योतिष चक्र मेरु की प्रदक्षिणा करता है। यहा पर '**जोइसालय—ज्योतिषालय**' से ज्योतिषी देव अभिप्रेत हैं।

अब वैमानिक देवों के विषय में कहते हैं, यथा—

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥ २०८ ॥

वैमानिकास्तु ये देवाः, द्विविधास्ते व्याख्याता· ।
कल्पोपगाश्च बोद्धव्याः, कल्पातीतास्तथैव च ॥ २०८ ॥

पदार्थान्वयः—वेमाणिया—वैमानिक, **जे**—जो, **देवा**—देव हैं, **ते**—वे, **दुविहा**—दो प्रकार के, **वियाहिया**—कथन किए गए हैं, **कप्पोवगा**—कल्पोत्पन्न, **य**—और, **तहेव**—उसी प्रकार, **कप्पाईया**—कल्पातीत, **बोधव्वा**—जानने चाहिए, **उ**—प्राग्वत्।

मूलार्थ—कल्पोत्पन्न और कल्पातीत अर्थात् कल्प से रहित, इस प्रकार वैमानिक देव दो प्रकार के कथन किए गए हैं।

टीका—तीर्थकरादि देवों ने दो प्रकार के वैमानिक देव कहे है। उनमे पहले कल्पोत्पन्न है और दूसरे कल्पातीत कहे जाते हैं। कल्प-देवलोक मे सामानिक, त्रयस्त्रिंशत्, लोकपाल, सेनापति आदि देवो के द्वारा भली प्रकार से राज्य-प्रबन्ध हो रहा है और वे मर्यादापूर्वक क्रियानुष्ठान मे रत रहते हैं।

दूसरे कल्पातीत देवलोक है जो कि नव ग्रैवेयक और पाच अनुत्तर देव विमान हैं। इन देवलोको में कल्प-मर्यादा नहीं है। कारण कि वहां पर स्वामी और सेवक का भाव ही नहीं होता, अत: वहा पर उक्त कल्प की आवश्यकता नही है। जैसे कि योगियो वा निर्ग्रन्थों के लिए राजपुरुषो की कोई आवश्यकता नहीं होती।

अब शास्त्रकार कल्प-देवलोक के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा—

कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणंकुमारमाहिंदा, बम्भलोगा य लंतगा ॥ २०९ ॥

महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा ।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥ २१० ॥

कल्पोपगा द्वादशधा, सौधर्मेशानगास्तथा ।
सनत्कुमारा माहेन्द्राः, ब्रह्मलोकाश्च लान्तकः ॥ २०९ ॥

महाशुक्राः सहस्राराः, आनताः प्राणतास्तथा ।
आरणा अच्युताश्चैव, इति कल्पोपगाः सुराः ॥ २१० ॥

पदार्थान्वयः—कप्पोवगा—कल्पोत्पन्न देव, **बारसहा**—द्वादश प्रकार के हैं, **सोहम्म**—सौधर्म देवलोक,

तहा–तथा, **ईसाणगा**–ईशान देवलोक, **सणंकुमार**–सनत्कुमार देवलोक, **माहिंदा**–माहेन्द्र देवलोक, **बम्भलोगा**–ब्रह्म देवलोक, **य**–और, **लंतगा**–लान्तक देवलोक, **महासुक्का**–महाशुक्र देवलोक, **सहस्सारा**–सहस्रार देवलोक, **आणया**–आनत देवलोक, **तहा**–तथा, **पाणया**–प्राणत देवलोक, **आरणा**–आरण देवलोक, **च**–और, **अच्चुया**–अच्युत देवलोक, **इइ**–इस प्रकार, **कप्पोवगा**–कल्पोत्पन्न, **सुरा**–देव है।

मूलार्थ–कल्पवासी देवों के १२ भेद हैं–सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत। इस प्रकार कल्पदेवलोकों में रहने वाले देव कल्पोत्पन्न या कल्पवासी कहे जाते हैं।

टीका–उक्त संख्या वाले कल्प-देवलोक १२ प्रकार के है। उनमे उत्पन्न होने वाले देव भी उन्हीं कल्पों के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसे कि–सुधर्म देवलोक में उत्पन्न होने वाले सौधर्म, ईशान देवलोक मे उत्पन्न होने वाले ऐशान। इसी प्रकार अन्य देवों के नाम भी जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष जिस देश व जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है, वह उस देश व क्षेत्र के सम्बन्ध से उसी नाम पर बुलाया जाता है। जैसे-गुजरात मे उत्पन्न होने वाले को गुजराती, पंजाब मे पैदा होने वाले को पंजाबी, और इसी प्रकार मारवाड़ में उत्पन्न होने को मारवाडी तथा मालव देश के पुरुष को मालवी कहा जाता है, इसी प्रकार जिस देवलोक में यह जीव उत्पन्न होता है, उसी के नाम से उसकी सज्ञा पड़ जाती है इत्यादि।

अब कल्पातीत देवों के विषय में कहते हैं, यथा–

कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जा नवविहा तहिं ॥ २११ ॥

कल्पातीतास्तु ये देवाः, द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
ग्रैवेयका अनुत्तराश्चैव, ग्रैवेयका नवविधास्तत्र ॥ २११ ॥

पदार्थान्वयः–कप्पाईया–कल्पातीत, **जे**–जो, **देवा**–देव हैं, **ते**–वे, **दुविहा**–दो प्रकार के, **वियाहिया**–वर्णन किए हैं, **गेविज्जा**–ग्रैवेयक, **च**–और, **अणुत्तरा**–अनुत्तर, **तहिं**–उनमे, **गेविज्जा**–ग्रैवेयक, **नवविहा**–नौ प्रकार के है, उ-एव–प्रागवत्।

मूलार्थ–कल्पातीत देव दो प्रकार के हैं–ग्रैवेयक और अनुत्तरविमानवासी। इनमें ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के हैं।

टीका–ग्रैवेयक और अनुत्तर–विमानवासी ये दो भेद कल्पातीत देवों के कहे है। इनमे ग्रैवेयक ९ प्रकार के है।

१ **ग्रैवेयक**–जो लोक-पुरुष की ग्रीवा के समान है तथा जैसे ग्रीवा में अधिक सुन्दर भूषण डाला जाता है और सारे शरीर में उसकी शोभा अधिक होती है, उसी प्रकार त्रयोदशरज्जूप्रमाण लोक के उपरिवर्त्ती प्रदेश में स्थिति होने से उनका नाम ग्रैवेयक है।

२. **अनुत्तर**–जिससे उत्तर–अधिक प्रधान–स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति और लेश्यादि अन्यत्र नही है, उसे अनुत्तर कहते हैं।

अब ग्रैवेयक के नव भेदों का वर्णन करते हैं, यथा–

हेट्ठिमाहेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमामज्झिमा तहा ।
हेट्ठिमाउवरिमा चेव, मज्झिमाहेट्ठिमा तहा ॥ २१२ ॥

मज्झिमामज्झिमा चेव, मज्झिमाउवरिमा तहा ।
उवरिमाहेट्ठिमा चेव, उवरिमामज्झिमा तहा ॥ २१३ ॥

उवरिमाउवरिमा चेव, इय गेविज्जगा सुरा ।

अधस्तनाऽधस्तनाश्चैव, अधस्तनामध्यमास्तथा ।
अधस्तनोपरितनाश्चैव, मध्यमाऽधस्तनास्तथा ॥ २१२ ॥

मध्यममध्यमाश्चैव मध्यमोपरितनास्तथा ।
उपरितनाऽधस्तनाश्चैव, उपरितनमध्यमास्तथा ॥ २१३ ॥

उपरितनोपरितनाश्चैव, इति ग्रैवेयकाः सुराः ॥

पदार्थान्वयः–हेट्ठिमाहेट्ठिमा–नीचे का नीचा, **तहा**–तथा, **हेट्ठिमामज्झिमा**–नीचे का मध्यम, **हेट्ठिमाउवरिमा**–नीचे का ऊपर, **चेव**–पादपूर्ति के लिए है, **मज्झिमाहेट्ठिमा**–मध्यम का नीचा, **मज्झिमामज्झिमा**–मध्यम का मध्यम, **तहा**–तथा, **मज्झिमाउवरिमा**–मध्यम का उपरितम, **च**–और, **उवरिमाहेट्ठिमा**–ऊपर का निचला, **तहा**–तथा, **उवरिमामज्झिमा**–ऊपर का मध्यम, **एव**–पादपूर्ति मे है, **उवरिमाउवरिमा**–ऊपर के ऊपर का, **इय**–इस प्रकार से, **गेविज्जगा**–ग्रैवेयक, **सुरा**–देव–कथन किए गए है।

मूलार्थ–नवग्रैवेयक विमानों की तीन श्रेणियां हैं। एक ऊपर की, दूसरी मध्य की और तीसरी नीचे की। तथा प्रत्येक त्रिक के भी–ऊपर, मध्य और नीचे, ये तीन-तीन भेद हैं। यथा–१ निचले त्रिक के नीचे के देवलोक भद्र, २. निचले त्रिक के मध्य के देवलोक सुभद्र, ३. निचले त्रिक के ऊपर के देवलोक सुजात, ४. मध्य त्रिक के नीचे के देवलोक सुमानस, ५. मध्य त्रिक के मध्य के देवलोक सुदर्शन, ६ मध्य त्रिक के ऊपर के देवलोक प्रियदर्शन, ७. ऊपर के त्रिक के नीचे के देवलोक अमोघ, ८. ऊपर के त्रिक के मध्य के देवलोक प्रतिभद्र, ९. ऊपर के त्रिक के ऊपर के देवलोक यशोधर, इस प्रकार ग्रैवेयक देवों के ९ भेद हैं।

टीका–नव ग्रैवेयक विमानों के तीन त्रिक हैं। उनमें प्रत्येक त्रिक मे तीन-तीन देवलोक हैं। उन्ही मे रहने वाले देव ग्रैवेयक कहलाते हैं। उन देवलोकों के नाम है भद्र, सुभद्र, सुजात, सुमानस, सुदर्शन, प्रियदर्शन, अमोघ, प्रतिभद्र और यशोधर, ये क्रमशः उनके नव भेद बताए गए है।

अब अनुत्तर विमानों के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा–

विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया ॥ २१४ ॥
सव्वत्थसिद्धिगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा ।
इय वेमाणिया एए, णेगहा एवमायओ ॥ २१५ ॥

विजया वैजयन्ताश्च, जयन्ता अपराजिताः ॥ २१४ ॥

सर्वार्थसिद्धिकाश्चैव, पञ्चधाऽनुत्तराः सुराः ।
इति वैमानिका एते, अनेकधा एवमादयः ॥ २१५ ॥

पदार्थान्वयः—**विजया**—विजय, **य**—और, **वेजयंता**—वैजयन्त, **जयंता**—जयन्त, **अपराजिया**—अपराजित, **च**—और, **सव्वत्थसिद्धिगा**—सर्वार्थसिद्धि, **पंचहा**—पांच प्रकार के, **अणुत्तरा**—अनुत्तर, **सुरा**—देव हैं, **इइ**—इस प्रकार, **एए**—ये, **वेमाणिया**—वैमानिक देव, **अणेगहा**—अनेक प्रकार के, **एवमायओ**—इत्यादि।

मूलार्थ—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि, ये पांच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार इन वैमानिक देवों के भेद वर्णन किए गए हैं।

टीका—अनुत्तर विमानों के पांच भेद है—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धिक। ये वैमानिक देव प्रायः एकान्त सातावेदी होते हैं अर्थात् केवल सुखों का ही उपभोग करते है। सर्वार्थसिद्धि विमान मे केवल एक भवावतारी देवो का निवास है।

द्वादश कल्प देवलोक, नव ग्रैवेयक और पांच अनुत्तर विमान, इन २६ देवलोकों मे ८४ लाख ९७ हजार २३ विमान हैं[1]। इनमें असंख्य देवों का निवास है।

कल्प देवलोकों में सम्यक्-दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि और मिश्र-दृष्टि, ये तीनों प्रकार के देव निवास करते हैं। नवग्रैवेयक में सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि इन दो दृष्टि वाले देवो का निवास है, और पाच अनुत्तर विमानो मे सम्यग्दृष्टि देव ही रहते हैं। इस विषय का विस्तृत वर्णन भगवती और प्रज्ञापना आदि सूत्रो मे प्राप्त होता है।

अब इनके क्षेत्र और कालविभाग के विषय में कहते हैं—

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वेवि वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ २१६ ॥

लोकस्यैकदेशे, ते सर्वेऽपि व्याख्याता. ।
इतः कालविभागन्तु, तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम् ॥ २१६ ॥

पदार्थान्वयः—**लोगस्स**—लोक के, **एगदेसम्मि**—एक देश मे, **ते**—वे, **सव्वेवि**—सभी, **वियाहिया**—कथन किए गए हैं, **तु**—पुनः, **इत्तो**—इसके आगे, **तेसिं**—इनके, **चउव्विहं**—चतुर्विध, **कालविभागं**—कालविभाग को, **वुच्छं**—कहूंगा।

मूलार्थ—इन देवलोकों की स्थिति लोक के एक भाग में है; अर्थात् ये लोक के एक भाग विशेष में ही अवस्थित हैं। अब इसके अनन्तर इन देवों के चतुर्विध कालविभाग को मैं कहता हूं।

टीका—आचार्य कहते हैं कि इन सारे देवलोकों की स्थिति लोक के एक भाग-विशेष में है, सर्वत्र नहीं। इसके आगे अब इनके चार प्रकार के कालविभाग का वर्णन किया जाता है।

---

१ एत्थ ण वेमाणियाण देवाण सुहम्मीसाणसणंकुमारमाहिदबभलंतगसुक्कसहस्सार-आणय-पाणय-आरण-अच्चुएसु गेवेज्जमणुत्तरेसु य चउरासीइं विमाणावाससयसहस्सा, सत्ताणउइं च सहस्सा, तेवीस च विमाणा भवतीति मक्खाया [समवायाग सू. भवनादिवर्णन सू. १५०]

तथाहि–

संतइं पप्प णाईया, अपज्जवसियावि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ २१७ ॥

सन्ततिं प्राप्यानादिकाः, अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः, सपर्यवसिता अपि च ॥ २१७ ॥

पदार्थान्वयः–संतइं–सन्तति की, **पप्प**–अपेक्षा से, **अणाईया**–अनादि, **य**–और, **अपज्जवसियावि**–अपर्यवसित भी हैं, **ठिइं**–स्थिति की, **पडुच्च**–प्रतीति से, **साईया**–सादि, **य**–तथा, **सपज्जवसियावि**–सपर्यवसित भी हैं।

मूलार्थ–वे देव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सपर्यवसित हैं।

टीका–सन्तान अर्थात् प्रवाह की अपेक्षा से ये अनादि-अनन्त अर्थात् सदैव विद्यमान रहने वाले है और इनकी भव तथा काय-स्थिति की मर्यादा को देखते हुए ये सादि और सान्त प्रतीत होते है, इसलिए अपेक्षाभेद से ये अनादि-अनन्त और सादि-सान्त उभय प्रकार के सिद्ध होते है।

यह इनका चार प्रकार से कालविभाग का वर्णन किया गया। अब इनकी स्थिति के विषय में कहते हैं–

साहियं सागरं एक्कं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
भोमेज्जाणं जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥ २१८ ॥

साधिकं सागरमेकम्, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
भौमेयानां जघन्येन, दशवर्षसहस्त्रिका ॥ २१८ ॥

पदार्थान्वयः–भोमेज्जाणं–भवनपति देवो की, **जहन्नेणं**–जघन्य रूप से, **ठिई**–स्थिति, **दसवाससहस्सिया**–दश हजार वर्ष की, **भवे**–होती है, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **साहियं सागरं, एक्कं**–कुछ अधिक एक सागरोपम की है।

मूलार्थ–भवनवासी देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट कुछ अधिक एक सागरोपम की होती है।

टीका–यद्यपि यहां पर सामान्यरूप से सभी भवनपति देवो की स्थिति का वर्णन किया गया है, तथापि इसका मुख्य सम्बन्ध असुर कुमारों से है। जैसे कि, प्रत्येक भवनवासी देव की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है, परन्तु चमरेन्द्र और बलि-इन्द्र की स्थिति कुछ अधिक एक सागरोपम की मानी गई है। तथा जघन्य से अधिक और उत्कृष्ट से न्यून यह मध्यम स्थिति है।

अब व्यन्तरों की भवस्थिति का वर्णन करते हैं, यथा–

पलिओवममेगं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
वंतराणं जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥ २१९ ॥

पल्योपममेकन्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
व्यन्तराणां जघन्येन, दशवर्षसहस्रिका ॥ २१९ ॥

पदार्थान्वयः–**वंतराणं**–व्यन्तरो की, **ठिई**–स्थिति, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टरूप से, **एगं**–एक, **पलिओवमं**–पल्योपम-प्रमाण, **तु**–और, **जहन्नेणं**–जघन्यता से, **दसवाससहस्सिया**–दस हजार वर्ष की, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–व्यन्तरों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक पल्योपम की होती है।

टीका–इस गाथा मे सोलह जातियों के व्यन्तर देवो की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है, अर्थात् व्यन्तर-जाति के देवो की भवस्थिति, कम से कम दस हजार वर्ष की और अधिक से अधिक एक पल्योपम की होती है, तथा इन दोनो के बीच का समय मध्यस्थिति का है।

अब ज्योतिषी देवों की भवस्थिति का वर्णन करते हैं–

पलिओवममेगं तु, वासलक्खेण साहियं ।
पलिओवमट्ठभागो, जोइसेसु जहन्निया ॥ २२० ॥

पल्योपममेकन्तु, वर्षलक्षेण साधिकम् ।
पल्योपमाष्टमभागः, ज्योतिष्केषु जघन्यका ॥ २२० ॥

पदार्थान्वयः–**जोइसेसु**–ज्योतिषी देवो की, **जहन्निया**–जघन्य स्थिति, **पलिओवमट्ठभागो**–पल्योपम का आठवा भाग, **तु**–पुनः, उत्कृष्ट स्थिति, **वासलक्खेण साहियं**–लाख वर्ष अधिक, **एगं**–एक, **पलिओवमं**–पल्योपम की होती है।

मूलार्थ–ज्योतिषी देवों की जघन्य स्थिति पल्योपम के आठवें भाग जितनी और उत्कृष्ट एक लाख वर्ष से अधिक एक पल्योपम की होती है।

टीका–इस गाथा में ज्योतिषी देवो की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का जो वर्णन किया गया है, उसमे जघन्य स्थिति तो तारों की अपेक्षा से कथन की गई है और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन सूर्य और चन्द्रमा की अपेक्षा से किया गया है, क्योंकि चन्द्रमा की एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की तथा सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम की और ग्रहों की केवल एक पल्योपम की स्थिति कही गई है, परन्तु उक्त गाथा मे जो वर्णन किया गया है वह जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का सामान्यतया वर्णन है, इसलिए किसी प्रकार के विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिए।

अब वैमानिकों की स्थिति के विषय में कहते हैं–

दो चेव सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया ।
सोहम्मम्मि जहन्नेणं, एगं च पलिओवमं ॥ २२१ ॥

द्वे चैव सागरोपमे, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
सौधर्मे जघन्येन, एकञ्च पल्योपमम् ॥ २२१ ॥

पदार्थान्वयः–**सोहम्मम्मि**–सौधर्म देवलोक में, **जहन्नेणं**–जघन्यरूप से, **एग**–एक, **पलिओवमं**–पल्योपम की, **च**–और, **उक्कोसेण**–उत्कृष्ट रूप से, **दो**-दो, **सागराइं**–दो सागर की स्थिति, **वियाहिया**–कथन की गई है, **च**-**एव**–पादपूर्ति में हैं।

मूलार्थ–सौधर्म देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति एक पल्योपम की और उत्कृष्ट दो सागरोपम की कथन की गई है।

टीका–सौधर्म देवलोक में ३२ लाख विमान है, जो कि आयाम और विष्कम्भ में संख्यात और असख्यात योजनों के तुल्य हैं। उनमें रहने वाले देवो की आयु का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया गया है, अर्थात् उनकी जघन्य आयु एक पल्योपम की और उत्कृष्ट दो सागर की प्रतिपादन की गई है। मध्यम स्थिति का कोई नियम नहीं।

अब ईशान देवलोक के देवों की स्थिति का वर्णन करते हैं–

सागरा साहिया दुन्नि, उक्कोसेण वियाहिया ।
ईसाणम्मि जहन्नेणं, साहियं पलिओवमं ॥ २२२ ॥

सागरे साधिके द्वे, उत्कर्षेण व्याख्याता ।
ईशाने जघन्येन, साधिकं पल्योपमम् ॥ २२२ ॥

पदार्थान्वयः–**ईसाणम्मि**–ईशान देवलोक में, **जहन्नेणं**–जघन्य रूप से, **साहियं**–साधिक, **पलिओवमं**–पल्योपम की, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **साहिया**–कुछ अधिक, **दुन्नि**–दो, **सागरा**–सागरोपम की स्थिति, **वियाहिया**–प्रतिपादन की गई है।

मूलार्थ–ईशान देवलोक में रहने वाले देवों की जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम की और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागरोपम की कथन की गई है।

टीका–ईशान देवलोक में २८ लाख विमान है। उनका विस्तार सख्यात और असख्यात योजनो का है। उनके विमानों में रहने वाले देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयुस्थिति का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया गया है। वह स्थिति कम से कम तो कुछ अधिक एक पल्योपम की और अधिक से अधिक दो सागरोपम की मानी गई है। इससे प्रथम की अपेक्षा दूसरे देवलोक में स्थिति की यत्किंचित् विशेषता बतलाई गई है।

अब सनत्कुमार देवों की स्थिति के विषय में कहते हैं–

सागराणि य सत्तेव, उक्कोसेण ठिई भवे ।
सणंकुमारे जहन्नेणं, दुन्नि ऊ सागरोवमा ॥ २२३ ॥

सागराणि च सप्तैव, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
सनत्कुमारे जघन्येन, द्वे तु सागरोपमे ॥ २२३ ॥

पदार्थान्वयः–**सणंकुमारे**–सनत्कुमार देवलोक में, **जहन्नेणं**–जघन्यरूप से, **दुन्नि ऊ**–दो, **सागरोवमा**–सागरोपम की, **ठिई**–स्थिति, **य**–पुनः, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टरूप से, **सत्तेव**–सात ही, **सागराणि**–सागरोपम की, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–सनत्कुमार देवलोक में देवों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की और जघन्य दो सागरोपम की होती है।

टीका–सनत्कुमार देवलोक में १२ लाख विमान हैं, जो कि द्वितीय स्वर्ग से वर्णादि की अपेक्षा अनन्तगुणा शुभ हैं। उन विमानों मे रहने वाले देवों की उत्कृष्ट आयु सात सागर की और जघन्य दो सागर की प्रतिपादन की गई है; क्योंकि जिन भावों के द्वारा शुभ कर्मों का संचय किया जाता है, उन्हीं के अनुसार उसी प्रकार की स्थिति उपलब्ध होती है।

अब माहेन्द्र देवों की स्थिति के विषय में कहते हैं–

साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेण ठिई भवे ।
माहिंदम्मि जहन्नेणं, साहिया दुन्नि सागरा ॥ २२४ ॥

साधिकानि सागराणि सप्त, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
माहेन्द्रे जघन्येन, साधिके द्वे सागरे ॥ २२४ ॥

पदार्थान्वयः–माहिंदम्मि–माहेन्द्र देवलोक में, **जहन्नेणं**–जघन्यरूप से, **साहिया**–कुछ अधिक, **दुन्नि सागरा**–दो सागर, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टरूप से, **साहिया**–कुछ अधिक, **सत्त सागरा**–सात सागर की, **ठिई**–स्थिति, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–माहेन्द्र देवलोक में देवताओं की जघन्य स्थिति कुछ अधिक दो सागरोपम की और उत्कृष्ट कुछ अधिक सात सागरोपम की मानी गई है।

टीका–माहेन्द्र देवलोक में ८ लाख विमान हैं। उन विमानों में रहने वाले देवों की यह आयु-स्थिति वर्णन की गई है।

अब ब्रह्म देवलोक की स्थिति का वर्णन करते हैं–

दस चेव सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
बंभलोए जहन्नेणं, सत्त उ सागरोवमा ॥ २२५ ॥

दश चैव सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
ब्रह्मलोके जघन्येन, सप्त तु सागरोपमाणि ॥ २२५ ॥

पदार्थान्वयः–बंभलोए–ब्रह्मलोक मे, **जहन्नेणं**–जघन्यरूप से, **सत्त**–सात, **सागरोवमा**–सागरोपम की, **उ**–पुनः, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टरूप से, **दस**–दश, **सागराइं**–सागरोपम की, **ठिई**–स्थिति, **भवे**–होती है, **च-एव**–पादपूर्ति में है।

मूलार्थ–ब्रह्मलोक में जघन्य स्थिति सात सागरोपम की और उत्कृष्ट दश सागरोपम की होती है।

टीका–ब्रह्मलोक में ४ लाख विमान हैं, जो कि अत्यन्त रमणीय है। इन विमानों मे रहने वाले देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु का इस गाथा में वर्णन किया गया है। इस स्वर्ग में संन्यासवृत्ति वाली आत्माए भी जा सकती हैं, परन्तु आत्मा में आराधकता तभी आ सकती है, जबकि उसने सम्यग्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का भली-भांति आराधन किया हो, अन्यथा नहीं।

अब लान्तक देवों की आयुस्थिति के विषय में कहते हैं–

चउद्दस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
लंतगम्मि जहन्नेणं, दस उ सागरोवमा ॥ २२६ ॥

चतुर्दश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
लान्तके जघन्येन, दश तु सागरोपमाणि ॥ २२६ ॥

पदार्थान्वयः–**लंतगम्मि**–लान्तक देवलोक में, **जहन्नेणं**–जघन्यरूप से, **दस**–दस, **सागरोवमा**–सागरोपम, **उ**–पुनः, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **चउद्दस**–चतुर्दश, **सागराइ**–सागरोपम की, **ठिई**–स्थिति, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–लान्तक देवलोक में जघन्य आयुस्थिति दश सागरोपम की और उत्कृष्ट चतुर्दश सागरोपम की होती है।

टीका–लान्तक देवलोक में ५० सहस्र विमान हैं, जो कि अत्यन्त उज्ज्वल और मनोरम हैं। उनमें निवास करने वाले देवो की यह आयुस्थिति वर्णन की गई है।

अब सातवें देवलोक की स्थिति का वर्णन करते हैं, यथा–

सत्तरस सागराइं, उक्कोसेण–ठिई भवे ।
महासुक्के जहन्नेणं, चउद्दस सागरोवमा ॥ २२७ ॥

सप्तदश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
महाशुक्रे जघन्येन, चतुर्दश सागरोपमाणि ॥ २२७ ॥

पदार्थान्वयः–**महासुक्के**–महाशुक्र देवलोक मे, **जहन्नेणं**–जघन्यतया, **चउद्दस सागरोवमा**–चतुर्दश सागरोपम की, **ठिई**–स्थिति, **भवे**–होती है, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टतया, **सत्तरस सागराइं**–सप्तदश सागरोपम की है।

मूलार्थ–महाशुक्र नामक सातवें देवलोक में रहने वाले देवों की जघन्य आयुस्थिति १४ सागरोपम की होती है और उत्कृष्ट १७ सागरोपम की प्रतिपादित की गई है।

टीका–सातवा महाशुक्रनामक देवलोक है। इसमें ४० हजार विमान है। उन विमानों की लम्बाई-चौडाई असंख्यात योजन की है। उनमें निवास करने वाले देवो की जघन्य आयु १४ सागर की और उत्कृष्ट १७ सागर की मानी गई है।

अब आठवें स्वर्ग के देवों की स्थिति बताते हैं, यथा–

अट्ठारस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
सहस्सारम्मि जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥ २२८ ॥

अष्टादश सागरोपमाणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
सहस्रारे जघन्येन, सप्तदश सागरोपमाणि ॥ २२८ ॥

पदार्थान्वयः–**सहस्सारम्मि**–सहस्रार देवलोक मे, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टतया, **अट्ठारस सागराइं**–अष्टादश सागरोपम की, **ठिई**–स्थिति, **भवे**–होती है, **जहन्नेणं**–जघन्यतया, **सत्तरस सागरोवमा**–सप्तदश सागरोपम की है।

मूलार्थ–सहस्रार देवलोक में रहने वाले देवों की उत्कृष्ट भव-स्थिति १८ सागरोपम की और जघन्य १७ सागरोपम की कही गई है।

टीका–सहस्रार देवलोक में ६ हजार विमान है। उनमे निवास करने वाले देवो की उत्कृष्ट और जघन्य आयु क्रमशः १८ और १७ सागरोपम की मानी गई है। व्रतधारी तिर्यञ्च अपने व्रतो के प्रभाव से इस आठवें देवलोक तक ही जा सकते हैं, इससे आगे नही।

अब आनत नामा नवमें देवलोक के देवों की आयु का प्रमाण कहते हैं, यथा–

सागरा अउणवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
आणयम्मि जहन्नेणं, अट्ठारस सागरोवमा ॥ २२९ ॥

सागराणि एकोनविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
आनते जघन्येन, अष्टादश सागरोपमाणि ॥ २२९ ॥

पदार्थान्वयः–**आणयम्मि**–आनत देवलोक मे, **जहन्नेणं**–जघन्यतया, **अट्ठारस**–अठारह, **सागरोवमा**–सागरोपम की, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **अउणवीसं**–एकोनविंशति (१९), **सागरा**–सागरोपम की, **ठिई**–स्थिति, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–आनत देवलोक में रहने वाले देवों की जघन्य १८ सागरोपम की और उत्कृष्ट १९ सागरोपम की स्थिति कथन की गई है।

टीका–नवमे आनत देवलोक में २०० विमान हैं, जो कि विस्तार मे संख्यात और असंख्यात योजन प्रमाण हैं। उनमें रहने वाले देवों की जघन्य आयु १८ सागर की और उत्कृष्ट १९ सागर की होती है।

अब दसवें स्वर्ग के देवों की आयु का वर्णन करते हैं, यथा–

वीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
पाणयम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणवीसई ॥ २३० ॥

विंशतिस्तु सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
प्राणते जघन्येन, सागराणि एकोनविंशतिः ॥ २३० ॥

पदार्थान्वयः–**पाणयम्मि**–प्राणत देवलोक में, **जहन्नेणं**–जघन्यता से, **अउणवीसई**–उन्नीस, **सागरा**–सागरोपम की, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **वीसं**–बीस, **सागराइं**–सागरोपम की, **ठिई**–स्थिति, **भवे**–होती है, **तु**–प्राग्वत् ।

मूलार्थ–प्राणत देवलोक में जघन्य आयु १९ सागरोपम की और उत्कृष्ट २० सागरोपम की मानी गई है।

टीका—प्राणत देवलोक में भी २०० विमान हैं। उनमें निवास करने वाले देवों का उत्कृष्ट और जघन्य आयुमान इस गाथा में वर्णन किया गया है।

अब ग्यारहवें स्वर्ग में रहने वाले देवों की आयुस्थिति को कहते हैं—

सागरा इक्कवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
आरणम्मि जहन्नेणं, वीसई सागरोवमा ॥ २३१ ॥

सागराणि एकविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
आरणे जघन्येन, विंशतिः सागरोपमाणि ॥ २३१ ॥

पदार्थान्वयः—**आरणम्मि**—आरण देवलोक मे, **जहन्नेणं**—जघन्यतया, **वीसई**—बीस, **सागरोवमा**—सागरोपम की, **ठिई**—स्थिति, **भवे**—होती है, **तु**—और, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टतया, **इक्कीसं**—इक्कीस, **सागरा**—सागरोपम की है।

मूलार्थ—आरण नामक एकादशवें देवलोक में देवों की जघन्य स्थिति २० सागरोपम की और उत्कृष्ट २१ सागरोपम की होती है।

टीका—आरण देवलोक में १५० विमान हैं। उन विमानों मे उत्पन्न होने वाले देवों की यह जघन्य और उत्कृष्ट आयु बताई गई है।

अब बारहवें स्वर्ग के देवों की आयु का प्रमाण बताते हैं, यथा—

बावीसं सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
अच्चुयम्मि जहन्नेणं, सागरा इक्कवीसई ॥ २३२ ॥

द्वाविंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
अच्युते जघन्येन, सागराणि एकविंशतिः ॥ २३२ ॥

पदार्थान्वयः—**अच्चुयम्मि**—अच्युत देवलोक मे, **जहन्नेणं**—जघन्यरूप से, **इक्कवीसई**—इक्कीस, **सागरा**—सागरोपम की, **उक्कोसेण**—उत्कृष्टता से, **बावीसं सागराइं**—बाईस सागरोपम की, **ठिई**—स्थिति, **भवे**—होती है।

मूलार्थ—अच्युत नामक बारहवें स्वर्ग में रहने वाले देवों की जघन्य आयु २१ सागर की और उत्कृष्ट २२ सागर की होती है।

टीका—बारहवें देवलोक में १५० विमान हैं। उनमे निवास करने वाले देवों की यह आयु बताई गई है। आराधक श्रावक अधिक से अधिक इस बारहवे देवलोक तक पहुंच सकता है, व्रतधारी देशविरति श्रावक-श्राविका की इससे आगे गति नहीं है। इन १२ देवलोकों की कल्प संज्ञा है। इनमें सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि, इन तीनों प्रकार के देवों का निवास है।

अब ग्रैवेयक देवों की आयु के विषय में कहते हैं—

तेवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
पढमम्मि जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥ २३३ ॥

त्रयोविंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
प्रथमे जघन्येन, द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ॥ २३३ ॥

पदार्थान्वयः–**पढमम्मि**–प्रथम त्रिक के प्रथम देवलोक में, **जहन्नेणं**–जघन्यरूप से, **बावीसं**–बाईस, **सागरोवमा**–सागरोपम की, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **तेवीस सागराइं**–तेईस सागरोपम की, **ठिई**–स्थिति, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–तेरहवें स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु २२ सागरोपम की और उत्कृष्ट २३ सागरोपम की होती है।

टीका–कल्प देवलोकों की आयु का वर्णन करने के अनन्तर प्रस्तुत गाथा से लेकर अब शास्त्रकार ने नवग्रैवेयक देवों की आयु का वर्णन आरम्भ किया है। नवग्रैवेयक देवलोको की तीन श्रेणियां है। उनमे प्रत्येक श्रेणी के भी तीन-तीन त्रिक कहे गए है। उनमें प्रथम श्रेणी के प्रथम देवलोक में उत्पन्न होने वाले देवो का आयुमान प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है।

अब चौदहवें देवलोक के देवों की आयु का प्रमाण बतलाते हैं–

चउवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
बिइयम्मि जहन्नेणं, तेवीसं सागरोवमा ॥ २३४ ॥

चतुर्विंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
द्वितीये जघन्येन, त्रयोविंशतिः, सागरोपमाणि ॥ २३४ ॥

पदार्थान्वय.–**बिइयम्मि**–प्रथम के द्वितीय त्रिक में, **जहन्नेणं**–जघन्यतया, **तेवीसं सागरोवमा**–तेईस सागरोपम की, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **चउवीस–सागराइं**–चौबीस सागरोपम की, **ठिई**–स्थिति, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–चौदहवें देवलोक अर्थात् प्रथम त्रिक के दूसरे देवलोक के देवों की जघन्य आयु २३ सागरोपम की और उत्कृष्ट २४ सागरोपम की होती है।

टीका–प्रथम त्रिक के द्वितीय देवलोक मे निवास करने वाले देवों का आयुमान इस गाथा में वर्णन किया गया है। यह स्वर्ग, त्रिक की अपेक्षा से दूसरा और गणना मे अन्य स्वर्गों की अपेक्षा से चौदहवा है।

अब पन्द्रहवें स्वर्ग के देवों की स्थिति के विषय में कहते हैं–

पणवीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
तइयम्मि जहन्नेणं, चउवीसं–सागरोवमा ॥ २३५ ॥

पञ्चविंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
तृतीये जघन्येन, चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि ॥ २३५ ॥

पदार्थान्वयः–**तइयम्मि**–प्रथम त्रिक के तीसरे देवलोक में, **जहन्नेणं**–जघन्यरूप से, **चउवीसं**–चौबीस, **सागरोवमा**–सागरोपम की, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **पणवीस सागराइं**–पच्चीस सागरोपम की,

ठिई–स्थिति, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–प्रथम त्रिक के तीसरे अर्थात् पन्द्रहवें देवलोक में देवों की जघन्य आयु २४ सागरोपम की और उत्कृष्ट २५ सागरोपम की कही गई है।

टीका–इस गाथा में प्रथम त्रिक के तीसरे देवलोक मे रहने वाले देवो की आयु का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह प्रथम त्रिक का वर्णन समाप्त हुआ।

अब दूसरे त्रिक के विषय में कहते हैं, यथा–

छव्वीस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
चउत्थम्मि जहन्नेणं, सागरा पणुवीसई ॥ २३६ ॥

षड्विंशतिः सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
चतुर्थे जघन्येन, सागराणि पञ्चविंशतिः ॥ २३६ ॥

पदार्थान्वयः–चउत्थम्मि–चतुर्थ ग्रैवेयक में, **जहन्नेणं**–जघन्यता से, **पणुवीसई**–पच्चीस, **सागरा**–सागरोपम की, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **छव्वीस सागराइं**–छब्बीस सागरोपम की, **ठिई**–स्थिति अर्थात् आयुप्रमाण, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–चतुर्थ ग्रैवेयक अर्थात् द्वितीय त्रिक के प्रथम देवलोक के देवों की जघन्य आयु २५ सागरोपम की है और उत्कृष्ट २६ सागरोपम की कही गई है।

टीका–दूसरे त्रिक के प्रथम देवलोक मे रहने वाले देवो के जघन्य और उत्कृष्ट आयुमान का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया गया है। इस स्वर्ग में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनो प्रकार के देवो का निवास है, परन्तु ये सभी शुक्ललेश्या वाले होते है।

अब पांचवें ग्रैवेयक के विषय में कहते हैं–

सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
पंचमम्मि जहन्नेणं, सागरा उ छव्वीसई ॥ २३७ ॥

सागराणि सप्तविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
पञ्चमे जघन्येन, सागराणि तु षड्विंशतिः ॥ २३७ ॥

पदार्थान्वयः–पंचमम्मि–पाचवें ग्रैवेयक मे, **जहन्नेणं**–जघन्यता से, **छव्वीसई**–छब्बीस, **सागरा**–सागरोपम की, तु–पुनः, **उक्कोसेण**–उत्कृष्टता से, **सत्तवीसं**–सत्ताईस, **सागरा**–सागरोपम की, **ठिई**–स्थिति, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–पांचवें ग्रैवेयक में देवों की जघन्य स्थिति २६ सागरोपम की और उत्कृष्ट २७ सागरोपम की कही गई है।

टीका–पांचवें ग्रैवेयक अर्थात् दूसरे त्रिक के दूसरे देवलोक के देवों का जघन्य और उत्कृष्ट आयुप्रमाण कम से कम २६ सागरोपम का और उत्कृष्ट २७ सागरोपम का इस गाथा मे कहा गया है।

अब छठे ग्रैवेयक के विषय में कहते हैं–

सागरा अट्ठवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
छट्ठम्मि जहन्नेणं, सागरा सत्तवीसई ॥ २३८ ॥

सागराण्यष्टाविंशतिस्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
षष्ठे जघन्येन, सागराणि सप्तविंशतिः ॥ २३८ ॥

पदार्थान्वयः—**छट्ठम्मि**—छठे ग्रैवेयक में, **जहन्नेणं**—जघन्य, **ठिई**—स्थिति, **सत्तवीसई**—सत्ताईस, **सागरा**—सागरोपम की, **तु**—और, **उक्कोसेण**—उत्कृष्ट, **अट्ठवीसं**—अट्ठाईस, **सागरा**—सागरोपम की, **भवे**—होती है।

मूलार्थ—छठे ग्रैवेयक में रहने वाले देवों की जघन्य स्थिति २७ सागर की और उत्कृष्ट स्थिति २८ सागर की होती है।

टीका—इस गाथा मे द्वितीय त्रिक के तीसरे देवलोक अर्थात् अठारहवें देवलोक के देवो की आयु का वर्णन किया गया है। इस देवलोक के विमान केवल शुक्ल वर्ण के ही होते है।

अब सातवें ग्रैवेयक के सम्बन्ध में कहते हैं—

सागरा अउणतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
सत्तमम्मि जहन्नेणं, सागरा अट्ठवीसई ॥ २३९ ॥

सागराण्येकोनत्रिंशत्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
सप्तमे जघन्येन, सागराण्यष्टाविंशतिः ॥ २३९ ॥

पदार्थान्वयः—**सत्तमम्मि**—सातवें ग्रैवेयक में, **जहन्नेणं**—जघन्य, **ठिई**—स्थिति, **अट्ठवीसई**—अट्ठाईस, **सागरा**—सागरोपम की, **तु**—पुनः, **उक्कोसेण**—उत्कृष्ट स्थिति, **अउणतीसं**—ऊनतीस, **सागरा**—सागरोपम की, **भवे**—होती है।

मूलार्थ—सातवें ग्रैवेयक में निवास करने वाले देवों की जघन्य आयु २८ सागर की और उत्कृष्ट आयु २९ सागर की होती है।

टीका—तृतीय त्रिक के प्रथम अर्थात् सातवें ग्रैवेयक और उन्नीसवें देवलोक में रहने वाले देवों की आयु कम से कम २८ सागरोपम की और अधिक से अधिक २९ सागरोपम की मानी गई है।

अब आठवें ग्रैवेयक के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा—

तीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
अट्ठमम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणतीसई ॥ २४० ॥

त्रिंशत्तु सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
अष्टमे जघन्येन, सागराणि एकोनत्रिंशत् ॥ २४० ॥

पदार्थान्वयः—**अट्ठमम्मि**—अष्टम ग्रैवेयक में, **जहन्नेणं**—जघन्य, **ठिई**—स्थिति, **अउणतीसई**—ऊनतीस, **सागरा**—सागरोपम की, **तु**—पुनः, **उक्कोसेण**—उत्कृष्ट स्थिति, **तीसं**—तीस, **सागराइं**—सागर की, **भवे**—होती है।

मूलार्थ–आठवें ग्रैवेयक में जघन्य स्थिति २९ सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति ३० सागरोपम की कही गई है।

टीका–इस गाथा में तीसरे त्रिक के दूसरे देवलोक मे अर्थात् आठवें ग्रैवेयक में उत्पन्न होने वाले देवो की आयु का प्रमाण बताया गया है।

अब नवमें ग्रैवेयक के विषय में कहते हैं–

सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
नवमम्मि जहन्नेणं, तीसई सागरोवमा ॥ २४१ ॥

सागराणि एकत्रिंशत्तु, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
नवमे जघन्येन, त्रिंशत्सागरोपमाणि ॥ २४१ ॥

पदार्थान्वयः–नवमम्मि–नवम ग्रैवेयक में, **उक्कोसेण**–उत्कृष्ट, **ठिई**–स्थिति, **इक्कतीसं**–इकत्तीस, **सागरा**–सागर की, **भवे**–होती है, **जहन्नेणं**–जघन्य स्थिति, **तीसई सागरोवमा**–तीस सागरोपम की होती है।

मूलार्थ–नवम ग्रैवेयक देवलोक के देवों की जघन्य आयु ३० सागरोपम की और उत्कृष्ट ३१ सागरोपम की होती है।

टीका–इस गाथा में तीसरे त्रिक के तीसरे देवलोक में अर्थात् नवमे ग्रैवेयक और इक्कीसवे देवलोक में रहने वाले देवो की उत्कृष्ट और जघन्य आयु का वर्णन किया गया है। प्रथम त्रिक मे १११, दूसरे त्रिक में १०७ और तीसरे में १०० विमान है।

अव्यवहार-राशि की अपेक्षा व्यवहार-राशि वाले जीव २१वे देवलोक तक अनन्त बार जा आए हैं, इसलिए देवलोक की प्राप्ति कोई दुर्लभ नहीं है, किन्तु सम्यक्त्व का प्राप्त होना दुर्लभ है।

अब चारों अनुत्तर विमानों के विषय में कहते हैं–

तेत्तीसा सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
चउसुंपि विजयाईसु, जहन्नेणेक्कतीसई ॥ २४२ ॥

त्रयस्त्रिंशत् सागराणि, उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
चतुर्ष्वपि विजयादिषु, जघन्येनैकत्रिंशत् ॥ २४२ ॥

पदार्थान्वयः–चउसुंपि–चारो ही, **विजयाईसु**–विजयादि विमानों में, **जहन्नेण**–जघन्य, **इक्कतीसई**–इकत्तीस सागरोपम की, **उक्कोसेण**–उत्कृष्ट, **ठिई**–स्थिति, **तेत्तीसा सागराइं**–तेतीस सागरोपम की, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, इन चारों ही विमानों के देवों की जघन्य आयु ३१ सागरोपम की और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की होती है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विजयादि चारों अनुत्तर विमानों में रहने वाले देवों की आयु का वर्णन किया गया है। इन विमानों में रहने वाले सभी देव, एकान्त सम्यक्-दृष्टि होते हैं और अधिक से अधिक १५ भव लेकर मोक्ष में चले जाने वाले होते हैं।

अब सर्वार्थसिद्धि के देवों की स्थिति का वर्णन करते हैं—

अजहन्नमणुक्कोसा, तेत्तीसं सागरोवमा ।
महाविमाणे सव्वट्ठे, ठिई एसा वियाहिया ॥ २४३ ॥

अजघन्याऽनुत्कृष्टा, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ।
महाविमाने सर्वार्थे, स्थितिरेषा व्याख्याता ॥ २४३ ॥

पदार्थान्वयः—**सव्वट्ठे महाविमाणे**—सर्वार्थसिद्धि महाविमान में, **अजहन्नमणुक्कोसा**—अजघन्य अनुत्कृष्ट, **तेत्तीसं**—तेतीस, **सागरोवमा**—सागरोपम की, **एसा**—यह, **ठिई**—स्थिति—आयुमान, **वियाहिया**—प्रतिपादन की गई है।

मूलार्थ—सर्वार्थसिद्धि महाविमान में रहने वाले देवों की अजघन्य-अनुत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की कथन की गई है।

टीका—सर्वार्थसिद्धि विमान अर्थात् २६वें देवलोक में रहने वाले देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु एक ही जैसी है। तात्पर्य यह है कि उनकी जघन्य और उत्कृष्ट आयु ३३ सागरोपम की है। इस स्वर्ग के देव शुद्ध अवधिज्ञान से युक्त हुए सर्व प्रधान सुखों का अनुभव करके फिर एक ही जन्म में अर्थात् एक ही भव करके मोक्ष जाने वाले होते है।

अब इनकी कायस्थिति के विषय में कहते हैं—

जा चेव उ आउठिई, देवाणं तु वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥ २४४ ॥

य चैव तु आयुःस्थितिः, देवानान्तु व्याख्याता ।
सा तेषां कायस्थितिः, जघन्योत्कृष्टा भवेत् ॥ २४४ ॥

पदार्थान्वयः—**देवाणं**—देवों की, **जा**—जो, **उ**—पुनः, **आउठिई**—आयुस्थिति, **वियाहिया**—कथन की गई है, **तु**—पुनः, **सा**—वही, **तेसिं**—उनकी, **कायठिई**—कायस्थिति, **जहन्नुक्कोसिया**—जघन्य और उत्कृष्ट, **भवे**—होती है।

मूलार्थ—देवों की जो जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति वर्णन की गई है वही उनकी जघन्य और उत्कृष्ट कायस्थिति होती है।

टीका—इन देवों की जिस-जिस प्रकार की आयुस्थिति बतलाई गई है वही उनकी कायस्थिति समझ लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि इनकी आयुस्थिति और कायस्थिति एक जैसी ही है, क्योंकि देवता मरकर फिर देवता नहीं होता, इसलिए आयुस्थिति के अतिरिक्त उनकी और किसी प्रकार की कायस्थिति नहीं होती।

अब इनके अन्तरकाल के विषय में कहते हैं, यथा–

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, देवाणं हुज्ज अंतरं ॥ २४५ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्टम्, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये, देवानां भवेदन्तरम् ॥ २४५ ॥

पदार्थान्वयः–देवाणं–देवों के, **सए काए**–स्वकाय के, **विजढम्मि**–छोडने पर, **जहन्नयं**–जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**–अन्तर्मुहूर्त्त, और, **उक्कोसं**–उत्कृष्ट, **अणंतकालं**–अनन्तकाल का, **अंतरं**–अन्तर, **हुज्ज**–होता है।

मूलार्थ–देवों के स्वकाय को छोड़ने पर जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का होता है।

टीका–जिस समय देवता देवलोक से च्यवकर मनुष्य या तिर्यक् लोक मे आता है, तब वहां से फिर उसी देवलोक में जाने के लिए उसे कितना समय लगता है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते है कि कम से कम तो अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल का समय लग जाता है। तात्पर्य यह है कि कम से कम वापिस आए तब तो अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् आ जाता है और अधिक से अधिक वह अनन्तकाल के पश्चात् आकर जन्म ले सकता है।

तथा–इस विषय में जो विशेष है, अब उसका वर्णन करते हैं–

अणंतकालमुक्कोसं, वासपुहुत्तं जहन्नयं ।
आणयाईण देवाणं, गेविज्जाणं तु अंतरं ॥ २४६ ॥

अनन्तकालमुत्कृष्ट, वर्षपृथक्त्वं जघन्यकम् ।
आनतादीनां देवानां ग्रैवेयकानान्तु अन्तरम् ॥ २४६ ॥

पदार्थान्वयः–आणयाईण–आनतादि, **गेविज्जाणं**–नवग्रैवेयक, **देवाणं**–देवो का, **जहन्नयं**–जघन्य, **अंतरं**–अन्तर, **वासपुहुत्तं**–पृथक् वर्ष, **तु**–और, **उक्कोसं**–उत्कृष्ट, **अणतकालं**–अनन्त-काल का होता है।

मूलार्थ–आनतादि नवग्रैवेयक देवों का जघन्य अन्तरकाल पृथक् वर्ष और उत्कृष्ट अनन्त काल का होता है।

टीका–नवमे स्वर्ग से लेकर इक्कीसवें स्वर्ग तक के देवो का अन्तरकाल तो पृथक् वर्ष है और उत्कृष्ट अनन्तकाल तक का होता है। दो से लेकर ९ तक की संख्या को पारिभाषिक शब्दावली में पृथक् कहते है। इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई देव इन उक्त देवलोकों से च्यवकर मनुष्यलोक मे जन्म धारण करता है, तब जघन्य पृथक् वर्ष के पश्चात् फिर उक्त स्वर्गों में जाकर उत्पन्न होता है, क्योंकि यदि वह निगोद मे चला गया तो वहां पर वह अनन्तकाल तक जन्म-मरण करता रहेगा। इतना और भी ध्यान रहे कि नवमें देवलोक से लेकर ऊपर के देवलोकों मे जीव मनुष्ययोनि से ही जाकर उत्पन्न होते हैं और वहां से च्यव कर मनुष्ययोनि में ही जन्म धारण करते हैं।

अब अनुत्तर विमानवासी देवों के अन्तरमान का वर्णन करते हैं—

संखेज्जसागरुक्कोसं, वासपुहुत्तं जहन्नयं ।
अणुत्तराणं देवाणं, अंतरेयं वियाहियं ॥ २४७ ॥

सङ्‌ख्येयसागरोत्कृष्टं, वर्षपृथक्त्वं जघन्यकम् ।
अनुत्तराणां देवानाम्, अन्तरमिदं व्याख्यातम् ॥ २४७ ॥

पदार्थान्वयः—अणुत्तराणं—अनुत्तर विमानवासी, **देवाणं**—देवों का, **जहन्नयं**—जघन्य, **वासपुहुत्तं**—पृथक् वर्ष और, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **संखेज्जसागरं**—संख्येय सागरों का, **अंतरेयं**—यह अन्तरकाल, **वियाहियं**—वर्णन किया गया है।

मूलार्थ—अनुत्तर विमानवासी देवों का जघन्य अन्तरकाल पृथक् वर्ष और उत्कृष्ट संख्येय सागरों का कथन किया गया है।

टीका—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित, इन चार विमानो में रहने वाले देवो के जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल का प्रस्तुत गाथा मे वर्णन किया गया है। वह उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक तो सख्येय सागरो का माना गया है और जघन्य अर्थात् कम से कम पृथक् वर्ष का प्रतिपादन किया गया है। जैन-परिभाषा में २ से ९ तक के अकों की पृथक् संज्ञा है। तथा च—जघन्यतया, २ से ९ वर्षो की आयु वाला चारो अनुत्तर विमानों मे जा सकता है और उत्कृष्टता मे संख्यात सागरों के पश्चात् जा सकता है, यही इस गाथा का फलितार्थ है। छब्बीसवें सर्वार्थसिद्धि-नामक देवलोक मे जिन देवो का निवास होता है वे सब एकावतारी अर्थात् एक बार मनुष्य-जन्म धारण करके मोक्ष में जाने वाले होते हैं।

अब प्रकारान्तर से इनका वर्णन करते हैं, यथा—

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ २४८ ॥

एतेषां वर्णतश्चैव, गन्धतो रसस्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि, विधानानि सहस्रशः ॥ २४८ ॥

पदार्थान्वयः—एएसिं—इन देवों के, **वण्णओ**—वर्ण से, **च**—और, **गंधओ**—गन्ध से, **रसफासओ**—रस और स्पर्श से, **वा**—तथा, **संठाणादेसओ**—संस्थान के आदेश से, **वि**—भी, **सहस्ससो**—हजारों, **विहाणाइं**—भेद हो जाते हैं, **एव**—पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ—इन देवों के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानादि की अपेक्षा से हजारों अवान्तर भेद हो जाते हैं।

टीका—उक्त चारों प्रकार के देवों के—वर्ण, गन्ध और रसादि के तारतम्य से भी अनेकानेक अर्थात् असंख्य भेद हो जाते हैं।

अब प्रस्तुत विषय का निगमन करते हुए कहते हैं, कि—

संसारत्था य सिद्धा य, इय जीवा वियाहिया ।
रूविणो चेवारूवी य, अजीवा दुविहावि य ॥ २४९ ॥

संसारस्थाश्च सिद्धाश्च, इति जीवा व्याख्याताः ।
रूपिणश्चैवारूपिणश्च, अजीवा द्विविधा अपि च ॥ २४९ ॥

पदार्थान्वयः—संसारत्था—संसारी, **य**—और, **सिद्धा**—सिद्ध, **इय**—इस प्रकार से, **जीवा**—जीव, **वियाहिया**—कथन किए गए हैं, **च**—फिर, **रूविणो**—रूपी, **य**—और, **अरूवी**—अरूपी, **अजीवा**—अजीव, **अवि**—भी, **दुविहा**—दोनों प्रकार से वर्णन किए गए है।

मूलार्थ—इस प्रकार से संसारी और सिद्ध जीवों का वर्णन किया गया है, तथा रूपी और अरूपी भेद से दो प्रकार के अजीव पदार्थों का भी कथन किया गया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा मे आरम्भ किए गए विषय का उपसहार करते हुए उसका सक्षेप से वर्णन कर दिया गया है। जैसे कि—जीवतत्त्व के संसारी और सिद्ध ये दो भेद हैं, जिनका कि ऊपर विस्तार से वर्णन किया जा चुका है तथा रूपी और अरूपी भेद से अजीव तत्त्व भी दो प्रकार का माना गया है, जिसका कि पहले ही अच्छी तरह से वर्णन हो चुका है।

तात्पर्य यह है कि अध्ययन के आरम्भ में शिष्यों को सम्बोधन करके कहा गया था कि तुम जीव और अजीव तत्त्व के विभाग को श्रवण करो, सो उसी के अनुसार इस अध्ययन में उस विषय का विस्तृत वर्णन कर दिया गया है, यही इस गाथा का भाव है।

क्या श्रवणमात्र से ही यह जीव कृतार्थ हो जाता है, या इसके लिए कोई और कर्त्तव्य भी है, अब इसके सम्बन्ध में कहते हैं—

इय जीवमजीवे य, सोच्चा सद्दहिऊण य ।
सव्वनयाणमणुमए, रमेज्ज संजमे मुणी ॥ २५० ॥

इति जीवानजीवांश्च, श्रुत्वा श्रद्धाय च ।
सर्वनयानामनुमते, रमेत संयमे मुनिः ॥ २५० ॥

पदार्थान्वयः—इय—इस प्रकार, **जीवं**—जीव, **य**—और, **अजीवे**—अजीव के स्वरूप को, **सोच्चा**—सुनकर, **य**—तथा, **सद्दहिऊण**—श्रद्धान करके, **सव्वनयाणं**—सर्व नयों के, **अणुमए**—अनुकूल होकर, **मुणी**—मुनि, **संजमे**—संयम में, **रमेज्ज**—रमण करे।

मूलार्थ—इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप को सुनकर तथा हृदय में दृढ़ निश्चय कर सर्व नैगमादि नयों के अनुसार होकर भिक्षु संयम में रमण करे।

टीका—इस गाथा मे जीवादि पदार्थों का श्रवण करके उन पर सम्यक् श्रद्धान लाते हुए स्याद्वाद और नयश्रुत के अनुसार संयम के अनुष्ठान का उपदेश किया गया है। यदि संक्षेप से कहे तो इस अध्ययन में ज्ञान और दर्शन पूर्वक चारित्र की आराधना करने का आदेश दिया गया है; अर्थात् सम्यक्-दर्शन और

ज्ञान पूर्वक ही चारित्र का पालन करना चाहिए, तथा उत्सर्ग, अपवाद और विधिवाद आदि का अनुसरण करना भी नितान्त आवश्यक है। इसी के लिए नय शब्द का उल्लेख किया गया है।

अब संयमरत मुनि के अन्य कर्त्तव्यों का वर्णन करते हैं, यथा-

तओ बहूणि वासाणि, सामण्णमणुपालिया ।
इमेण कमजोगेणं, अप्पाणं संलिहे मुणी ॥ २५१ ॥

ततो बहूनि वर्षाणि, श्रामण्यमनुपाल्य ।
अनेन क्रमयोगेन, आत्मानं संलिखेन्मुनिः ॥ २५१ ॥

पदार्थान्वयः-**तओ**-तदनन्तर, **बहूणि**-बहुत, **वासाणि**-वर्षों तक, **सामण्णं**-श्रमणधर्म को, **अणुपालिय**-अनुपालन करके, **इमेण**-इस, **कमजोगेणं**-क्रमयोग से, **मुणी**-साधु, **अप्पाणं**-अपनी आत्मा को, **संलिहे**-द्रव्य और भाव से कृश करने का यत्न करे।

मूलार्थ-तदनन्तर बहुत वर्षों तक संयम का पालन करके इस क्रमयोग से मुनि अपनी आत्मा को द्रव्य और भाव से कृश करे।

टीका-इस गाथा में सलेखना और उसके काल का विधान किया गया है। तात्पर्य यह है कि जब मुनि को दीक्षित हुए बहुत वर्ष व्यतीत हो जाएं, तथा श्रुत-वाचना आदि के द्वारा उसने श्रीसंघ का भूरि-भूरि उपकार भी कर दिया हो और अपने शिष्यवर्ग को भी उपकार के लिए तैयार कर दिया हो, तब वह सलेखना में प्रवृत्त होने का यत्न करे, अर्थात् तप के द्वारा अपनी आत्मा को कृश करने का उद्योग करे।

इस कथन से यह भली-भांति प्रमाणित होता है कि साधु, संलेखना तो करे, परन्तु दीक्षित होने के साथ ही नहीं, किन्तु बहुत वर्षों के बाद; अर्थात् श्रुतादि के द्वारा धर्म की प्रभावना करने के पश्चात् सलेखना मे प्रवृत्ति करे। इसी आशय से '**बहूणि वासाणि**' यह पद दिया गया है। अतः जब निरतिचार सयम की आराधना करते-करते वर्षों का समय व्यतीत हो गया हो, तब संलेखना के लिए उद्यत होना चाहिए, यही इस गाथा का निष्कर्ष है।

परन्तु यह भी एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि स्वल्प-वय के मुनि में अर्थात् जिसका आयुकाल बहुत कम शेष रह गया हो, उसमे इसका अपवाद है।

अब संलेखना के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य स्वरूपों का वर्णन करते हैं-

बारसेव उ वासाइं, संलेहुक्कोसिया भवे ।
संवच्छरं मज्झिमिया, छम्मासा य जहन्निया ॥ २५२ ॥

द्वादशैव तु वर्षाणि, संलेखोत्कृष्टा भवेत् ।
संवत्सरं मध्यमिका, षण्मासा च जघन्यका ॥ २५२ ॥

पदार्थान्वयः-**बारसेव**-बारह ही, **वासाइं**-वर्षों की, **संलेहा**-संलेखना, **उक्कोसिया**-उत्कृष्ट, **भवे**-होती है, **संवच्छरं**-वर्ष प्रमाण, **मज्झिमिया**-मध्यम, **य**-और, **छम्मासा**-छः महीनों की, **जहन्निया**-जघन्य होती है।

मूलार्थ–उत्कृष्ट संलेखना १२ वर्ष की, मध्यम १ वर्ष की और जघन्य ६ महीने की होती है।

टीका–जिसके अनुष्ठान से द्रव्य से तो शरीर कृश हो जाए और भाव से कषाय भी कृश हो जाएं, उसी का नाम संलेखना है। उसके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य, ये तीन भेद हैं। इनमे उत्कृष्ट १२ वर्ष की, मध्यम १ वर्ष की और जघन्य छः मास की है तथा जिस समय शेष आयु का निश्चय हो जाए, उस समय अनशनादि के द्वारा शरीर को और उपशमादि के द्वारा कषायों को कृश बनाने का प्रयत्न करे। इसी के लिए संलेखना का विधान है।

अब उत्कृष्ट संलेखना के सम्बन्ध में कहते हैं, यथा–

पढमे वासचउक्कम्मि, विगई-निज्जूहणं करे ।
बिइए वासचउक्कम्मि, विचित्तं तु तवं चरे ॥ २५३ ॥

प्रथमे वर्षचतुष्के, विकृतिनिर्यूहणं कुर्यात् ।
द्वितीये वर्षचतुष्के, विचित्रं तु तपश्चरेत् ॥ २५३ ॥

पदार्थान्वयः–पढमे–प्रथम, **वास**–वर्ष, **चउक्कम्मि**–चतुष्क में, **विगई**–विकृति-पदार्थो का, **निज्जूहणं**–परित्याग, **करे**–करे, **तु**–फिर, **बिइए**–द्वितीय, **वासचउक्कम्मि**–वर्षचतुष्क मे, **विचित्तं**–विचित्र-नाना प्रकार के, **तवं चरे**–तप का आचरण करे।

मूलार्थ–प्रथम के चार वर्षों में विकृति-पदार्थों का त्याग करे और दूसरे चार वर्षो में नाना प्रकार की तपश्चर्या का अनुष्ठान करे।

टीका–उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष की कही गई है। उसके चार-चार वर्ष के तीन विभाग करके पहले और दूसरे चार-चार वर्षों में आचरणीय विषय का इस गाथा में वर्णन किया गया है। यथा–प्रथम के चार वर्षों मे–विकृति-पदार्थ अर्थात् घृत, दुग्ध और दधि आदि का परित्याग कर दे और दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार के उपवास आदि तपो का आचरण करना चाहिए। कारण यह है कि सम्प्रदाय मे ऐसी प्रथा चली आती है कि पारने के दिन उद्गम-विशुद्ध सर्व प्रकार के आहार कल्पनीय होते है, अतएव संलेखना में प्रवृत्त हुए मुनि के लिए विकृत पदार्थो का निषेध किया गया है।

उक्त प्रकार से आठ वर्ष पूरे करने के अनन्तर अब तीसरे चार वर्षो के तप का उल्लेख करते हैं, यथा–

एगंतरमायामं, कट्टु संवच्छरे दुवे ।
तओ संवच्छरद्धं तु, नाइविगिट्ठं तवं चरे ॥ २५४ ॥

एकान्तरमायामं, कृत्वा संवत्सरौ द्वौ ।
ततः संवत्सरार्द्धन्तु, नातिविकृष्टं तपश्चरेत् ॥ २५४ ॥

पदार्थान्वयः–एगंतरं–एकान्त तप, **आयामं**–आचाम्लयुक्त, **दुवे**–दो, **संवच्छरे**–वर्ष पर्यन्त, **कट्टु**–करके, **तओ**–तदनन्तर, **तु**–फिर, **संवच्छरद्धं**–छः मास तक, **नाइविगिट्ठं**–न अति विकट, **तवं**–तप का, **चरे**–आचरण करे।

मूलार्थ–आचाम्ल (आयंबिल) के पारणे से दो वर्ष पर्यन्त एकान्तर तप का आचरण करे, फिर छः मास तक कोई विकट तपस्या न करे।

टीका–तीसरे वर्ष चतुष्क में दो वर्ष पर्यन्त एकान्तर तप करे, अर्थात् एक दिन उपवास और एक दिन आचाम्ल। तात्पर्य यह है कि उपवास का पारणा आचाम्ल से करे। इस प्रकार जब दस वर्ष पूरे हो जाए तब उसके अनन्तर छः मास तक साधारण तपस्या करे, अर्थात् किसी विकट तप का अनुष्ठान न करे।

अब फिर कहते हैं–

तओ संवच्छरद्धं तु, विगिट्ठं तु तवं चरे ।
परिमियं चेव आयामं, तम्मि संवच्छरे करे ॥ २५५ ॥

ततः संवत्सरार्द्धन्तु, विकृष्टन्तु तपश्चरेत् ।
परिमितञ्चैवायामं, तस्मिन् संवत्सरे कुर्यात् ॥ २५५ ॥

पदार्थान्वयः–तओ–तदनन्तर, **तु**–पुनः, **संवच्छरद्धं**–आधे वर्ष तक, **विगिट्ठं**–विकट, **तव चरे**–तप का आचरण करे, **तु**–और, **परिमियं**–परिमित, **आयामं**–आचाम्ल, **तम्मि**–उस ग्यारहवे, **सवच्छरे**–वर्ष मे, **करे**–करे, **च-एव**–पादपूर्णार्थक है।

मूलार्थ–फिर छः मास तक विकट तप का आचरण करे, परन्तु उस तप के पारणे में आचाम्ल तप ही करे।

टीका–दस वर्ष छः मास के अनन्तर और ग्यारहवे वर्ष के अवशिष्ट छः मास मे विकट तपस्या करे, परन्तु पारणे में आचाम्ल तप ही करे। तात्पर्य यह है कि ग्यारहवें वर्ष के पहले छः मासो मे तो साधारण तपस्या करे और दूसरे छः मास मे कठिन तपस्या का आरम्भ कर दे, परन्तु पारणे मे तो आचाम्ल ही करे, अर्थात् आचाम्ल से ही उपवासादि का पारणा करे।

अब बारहवें वर्ष में आचरण करने योग्य तपस्या का वर्णन करते हैं–

कोडीसहियमायामं, कट्टु संवच्छरे मुणी ।
मासद्धमासिएणं तु, आहारेणं तवं चरं ॥ २५६ ॥

कोटीसहितमायामं, कृत्वा संवत्सरे मुनिः ।
मासिकेनार्द्धमासिकेन तु, आहारेण तपश्चरेत् ॥ २५६ ॥

पदार्थान्वयः–कोडीसहियं–कोटी-सहित, **आयामं**–आचाम्ल-तप, **संवच्छरे**–बारहवे वर्ष पर्यन्त, **मुणी**–मुनि, **कट्टु**–करके, **तु**–पुनः, **मासद्धं**–मासार्द्ध अर्थात् अर्द्धमास, **मासिएणं**–मास पर्यन्त, **आहारेणं**–आहार के त्याग से, **तवं चरे**–तप का आचरण करे।

मूलार्थ–मुनि बारहवें वर्ष में एक वर्ष पर्यन्त कोटी-सहित तप करे और आचाम्ल की पारणा करे, फिर पक्ष वा मास के आहार-त्याग से अनशन व्रत धारण कर ले।

टीका–जब ग्यारह वर्ष समाप्त हो जाएं, तब बारहवें वर्ष में एक वर्ष पर्यन्त मुनि कोटीसहित तपस्या करे। जिस प्रत्याख्यान का आदि और अन्त एक मिलता हो उस प्रत्याख्यान को सकोटि अर्थात्

कोटि-सहित तप कहते है। यथा-किसी ने आज आचाम्ल किया और दूसरे दिन भी आचाम्ल ही किया हो, तब प्रथम और द्वितीय दिन की कोटि एक मिल गई, बस इसी को कोटी-सहित तप कहा गया है। तथा किसी-किसी आचार्य का मत है कि आज किसी एक व्यक्ति ने आचाम्ल तप धारण कर लिया और दूसरे दिन उसने किसी अन्य तप का ग्रहण कर लिया, परन्तु तीसरे दिन उसने फिर आचाम्ल तप को ग्रहण कर लिया हो, तो यह तप भी सकोटी अर्थात् कोटिसहित तप कहलाता है। कहा भी है-**''प्रस्थापको दिवसः, प्रत्याख्यानस्य निष्ठापकश्च यत्र समितः द्वौ तु। तद् भण्यते कोटीसहितमेव''** इस प्रकार बारहवें वर्ष में सकोटि तप का आचरण करने के अनन्तर यदि आयु शेष रहे तो एक पक्ष वा एक मास के आहार-त्याग के द्वारा भक्त प्रत्याख्यान आदि अनशन व्रत को धारण कर ले।

सारांश यह है कि एक वर्ष पर्यन्त सकोटि तप का अनुष्ठान करके फिर एक पक्ष या एक मास के भक्त-प्रत्याख्यान से इस पार्थिव शरीर का त्याग करके शुभ-गति को प्राप्त होने का प्रयत्न करे, यही इस गाथा का अभिप्राय है।

यहा इतना ध्यान रहे कि जिस प्रकार की शक्ति हो, उसके अनुरूप ही भक्त-प्रत्याख्यान आदि तप का ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् जब तप के द्वारा शरीर कृश हो जाए और उपशम के द्वारा कषाय कृश हो जाएं, तब अनशन व्रत धारण कर लेना चाहिए।

अब त्यागने योग्य अशुभ भावनाओं का वर्णन करते हैं-

कंदप्पमाभिओगं च, किव्विसियं मोहमासुरत्तं च ।
एयाओ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहया होंति ॥ २५७ ॥

कन्दर्पआभियोग्यञ्च, किल्विषिकं मोह आसुरत्वञ्च ।
एतास्तु दुर्गतयः, मरणे विराधका भवन्ति ॥ २५७ ॥

पदार्थान्वयः-कंदप्पं-कंदर्प-भावना, **आभिओगं**-अभियोग-भावना, **किव्विसियं**-किल्विष-भावना, **मोहं**-मोह-भावना, **च**-और, **आसुरत्तं**-आसुरत्व-भावना, **एयाओ**-ये भावनाए, **दुग्गईओ**-दुर्गति की हेतु होने से दुर्गतिरूप हैं, इनके प्रभाव से जीव, **मरणम्मि**-मरण के समय, **विराहया**-विराधक, **होंति**-होते हैं।

मूलार्थ-कन्दर्प-भावना, अभियोग-भावना, किल्विष-भावना, मोह-भावना और आसुरत्व-भावना, ये भावनाएं दुर्गति की हेतुभूत होने से दुर्गतिरूप ही कही जाती हैं, तथा मरण के समय इन भावनाओं से जीव विराधक हो जाते हैं।

टीका-जिन भावनाओ से यह जीव सुगति का नाश करके दुर्गति के हेतुभूत कर्मो का संचय कर लेता है, उन भावनाओं का दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में कराया गया है और इनके प्रभाव से सयम का विराधक होता हुआ जीव दुर्गतियों मे जाता है, इसलिए ये भावनाएं दुर्गतिरूप हैं। १ कन्दर्प-भावना, अर्थात् कामचेष्टा की भावना, २. अभियोग-भावना-मंत्र-तंत्रादि करने की भावना, ३. किल्विष-भावना-निन्दा करने की भावना, ४. मोह-भावना-विषयों की भावना, ५. आसुरत्व-भावना-क्रोध करने की भावना, ये पांचों ही भावनाएं वास्तव में दुर्भावनाएं हैं, क्योंकि इनसे दुर्गति की प्राप्ति होती है। मरण-समय में यदि इन भावनाओं का सद्भाव रहे तो जीव विराधक हो जाता है और जिस भावना में वह काल करता

है, उसी के अनुसार आगामी गति में जाकर वह उत्पन्न होता है, अतः मरण के पहले इन भावनाओं की विधिपूर्वक आलोचना और प्रायश्चित करने की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे कि मृत्यु-समय में रही हुई ये भावनाएं इस जीव को दुर्गति में न ले जाएं। इसी आशय से प्रस्तुत गाथा में **"मरणम्मि"** पाठ दिया गया है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं, यथा–

मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥ २५८ ॥

मिथ्यादर्शनरक्ताः, सनिदानाः खलु हिंसकाः ।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः ॥ २५८ ॥

पदार्थान्वयः–मिच्छादंसण–मिथ्यादर्शन में, **रत्ता**–अनुरक्त, **सनियाणा**–निदानसहित, **हिंसगा**–हिंसक, **इय**–इस प्रकार के, **जे**–जो, **जीवा**–जीव, **मरंति**–मरते है, **हु**–निश्चय मे, **पुण**–फिर, **तेसिं**–उनको, **दुल्लहा**–दुर्लभ है, **बोही**–सम्यक्त्व की प्राप्ति।

मूलार्थ–जो जीव मिथ्यादर्शन अर्थात् मिथ्यात्व में अनुरक्त हैं, तथा निदानपूर्वक क्रियानुष्ठान करते हैं और हिंसा में प्रवृत्त होते हैं, इस प्रकार के मनुष्यों को मृत्यु के पश्चात् बोधिलाभ अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति का होना अत्यन्त कठिन है।

टीका–अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि रखने का नाम मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन है, तथा फल की आशा से किया गया क्रियानुष्ठान सनिदान कहलाता है। हिंसा करने वाले जीवों को हिंसक कहते है। तात्पर्य यह है कि जो जीव मिथ्यादर्शन में रुचि रखते हैं, तथा जिनका धार्मिक क्रियानुष्ठान निदानपूर्वक है, और जो हिसा में प्रवृत्त हैं, उनको मृत्यु के पश्चात् परलोक में बोधि का लाभ होना अर्थात् सद्धर्म की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि सद्धर्म अर्थात् जिन-धर्म की प्राप्ति क्षयोपशमभाव पर अवलंबित है और मिथ्यादर्शनादि उसके प्रतिबन्धक हैं, इसलिए विचारशील पुरुष मिथ्यादर्शन सनिदान-क्रिया और हिसक-प्रवृत्ति से सर्वथा अलग रहने का ही यत्न करे।

अब मिथ्यादर्शन के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के विषय में कहते हैं, यथा–

सम्मद्दंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥ २५९ ॥

सम्यग्दर्शनरक्ताः, अनिदानाः शुक्ललेश्यामवगाढाः ।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां सुलभा भवेद् बोधिः ॥ २५९ ॥

पदार्थान्वयः–जे–जो, **जीवा**–जीव, **सम्मद्दंसणरत्ता**–सम्यग्दर्शन में अनुरक्त हैं, **अनियाणा**–निदान-रहित हैं, और, **सुक्कलेसं**–शुक्ललेश्या में, **ओगाढा**–प्रतिष्ठित हैं, **इय**–इस प्रकार के जो जीव, **मरंति**–मरते हैं, **तेसिं**–उनको परलोक में, **बोही**–बोधिलाभ–जिनधर्म की प्राप्ति, **सुलहा**–सुलभ, **भवे**–होती है।

मूलार्थ–जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त, निदान कर्म से रहित और शुक्ललेश्या में प्रतिष्ठित हैं, इस प्रकार के जीवों को परलोक में सद्धर्म की प्राप्ति सुलभ है।

टीका—तत्त्व में तत्त्वबुद्धि वा तत्त्व में अभिरुचि होने का नाम सम्यग्दर्शन है। किसी प्रकार के फल की इच्छा न रखकर धार्मिक क्रियाओं का आचरण करना अनिदानता कहा जाता है। आत्मा का शुद्ध परिणाम विशेष शुक्ललेश्या है। जो आत्मा सम्यग्-दर्शन में अनुरक्त, निदानरहित, क्रियानुष्ठान करने वाली और शुक्ललेश्या से युक्त है उनको मृत्यु के पश्चात् परलोक में बोधिलाभ अर्थात् जिन-धर्म की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। तात्पर्य यह है कि पिछले जन्म के शुभ संस्कारो से आगामी जन्म मे उनको सद्धर्म की प्राप्ति होते देर नही लगती। केवल प्राचीन सस्कारों की उद्बोधक-सामग्रीमात्र मिलने की आवश्यकता रहती है।

अब फिर दुर्लभ-बोधि जीव के विषय में कहते हैं, यथा—

मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा कण्हलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥ २६० ॥

मिथ्यादर्शनरक्ताः, सनिदानाः कृष्णलेश्यामवगाढाः ।
इति ये म्रियन्ते जीवाः, तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः ॥ २६० ॥

पदार्थान्वयः—**जे**—जो, **जीवा**—जीव, **मिच्छादंसणरत्ता**—मिथ्यादर्शन में रक्त हैं, **सनियाणा**—निदानसहित और, **कण्हलेसमोगाढा**—कृष्णलेश्या में प्रतिष्ठित हैं, **इय**—इस प्रकार से जो जीव, **मरंति**—मरते हैं, **तेसिं**—उनको, **पुण**—फिर, **बोही**—बोधिलाभ, **दुल्लहा**—दुर्लभ है।

मूलार्थ—जो जीव मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, निदानसहित कर्म करने वाले और कृष्णलेश्या से युक्त हैं उनको मृत्यु के पश्चात् अन्य जन्म में बोधि की प्राप्ति होनी अत्यन्त कठिन है।

टीका—इस गाथा में दुर्लभ-बोधि जीव के लक्षण वर्णन किए गए हैं। यद्यपि यह गाथा पहले भी आ चुकी है, तथापि उसमें कृष्णलेश्या का उल्लेख नही किया गया था। कृष्णलेश्या वाला जीव भी मृत्यु के बाद बोधि अर्थात् सद्धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता, एतदर्थ ही पृथक्रूप से गाथा का उल्लेख किया गया है।

अब सद्दर्शनादि के महत्त्व का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेणं ।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥ २६१ ॥

जिनवचनेऽनुरक्ताः, जिनवचनं ये कुर्वन्ति भावेन ।
अमला असंक्लिष्टाः, ते भवन्ति परीतसंसारिणः ॥ २६१ ॥

पदार्थान्वयः—**जिणवयणे**—जिन-वचन में, **अणुरत्ता**—अनुरक्त, **जिणवयणं**—जिनेन्द्र भगवान् के वचन का, **जे**—जो, **भावेणं**—भाव से, **करेंति**—अनुष्ठान करते हैं, **ते**—वे, **अमला**—मिथ्यात्वादिभाव-मल से रहित, **असंकिलिट्ठा**—रागादि क्लेश से रहित, **परित्तसंसारी**—अल्पसंसारी, **होंति**—होते है।

मूलार्थ—जो पुरुष जिन-वचन में अनुरक्त हैं और जिन भगवान् के कथनानुसार क्रियानुष्ठान करते हैं वे मिथ्यात्वादि मल से और रागादि क्लेशों से रहित होने से अल्पसंसारी होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में जिन-वचन अर्थात् आगमों पर श्रद्धा और विश्वास रखने वाले और

आगमानुसार क्रियानुष्ठान करने वाले जीवों को अल्पसंसारी बताया गया है, अर्थात् उनका संसार-भ्रमण बहुत कम हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वे शीघ्र ही मोक्ष में जाने वाले होते हैं, क्योकि आगम पर श्रद्धा और तदनुसार आचरण करने वाले जोवों का मिथ्यात्वरूप मल दूर हो जाता है और राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले क्लेशादि भी उनसे दूर भाग जाते हैं, तब वे जीव मल और क्लेश से रहित होते हुए नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करते तथा सत्तागत कर्मों की निर्जरा एवं उदय मे आए हुए कर्मों का फल भोगकर, सद्य ही मोक्ष को चले जाते हैं, यही इस गाथा का तात्पर्यार्थ है।

अब जिन-वचन-विषयक अज्ञानता का फल बताते हुए कहते हैं कि-

बालमरणाणि बहुसो, अकाममरणाणि चेव य बहुयाणि ।
मरिहंति ते वराया, जिणवयणं जे न जाणंति ॥ २६२ ॥

बालमरणानि बहुशः, अकाममरणानि चैव च बहुकानि ।
मरिष्यन्ति ते वराकाः, जिनवचनं ये न जानन्ति ॥ २६२ ॥

पदार्थान्वयः-**जे**-जो, **जिणवयणं**-जिन-वचनों को, **न**-नहीं, **जाणंति**-जानते, **ते**-वे, **वराया**-वराक, बेचारे, **बहुसो**-बहुत प्रकार से, **बालमरणाणि**-बालमरण से, **च**-पुनः, **अकाममरणाणि**-अकाम मरण, **बहुयाणि**-बहुत प्रकार से, **मरिहंति**-प्राप्त कर मरेंगे, **एव**-पादपूर्ति मे है।

मूलार्थ-जो जीव जिन-वचनों को नहीं जानते अर्थात् ज्ञानपूर्वक क्रियानुष्ठान मे अबोध हैं, वे बेचारे अनेक बार बाल-मृत्यु और अकाम-मृत्यु को प्राप्त कर मरेंगे।

टीका-सामान्यतया मृत्यु के-बाल-मरण, पंडित-मरण, अकाम-मरण और सकाम-मरण, इस प्रकार चार भेद होते हैं। इनमें बाल-मरण और अकाम-मरण ये दो तो अप्रशस्त है, तथा पंडित-मरण और सकाम-मरण ये दो प्रशस्त माने गए हैं, क्योंकि अप्रशस्त मृत्यु का फल निकृष्ट है और प्रशस्त का उत्कृष्ट होता है, अतः जो जीव बाल और अकाम मृत्यु से मरते हैं, अर्थात् जिनको बाल और अकाम मृत्यु की प्राप्ति होती है वे दीन अर्थात् रंक हैं, कारण यह है कि उनको परलोक में शुभ गति की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि उनमें जिन-वचन-विषयक ज्ञान न होने से वे निरन्तर शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव करते रहते हैं, यही इस गाथा का भावार्थ है।

अब आलोचना की आवश्यकता और उसके सुनने के अधिकार का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि-

बहुआगमविन्नाणा, समाहिउप्पायगा य गुणगाही ।
एएणं कारणेणं, अरिहा आलोयणं सोउं ॥ २६३ ॥

बह्वागमविज्ञानाः, समाध्युत्पादकाश्च गुणग्राहिणः ।
एतेन कारणेन, अर्हा आलोचनां श्रोतुम् ॥ २६३ ॥

पदार्थान्वयः-**बहु**-बहुत से, **आगमविन्नाणा**-आगमों को जानने वाले, **समाहिउप्पायगा**-समाधि के उत्पादक, **य**-और, **गुणगाही**-गुणों के ग्रहण करने वाले, **एएणं**-इस, **कारणेणं**-कारण से, **आलोयणं**-आलोचना, **सोउं**-सुनने के, **अरिहा**-योग्य होते हैं।

मूलार्थ–जो जीव बहुत से आगमों के वेत्ता, समाधि के उत्पादक और गुणों के ग्राहक हैं, उक्त कारणों से वे ही जीव आलोचना सुनने के योग्य माने जाते हैं।

टीका–आलोचना चारित्र-शुद्धि की उत्तम कसौटी है, उसी में चारित्र का सार निहित है। कारण यह है कि जब तक पापो की आलोचना न की जाए तब तक चारित्र का संशोधन नही हो सकता, इसलिए आलोचना की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु आलोचना किस के समक्ष करना अर्थात् प्रमादवशात् लगे हुए पापों का प्रायश्चित्त ग्रहण करने के लिए किसके पास जाना? बस इसी विषय का प्रस्तुत गाथा में वर्णन किया गया है। शास्त्रकार कहते हैं कि आलोचना सुनने के योग्य वे महापुरुष है जो कि आगमो के विषय में पर्याप्त ज्ञान रखते है, अर्थात् श्रुत के विषय में पूरे निष्णात हैं तथा समाधि के उत्पादक अर्थात् देश, काल और व्यक्ति के आशय को जानते हुए मधुर एव सार-गर्भित बोलने वाले है।

तात्पर्य यह है कि जिनके संभाषण से समाधि की उत्पत्ति हो, इसके अतिरिक्त उनमे गुण-ग्राहकता भी होनी चाहिए, अन्यथा समाधि की उत्पत्ति होनी अशक्य है। सारांश यह है कि इस प्रकार के विशिष्ट गुण रखने वाले गुरुजनों से ग्रहण की हुई आलोचना फलवती अर्थात् कर्म-निर्जरा द्वारा चारित्र-शुद्धि का सम्पादन करने वाली होती है। इस प्रकार प्रस्तुत गाथा मे आलोचना देने के अधिकार का वर्णन किया गया है।

अब पूर्वोक्त कन्दर्पादि-भावनाओं का अर्थतः स्वरूप वर्णन करते हुए प्रथम कन्दर्प-भावना के विषय में कहते हैं, यथा–

कंदप्पकुक्कुयाइं तह, सीलसहावहासविगहाहिं ।
विम्हावेंतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥ २६४ ॥

कन्दर्पकौत्कुच्ये तथा, शीलस्वभावहास्यविकथाभिः ।
विस्मापयन् च परं, कन्दर्पी भावनां कुरुते ॥ २६४ ॥

पदार्थान्वयः–**कंदप्प**–कन्दर्प, और, **कुक्कुयाइं**–कौत्कुच्य जिससे दूसरा हसे, इस प्रकार की चेष्टाएं, **तह**–तथा, **सील**–शील, **सहाव**–स्वभाव, **हास**–हास्य, और, **विगहाहिं**–विकथाओं से, **य**–पुनः, **परं**–दूसरे को, **विम्हावेंतो**–विस्मय उत्पन्न करता हुआ, **कंदप्पं**–कन्दर्प सम्बन्धी, **भावणं**–भावना को, **कुणइ**–करता है।

मूलार्थ–साधक कन्दर्प अर्थात् बार-बार हंसना और मुख-विकारादि चेष्टाओं द्वारा तथा हास्य और विकथा आदि के द्वारा अन्य व्यक्तियों को विस्मित करता हुआ कन्दर्प-भावना का आचरण करता है।

टीका–पूर्व (२५७वीं गाथा में) जो कन्दर्पादि-भावनाओं का उल्लेख किया गया है, प्रस्तुत तथा अग्रिम ३ गाथाओ में उन्हीं का विस्तृत स्वरूप बताया गया है। तात्पर्य यह है कि व्रतादि के ग्रहण करने पर भी जो साधु कन्दर्प, कौत्कुच्य, शील, स्वभाव और हास्यादि के द्वारा दूसरों को विस्मय मे डालता है, वह कन्दर्प-भाव का आचरण करता है, अर्थात् इस प्रकार का आचरण करना कन्दर्प-भावना कहलाती है।

कन्दर्प—बार-बार हंसना और वासना-प्रधान चर्चाए करना कन्दर्प-भावना है।

कौत्कुच्य—जिससे दूसरे हंसे, इस प्रकार की शारीरिक चेष्टाएं करना कौत्कुच्य है। इसके भी दो भेद हैं—(क) मुख-नेत्रादि का विलक्षण आकार बना कर दूसरों को हसाना और (ख) विदूषक की भांति दूसरो को हसाने वाले वचनो का प्रयोग करना।

शील—बिना फल की प्रवृत्ति का नाम यहां पर शील है, अर्थात् ऐसी प्रवृत्ति जिसका फल तो कुछ भी नहीं, परन्तु उपस्थित जनों में हास्य उत्पन्न करती है।

स्वभाव—यह प्रसिद्ध ही है।

विकथा—जिस कथा मे कुछ भी सार न हो तथा लाभ के बदले आत्मा में ग्लानि पैदा करने वाली बाते विकथा कहलाती है।

इसके अतिरिक्त यहा पर इतना और भी स्मरण रहे कि देवलोक में एक कन्दर्पी नाम के देव हैं जो कि वहां पर इन्द्रादि देवो के समक्ष भांडों की तरह आचरण करते हैं, अर्थात् जैसे भांड लोग अपनी नानाविध चेष्टाओ से मनुष्यों के कौतूहल को बढ़ाने वाले होते है, उसी प्रकार कन्दर्पी देवों का काम स्वर्ग मे रहने वाले देवो को अपनी भाडो जैसी चेष्टाओं से प्रसन्न करना है। तात्पर्य यह है कि स्वर्ग में उनकी वही स्थिति है जो कि इस लोक मे भांडो की होती है। इसीलिए देवलोक में उनको बड़ी हलकी कक्षा में स्थान दिया जाता है। साराश यह है कि जो साधु, चारित्र ग्रहण करने के अनन्तर उक्त प्रकार की चेष्टाओं द्वारा कन्दर्प-भावना का पोषण करता है, अथवा आलोचना करने पर भी दृढतर अभ्यास के कारण फिर उन्हीं चेष्टाओं मे प्रवृत्त होता है, वह स्वर्ग में जाकर कन्दर्पी देव बनता है, अर्थात् देवो की कौतूहल-वृद्धि के लिए उसे देवों का विदूषक बनना पड़ता है जो कि देवलोक की व्यवस्था मे अतीव जघन्य अर्थात् बहुत तुच्छ कार्य समझा जाता है। इसलिए सयमशील मुमुक्षु जनो को इस कन्दर्प-भावना को कभी भी अपने हृदय में स्थान देने की भूल न करनी चाहिए।

अब अभियोग-भावना के विषय में कहते हैं—

मंताजोगं काउं, भूईकम्मं च जे पउंजंति ।
साय-रस-इड्ढि-हेउं, अभिओगं भावणं कुणइ ॥ २६५ ॥

मन्त्रयोगं कृत्वा, भूतिकर्म च यः प्रयुङ्क्ते ।
सातरसर्द्धिहेतुः, आभियोगीं भावनां कुरुते ॥ २६५ ॥

पदार्थान्वयः—**मंताजोगं**—मत्र-योग, **काउं**—करके, **च**—तथा, **जे**—जो, **भूईकम्मं**—भूति-कर्म, **पउंजंति**—प्रयोग करते हैं जो, **सायरसइड्ढिहेउं**—साता-रस और ऐश्वर्य का हेतु है, वह, **अभिओगं**—अभियोगी, **भावणं**—भावना को, **कुणइ**—करता है।

मूलार्थ—जो पुरुष साता, रस और समृद्धि के लिए मंत्र और भूतिकर्म का प्रयोग करता है, वह अभियोगी-भावना का सम्पादन करता है।

टीका—इस गाथा में अभियोगी-भावना का स्वरूप वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति अपने सुख-ऐश्वर्यादि की वृद्धि के निमित्त मत्रों से और अभिमंत्रित किए हुए भस्मादि द्रव्यो से वशीकरणादि कर्मों का सम्पादन करता है, वह अभियोगी भावना का आचरण करता है। तात्पर्य यह है कि ऐहिक सुख और समृद्धि के लिए मंत्र-तंत्रादि का प्रयोग करना अभियोगी-भावना है।

मन्त्र-प्रयोग–अमुक विधि के अनुसार किसी मंत्र का जप, अनुष्ठान आदि करना मंत्र-प्रयोग है।

भूतिकर्म–विशिष्ट विधि के अनुसार अभिमंत्रित किए हुए भस्म, मृत्तिका और सर्षपादि पदार्थों को उपयोग में लाने का नाम भूतिकर्म है। चकार से अन्य कौतुक-जनक क्रियाओं का भी इसी में समावेश कर लेना चाहिए।

स्वर्गीय जीवों मे एक अभियोगी संज्ञा वाले देव होते हैं जिनका काम सदा अन्य देवों की सेवा में उपस्थित रहना और निरन्तर उनकी सेवा-सुश्रूषा करना है। जो साधु इन मन्त्रादि-क्रियाओं का प्रयोग करके अभियोगी-भावना का सम्पादन करता है, अर्थात् ऐहिक सुख-समृद्धियो के लिए उक्त क्रियाओं का अनुष्ठान करता है वह अभियोगी-भावना से भावित हुआ आलोचना के बिना मृत्यु के पश्चात् इन पूर्वोक्त अभियोगी देवों में जाकर उत्पन्न होता है, जोकि पल्योपम या सागरोपम तक देवो की सेवा ही करता रहता है।

इस गाथा में अभियोगी-भावना का स्वरूप और फल-प्रदर्शन तथा उसके त्याग का साधु के लिए अर्थत: विधान किया गया है, क्योंकि इन क्रियाओं के अनुष्ठान से सयम की हानि और असमाधि की वृद्धि होती है, अत: संयमशील मुनि के लिए ये सर्वथा त्याज्य हैं[1]।

अब किल्विष-भावना के विषय में कहते हैं, यथा–

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं ।
माई अवण्णवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ॥ २६६ ॥

ज्ञानस्य केवलिनां, धर्माचार्यस्य सङ्घसाधूनाम् ।
मायी अवर्णवादी, किल्विषिकीं भावनां कुरुते ॥ २६६ ॥

पदार्थान्वय:–केवलीणं–केवल-ज्ञानियों का, **नाणस्स**–ज्ञान का, **धम्मायरियस्स**–धर्माचार्य का, **संघसाहूणं**–संघ और साधुओं का, **अवण्णवाई**–अवर्णवाद बोलने वाला, **माई**–मायावान्, **किव्विसियं**–किल्विषिकी, **भावणं**–भावना का, **कुणइ**–सम्पादन करता है।

मूलार्थ–ज्ञान, केवली भगवान्, धर्माचार्य, संघ और साधुओं का अवर्णवाद करने वाला मायावी पुरुष किल्विषिकी भावना को उत्पन्न करता है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में किल्विषिकी भावना के स्वरूप का अर्थत: वर्णन किया गया है। श्रुत की निन्दा करना ज्ञान का अवर्णवाद है। केवली का अवर्णवाद उनके सर्वज्ञतादि गुणो मे दोषों का उद्भावन करना है तथा धर्माचार्यों में अवगुण निकालना, सघ को अपवादित करना और साधुओं को दोषी ठहराना, यह सर्व धर्माचार्य संघ और साधुओं का अवर्णवाद है। जो व्यक्ति श्रुत, केवली, धर्माचार्य, संघ और

१ यहा पर बृहद्वृत्तिकार का कथन है कि–अपवाद-मार्ग में सुख, रस और समृद्धि की इच्छा के बिना यदि सभूति-कर्म का प्रयोग किया जाए तो दोषावह नहीं, किन्तु गुणो का सम्पादक है–[**इह च सातरसर्द्धिहेतोरित्रभिधानं निस्पृहस्यापवादत एतत्प्रयोगे प्रत्युत गुण इति ख्यापनार्थम्**]–परन्तु विचारपूर्वक देखा जाए तो यह कथन उपयुक्त प्रतीत नही होता, क्योंकि जब जंघाचारणादि भी बिना आलोचना के सयम की पूर्ण शुद्धि नहीं कर सकते तो साधारण व्यक्ति का कहना ही क्या है । हां, यदि उसकी आलोचना कर ली जाए तो साधक चारित्र का आराधक हो जाता है।

साधुओं की अवहेलना करता है—उनमे नाना प्रकार के दोषों की उद्भावना करता है—वह किल्विषिकी भावना से भावित होता है। कारण यह है कि दूसरों के दोषो का उद्भावन करने से उसकी आत्मा गुणों के बदले अवगुणों का स्थान बन जाती है, उसकी आत्मा मे केवल अवगुण ही चक्र लगाते रहते हैं और माया अर्थात् कपट-युक्त होने से उसकी आत्मा मे सरलता भी नहीं रहती।

सारांश यह है कि इस प्रकार श्रुत की निन्दा करने वाला, वाणी द्वारा केवली की अवज्ञा करने वाला, धर्म-आचार्यों को दम्भी और जातिविहीन कहने वाला तथा सघ और साधुओं को ढोगी एव निर्माल्य बताने वाला पुरुष उक्त अवर्णवाद के प्रभाव से मृत्यु के पश्चात् किल्विष-भावना से भावित हुआ स्वर्ग में जाकर किल्विष-देवों मे उत्पन्न होता है। ये किल्विषजाति के देव अन्य स्वर्गीय देवो के समक्ष निंद्य अथवा चांडाल के समान समझे जाते हैं और इनका निवास देवलोकों से बाह्यवर्त्ती स्थानो मे होता है। तथा वहा से च्यव कर वे बकरे आदि अथवा अन्य मूक प्राणियों की श्रेणी में जन्म लेते है। यह किल्विष-भावना का फल है, इसलिए विचारशील पुरुष को और खास कर साधु को इस किल्विष-भावना को अपने हृदय में कभी स्थान नही देना चाहिए।

अब शास्त्रकार आसुरी भावना के सम्बन्ध में कहते हैं—

अणुबद्धरोसपसरो, तह य निमित्तम्मि होइ पडिसेवी ।
एएहिं कारणेहिं, आसुरियं भावणं कुणइ ॥ २६७ ॥

अनुबद्धरोषप्रसरः, तथा च निमित्ते भवति प्रतिसेवी ।
एताभ्यां कारणाभ्याम्, आसुरीं भावनां कुरुते ॥ २६७ ॥

पदार्थान्वयः—**अणुबद्धरोसपसरो**—निरन्तर रोष का प्रसार करने वाला अत्यन्त क्रोधी, **तह**—तथा, **य**—समुच्चयार्थक है, **निमित्तम्मि**—निमित्तविषयक, **पडिसेवी**—प्रतिसेवना करने वाला, **होइ**—होता है, **एएहिं**—इन, **कारणेहिं**—कारणों से, **आसुरियं**—आसुरी, **भावणं**—भावना का, **कुणइ**—सम्पादन करता है।

मूलार्थ—निरन्तर रोष का विस्तार करने वाला और त्रिकाल निमित्त का सेवन करने वाला जीव, इन कारणों से आसुरी-भावना को उत्पन्न करता है।

टीका—यद्यपि पहले क्रम-प्राप्त मोह-भावना का उल्लेख करना चाहिए था, तथापि सूत्र की विचित्र गति होने से प्रथम आसुरी भावना का उल्लेख किया गया है। जो जीव निरन्तर रोष का विस्तार करता है, अर्थात् सदा क्रोधयुक्त रहता है और ज्योतिष-शास्त्र द्वारा अथवा भूकम्पादि-निमित्तों के द्वारा जो शुभाशुभ फल का कथन करता है, वह आसुरी भावना का सम्पादन करता है। तात्पर्य यह है कि निरन्तर क्रोध युक्त रहना और शुभाशुभ फल के उपदेश मे प्रवृत्ति करना आसुरी भावना है। इस भावना से भावित पुरुष मृत्यु के पश्चात् असुरकुमारो में जाकर उत्पन्न होता है। ये देव वैमानिकों की अपेक्षा बहुत कम सुख और समृद्धि वाले होते है तथा परमाधर्मी देव इन्ही की जाति में से होते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि आलोचना किए बिना आसुरी भावना में मृत्यु को प्राप्त हुआ जीव विराधक होता है, इसलिए आसुरी भावना से सदा पृथक् रहने का ही यत्न करना चाहिए और यदि किसी समय उक्त आसुरी भावों का हृदय में किसी निमित्त के वश से प्रादुर्भाव हो भी जाए तो उनकी आलोचना कर लेनी चाहिए, ताकि आत्मा में आराधकता बनी रहे, क्योंकि आराधक आत्मा हीन गति

को प्राप्त नहीं होती।

अब मोह-भावना के विषय में कहते हैं–

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च, जलणं च जलपवेसो य ।
अणायारभंडसेवी, जम्मणमरणाणि बंधंति ॥ २६८ ॥

शस्त्र-ग्रहणं विष-भक्षणञ्च, ज्वलनञ्च जलप्रवेशश्च ।
अनाचारभाण्डसेवी, जन्ममरणानि बध्नन्ति ॥ २६८ ॥

पदार्थान्वयः–सत्थग्गहणं–शस्त्र का ग्रहण, **च**–और, **विसभक्खणं**–विष का भक्षण, **जलणं**–अग्नि में झपापात, **य**–और, **जलपवेसो**–जल में प्रवेश, **अणायारभंडसेवी**–अनाचार भाड-परिसेवन से, **जम्मणमरणाणि**–जन्म और मृत्यु की, **बंधंति**–वृद्धि होती है।

मूलार्थ–शस्त्र-ग्रहण, विष-भक्षण, अग्नि में झंपापात और जल में प्रवेश तथा आचार-भ्रष्टता और उपहासादि के द्वारा जो जीव मृत्यु को प्राप्त करते हैं वे जन्म-मरण की वृद्धि करते है।

टीका–प्रस्तुत गाथा में मोह-भावना के स्वरूप का अर्थतः दिग्दर्शन कराते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि–जो जीव शस्त्र के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते हैं, अर्थात् खड्गादि के द्वारा आत्म-घात कर लेते है, अथवा अग्नि में जलकर मरते हैं, वा जल में डूबकर प्राण-त्याग करते है, तथा अनाचार के सेवन से मृत्यु को प्राप्त करते हैं और हास्यादि के कारण से मरते हैं, वे जीव जन्म-मरणरूप संसार की वृद्धि करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि शस्त्र, अग्नि, जल, अनाचार और हास्य-मोहादि के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करना मोह-भावना है। इस भावना को लेकर मरने वाला जीव निरन्तर जन्म-मरण देने वाले कर्मो को ही विशेषरूप से बाधता है, क्योंकि कर्म-बन्ध में मोह की मात्रा ही विशिष्ट कारण है। उक्त प्रकार से जो मृत्यु होती है उसमे मोह की ही अधिक प्रधानता रहती है। इसलिए सयमशील पुरुष को मोह के वशीभूत होकर इन उक्त प्रयोगो के द्वारा मृत्यु प्राप्त करने के सकल्प को सर्वत्र त्याग देना चाहिए। कारण यह है कि ये सब लक्षण बाल-मरण के हैं और बाल-मरण का अनिष्ट परिणाम सुनिश्चित ही है। तथाच, कहा भी है–

"एता भावना भावयित्वा देवदुर्गति यान्ति, ततश्च च्युताः सन्तः पर्यटन्ति भवसागरमनन्तम्।"

अर्थात् इन भावनाओं से भावित हुए जीव, देव-दुर्गति को प्राप्त होते हैं और वहां से च्यव कर वे चिरकाल तक संसार मे परिभ्रमण करते रहते हैं। अतः इन उक्त अशुभ भावनाओ का परित्याग करके विधिपूर्वक संलेखनादि शुभ प्रवृत्तियों में रहकर आराधक-भाव से शरीर का त्याग करना ही मुमुक्षु के लिए समुचित और शास्त्र-सम्मत कार्य है।

अब अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहते हैं कि–

इय पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए ।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धियसंमए ॥ २६९ ॥

त्ति बेमि ।

इति जीवाजीवविभत्ती समत्ता ॥ ३६ ॥

इति प्रादुष्कृत्य बुद्धः, ज्ञातजः परिनिर्वृतः ।
षट्त्रिंशदुत्तराध्यायान्, भव्यसिद्धिकसम्मतान् ॥ २६९ ॥
इति ब्रवीमि ।
इति जीवाजीवविभक्तिः समाप्ता ॥ ३६ ॥
इति उत्तरज्झयणं सुत्तं समत्तं
इत्युत्तराध्ययनं सूत्रं समाप्तम्

पदार्थान्वयः—**इय**—इस प्रकार, **पाउकरे**—प्रकट करके, **बुद्धे**—बुद्ध, **नायए**—ज्ञातपुत्र-वर्द्धमान स्वामी, **परिनिव्वुए**—निर्वाण को प्राप्त हो गए, **छत्तीसं**—छतीस, **उत्तरज्झाए**—उत्तराध्ययनसूत्र—अध्यायो को, **भवसिद्धियसंमए**—जो भव्यसिद्धिक जीवों को सम्मत हैं, **त्ति बेमि**—इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ—इस प्रकार जो भव्य जीवों को सम्मत हैं ऐसे उत्तराध्ययनसूत्र के ३६ अध्ययनों को प्रकट करके ज्ञातपुत्र भगवान् श्री महावीर स्वामी निर्वाण को प्राप्त हो गये, इस प्रकार मैं—सुधर्मास्वामी कहता हूं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में उत्तराध्ययनसूत्र की प्रामाणिकता, उपयोगिता और अध्ययनो की सख्या का वर्णन किया गया है। ''केवलज्ञानी—(सर्वज्ञ और सर्वदर्शी) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उत्तराध्ययनसूत्र के ३६ अध्ययनों का अर्थतः प्रकाश किया'' इस कथन से इसकी प्रामाणिकता ध्वनित की गई है और 'भव्य जीवो को सर्व प्रकार से सम्मत्त है' यह कथन इसकी उपयोगिता को बतला रहा है। इसके अतिरिक्त इसके अध्ययनो की सख्या का निर्देश इसलिए किया गया है कि अन्य कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार के स्वार्थ के वशीभूत होकर इसमे न्यूनाधिकता न कर सके। तथा 'भगवान् महावीर स्वामी इसके ३६ अध्ययनो को प्रकट करके मोक्ष को चले गए' इस कथन से इस सूत्र को उनका अन्तिम उपदेश प्रमाणित किया गया है, जिससे कि आत्मार्थी जीवों को इसके विषय मे विशेष आदरबुद्धि और विशेष जिज्ञासा उत्पन्न हो सके। यह सूत्र कितना सारगर्भित तथा आत्मार्थी जीवो के लिए कितना उपयोगी है इस बात को तो इसके स्वाध्याय करने वाले ही भलीभाति जान सकते है। इसके प्रत्येक अध्ययन मे उत्तरोत्तर कितनी सरसता, कितना गाम्भीर्य और कितनी मार्मिकता है, इसके लिए भी किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। इसमें धर्मकथानुयोग का वर्णन भली-भांति किया गया है, तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की व्याख्या और फलश्रुति भी पर्याप्त रूप से विद्यमान है, एवं धर्म, नीति और आचार-सम्बन्धी विषयो की मीमांसा करने में भी किसी प्रकार की त्रुटि नही रखी गई है। सारांश यह है कि यह सूत्र हर एक दृष्टि से उपादेय है।

इसके अतिरिक्त गाथा मे आए हुए 'नायए' पद के—'ज्ञातक·, ज्ञातजः' ये दोनो ही प्रतिरूप माने जाते हैं और किसी-किसी प्रति मे **'भवसिद्धियसंवुडे—भव्यसिद्धिकसंवृतः** ऐसा पाठ भी देखने में आता है। इस पाठ में उक्त पद 'नायए—ज्ञातज' का विशेषण हो जाता है। इस अवस्था मे 'आश्रवों का निरोध करके उसी जन्म में सिद्धि को प्राप्त करने वाला' यह उसका अर्थ होगा। तथा 'पाउकरे का प्रादुरकार्षीत्—प्रकाशितवान्' यह प्रतिरूप भी होता है। और परिनिर्वृत्त का अर्थ है—क्रोधादि कषायों के सर्वथा क्षय हो जाने से परम शान्त दशा को प्राप्त होने वाला। इसके अतिरिक्त यहां पर इतना और भी अवश्य स्मरण रहे कि—शास्त्रों में सत्य, असत्य, मिश्र और व्यावहारिक ये चार प्रकार के वचनयोग—वाणी के व्यापार—माने गए हैं। इन चार में से भगवान् की वाणी में तो सत्य और व्यावहारिक वचन का ही

प्रयोग होता है। उसमें भी व्यावहारिक वचन का प्रयोग तो किसी आदेश-विशेष के आश्रित होकर ही किया जाता है और सत्य वचन का प्रयोग तो सर्वत्र ही होता है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन और उसके महत्व का वर्णन करते हुए श्री सुधर्मास्वामी अपने विनीत शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं कि मैंने जिस प्रकार से श्रमण भगवान् श्री वर्द्धमान (महावीर) स्वामी से इस जीवाजीव-विभक्तिनामा अध्ययन का श्रवण किया है, उसी प्रकार मैंने तुमको श्रवण कराया है। इसमें मेरी निज की कल्पना कुछ नहीं, यह 'त्ति बेमि' पद का भावार्थ है।

श्री सुधर्मास्वामी के कथन का आशय यह है कि—उत्तराध्ययन का मूलस्रोत तो भगवान महावीर स्वामी हैं, उन्हीं के मुखारविन्द से यह प्रकाशित हुआ है। इसमें मेरा कार्य तो उस प्रकाश का केवल निर्देशमात्र कर देना है तथा सुधर्मास्वामी के इस कथन से इस सूत्र की निरवच्छिन्न परम्परा भी स्पष्ट शब्दो में ध्वनित होती है जो कि समुचित है।

षट्त्रिंशत्तमाध्ययनं सम्पूर्णम्

उत्तराध्ययनसूत्रं सम्पूर्णम्

जैन धर्म दिवाकर,
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि	–	राहों
पिता	–	लाला मनसारामजी चौपडा
माता	–	श्रीमती परमेश्वरी देवी
वश	–	क्षत्रिय
जन्म	–	विक्रम स 1939 भाद्र सुदि वामन द्वादशी (12)
दीक्षा	–	वि स. 1951 आषाढ शुक्ला 5
दीक्षा स्थल	–	बनूड (पटियाला)
दीक्षा गुरु	–	मुनि श्री सालिगराम जी महाराज
विद्यागुरु	–	आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज (पितामह गुरु)
साहित्य सृजन	–	अनुवाद, सकलन-सम्पादन-लेखन द्वारा लगभग 60 ग्रन्थ
आगम अधयापन	–	शताधिक साधु-साध्वियों को।
कुशल प्रवचनकार	–	तीस वर्ष से अधिक काल तक।
आचार्य पद	–	पजाब श्रमण सघ, वि. स 2003, लुधियाना।
आचार्य सम्राट् पद	–	अखिल भारतीय श्री वर्ध स्था जैन श्रमण संघ सादड़ी (मारवाड) 2009 वैशाख शुक्ला
सयम काल	–	67 वर्ष लगभग।
स्वर्गवास	–	वि स 2019 माघवदि 9 (ई. 1962) लुधायाना।
आयु	–	79 वर्ष 8 मास, ढाई घंटे।
विहार क्षेत्र	–	पजाब, हरियाणा, हिमाचल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि।
स्वभाव	–	विनम्र-शान्त-गंभीर प्रशस्त विनोद।
समाज कार्य	–	नारी शिक्षण प्रोत्साहन स्वरूप कन्या महाविद्यालय एव पुस्तकालय आदि की प्रेरणा।

जैनभूषण, पंजाब केसरी, बहुश्रुत, गुरुदेव
श्री ज्ञान मुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि		माहोकी (पजाब)
जन्म तिथि	–	वि स 1979 वैशाख शुक्ल 3 (अक्षय तृतीया)
दीक्षा	–	वि स. 1993 वैशाख शुक्ला 13
दीक्षा स्थल	–	रावलपिडी (वर्तमान पाकिस्तान)
गुरुदेव	–	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
अध्ययन	–	प्राकृत, सस्कृत, उर्दू, फारसी, गुजराती, हिन्दी, पजाबी, अग्रेजी आदि भाषाओ के जानकार तथा दर्शन एव व्याकरण शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित, भारतीय धर्मो के गहन अभ्यासी।
सृजन	–	हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण पर भाष्य, अनुयागद्वार, प्रज्ञापना आदि कई आगमो पर बृहद् टीका लेखन तथा तीस से अधिक ग्रन्थो के लखक।
प्रेरणा	–	विभिन्न स्थानको, विद्यालयो, औषधालयो, सिलाई कन्द्रो के प्रेरणा स्रोत।
विशेष	–	आपश्री निर्भीक वक्ता है, सिद्धहस्त लेखक हैं, कवि है। समन्वय तथा शान्तिपूर्ण क्रान्त जीवन के मगलपथ पर बढने वाल धार्मनेता है, विचारक है, समाज सुधारक है, आत्मदर्शन की गहराई मे पहुचे हुए साधक हैं। पंजाब तथा भारत के विभिन्न अचलो म बसे हजारो जैन-जैनेतर परिवारो मे आपके प्रति गहरी श्रद्धा एव भक्ति है। आप स्थानकवासी जैन समाज के उन गिने-चुने प्रभावशाली सतो मे प्रमुख है जिनका वाणी-व्यवहार सदा ही सत्य का समर्थक रहा है। जिनका नेतृत्व समाज को सुखद, संरक्षक और प्रगति पथ पर बढाने वाला रहा है।

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म. : संक्षिप्त परिचय

जैन धर्म दिवाकर गुरुदेव आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म वर्तमान श्रमण संघ के शिखर पुरुष हैं। त्याग, तप, ज्ञान और ध्यान आपकी सयम-शैया के चार पाए है। ज्ञान और ध्यान की साधना मे आप सतत साधनाशील रहते है। श्रमणसघ रूपी बृहद् सघ के बृहद्-दायित्वो को आप सरलता, सहजता और कुशलता मे वहन करने के साथ-साथ अपनी आत्म-साधना के उद्यान मे निरन्तर आत्मविहार करते रहते हैं।

पजाब प्रान्त के मलौट नगर में आपने एक सुसमृद्ध और सुप्रतिष्ठित ओसवाल परिवार मे जन्म लिया। विद्यालय प्रवेश पर आप एक मेधावी छात्र सिद्ध हुए। प्राथमिक कक्षा से विश्वविद्यालयी कक्षा तक आप प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होत रहे।

अपन जीवन के शेशवकाल से ही आप श्री मे मत्य को जानने ओर जीने की अदम्य अभिलाषा रही है। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय की उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी मत्य को जानने की आपकी प्यास का समाधान का शीतल जल प्राप्त न हुआ। उसके लिए आपने अमेरिका, कनाडा आदि अनेक देशों का भ्रमण किया। धन और वैषयिक आकर्षण आपको बाध न सके। आखिर आप अपने कुल-धर्म–जैन धर्म की ओर उन्मुख हुए। भगवान महावीर क जीवन, उनकी साधना और उनकी वाणी का आपने अध्ययन किया। उससे आपके प्राण आन्दोलित बन गए और आपने ससार स सन्यास मे छलाग लने का सुदृढ सकल्प ले लिया।

ममत्व क असख्य अवरोधो ने आपके सकल्प को शिथिल करना चाहा। पर श्रेष्ठ पुरुषो के सकल्प की तरह आपका संकल्प भी वज्रमय प्राचीर सिद्ध हुआ। जैन धर्म दिवाकर आगम-महोदधि आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज क सुशिष्य गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज से आपने दीक्षा-मत्र अगीकार कर श्रमण सघ मे प्रवेश किया।

आपने जेन-जेनतर दर्शनो का तलस्पर्शी अध्ययन किया। 'भारतीय धर्मो मे मुक्ति विचार' नामक आपका शोध ग्रन्थ जहा आपक अध्ययन की गहनता का एक साकार प्रमाण है वही सत्य की खोज मे आपकी अपराभूत प्यास को भी दर्शाता है। इसी शोध-प्रबन्ध पर पजाब विश्वविद्यालय न आपको पी-एच डी की उपाधि से अलंकृत भी किया।

दीक्षा के कुछ वर्षो के पश्चात् ही श्रद्धेय गुरुदेव के आदेश पर आपने भारत भ्रमण का लक्ष्य बनाया और पजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, उड़ीसा, तमिलनाडु, गुजरात आदि अनेक प्रदेशो मे विचरण किया। आप जहा गए आपके सौम्य-जीवन और सरल-विमल साधुता को देख लोग गद्गद् बन गए। इस विहार-यात्रा के दौरान ही सघ ने आपको पहले युवाचार्य और क्रम से आचार्य स्वीकार किया। आप बाहर मे ग्रामानुग्राम विचरण करते रह और अपने भीतर सत्य के शिखर सोपानो पर सतत आरोहण करत रहे। ध्यान के माध्यम से आप गहरे और गहरे पैठे। इस अन्तर्यात्रा में आपको सत्य और समाधि के अद्भुत अनुभव प्राप्त हुए। आपने यह सिद्ध किया कि पचमकाल मे भी सत्य को जाना और जीया जा सकता है।

वर्तमान मे आप ध्यान रूपी उस अमृत-विधा के देश-व्यापी प्रचार और प्रसार मे प्राणपण से जुटे हुए है जिससे स्वय आपने सत्य से साक्षात्कार को जीया है। आपके इस अभियान से हजारो लोग लाभान्वित बन चुके हे। पूरे देश से आपके ध्यान-शिविरो की मांग आ रही है।

जैन जगत आप जैसे ज्ञानी, ध्यानी ओर तपस्वी सघशास्ता को पाकर धन्य-धन्य अनुभव करता है।

आचार्य प्रवर श्री शिवमुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	–	मलौटमंडी, जिला-फरीदकोट (पजाब)
जन्म	–	18 सितम्बर, 1942 (भादवा सुदी सप्तमी)
माता	–	श्रीमती विद्यादेवी जैन
पिता	–	स्व. श्री चिरजीलाल जी जैन
वर्ण	–	वैश्य ओसवाल
वश	–	भाबू
दीक्षा	–	17 मई, 1972 समय : 12 00 बजे
दीक्षा स्थान	–	मलौटमण्डी (पजाब)
दीक्षा गुरु	–	बहुश्रुत, जैनागमरत्नाकर राष्ट्रसंत श्रमणसंघीय सलाहकार श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
शिष्य-सपदा	–	श्री शिरीष मुनि जी, श्री शुभममुनि जी श्री श्रीयशमुनि जी, श्री सुव्रतमुनि जी एव श्री शमितमुनि जी
प्रशिष्य	–	श्री निशात मुनि जी श्री निरज मुनि जी श्री निरंजन मुनि जी श्री निपुण मुनि जी
युवाचार्य पद	–	13 मई, 1987 पूना, महाराष्ट्र
श्रमणसंघीय आचार्य पदारोहण	–	9 जून, 1999 अहमदनगर, महाराष्ट्र
चादर महोत्सव	–	7 मई, 2001, ऋषभ विहार, दिल्ली मे
अधययन	–	डबल एम ए., पी-एच डी , डी.लिट्, आगमों का गहन गभीर अध्ययन, ध्यान-योग-साधना मे विशेष शोध कार्य

श्रमणश्रेष्ठ कर्मठयोगी श्री शिरीष मुनि जी महाराज : संक्षिप्त परिचय

श्री शिरीषमुनि जी महाराज आचार्य भगवन् ध्यान योगी श्री शिवमुनि जी महाराज के प्रमुख शिष्य है। वर्ष 1987 के आचार्य भगवन के मुम्बई (खार) के वर्षावास के समय आप पूज्य श्री के सम्यक् सम्पर्क मे आए। आचार्य श्री की सन्निधि मे बैठकर आपने आत्मसाधना के तत्त्व को जाना और हृदयगम किया। उदयपुर से मुम्बई आप व्यापार के लिए आए थे और व्यापारिक व्यवसाय मे स्थापित हो रहे थे। पर आचार्य भगवन के सान्निध्य मे पहुचकर आपने अनुभव किया कि अध्यात्म ही परम व्यापार है। भौतिक व्यापार का कोई शिखर नही है जबकि अध्यात्म व्यापार स्वय एक परम शिखर है और आपने स्वय के स्व को पूज्य आचार्य श्री के चरणो पर अर्पित-समर्पित कर दिया।

पारिवारिक आज्ञा प्राप्त होने पर 7 मई सन् 1990 यादगिरी (कर्नाटक) मे आपने आर्हती दीक्षा मे प्रवेश किया। तीन वर्ष की वैराग्यावस्था मे आपने अपने गुरुदेव पूज्य आचार्य भगवन से ध्यान के माध्यम मे अध्यात्म मे प्रवेश पाया। दीक्षा के बाद ध्यान के क्षेत्र मे आप गहरे और गहरे उतरते गए। साथ ही आपने हिन्दी, अग्रेजी, सस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओ का भी तलस्पर्शी अध्ययन जारी रखा। आपकी प्रवचन शैली आकर्षक है। समाज मे विधायक क्रांति के आप पक्षधर है और उसके लिए निरतर समाज को प्रेरित करते रहते है।

आप एक विनय गुण सम्पन्न, सरल और सेवा समर्पित मुनिराज है। पूज्य आचार्य भगवन के ध्यान और स्वाध्याय के महामिशन को आगे और आगे ले जाने के लिए कृतसकल्प है। अहर्निश स्व-पर कल्याण साधना रत रहने से अपने श्रमणत्व को साकार कर रहे है।

शब्द चित्र मे आपका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

जन्म स्थान	नाई (उदयपुर, राजस्थान)
जन्मतिथि	19-02-1964
माता	श्रीमती सोहनबाई
पिता	श्रीमान ख्यालीलाल जी कोठारी
वश, गौत्र	ओसवाल, कोठारी
दीक्षा तिथि	7 मई, 1990
दीक्षा स्थल	यादगिरी (कर्नाटक)
गुरु	श्रमण सघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य श्री शिवमुनिजी महाराज
दीक्षार्थ प्रेरणा	दादीजी मोहन बाई कोठारी द्वारा।
शिक्षा	एम ए (हिन्दी साहित्य)
अध्ययन	आगमो का गहन गभीर अध्ययन, जैनतर दर्शनो मे सफल प्रवेश तथा हिन्दी, सस्कृत, अग्रेजी, प्राकृत, मराठी, गुजराती भाषाविद्।
उपाधि	श्रमणश्रेष्ठ कर्मठयोगी, साधुरत्न
शिष्य सम्पदा	श्री निशात मुनि जी, श्री निरज मुनि जी श्री निरजन मुनि जी एव श्री निपुण मुनि जी
विशेष प्रेरणादायी कार्य	ध्यान योग साधना शिविरो का सचालन, बाल-संस्कार शिविरो और स्वाध्याय-शिविरो के कुशल सचालक। आचार्य श्री के अनन्य सहयोगी।

आचार्य भगवंत का प्रकाशित साहित्य

आगम संपादन

❖ श्री उपासकदशाग सूत्रम्	(व्याख्याकार आचार्य श्री आत्माराम जी म)
❖ श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग एक)	"
❖ श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग दो)	"
❖ श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग तीन)	"
❖ श्री आचारांग सूत्रम् (भाग एक)	"
❖ श्री आचाराग सूत्रम् (भाग दो)	"
❖ श्री दशवैकालिक सूत्रम्	"
❖ श्री अनुत्तरोपपातिक सूत्रम्	"

साहित्य (हिन्दी)–

❖ भारतीय धर्मों म मोक्ष विचार	(शोध प्रबन्ध)
❖ ध्यान एक दिव्य साधना	(ध्यान पर शोध-पूर्ण ग्रन्थ)
❖ ध्यान-पथ	(ध्यान सम्बन्धी चिन्तनपरक विचारबिन्दु)
❖ ध्यान-साधना	(ध्यान-सूत्र)
❖ समय गोयम मा पमायए	(चिन्तन प्रधान निबन्ध)
❖ अनुशीलन	(निबन्ध)
❖ योग मन सस्कार	(निबन्ध)
❖ जिनशासनम्	(जैन तत्व मीमासा)
❖ पढम नाण	(चिन्तन परक निबन्ध)
❖ अहासुह देवाणुप्पिया	(अन्तगडसूत्र प्रवचन)
❖ शिव-धारा	(प्रवचन)
❖ अन्तर्यात्रा	"
❖ नदी नाव सजाग	"
❖ शिव वाणी	"
❖ अनुश्रुति	"
❖ अनुभूति	"
❖ मा पमायए	"
❖ अमृत की खोज	"
❖ आ घर लौट चले	"
❖ सबुज्झह कि ण बुज्झह	"
❖ प्रकाशपुञ्ज महावीर	(सक्षिप्त महावीर जीवन-वृत्त)
❖ सद्गुरु महिमा	(प्रवचन)

साहित्य (अग्रेजी)–

- ❖ दी जेना पाथवे टू लिब्रेशन
- ❖ दी फण्डामन्टल प्रिसीपल्स ऑफ जैनिज्म
- ❖ दी डॉक्ट्रीन आर्फ द सेल्फ इन जैनिज्म
- ❖ दी जैना ट्रेडिशन
- ❖ दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रशन इन इंडियन रिलिजन
- ❖ दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इंडियन रिलिजन विथ रेफरेस टू जैनिज्म
- ❖ स्परीच्युल प्रक्टेसीज ऑफ लॉर्ड महावीरा